है, जिसकी ओर संकेत करते हुए 'श्रीमद्भगवद्गीता' (१३।१२)
या है कि उसमें सब इंद्रियों के गुणों का आभास है पर उसके कोई
, वह सबसे अनासक्त रहकर भी सबका पालन करता है तथा निर्गुण
, सभी गुणों का उपयोग करता है। संत कबीर ने पीछे उसी निर्गुण
ाय 'अगुण' भी दिया (क० ग्रं० प० १८३) तथा उसके द्वारा
ाले तत्व को 'गुण अतीत' भी बतलाकर उसकी 'निर्गुण ब्रह्म'
ासना करने का उपदेश दिया (पृ० ३७५) तथा उसे 'निरगुण राम'
ी 'गति' को अगम्य ठहराया (स० ३६)। उन्होंने इसी बात का
ण इस प्रकार भी किया है कि 'राजस, तामस व सातिग (सात्विक)'
गुण वास्तव में उसकी माया मात्र है तथा वह इन तीनों से परे का
है (प०१८४)। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर आदि
ने उक्त 'निर्गुण' के लिये जिस प्रकार के शब्दों का प्रयोग, उसका
े समय, किया उसकी ओर उनके बहुत पहलेवाले अनेक भक्तों
ान जा चुका था और वे अपने इष्टदेव को कदाचित् निर्गुण जैसा भी
ते थे। उदाहरण के लिये ईस्वी सन् की संभवतः ५वीं शती से लेकर उसकी
तक की अवधि के अंतर्गत, उत्पन्न हुए प्रसिद्ध वैष्णव 'आडनारों' एवं
ा मारों' की तमिल रचनाओं पर विचार प्रकट करते हुए एक लेखक ने
इन द्रविड़ संतों—दोनों, वैष्णवों एव शैवों—के ज्ञान एवं सहज बोध की
स बात में लक्षित होती है कि इनकी परमतत्व विषयक दृष्टि, उसे एक ही
तिशायी, निरपेक्ष, अंतर्यामी और आत्मीय व्यक्ति भी मानते हुए काम
और किसी ऐसे ही परमेश्वर को ये लोग 'भावभगंति' और प्रेमासक्ति के
ा भी करना चाहते हैं[1]।' इसी प्रकार हम प्रसिद्ध लिंगायत संत अल्लमप्रभु
ानी) के कन्नड़वाले 'वचनों' में भी इस प्रकार कहा गया पाते हैं 'शून्यलिंग
ाकार है न निराकार है, उसका न आदि है न अंत है, वह न यह
न पर है, न सुख है न दुःख है, न पुण्य है न पाप है, न प्रभु है न दास है, न
न ारण है, न धर्मा है न कर्मा है, न पूज्य है न पूजक है—वह इन दोनों से
। 'मराठी के संत कवि ज्ञानदेव (सं० १३३२-१३५३) ने भी इसी बात को
ें कहा है', हे गोविंद, मेरी तो समझ में नहीं आता कि तुम्हें सगुण कहूँ
ा तुम्हें स्थूल कहूँ या सूक्ष्म क्योंकि तू इन दोनों में व्याप्त है, तुझे दृश्य कहूँ

[1] ... १९५३ पृ० ४२३ ।

वा अदृश्य क्योंकि तू तो मुझे दोनों ही प्रतीत होता है[1]।' इसके सिवाय संत कबीर के कुछ ही परवर्ती उड़िया भक्त कवि बलरामदास ने भी अपनी 'विराट् गीता' के अंतर्गत उसके लिये कहा है, 'तेरा न रूप है न रेखा है। तू शून्य पुरुष, सदेह शून्य है तथा यद्यपि तू देहधारी है फिर भी मै तुझे रिक्त पाता हूँ[2]।'

(३) निर्गुण भक्ति का स्वरूप

उपर्युक्त भावनावाले भक्त कवियों की उपलब्ध रचनाओं पर विचार करते समय हम देखते हैं कि ये सभी अपने इष्टदेव वा आराध्य को वस्तुतः अगम तथा अनिर्वचनीय तक ठहराते जान पड़ते हैं। ये बहुधा उसके विषय में यह भी कहते पाए जाते हैं कि हम केवल अपने भीतर उसका अनुभव करते हैं अथवा कर सकते हैं, इसमे कोई संदेह नहीं। परंतु इनमें से कुछ लोग उसे, वस्तुतः रामकृष्णादि के जैसे आदर्श सगुण रूपों अथवा उनकी मूर्तियों तक मे, देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। दूसरे या तो उसे योगसाधना द्वारा 'अंतर्ज्योति' के रूप में देखना चाहते हैं अथवा उसका अनुभव 'अनहद' वा अनाहत शब्द के रूप मे ही करना पसंद करते हैं। इसी प्रकार इनमें से कुछ की प्रवृत्ति या तो उसे सर्वत्र व्यापक रूप में दृष्टिगोचर करने की पाई जाती है अथवा ये उसे अपने प्रियतम के रूप मे ही, प्रतिष्ठित करते हुए, उसको किसी एक ही रूप में अपनाना चाहते हैं जिस कारण हम इन सभी की मनोवृत्ति ठीक एक ही प्रकार की नहीं पाते। तदनुसार हमे ये, कम से कम क्रमशः भक्ति, योग, ज्ञान एवं प्रेमवाली उपर्युक्त साधनाओं को विशेष महत्व देते हुए भी, जान पड़ते हैं। ये लोग वैसे निर्गुण तत्व के विषय मे अपने को पूर्णतः अनजान घोषित करते हैं, किंतु ये उसके साथ अपना अत्यंत निकट का संबंध प्रकट करने के लिये भी तैयार रहते हैं। ये उसे सब कहीं सदा वर्तमान रहनेवाला कहकर उसको अपने भीतर अवस्थित कहने से भी नहीं चूकते। अतएव नायन मार अप्पर इस संबंध में इस प्रकार भी उपदेश देते दीख पड़ते हैं, 'वह ज्योतिस्वरूप स्वामी काष्ठ मे छिपी आग एवं दूध में छिपे घी की भाँति हमारे भीतर अंतर्हित है, इसलिये प्रेम की मथानी में विवेक की रस्सी लगाकर उसके द्वारा मंथन करो, वह अवश्य मिल जाएगा[3]।' उनका इसी प्रकार अपने इष्टदेव के प्रति यह भी कहना है, 'हे स्वामिन्, मैं स्वयं अपने को नहीं जानता, न मुझे कोई तेरा ही परिचय प्राप्त है, मुझे तो केवल [illegible]

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने मे सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों मे उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण मे इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों मे बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप मे देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरी-प्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं मे अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस

ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना मे इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ट संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे मे हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रगट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
२ दिसंबर, १९५७

प्रधान संपादक का वक्तव्य

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संवत् २०१० मे अपनी हीरक जयंती के अवसर पर यह संकल्प किया था कि १६ भागो मे हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रकाशित किया जाय। इस कार्य की आवश्यकता और उपादेयता को देखते हुए सभा ने योजनानुसार इस कार्य को अग्रसर किया। साहित्य लौकिक वा सामाजिक विषय है। राजन्य वर्ग मे ईश्वरांश की मान्यता स्वीकार करने पर भी, व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास तक जब यहाँ कम ही लिखे गए, तब कवियों और लेखकों के इतिवृत्त भला कैसे लिखे जाते? यही कारण है कि एक सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न परंपरा होने पर भी हिंदी साहित्य के व्यवस्थित इतिहासलेखन का कार्य अत्यत दुस्तर रहा है। परंतु रचनाकारों के इतिवृत्त के प्रति यह उपेक्षाभाव होने पर भी उनके द्वारा रचित ग्रथों को यहाँ देवविग्रहवत् पूज्य माना जाता रहा जिसके कारण अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ आज भी सुरक्षित हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का सर्वप्रथम प्रयत्न संवत् १९३४ वि० मे शिवसिंह सेंगर ने किया था, जिसमे लगभग एक सहस्र कवियों का उल्लेख है। इसके बहुत पूर्व, संवत् १८९६ में उर्दू फारसी के फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया था। परंतु यह इतिहास मुख्यतः उर्दू कवियो का था और हिंदी के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का ही उल्लेख इसमे था। 'शिवसिंह सरोज' के बाद से लेकर अब तक समय समय पर कवियों और लेखकों की रचनाओं के संग्रह और उनका परिचय निकलते रहे हैं। 'सरोज' के अनंतर डा० सर ज्यार्ज ग्रियर्सन ने संवत् १९४६ (सन् १८८९) मे अपना माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव नार्दर्न हिंदुस्तान' कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया जिसमे हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम विषयविभाजन और काल-विभाजन करने की चेष्टा की गई। सन् १९२० ई० अर्थात् संवत् १९७७ वि० में अंग्रेजी में एक अन्य इतिहास 'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर' जबलपुर मिशनरी सोसायटी के श्री एफ० ई० की ने 'हेरिटेज आव इडिया सीरीज' मे निकाला। विषय और काल-विभाजन आदि के संबध में स्वतत्र चिंतन का इसमे अभाव है और मुख्यतः ग्रियर्सन का ही अनुगमन किया गया है। इस प्रकार के जितने भी प्रयत्न हुए उनमे सर्वाधिक सामग्री का उपयोग मिश्रबंधु विनोद मे किया गया जो तीन भागों में निकाला गया और जिसमें आरंभ से लेकर समसामयिक लेखकों और कवियों तक का समावेश था।

संवत् १९८४ में जब इस सभा ने अपना हिंदी शब्दसागर निकालना पूरा किया, तब यह भी स्थिर किया गया कि इसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का

इतिहास भी दे दिया जाय। भाषा विषयक अंश स्व० डा० श्यामसुंदरदास जी ने और साहित्य विषयक अंश स्व० पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रस्तुत किया। शीघ्र ही दोनों महानुभावों के निबंध सामान्य संशोधन परिवर्तन के पश्चात् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गए।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त समस्त इतिहासग्रंथों मे से केवल स्व• शुक्ल जी का इतिहास हिंदी साहित्य का वास्तविक इतिहास कहलाने का अधिकारी है। इसके बाद तो साहित्य के इतिहासों का ताँता सा लग गया और इस क्रम मे अभी तक विराम नहीं आया है, यद्यपि इन समस्त इतिहासों का ढाँचा स्व० आचार्य शुक्ल से ही लिया गया है। लगभग ४० वर्षों तक इतिहासक्षेत्र में मार्गदर्शन करने के पश्चात् स्व० शुक्ल जी का ग्रंथ आज भी अपने शीर्षस्थान पर बना हुआ है।

इस बीच हिंदी के प्राचीन साहित्य की खोज निरंतर होती रही है और अनेकानेक महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में आई है। अनेक अज्ञात कवियों और उनकी रचनाओं का तथा ज्ञात कवियो और लेखकों की अज्ञात रचनाओं का पता लगा है, जिससे साहित्य की ज्ञात धाराओं के संबंध मे हमारे पूर्वसंचित ज्ञान में वृद्धि होने के अतिरिक्त कतिपय नवीन धाराओं का भी पता चला है। विभिन्न विश्वविद्यालयों मे होनेवाली शोधों द्वारा भी हमारे ज्ञान की परिधि मे विस्तार हुआ है। प्रस्तुत इतिहासमाला में इन समस्त नवसंचित ज्ञानराशि का समुचित उपयोग हो रहा है। विभिन्न खंडों का संकलन संपादन तत्तत् विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों को सौंपा गया है, जिन्होने अपने अपने खंडों के विभिन्न प्रकरणों और अध्यायों की रचना मे ऐसे लेखकों का सहयोग लिया है जिन्होंने इस क्षेत्र मे विशेष अध्ययन मनन किया है। अब तक इस इतिहास के पाँच भाग (भाग १, २, ६, १३ और १६) प्रकाशित हो चुके हैं। चौथा भाग आपके समुख है और एकाध महीने मे एक और भाग (भाग ८) प्रकाशित हो जायगा। अन्य भागों के भी शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है, यदि संबद्ध विद्वान् संपादकों एवं लेखकों ने अपने आश्वासन यथासमय पूरा कर देने की कृपा की। हमे विश्वास है, प्रस्तुत इतिहासमाला अपने उद्देश्यों मे सफल होगी और सभा के ऐसे अन्यान्य ग्रंथों की भाँति सुदूर अनागत काल तक साहित्य के विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करती रहेगी।

कुलपति निवास
काशी विद्यापीठ,

संपूर्णानंद
प्रधान संपादक,
हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १९०१ ई० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। इस क्षेत्र में धीरे धीरे अतुल संपत्ति का भंडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोज निरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने **मिश्रबंधु विनोद** में सन् १९१० ई० तक उपलब्ध इस सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सां द तासी (संवत् १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३४), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (संवत् १९४६), एफ० ई० को (सं० १९७७) द्वारा क्रमशः **हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास**, **शिवसिंह सरोज**, **माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान**, **ए हिस्ट्री आफ हिंदी लिटरेचर** प्रस्तुत हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर की नहीं। निश्चय ही **ग्रियर्सन** का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और **मिश्रबंधु विनोद** की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन **हिंदी शब्दसागर** की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा किया, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप **हिंदी साहित्य का इतिहास** के रूप मे सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुण धर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अब तक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है, तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से लेकर आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में सं० १९८६ तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया। हिंदी का भी प्रसार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने **हिंदी शब्दसागर**, और **हिंदी विश्वकोश** के साथ ही **हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास** के प्रस्तुत करने की योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति तथा इस

योजना के प्रधान संपादक स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्त रूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संगठन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपए २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमे विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना मे समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक विभाग के विलग विलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत् इतिहास का पहला खंड संवत् २०१४ में, खंड ६, २०१५ मे, खड १३ सं० २०२२ में और खंड १६ सवत् २०१७ मे खड २ सं० २०२२ मे, प्रकाशित हुए। इन पाँचों खंडों के प्रकाशन संपादन आदि की योजना पर २११८४५.७५ रुपए व्यय हुए। इस खड और आठवें भाग का व्ययभार भी जोड़ लिया जाय तो यह रकम ३ लाख रुपए से अधिक हो जाएगी। इस योजना को सफल बनाने के लिये मध्यप्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तरप्रदेश और केंद्रीय सरकारों ने अब तक १ लाख ५२ हजार रुपए के अनुदान दिए हैं। शेष १॥ लाख के लगभग सभा ने इसपर व्यय किया है। यदि सरकार ने सहायता न की तो योजना का आगे संचालन कठिन होगा। देश के व्यस्त मान्य विद्वानों तथा निष्णात लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। पर इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अतिव्यस्तता के कारण इसमे विलंब हुआ। एक दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों एवं लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया। किंतु अब ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमे अब और अधिक विलंब न हो। संवत् २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे और उसके पश्चात् सवत् २०२० तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान मे रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया है। महामहिम डा० संपूर्णानंद जी इसके प्रधान संपादक है और इसके संपादक मंडल के सदस्य हैं :

१. श्री डा० संपूर्णानंद–प्रधान संपादक
२. श्री रामधारी सिंह दिनकर
३. श्री डा० नगेंद्र
४. श्री डा० ए० चंद्रहासन
५. श्री करुणापति त्रिपाठी
६. श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
७. श्री सुधाकर पांडेय—संयोजक

इसके संपादकों आदि का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित रूप में स्थिर किया गया है :

प्रधान संपादक : महामहिम डा० संपूर्णानंद जी

प्रस्तावना : भूतपूर्व देशरत्न स्व० राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम भाग (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय भाग (प्रकाशित)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० विक्रमी तक	तृतीय भाग	पं० करुणापति त्रिपाठी सह० संपादक डा० शिवप्रसाद सिंह
भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००–१७०० वि०	चतुर्थ भाग (प्रकाशित)	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००–१७०० वि०	पंचम भाग	डा० दीनदयाल गुप्त डा० देवेंद्रनाथ शर्मा
श्रृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००–१६०० वि०	षष्ठ भाग (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
श्रृंगारकाल (रीति मुक्त) १७००–१६०० वि०	सप्तम भाग	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १६००-५० वि०	अष्टम भाग (सितंबर, ६८ मे प्रकाश्य)	श्री डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १६५०–७५ वि०	नवम भाग	पं० कमलापति त्रिपाठी श्री सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १६७५–६५ वि०	दशम भाग	डा० नगेंद्र श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १६७५–६५ वि०	एकादश भाग	डा० सावित्री सिनहा डा० दशरथ ओझा डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १६७५–६५ वि०	द्वादश भाग	श्री पं० सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (समालोचना निबंध) १६७५–६५ वि०	त्रयोदश भाग (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १९९५–२०१० वि०	चतुर्दश भाग	डा० हरवंशलाल शर्मा
हिंदी मे शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश भाग	(विचाराधीन)
हिंदी का लोकसाहित्य	षोडश भाग (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांकृत्यायन

संयोजक—श्री पं० सुधाकर पांडेय

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

(१) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा ।

(२) व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की नई दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा ।

(३) साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टि का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा ।

(४) संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके । ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन । साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य जिस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, उसे स्पष्ट किया जायगा । उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे ।

(५) हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण मे मुख्य दृष्टि साहित्य-शास्त्रीय होगी : इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और उनका समन्वय किया जायगा । विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी :

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि ।
ख—दार्शनिक ।
ग—सांस्कृतिक ।

घ—समाजशास्त्रीय।

ङ—मानवीय, आदि।

च—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन मे साहित्य के मूल स्थान का सरक्षण आवश्यक होगा।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विविध रूपों मे परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

ज— विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि मे रखते हुए, प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। इतिहास का संपादकमंडल व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करेगा।

साथ ही जो पद्धति इतिहासलेखन मे व्यवहृत करने का निश्चय किया गया वह इस प्रकार है:

(६) प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनकी जीवन और कृतियो के विकास मे विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

(७) तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संभावनाओं पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

(८) प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

(९) लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि पद्धतियोंका।

(१०) भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी व्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास मे अवश्य होनी चाहिए। इसलिये आगे के खंडों मे इसका भी आयोजन यथावश्यकता यथास्थान किया जा रहा है।

यह चौथा भाग आपके संमुख है। आठवाँ भाग भी लगभग इसके साथ ही प्रकाशित किया जाएगा। शेष भाग के संपादन तथा लेखन कार्य में विद्वान् मनोयोग-

पूर्वक लगे हुए हैं और यदि उन्होंने आश्वासन का पालन किया तो निश्चय ही अति शीघ्र इतिहास के सभी खंड प्रकाशित हो जायँगे।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का योग सभा को प्राप्त तो है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा तथा स्व० पंडित गोविंदवल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। जीवनकाल मे निष्ठापूर्वक इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है। उनके आशीर्वाद से विश्वास है कि यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अब तक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद भी हिंदी जगत् का आदर मिला है। मुझे विश्वास है, आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता एवं विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के संपादक संत साहित्य के अधिकारी विद्वान् श्री पं० परशुराम जी चतुर्वेदी का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित मे इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा किया। इस खंड के लेखकों के प्रति भी सभा अनुगृहीत है।

इसके प्रधान संपादक तथा सभा के संरक्षक महामहिम डा० संपूर्णानंद जी के प्रति किसी भी प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त करना सहज सौजन्य की मर्यादा का उल्लंघन है क्योंकि आज सभा मे जो भी सत्कार्य हो रहे हैं उनपर उनकी छत्रच्छाया है। अंत मे इस योजना मे योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवं हितैषियों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग इसी प्रकार सभा को निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

तुलसी जयंती, २०२५ वि०

सुधाकर पांडेय
संयोजक,
बृहत् इतिहास उपसमिति, तथा
प्रधान मंत्री,
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी—

संपादकीय वक्तव्य

'हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास' का यह चतुर्थ भाग मध्यकालीन संत-साहित्य एवं सूफी साहित्य से संबद्ध है। ये दोनों प्रकार के वाङ्मय हमारे यहाँ बहुत दिनों तक न्यूनाधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। अनेक हिंदी प्रेमी विद्वानों की ऐसी कुछ धारणा-सी बन गई थी कि, वास्तव मे, काव्य की दृष्टि से देखने पर इनकी बहुत कम रचनाएँ उस कोटि मे रखी जा सकती हैं जिसे काव्य-शास्त्र के नियमानुसार 'विशुद्ध काव्य' कहा जा सकता है। वे इसी कारण, न तो इनकी ओर यथेष्ट ध्यान दे पाते थे, न इनके समुचित मूल्यांकन का कोई यत्न ही किया करते थे। किंतु इधर कुछ दिनों से ऐसे सज्जनों की मनोवृत्ति मे भी कुछ न कुछ परिवर्तन आ गया जान पड़ता है और हम देखते हैं कि, न केवल इस प्रकार के ग्रंथों का प्रकाशन कार्य बढ़ता जा रहा है, प्रत्युत संत एवं सूफी कवियों के संबंध में शोध कार्य तक भी किया जाने लगा है। इस प्रकार क्रमशः इनका महत्व दिनोंदिन बढ़ता जाता सा समझ पड़ता है। अतएव, अब ऐसा समय भी आ गया है कि हम, इनके अध्ययन के आधार पर, इनकी उन विशेषताओं का भी कोई पर्यालोचन करें जिनके कारण अभी तक इनके प्रति उदासीन रहने की प्रवृत्ति देखो जाती आई है तथा जिनका फिर भी अपना पृथक् मूल्य एवं महत्व भी हो सकता है।

संयोगवश जिस युग (अर्थात् संवत् १४०० से लेकर संवत् १७०० विक्रमी तक) में रची गई कृतियों की यहाँ चर्चा की गई है तथा उनके आधार पर किसी प्रवृत्तिविशेष के परखने की चेष्टा दीख पड़ेगी, वह इनका 'स्वर्ण युग' भी कहला सकता है और उसी मे प्रतिष्ठित किए गए आदर्शों का अनुसरण पीछे किया गया भी ठहराया जा सकता है। इसलिये कदाचित् हमारा यह कहना भी असंगत नहीं हो सकता कि, इसके कारण, प्रस्तुत भाग का महत्व और भी बढ़ जाता है। कहना न होगा कि कुछ इसी प्रकार का आशय लेकर, हमने इसे तैयार करने का संकल्प किया था और तदनुसार एक ऐसी संक्षिप्त योजना भी निर्मित की थी जिसकी पूर्ति की दशा में हमे इस संबंध में पूर्ण संतोष का अनुभव हो जा सकता था। परंतु ऐसा करते समय हमारे सामने अनेक प्रकार की ऐसी बाधाएँ भी उपस्थित होती गईं जिनपर विजय पाना सरल नहीं था। सर्वप्रथम कठिनाई उस प्रामाणिक सामग्री के अभाव की थी जिसके आधार पर ही यथेष्ट सफलता का मिलना संभव था। इसी प्रकार एक अन्य निरुत्साहित करनेवाली बात इस रूप में भी दीख पड़ी कि हमारे अपने सभी सुयोग्य बंधुओं की ओर से कोई यथेष्ट सुंदर सहयोग नहीं मिल पाया जिससे

इस भाग का निर्माण करते समय हमें प्रोत्साहन मिल सकता था। इनके सिवाय अपने स्वास्थ्य आदि से संबद्ध बहुत सी छोटी मोटी बातों के कारण भी इस कार्य मे अनावश्यक विलंब भी होता गया। फिर भी जो कुछ भी किया जा सका, उसके लिये हम अपने सहयोगियों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस भाग में हमने पाँच खंड कर दिए हैं जिनमे से केवल द्वितीय एवं तृतीय का ही संबंध वस्तुतः संतसाहित्य एवं सूफी साहित्यवाली काव्यकृतियों के इतिहास का अंश ठहराया जा सकता है। इसके पंचम खंड को भी हम, केवल इसी दृष्टि से इसके साथ जोड़ सकते हैं कि यह उनकी काव्यगत विशेषताओं की ओर कुछ संकेत करता है। इस भाग के शेष दो खंडों मे से प्रथम खंड उक्त दोनों प्रकार के साहित्यों की रचनासंबंधी पृष्ठभूमि से हमे परिचित कराता है और चतुर्थ खंड के अंतर्गत हमे कुछ ऐसी भी सामग्री देखने को मिल सकती है जो या तो इस प्रकार के वाङ्मयों द्वारा प्रभावित मानी जा सकती है अथवा जिसका एक तुलनात्मक अध्ययन कम मनोरंजक तथा उपादेय नहीं है। इस 'भाग' के निर्माण मे सहयोग प्रदान करने-वाले लेखकों का उल्लेख, उनकेवाले विभिन्न अंशों की ओर संकेत करते हुए, एक स्थल पर कर दिया गया है और उन सभी की संख्या ८ तक पहुँच गई है। अतएव, यह संभव है कि इनके कारण, प्रस्तुत ग्रंथ के अंतर्गत, उनकी अन्विति का बोध न हो सके जितनी केवल एक लेखक के रहते संभव हो सकती थी, किंतु हमारे विचार से इसके कारण इसमे वैसी कोई गंभीर त्रुटि भी नहीं आ पाई है।

जो कुछ भी और जैसा भी बन पड़ा है, वह वस्तुतः एक नवीन ढंग के प्रयास के रूप में सामने लाया जा रहा है। इसके लिये हमे स्वयं पूरा संतोष नहीं, और न हम इसे तब तक वैसा कोई महत्व ही दे सकते हैं जब तक इसके विषय में किन्हीं अधिकारी समीक्षकों की सच्ची सम्मति के देखने का हमे अनुभव भी न हो जाय।

परशुराम चतुर्वेदी

संकेत सारिणी

अक०	अकबर
अ० र०	अक्षय रस
अ० सा०	अनुराग सागर
अ० भा० सा०	अपभ्रंश भाषा और साहित्य
अ० सा०	अपभ्रंश साहित्य
आ० अक०	आईनए अकबरी
आ० ग्रं०	आदि ग्रंथ
उ० भा० सं० प० (प्र० सं०)	उत्तरी भारत की संत परंपरा (प्रथम संस्करण)
उ० भा० सं० प० (द्वि० सं०)	उत्तरी भारत की संत परंपरा (द्वितीय संस्करण)
उ० सं०	उदात्त संगीत
उ० म० इ०	उर्दू मसनवी का इर्त्तिका
ए ग्ला० ट्रा० का०	ए ग्लासरी आफ दि ट्राइब्स एँड कास्ट्स
ए मे० आ० मि०	ए मेटाफिजिक आफ मिस्टिसिज्म
ए लि० हि० अ०	ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ दि अरब्स
ए लि० हि० प०	ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ पर्शिया
ए शा० हि० मु० रू० इं०	ए शार्ट हिस्ट्री आफ दि मुगल रूल इन इंडिया
ए हि० प० लैं० लि०	ए हिस्ट्री आफ पर्शियन लैंग्वेज एँड लिटरेचर
क० उ० (अ० ह०)	कदीम उर्दू (अब्दुलहक)
क० उ० (हु०)	कदीम उर्दू (हुसेन खाँ)
क० क०	कबीर कसौटी
क० ग्रं० (का० सं०)	कबीर ग्रंथावली (काशी संस्करण)
क० ग्रं० (प्र० सं०)	कबीर ग्रंथावली (प्रयाग संस्करण)
क० प० श०	कबीर पंथी शब्दावली
क० सा० अ०	कबीर साहित्य का अध्ययन
क० सा० प०	कबीर साहित्य की परख
क० सा० सं०	कबीर साखी संग्रह
क० व०	कबीर वचनावली

क० सा० बी०	कबीर साहब का बीजक
क० ऐं० क० पं०	कबीर ऐंड कबीर पंथ
क० औ० क० पं०	कबीर और कबीर पंथ
क० ऐ० हि० फा०	कबीर ऐंड हिज फालोवर्स
क० बी०	कबीर बीजक
क० भा०	कबीर की भाषा
क० द०	कर्णाटक दर्शन
क० अ० म०	कश्फ अल् महजूब
का० रू० मू० स्रो० वि०	काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास
का० सू० वृ०	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
कु० कृ० मृ०	कुतबन कृत मृगावती
ख० बो० सा० इ०	खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास
ख्वा० गे० द०	ख्वाजा गेसू दराज
ख्वा० बं० त० स०	ख्वाजा बंदे नेवाज का तसव्वुफ व सलूक
ग० दा० बा०	गरीबदास की बानी
गी० गो०	गीत गोविंद
गु० गु०	गुसाईं गुरुबानी
गु० मु० लि० हिं० का०	गुरुमुखी लिपि मे हिंदी काव्य
गु० सा० बा०	गुलाल साहब की बानी
गो० ना० यु०	गोरखनाथ और उनका युग
च० ब० म०	चंदर बदन व महियार
छि० वा०	छिताई वार्ता
ज० प० सं० वा०	जनपदीय संत और उनकी बानी
जा० ग्रं०	जायसी ग्रंथावली
जा० प० सू० क० का०	जायसी के परवर्ती हिंदी सूफी कवि और उनका काव्य
ट्रा० ऐं० का०	ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स
ता० ज० उ०	तारीख जबान उर्दू
तु० नि०	तुरसीदास निरंजनी
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
द० उ०	दकन में उर्दू
द० हिं० ग० प०	दक्खिनी हिंदी का गद्य और पद्य
द० हिं० का० धा०	दक्खिनी हिंदी काव्य धारा

द० हिं०	दक्खिनी हिंदी
दा० ज० ली० प०	दादू जनम लीला परची
दा० द० वा०	दादूदयाल की वाणी
दि डे० स०	दि डेलही सल्टनेट
दि पं० सू० पो०	दि पंजाबी सूफी पोएट्स
दि नि० स्कूल हिं० पो०	दि निर्गुण स्कूल श्राफ हिंदी पोएट्री
दि बी० क०	दि बीजक श्राफ कबीर
दि ला० टा० शे० फ०	दि लाइफ ऐंड टाइम्स श्राफ शेख फरीद
दि सि० रे०	दि सिख रेलिजन
ध्व० लो०	ध्वन्यालोक लोचन
नं० दा० ग्रं०	नंददास ग्रंथावली
ना० भ० सू०	नारद भक्ति सूत्र
नि० सं० क० सिं०	निमाड़ के संत कवि सिंगाजी
नी० श०	नीति शतक
पं० उ०	पंजाब मे उर्दू
पं० प्रा० हिं० सा० इ०	पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास
प० का० सौं०	पद्मावत का काव्यसौंदर्य
प० सा०	परिचयी साहित्य
प० सा० बा०	पलटू साहब की बानी
पा० दो०	पाहुड़ दोहा
पी० प०	पीपाजी की परिचई
प्रा० सा० इ०	प्राकृत साहित्य का इतिहास
प्रीमु० प० हिं०	प्रीमुगल पर्शियन इन हिंदुस्तान
ब० वि०	बनारसी विलास
ब० ट्रै०	बर्नियर्स ट्रैवेल्स
ब० वा०	बषनाजी की वाणी
ब० फ०	बहरुल् फसाहत
भ० क० व्या०	भक्तकवि व्यासजी
भ० मा० बौ० ध०	भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म
भ० मा० (ना० दा०)	भक्तमाल (नाभादास)
भ० मा० (रा० दा०)	भक्तमाल (राघोदास)
भा० भा०	भारतीय भाषाएँ
भा० सा०	भारतीय साहित्य
भी० सा० बा०	भीखासाहब की बानी

मं० जी० न० प्र०	मंझन की जीवनी पर नया प्रकाश
मं० कृ० म० मा०	मंझनकृत मधुमालती
म० का० सं० सा०	मध्यकालीन संत साहित्य
म० भ० सा०	मराठी का भक्ति साहित्य
म० दा० वा०	मलूक दास की वानी
म० सा० शा०	मराठी में साहित्यशास्त्र
मि० मि० इं०	मिडीवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया
मी० आ०	मीराजुल आशकीन
मी० बृ० का० सं०	मीराबृहत् काव्य संग्रह
मु० का० भा०	मुगल कालीन भारत
मु० त०	मुन्तखिब तवारीख
मु० रि० मू०	मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट
यो० प्र०	योगप्रवाह
र० वा०	रज्जबवाणी
र० वि०	रस विमर्श
र० सि०	रससिद्धांत
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रे० से० हिं०	रेलिजेस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज
रै० दा० वा०	रैदास जी की वाणी
वि० गी०	विज्ञान गीता
वि० प०	विद्यापति पदावली
शां० सू०	शांडिल्य सूत्र
शां० र० ए० अ० ए० पु०	शांत रस : एक अध्ययन एवं पुनर्मूल्यांकन
शि० सिं० स०	शिवसिंह सरोज
श्री गु० ग्रं० सा० ए० प०	श्री गुरु ग्रंथ साहब : एक परिचय
श्री० गु० ना० प्र०	श्री गुरुनानक प्रकाश
श्री ता० त० अ० वा०	श्री तारणतरण अध्यात्म वाणी
श्री म० भ० गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
श्री म० भ० भ० र०	श्रीमद्भगवद्भक्तिरसायनम्
श्री म० भा०	श्रीमद्भागवत
श्री म० ह० दा० वा०	श्री महाराज हरिदास जी की वाणी
श्री ह० पु० वा०	श्री हरिपुरुष जी की वाणी
श्री ह० भ० र० सिं०	श्री हरि भक्ति रसामृतसिंधु
शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश

श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सं० क०	संत कबीर
सं० का०	संत काव्य
सं० द०	संत दर्शन
सं० ना० दे० हि० प०	संत नामदेव की हिंदी पदावली
सं० मा०	संत माल
सं० वा०	संतवाणी
सं० वा० सं०	संतवाणी संग्रह
सं० सिं०	संत सिंगाजी
सं० सा०	संत साहित्य
सं० सिं० ए० अ०	संत सिंगाजी : एक अध्ययन
सं० सा० सु० मा० (५)	संत साहित्य सुमन माला (५)
सं० धा० वि०	संतों के धार्मिक विश्वास
स० क० च०	सद्गुरु श्रीकबीरचरितम्
सि० च०	सिद्धचरित्र
सुं० ग्रं०	सुंदर ग्रंथावली
सू० का० सं०	सूफी काव्य संग्रह
सू० मि० वि०	सूफी मिस्टिसिज्म इन बिहार
सू० सा०	सूरसागर
सू० म० सा० सा०	सूफी मत, साधन और साहित्य
स्वा० रा० हिं० र०	स्वामी रामानंद की हिंदी रचनाएँ
हिं० अ० भा०	हिंदी अभिनव भारती
हिं० क० भ० आं०	हिंदी और कन्नड का भक्ति आंदोलन
हिं० सा०	हिंदी साहित्य
हिं० सा० इ०	हिंदी साहित्य का इतिहास
हिं० सा० आ० इ०	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
हिंदु० सा० इ०	हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास
हि० श० सि०	हिस्ट्री आफ शतारी सिलसिला
हिं० म० सं० दे०	हिंदी को मराठी संतों की देन
हिं० द० रू०	हिंदी दश रूपक
हिं० सा० को०	हिंदी साहित्य कोश
हिं० सा० आ० का०	हिंदी साहित्य का आदिकाल
हिं० सा०	हिंदी साहित्य

हिं० नि० का० धा० दा० पृ०	हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि
हि० सा० का० बृ० इ० (भा० १)	हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग १)
हिं० का० नि० सं०	हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय

———

चतुर्थ भाग के लेखक तथा उनके द्वारा लिखित अंश

लेखक	लिखित अंश
श्री परशुराम चतुर्वेदी, वकील, बलिया (उ० प्र०)	प्रथम खंड—अध्याय १, २, ३ (केवल (४) को छोड़कर) ४ व ५ द्वितीय खंड—अध्याय ५ के (२) का ५, अध्याय ७ के (६) को छोड़कर और अध्याय ८ के (१) को छोड़कर तृतीय खंड—अध्याय ३ वाले ४ के (क) से (ङ) तक, अध्याय ४' अध्याय ५ वाले ३ को छोड़कर, अध्याय ६ और ७ चतुर्थ खंड—अध्याय २ का 'अ' और 'आ' के केवल (४) व (५) पंचम खंड—अध्याय १ और २ ('इ' को छोड़कर)
डा० रामपूजन तिवारी एम० ए०, पी-एच० डी०, विश्वभारती शांति निकेतन, बंगाल	प्रथम खंड—अध्याय ३ का (४) तृतीय खंड—अध्याय १
श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम० ए०, विशेष कार्याधिकारी, शिक्षा (क २) विभाग सचिवालय, लखनऊ	द्वितीय खंड—अध्याय १, २, ३, ४ व ५ (केवल उसके (२) वाले ५ को छोड़कर)
डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित एम० ए०, डी० लिट्०, लखनऊ विश्वविद्यालय, बनारसी बाग, लखनऊ	द्वितीय खंड—अध्याय ६ और अध्याय ८ का (१)
डा० सरला शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी, लखनऊ वि० वि० ६३।३ आर्यनगर, लखनऊ	तृतीय खंड—अध्याय २ और अध्याय ३ (केवल '४' वाले (क) से (३) तक को छोड़कर)
डा० भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०, किरोडीमल	चतुर्थ खंड—अध्याय १

डिग्री कालेज, ४।२३ माडल टाउन, दिल्ली।

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी — चतुर्थ खंड—अध्याय २ के 'आ' वाले (१) से (३) तक

डा० धर्मपाल मैनी, एम० ए०, पी-एच० डी०, पंजाब विश्वविद्यालय,–ई १।५२ सेक्टर १४, चंडीगढ़–१४ — पंचम खंड—अध्याय १ के 'आ' और 'इ'।

विषयसूची

द्वितीय खंड

तृतीय खंड

सूफी साहित्य

चतुर्थ खंड

अन्य साहित्य

पंचम खंड

साहित्यिक समीक्षा

प्रथम खंड

पृष्ठभूमि और आधारभूत परिस्थितियाँ

प्रथम अध्याय

उपक्रम

(१) धार्मिक साधना : क्रमिक विकास

'साधना' शब्द से अभिप्राय, साधारणतः, उस प्रयत्नविशेष का होता है जो किसी प्रधान उद्देश्य को लेकर की जानेवाली क्रिया का बोधक हो। इसका 'साध्य' वा लक्ष्य कोई ऐहिक सुख अथवा पारलौकिक आनंद हुआ करता है, जिसकी सिद्धि के अस्तित्व मे विश्वास रखते हुए, कोई 'साधक' उसके लिये प्रवृत्त होता है तथा उसकी उपलब्धि की आशा में सदा सोत्साह अग्रसर बना रहना चाहता है। धार्मिक साधना इनमें से द्वितीय प्रकार की ही सफलता से संबंध रखती है और तदनुसार 'पारलौकिक आनंद' भी वस्तुतः उस आदर्श स्थिति का ही परिचायक समझा जाता है जिसे प्रत्येक श्रद्धालु साधक अपने जीवन का अंत हो जाने पर प्राप्त करना चाहता है तथा जिसके स्वरूप का अनुमान भी वह अपने संस्कारों के बल पर कर लिया करता है। ऐसी साधना के लिये किसी साधक को अपनी व्यक्तिगत योग्यता के अतिरिक्त प्रायः किसी बाह्य शक्ति या प्रेरणा की भी आवश्यकता पड़ जाया करती है जिसकी पूर्ण सहायता पर निर्भर होकर वह अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है तथा वह अपने लिये विविध उपयुक्त साधनों को भी काम मे लाता है। धार्मिक साधना प्रधानतः या तो ज्ञान का आधार लेकर चलती है अथवा भक्ति का आश्रय ग्रहण करती है, किंतु अनेक प्रचलित धर्मों वा संप्रदायों के संबंध में अधिकतर यह भी देखा जाता है कि उनके साधक विविध कर्मों का उपक्रम कर, उन्हें निश्चित नियमों के अनुसार अनुष्ठित करना भी आवश्यक मानते हैं। इनमे से ज्ञानपरक साधना बहुधा तर्क वितर्कों के सहारे चला करती है जहाँ भक्तिपरक साधना मे उनका स्थान श्रद्धा और विश्वास ग्रहण कर लेते हैं। परंतु कर्मप्रधान साधना के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि शास्त्रविहित कार्योंवाले साधारण नियमों के भी निर्वाह में पूर्णतः दत्तचित्त रहा जाय। हाँ, यह दूसरी बात है कि कोई कर्मोपासक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये अपने व्यक्तिगत जीवन को ही सर्वथा संयत वा सुंदर बना लेना चाहे। ऐहिक सुखों के प्राप्त्यर्थ की जानेवाली साधना के लिये इतने प्रकार की सारी बातें अपेक्षित नहीं समझी जातीं। इसके साधक का अपने दैनिक जीवन में केवल कार्यकुशल, व्यवहार-दक्ष एवं साधनसंपन्न जैसा हो जाना भी यथेष्ट कहला सकता है जिस कारण इसके लिये 'साधना' शब्द का प्रयोग उतना उपयुक्त भी नहीं ठहराया जाता, प्रत्युत उसे कभी कभी धार्मिक साधना मात्र का ही पर्याय तक भी मान लिया करते हैं।

भारतीय धार्मिक साधना के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रारंभिक वैदिकयुग मे यह कर्मकाडप्रधान रही होगी। और उन दिनों के ऐसे 'साधकों' का समय अधिकतर देवपूजन, पितृपूजन एवं यज्ञादि के अनुष्ठानों में व्यतीत होता रहा होगा। इसके सिवाय हमे तत्कालीन वैदिक वाङ्मय के अंतर्गत कतिपय ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि कुछ लोग तपश्चर्या में भी निरत रहा करते थे तथा अन्य लोग योगसाधना किया करते थे और कभी कभी सदाचरण की ओर भी ध्यान दिया करते थे। परंतु इसके अनंतर औपनिषदिक युग से ही हमे धार्मिक साधना के क्रमशः ज्ञानप्रधान होते जाने के भी प्रमाण मिलने लगते हैं और स्वयं उपनिषद् साहित्य मे आए हुए कुल उल्लेखों से हमे ऐसा भी लगता है कि उन दिनों के साधकों की मनोवृत्ति क्रमशः भक्ति की ओर भी उन्मुख होती जा रही होगी तथा पीछे कभी कभी वैसे लोगों के समक्ष ऐसे प्रश्न भी उठ जाते रहे होंगे कि इन तीनों मे वस्तुतः किसे प्रधानता देनी चाहिए। कुछ इसी प्रकार की एक समस्या के सामने आ जाने पर प्रसिद्ध वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी कठिनाइयाँ रखनी पड़ी थीं जिनके समाधान मे उन्होंने इन्हे 'ज्ञान-कर्म-योग-समुच्चय' के रूप मे अपना समन्वयात्मक उपदेश दिया, जिसके साथ भक्तियोग का भी पुट आ जाने के कारण 'शुद्ध निष्काम भावनापूर्वक आचरण करने' का एक सरल मार्ग निकल आया। परतु आगे चलकर फिर भी उसका ठीक ठीक अनुसरण नहीं किया जा सका और 'पौराणिक युग' के आते आते, जिस समय प्राचीन धार्मिक साधना का पुनरुद्धार होने लगा था, अवतारवाद एवं तंत्रोपचार की पूजन पद्धति के प्रभाव मे पड़कर, उसने एक नितांत नवीन रूप धारण कर लिया जिसपर न केवल पौराणिक उपाख्यानों की छाप लक्षित हो रही थी, प्रत्युत जो तत्वतः बौद्ध एवं जैन मान्यताओं द्वारा भी बहुत कुछ अनुप्राणित कहा जा सकता था। वास्तव मे इसके आगे भी बहुत दिनो तक अनेक मतवादों का जंजाल निर्मित होता चला गया जिसे दूर करके धार्मिक स्थिति को सुधारने के प्रयत्न अनेक महापुरुषों द्वारा किए गए और उनमे से स्वामी शंकराचार्य, सरहपा जैसे सहजयानी सिद्ध, रामसिंह जैसे जैन मुनि, गुरु गोरखनाथ जैसे नाथपंथी योगी एवं विविध भक्ति संप्रदायों के प्रवर्तक शैव एवं वैष्णव महापुरुषों के नाम लिए जा सकते हैं। इनमे से भी वैष्णव संप्रदायों को प्रतिष्ठित करनेवाले प्रायः सभी भक्तिसाधना को अपनानेवाले रहे और उन्हे बहुत कुछ प्रेरणा उन प्रमुख आचार्यों से भी मिली जो रामानुजाचार्य, निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य एवं महाप्रभु चैतन्य देव जैसे नामों से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार उन्हीं दिनो इस देश के अंतर्गत उन कतिपय सूफी संप्रदायों का भी प्रचार हुआ जो मूलतः इस्लाम धर्म का अनुसरण करनेवाले थे, जिनकी बहुत सी बातों के वेदांत दर्शन एवं बौद्ध धर्म द्वारा प्रभावित होने के कारण उनका दूसरो पर भी कुछ प्रभाव डालना कठिन न था।

(२) निर्गुण एवं सगुण की भावना

इस प्रकार धार्मिक साधना विषयक उपर्युक्त साधारण सर्वेक्षण के भी आधार पर कहा जा सकता है कि सं० १४०० के आस पास की जिस धार्मिक स्थिति के संबंध मे हम अभी मोटे तौर पर संकेत कर आए हैं, उसमे भक्तिसाधना का प्राधान्य था तथा उन दिनो प्रचलित विभिन्न संप्रदायों के कारण, इतना और भी स्पष्ट था कि उसमे न केवल श्रद्धा एवं प्रेम अपितु तंत्रोपचार भरी उपासना, ज्ञानमूलक आस्था, शुद्ध रागानुराग भावना, योगाश्रित अभ्यासों के प्रयोग एवं व्यापक मानवप्रेम जैसी अनेक बातों का क्रमशः न्यूनाधिक समावेश होता चला गया था, जिसके फलस्वरूप एक प्रश्न इस रूप मे भी उठने लगा था कि जो कोई सत्ता ऐसे साधको के लिये आराध्य है वा इसका इष्टदेव है उसका वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है ? क्या हम उसपर विविध सात्विक गुणों का आरोप कर तथा उसे दया, दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त मानकर और उसमे यह विश्वास करते हुए कि वह अपने भक्तों का दुःख दूर करने के लिये विभिन्न अवतार धारण किया करता है, 'सगुण' कहें अथवा, उसके विषय मे किसी भी प्रकार के गुणो की कल्पना न करके उसे 'निर्गुण' वा 'गुणातीत' भी कह डाले। सगुणवादी भक्त उसे स्वभावतः साकार समझा करते, उसके किसी न किसी अलौकिक रूप की कल्पना कर उसमे अनंत शक्ति एवं ऐश्वर्य का समावेश कर देते थे तथा, उसमे उच्चतिउच्च मानवीय गुणों के भी आ जाने के कारण, उसके साथ अपने किसी विशिष्ट संबंध के अनुसार व्यवहार करना अपना परम कर्तव्य समझा करते थे। वे उसके सदेह प्रत्यक्ष न रहने पर, उसके विग्रह वा मूर्ति तक की उपासना करने लग जाते तथा उसके लिये विशाल मंदिरों की रचना किया करते। इसके विपरीत निर्गुणवादी उसे निराकार ठहराया करते, उसे 'अगम' एवं 'अगोचर' कहा करते तथा उसके विषय मे वे यह भी बतलाते कि वह न तो कभी जन्म ग्रहण करता है और न उसकी कोई मूर्ति ही हो सकती है जिसकी स्थापना के लिये किन्हीं मदिरादि का निर्माण आवश्यक हो। ये लोग निर्गुण को सर्वथा मायारहित और 'एकमात्र परमतत्व' मानते थे जहाँ सगुण को ये मायिक एव इसी कारण हेय तक भी कह डालते थे। किंतु सगुण-वादी भक्तों ने 'निर्गुण' को ज्ञानमात्र का ही विषय कहकर केवल 'सगुण' को ही उपासना के लिये सुलभ ठहराया।

'निर्गुण' शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य मे भी किया गया मिलता है और वह प्रायः उसी तत्व की ओर निर्देश करता है जिसकी ओर निर्गुणवादियों ने संकेत किया। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (३।११) मे यह उस अद्वितीय 'देव' का एक विशेषण बनकर आया है जो सभी भूतों मे अंतर्हित है, सर्वव्यापी है, सभी कर्मों का अधिष्ठाता है, सबका साक्षी है, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला है तथा

निरुपाधि भी है, जिसकी ओर संकेत करते हुए 'श्रीमद्भगवद्गीता' (१३।१२) मे भी कहा गया है कि उसमे सब इंद्रियों के गुणों का आभास है पर उसके कोई इंद्रिय नहीं है, वह सबसे अनासक्त रहकर भी सबका पालन करता है तथा निर्गुण होता हुआ भी, सभी गुणों का उपयोग करता है। संत कबीर ने पीछे उसी निर्गुण का एक पर्याय 'अगुण' भी दिया (क० ग्रं० प० १८३) तथा उसके द्वारा सूचित होनेवाले तत्व को 'गुण अतीत' भी बतलाकर उसकी 'निर्गुण ब्रह्म' के रूप मे उपासना करने का उपदेश दिया (पृ० ३७५) तथा उसे 'निरगुण राम' कहकर उसकी 'गति' को अगम्य ठहराया (स० ३६)। उन्होंने इसी बात का एक स्पष्टीकरण इस प्रकार भी किया है कि 'राजस, तामस व सातिग (सात्विक)' मे तीनों ही गुण वास्तव मे उसकी माया मात्र है तथा वह इन तीनों से परे का 'चौथा पद' है (प०१८४)। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर आदि पिछले संतों ने उक्त 'निर्गुण' के लिये जिस प्रकार के शब्दों का प्रयोग, उसका परिचय देते समय, किया उसकी ओर उनके बहुत पहलेवाले अनेक भक्तों का भी ध्यान जा चुका था और वे अपने इष्टदेव को कदाचित् निर्गुण जैसा भी समझा करते थे। उदाहरण के लिये ईस्वी सन् की संभवतः ५वीं शती से लेकर उसकी ८वीं शती तक की अवधि के अंतर्गत, उत्पन्न हुए प्रसिद्ध वैष्णव 'आडनारों' एवं शैव 'नायन मारों' की तमिल रचनाओं पर विचार प्रकट करते हुए एक लेखक ने कहा है, 'इन द्रविड़ संतों—दोनों, वैष्णवों एवं शैवों—के ज्ञान एवं सहज बोध की अपूर्वता इस बात मे लक्षित होती है कि इनकी परमतत्व विषयक दृष्टि, उसे एक ही साथ सर्वातिशायी, निरपेक्ष, अंतर्यामी और आत्मीय व्यक्ति भी मानते हुए काम करती है और किसी ऐसे ही परमेश्वर को ये लोग 'भावभगंति' और प्रेमासक्ति के द्वारा उपलब्ध भी करना चाहते हैं[1]।' इसी प्रकार हम प्रसिद्ध लिंगायत संत अल्लमप्रभु (१२वीं शती) के कन्नड़वाले 'वचनों' मे भी इस प्रकार कहा गया पाते हैं 'शून्यलिंग मूर्ति न साकार है न निराकार है, उसका न आदि है न अंत है, वह न यह है और न पर है, न सुख है न दुःख है, न पुण्य है न पाप है, न प्रभु है न दास है, न कार्य है न कारण है, न धर्मा है न कर्मा है, न पूज्य है न पूजक है—वह इन दोनों से परे है[2]। 'मराठी के संत कवि ज्ञानदेव (सं० १३३२-१३५३) ने भी इसी बात को इन शब्दों में कहा है', हे गोविंद, मेरी तो समझ मे नहीं आता कि तुम्हें सगुण कहूँ वा निर्गुण, तुझे स्थूल कहूँ वा सूक्ष्म क्योंकि तू इन दोनों मे व्याप्त है, तुझे दृश्य कहूँ

[1] ए मे० आ० मि०, १९२३, पृ० ४२३।

[2] हिं० क० भ० आं०, पृ० ३१८।

वा अदृश्य क्योंकि तू तो मुझे दोनों ही प्रतीत होता है[1]।' इसके सिवाय संत कबीर के कुछ ही परवर्ती उड़िया भक्त कवि बलरामदास ने भी अपनी 'विराट् गीता' के अंतर्गत उसके लिये कहा है, 'तेरा न रूप है न रेखा है। तू शून्य पुरुष, सदेह शून्य है तथा यद्यपि तू देहधारी है फिर भी मै तुझे रिक्त पाता हूँ[2]।'

(३) निर्गुण भक्ति का स्वरूप

उपर्युक्त भावनावाले भक्त कवियों की उपलब्ध रचनाओं पर विचार करते समय हम देखते हैं कि ये सभी अपने इष्टदेव वा आराध्य को वस्तुतः अगम तथा अनिर्वचनीय तक ठहराते जान पड़ते हैं। ये बहुधा उसके विषय में यह भी कहते पाए जाते हैं कि हम केवल अपने भीतर उसका अनुभव करते हैं अथवा कर सकते हैं, इसमे कोई संदेह नहीं। परंतु इनमे से कुछ लोग उसे, वस्तुतः रामकृष्णादि के जैसे आदर्श सगुण रूपों अथवा उनकी मूर्तियों तक मे, देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। दूसरे या तो उसे योगसाधना द्वारा 'अंतर्ज्योति' के रूप में देखना चाहते हैं अथवा उसका अनुभव 'अनहद' वा अनाहत शब्द के रूप मे ही करना पसंद करते हैं। इसी प्रकार इनमे से कुछ की प्रवृत्ति या तो उसे सर्वत्र व्यापक रूप मे दृष्टिगोचर करने की पाई जाती है अथवा ये उसे अपने प्रियतम के रूप मे ही, प्रतिष्ठित करते हुए, उसको किसी एक ही रूप मे अपनाना चाहते हैं जिस कारण हम इन सभी की मनोवृत्ति ठीक एक ही प्रकार की नहीं पाते। तदनुसार हमे ये, कम से कम क्रमशः भक्ति, योग, ज्ञान एवं प्रेमवाली उपर्युक्त साधनाओं को विशेष महत्व देते हुए भी, जान पड़ते हैं। ये लोग वैसे निर्गुण तत्व के विषय मे अपने को पूर्णतः अनजान घोषित करते हैं, किंतु ये उसके साथ अपना अत्यंत निकट का संबंध प्रकट करने के लिये भी तैयार रहते हैं। ये उसे सब कहीं सदा वर्तमान रहनेवाला कहकर उसको अपने भीतर अवस्थित कहने से भी नहीं चूकते। अतएव नायन मार अप्पर इस संबंध में इस प्रकार भी उपदेश देते दीख पड़ते हैं, 'वह ज्योतिस्वरूप स्वामी काष्ठ मे छिपी आग एवं दूध मे छिपे घी की भाँति हमारे भीतर अंतर्हित है, इसलिये प्रेम की मथानी मे विवेक की रस्सी लगाकर उसके द्वारा मंथन करो, वह अवश्य मिल जाएगा[3]।' उनका इसी प्रकार अपने इष्टदेव के प्रति यह भी कहना है, 'हे स्वामिन्, मैं स्वयं अपने को नहीं जानता, न मुझे कोई तेरा ही परिचय प्राप्त है, मुझे तो केवल इतना ही पता है कि मैं

[1] म० म० सा०, पृ० १७।
[2] म० मा० बौ० ध०, पृ० ६६।
[3] 'अप्पर' (जी० ए० नटेसन, मद्रास), पृ० ४३।

तेरा दास हूँ।'[1] ये लोग प्रायः वैसे आराध्य एवं आराधक को मूलतः एक रूप तक समझ लेने की भावना प्रकट कर दिया करते हैं जो साधारण प्रकार की भक्ति साधना वाली दृष्टि के अनुसार हमें कुछ विचित्र सी लगती है। इस प्रकार का एक उदाहरण हमे जैन मुनि रामसिंह के उस दोहे मे मिलता है जहाँ पर वे कहते हैं--"मेरा मन तो परमेश्वर मे मिल गया है, यहाँ तक कि स्वयं परमेश्वर भी मेरे मन का ही रूप धारण कर चुका है, जब ये दोनों ही समतल में आ गए तो अब मैं पूजा किसकी करूँ ?"[2] इसी प्रकार प्रसिद्ध वीरशैव वा लिंगायत भक्त वसव भी भी एक स्थल पर कहते हैं, 'हे कूडल संगम, धनी लोग शिव के लिये मंदिरों का निर्माण किया करते हैं किंतु मुझ जैसे अकिंचन की दशा वैसी नहीं है, मेरे तो अपने पैर ही खंभे हैं जिनपर मेरा शरीर मंदिर के रूप मे खड़ा है और जो मेरा शिर है वह इसका कलश बना हुआ है, इत्यादि।'[3] जिससे प्रकट होता है कि भक्त अपने इष्टदेव को कहीं अपने से पृथक् नहीं समझा करते, प्रत्युत अपनी ऐसी भावदशा को ये, कदाचित् अपनी साधनो की परिणति स्वीकार करते हैं जिसमे साधक एवं आराध्य दोनों मे समरसता आ जाया करती है।

अतएव यदि हम निर्गुण भक्ति के स्वरूप का निर्धारण करना चाहें तो हमे उसके आराध्य, साधक एवं साधना के अनुसार विचार करना पड़ेगा। निर्गुण भक्ति-वाले आराध्य के निर्गुण, निराकार एवं अनिर्वचनीय तक होने की ओर पहले संकेत किया ही जा चुका है। निर्गुणी भक्त उसके शून्यवत् होने तक मे किसी प्रकार का संदेह नहीं करते और वे फिर भी उसे सर्वत्र व्यापक एवं अगोचर तक ठहराते हैं। उनके अनुसार उसका इस प्रकार रहस्यमय होना ही उसे सबके केवल निकट ही नहीं अपितु बाहर और भीतर भी एक समान ला देता है तथा इसी प्रकार उसके केवल एक-मात्र वा अद्वितीय परमतत्व होने के कारण हमे उसका एक व अभिन्न अंग होना भी सिद्ध कर देता है। संत ज्ञानेश्वर के अनुसार अद्वैत मे भक्ति है, यह बात न तो सिद्ध करने की है और न इसका वर्णन ही किया जा सकता है, यह सत्य केवल अपने अनुभव से संबंध रखता है। अपने 'अमृतानुभव' ग्रंथ के अंतर्गत वे इसके लिये एक दृष्टांत भी देते हैं और बतलाते है कि 'जैसे एक ही चट्टान मे गुफा, मंदिर, मूर्ति एवं भक्त के भी आकार खुदवाए जाते हैं वैसे ही हमें अभेद भक्ति का व्यवहार भी समझ लेना चाहिए तथा विश्व एवं विश्वात्मक देव को एक ओर

[1] वही, पृ० ४६।

[2] पा० दो०, पृ० १६।

[3] क० द०, पृ० ११८।

अभिन्न मानकर अभेद भक्ति करनी चाहिए।" इसी बात को समर्थ रामदास ने भी इस प्रकार कहा है—"स्वयं अपने को भक्त कहना और उससे (भगवान् से) "विभक्त" रहकर उसकी भक्ति करना कुछ विलक्षण सा लगता है, क्योंकि भक्त वही हो सकता है जो 'विभक्त' न हो और वही विभक्त भी कहला सकता है जो 'भक्त' न हो।" इस प्रकार इन महाराष्ट्रवाले संतों की वास्तविक साधना निर्गुण भक्ति ही प्रतीत होती है और उनकी रचनाओं मे जो कुछ उदाहरण सगुण भक्ति के मिलते हैं वे उसके लिये किए गए प्रारंभिक प्रयोगों जैसे जान पड़ते हैं तथा केवल इसी दृष्टि से उनका कोई महत्व भी हो सकता है। संत ज्ञानेश्वर के समकालीन एवं सहयोगी संत नामदेव की भी धारणा ठीक इसी प्रकार की जान पड़ती है जिन्हे संत कबीर ने किसी आदर्श वैष्णव भक्त के रूप मे एक से अधिक बार स्मरण किया है। ऐसी निर्गुण भक्ति की साधना के लिये वास्तव मे विभिन्न प्रकार के साधनों की भी उतनी आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। किसी मूर्ति, मदिर अथवा पूजनादि के लिये सामग्री की तो आवश्यकता ही नहीं, इसके निमित्त किसी प्रकार के विधान अथवा मंत्रादि संबंधी ज्ञान भी आवश्यक नहीं। निर्गुणी भक्त यदि दार्शनिक भी है तो वह अपने आत्मविचार मे संतुष्टि का अनुभव करके ही आनदित हो सकता है और यदि वह योगपरक साधनाओं में भी पटु है तो वह तदनुसार कुंभक की स्थिति मे षट्चक्रों का भेदन कर, अंत मे अनहद के साथ अपनी 'सुरति' को जोड़ दे सकता है। इसी प्रकार, यदि वैसे भक्त की प्रवृत्ति कहीं अपने आराध्य को कोई अनुपम व्यक्तित्व प्रदान कर देने की हुई तो वह उसे या तो अपने सद्गुरु, पिता वा इसी प्रकार की किसी अन्य आदरणीय कोटि मे लाकर उसके प्रति अपना श्रद्धाभाव प्रकट कर सकता है, उसे अपना परम स्वामी मानकर उसके प्रति सभी कुछ अर्पित कर सकता है अथवा, इसी प्रकार उसके साथ किसी एक ऐसे गूढ़ प्रेम का व्यवहार कर सकता है जो न केवल विशुद्ध दापत्य भाव मे ही उपलब्ध है, प्रत्युत जिसकी अंतिम सिद्धि को स्वानुभूति तक की कोटि मे रखा जा सकता है। सगुण भक्ति के जो नौ प्रकार (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन जैसे रूपों में) बतलाए जाते हैं उन्हे निर्गुण भक्ति की दशा मे भी काम मे लाया जा सकता है, किंतु जैसा संत तुरसीदास निरंजनी ने कहा है, ऐसे भक्तों की अद्वैतवादी मनोवृत्ति के अनुसार उनमे नितांत विलक्षण परिवर्तन आ जाया करता है और यदि उनके साथ प्रेमा भक्ति को भी जोड़कर उन्हे "नवधा" की जगह "दशधा" रूप दे दिया जाय तो हमे इस अभेदमयी भक्तिसाधना के वास्तविक स्वरूप को समझने मे अधिक सरलता भी आ जाती है। निर्गुण भक्ति के आकर्षक होने मे इसके इष्टदेव निर्गुण वा गुणातीत परमतत्व का रहस्यमय होना भी

किसी प्रकार बाधक नहीं, क्योंकि ऐसी रहस्यमयता के कारण उसके सौंदर्य में कमी नहीं आती। विज्ञानवेत्ता अलबर्ट आइंस्टीन का तो यहाँ तक दावा है कि "जिस किसी परम सुंदर वस्तु की हम अनुभूति उपलब्ध कर सकते हैं वह रहस्यमयी ही हो सकती है और वही वस्तुतः सच्ची कला एवं सच्चे विज्ञान के लिये मूलस्रोत भी ठहराई जा सकती है।"[१]

---

[१] 'दि मोस्ट ब्युटिफुल वी कैन एक्सपीरियंस इज दि मिस्टीरियस। इट इज दि सोर्स आफ आर्ट ऐंड साइंस।'—अलबर्ट अ इस्टीन।

द्वितीय अध्याय

राजनीतिक परिस्थिति

(१) तुगलक, सैयद और लोदी राजवंश

हमारे आलोच्य काल (सं० १४००-१७००) का आरंभ उस समय होता है जब दिल्ली के सिंहासन पर सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (शा० का० सं० १३८२-१४०८) आसीन था जिसके राज्य का विस्तार सुदूर दक्षिण तक समझा जाता था। उसने यही समझकर एक बार अपनी राजधानी को, दिल्ली की जगह देवगिरि के रूप मे स्वीकार करने का प्रयत्न किया था जो दिल्ली, गुजरात, लखनौती, सोनार गाँव, तिलंग, आदि चतुर्दिक् स्थित अनेक प्रमुख स्थानों से लगभग बराबरी की दूरी पर अवस्थित था तथा जिसका नाम भी बदलकर उसने 'दौलताबाद' निश्चित कर दिया। कहते हैं, दिल्ली छोड़कर वहाँ चले जाने का आदेश प्रसारित करते समय उसने इसके अक्षरशः पालन की ओर भी ध्यान रखा और उस प्रसिद्ध नगर का उजाड़ यहाँ तक पूरा हो गया कि वहाँ पर कोई एक साधारण कुत्ता तक भी रहने नहीं पाया। प्रत्येक व्यक्ति को वहाँ से बलपूर्वक हटा दिया गया और उसकी रुग्णावस्था, बाल्यावस्था अथवा वृद्धावस्था पर भी विचार नहीं किया गया। सुल्तान का उक्त फरमान लगभग सं० १३८६ मे जारी हुआ था जिसके अनुसार कार्य संपन्न हो जाने तथा जनता द्वारा बहुत कुछ कष्ट सह चुकने पर, फिर सब किसी को दौलताबाद से दिल्ली वापस आ जाने की भी अनुमति मिल गई। उसने इसी प्रकार, एक बार ताँबे के सिक्के चलाए, कई बार सुदूर चीन जैसे देशों तक पर चढ़ाई करने के मंसूबे बाँधे एवं मिस्र देश के खलीफा से अपनी राज्यसत्ता के लिये धार्मिक स्वीकृति भी मँगाई। फिर भी वह कोरा मनस्वी अथवा महत्वाकांक्षी शासक मात्र नहीं था, किंतु उसकी कई बातों से उसका एक योग्य एवं पक्षपातरहित सुल्तान होना भी जान पड़ता था। वह न केवल स्वयं विद्याव्यसनी था और कविताएँ तक भी बना लिया करता था, प्रत्युत वह विद्वानों का संरक्षण भी किया करता था। उसे अपनी आज्ञा की अवहेलना पसंद न थी और ऐसे अवसरों पर वह किसी बड़े वा प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी दंड प्रदान करने मे नहीं चूकता था। उसके समकालीन विदेशी यात्री इब्न बतूता (स० १३६१-१४३५) का कहना है कि एक बार उस काल के एक प्रसिद्ध मुसलमान संत शेख शिहाबुद्दीन से उसने अपने यहाँ रह-कर कुछ राज्यकार्य मे भाग लेने के लिये कहा जिसे अस्वीकार करने पर उसने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को आदेश दिया कि वह उनकी दाढ़ी का एक बाल उखाड़ ले तथा

ऐसा न करने पर इन दोनों की ही दाढ़ियों में से बाल उखड़वा लिए गए।[1] इसी प्रकार उसने अनेक अन्य व्यक्तियों के साथ भी क्रूरता का व्यवहार किया था जिससे उसके अपनी धुन के पक्के एवं कठोर होने तक की बात सिद्ध होती है। वह अपनी हिंदू प्रजा के प्रति व्यवहार करते समय अलाउद्दीन खिलजी अथवा फीरोज तुगलक आदि कई सुल्तानों से कहीं अधिक उदार शासक सिद्ध हुआ। उसके सामने इस बात का महत्व कदाचित् अधिक था कि मेरा अपना कर्तव्य, अच्छे से अच्छे ढंग से अपनी प्रजा पर शासन करना है जिस कारण उसने मजहबी कट्टरपन के प्रति प्रायः उपेक्षा का ही भाव प्रदर्शित किया।

परंतु उसका इस प्रकार का निष्पक्ष व्यवहार सुल्तान फीरोज तुगलक (रा० का० सं० १४०८-४५) को पसंद नहीं था। इसने अपने शासनकाल में हिंदुओं के प्रति इतनी असहिष्णुता का व्यवहार किया कि उसके विषय में कभी कभी धर्मांध होने की भी चर्चा की जाती है। फीरोज न तो उतना योग्य था और न उसमें अपने पूर्ववर्ती मुहम्मद की जैसी महत्वाकांक्षा ही थी। इसने अपने समय की शासनपद्धति में कुछ सुधार करने की चेष्टा अवश्य की तथा इसने मजहबी शिक्षा के प्रचार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। किंतु मुहम्मद के अनंतर जो खलबली मच गई और दूरस्थित प्रांतों के शासकों ने कहीं कहीं केंद्र के प्रति विद्रोह का झंडा उठाया उसे सँभाल पाने में यह अपने को पूर्ण समर्थ नहीं सिद्ध कर सका जिसके फलस्वरूप दिल्ली का साम्राज्य विशृंखलित हो चला। फीरोज के मंत्री खानेजहाँ मकबूल के लिये कहा जाता है कि वह एक निपुण व्यक्ति था, किंतु वह भी अपनी दुर्व्यसनप्रियता के कारण विवश था और उसकी लगभग दो सहस्र रखेलिनें तथा अगणित बच्चे कच्चे उसके मार्ग में बाधा डालने के लिये कम न थे। उसके मरणोपरांत उसका पुत्र जूना शाह उसका उत्तराधिकारी बना जिसकी चर्चा मुल्ला दाऊद ने अपनी 'चंदायन' में की है। मुल्ला दाऊद ने 'फीरोज शाह सुल्तान' का भी नाम लिया है तथा उसकी प्रशंसा करते हुए उसके वजीर का 'जौनासाहि' होना बतलाया है। फीरोज तुगलक के अनंतर आनेवाले किसी भी सुल्तान में स्थिति को सुधारने की क्षमता नहीं रह गई थी। अतएव जब सं० १४५५ में तिमूरलंग का दिल्ली पर आक्रमण हुआ उस समय वहाँ का सुलतान महमूद अत्यंत निकम्मा सिद्ध हुआ और नगर में आतंक फैल गया। तिमूर की आज्ञा से वहाँ के सहस्रों व्यक्ति तलवार के घाट उतार दिए गए और सल्तनत की रही सही प्रतिष्ठा को भी धूल में मिला दिया गया। महमूद शाह की मृत्यु हो जाने पर सं० १४६६ में तुगलक वंश

[1] दिडे० स०, पृ० ८३-८४ पर उद्धृत।

का आधिपत्य नाममात्र को भी नहीं रह गया। सं० १४७१ मे खिज्र खाँ ने दिल्ली मे अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार उसके साथ सैयद वंशवालों का शासन हुआ जो सं० १५०८ तक चला। इन सैयदवंशी सुल्तानों की संख्या चार की बतलाई जाती है, किंतु उनमे से कोई भी ऐसा नहीं था जिसे उल्लेखनीय समझा जा सके। इन शासकों से कहीं अधिक योग्य वे लोदीवंशी सुल्तान सिद्ध हुए जिन्होंने एकाध गंभीर युद्धों मे भी भाग लिया। परंतु इनमें से अंतिम सुल्तान इब्राहीम लोदी (रा० का० १५७४-८३) का पाला अंत मे एक ऐसे शत्रु से पड़ा जिसने न केवल उसके वंश की सल्तनत ही समाप्त कर दी, अपितु जिसने अपने पीछे वह 'मुगलशाही' भी स्थापित कर दी जिसमे एक से अधिक शक्तिशाली पुरुष उत्पन्न हुए और उन्होने, एक समृद्ध साम्राज्य पर शासन करते हुए अपने नामो को भी किसी न किसी रूप मे- अमर कर दिया। लोदियों के समय तक जो विशृंखलता उत्पन्न हो गई थी उसे दूर कर केंद्र मे पुनर्जीवन का संचार इन मुगलो द्वारा ही किया जा सका।

स्वतंत्र सूबे तथा सामंतीय शासक वर्ग

मालवा—मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल का अंत हो जाने पर जो सूबे स्वतंत्र बनकर दीख पड़ने लगे उनमे से कई का इतिहास रोचक है। इनमे से सभी की दशाओं मे परिवर्तन ठीक एक ही साथ अथवा एक ही प्रकार से नहीं हुआ और न उनका महत्व ही एक सा ठहराया जाता है। उदाहरण के लिये मालवा के विषय मे हम देखते हैं कि विक्रम की १०वीं शताब्दी के आस पास यह परमार राजपूतों के हाथ लगा था तथा प्रसिद्ध राजा भोज के समय यह क्षेत्र अत्यंत विख्यात भी हो गया था। परंतु सं० १२९२ मे, जब सुल्तान उल्तुतमिश ने इसपर चढ़ाई कर दी और इसकी राजधानी उज्जैन वाले महाकाल के मंदिर को विध्वस कर डाला तब से, इसका श्रीहत होना आरंभ हो गया। सं० १३६७ मे इस प्रात को फिर खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन ने जीतकर इसपर अपनी ओर से शासन करने की व्यवस्था आरंभ की। सं० १४५८ मे दिलावर खाँ नामक मुहम्मद गोरी के एक वशज ने, जो दिल्ली सल्तनत का एक सामंत मात्र समझा जा सकता था, यहाँ पर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और इसने धार नगर को अपनी राजधानी भी बना लिया। किंतु जब उसका पुत्र अलप खाँ हुशंगशाह के नाम से उसका उत्तराधिकारी बना तो इसने अपनी राजधानी माडू मे प्रतिष्ठित कर दी। इसके मरणोपरात फिर इसके पुत्र गजनी खाँ की हत्या करके उसका मंत्री महमूद खिलजी (सं० १४९३-१५२६) यहाँ का सर्वेसर्वा बन गया। यह योग्य शासक सिद्ध हुआ तथा इसने अपने कई पड़ोसी राज्यो के विरुद्ध युद्ध करते समय अपनी वीरता भी प्रदर्शित की। किंतु इसके उत्तराधिकारी उतने शक्तिशाली नहीं सिद्ध हुए और अंत में सं० १५८८ मे मालवा को गुजरात के बहादुरशाह ने जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया तथा फिर यह दिल्लीवाले केंद्र की अधीनता मे

ही चला गया और शेरशाह ने इसपर अपनी ओर से एक शासन नियुक्त कर दिया। उसके इसी शासक शुजात खाँ का पुत्र और उत्तराधिकारी मलिक बयाजीद हुआ जिसने अपने को 'बाज बहादुर' नाम से भी प्रसिद्ध किया तथा इसकी प्रेमिका सुंदरी रूपमती के साथ इसके प्रेम संबंध की कथा बड़े मनोरंजक रूप मे प्रसिद्ध हुई। सम्राट् अकबर ने फिर इसके ऊपर विजय प्राप्त करके, इस प्रांत को सं० १६१६ मे किसी समय अपने साम्राज्य में मिला लिया, तब से इसकी स्वतंत्रता भी जाती रही।

गुजरात—गुजरात प्रांत के उपजाऊ तथा समृद्धिशाली होने के कारण इसपर विदेशियों तक की दृष्टि सदा पड़ती रही और कदाचित् इसी से महमूद गजनवी ने भी यहाँ के प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर को सं० १०८१ मे अफगानिस्तान से आकर लूट लिया था। परंतु उस समय इसपर किसी बाहरी शासक का प्रभाव स्थायी रूप में नहीं जम सका। सं० १३५४ मे जब अलाउद्दीन खिलजी ने इसे अपने साम्राज्य में मिलाया तब से इसपर दिल्ली द्वारा नियुक्त शासकों का प्रबंध आरंभ हुआ। इसी प्रकार के एक सूबेदार जाफ़र खाँ ने तिमूरलग के आक्रमण के फलस्वरूप अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाने के कारण इसपर सं० १४५८ मे अपना स्वतंत्र शासन घोषित कर दिया, परतु वास्तव मे इसका स्वतंत्र शासक पहले पहल अहमद शाह बना जो उसके कुछ दिनों पीछे सं० १४६८ में उसकी गद्दी पर बैठा और जिसने अपने कुछ पड़ोसियों के साथ लड़ते भिड़ते अपने को तब से ३० वर्षों तक वहाँ पर कायम रखा। इसी अहमद शाह ने अहमदाबाद नाम का नगर बसाया जिसमे उसने अनेक सुदर भवनों का भी निर्माण कराया। इसके लिये कहा जाता है कि यह एक धर्मांध एव कट्टर शासक था जिसने हिंदुओं के विरुद्ध बहुत बार अभियान किया और उन्हे मुसलमान बनाया। किंतु अन्य प्रकार से यह एक न्यायप्रिय शासक के रूप मे भी प्रसिद्ध रहा और इसके क्रमशः दो उत्तराधिकारी इसकी बराबरी नहीं कर सके। इसका पोता अहमदशाह जो पीछे महमूद बिगरह नाम से सं० १५१५ मे गद्दी पर बैठा, वहाँ सं० १५६८ तक बना रहा और वह कदाचित् उनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसी सुल्तान के लिये कहा जाता है कि यह बहुत बड़ा पेटू था और यह न केवल एक मन के वजन भर खाया करता था, प्रत्युत यह कहा भी करता था कि यदि ईश्वर मुझे गुजरात का अधिपति न बनाता तो मेरी भूख मिटा पाने मे कौन समर्थ हो सकता था। जलपान तक भी एक प्याला मधु, एक प्याला घी तथा १००–१५० सुनहले केलों से कम में नहीं हो पाता था।[1] सं० १५६४ से इसने पुर्तगालियों के विरुद्ध एक सेना भेजी,

[1] एशा० हि० मु० रू० इं०, पृ० १३६ पर उद्धृत।

जिन्होंने समुद्र के पश्चिमी किनारे पर अपने को सुरक्षित बना लिया था और इसके लिये इसने तुर्कों से भी सहायता ली। वहाँ के एक अन्य शासक बहादुरशाह, (सं० १५८३-९४) की भी चर्चा की जा सकती है जिसने कई युद्धों मे अपनी बहादुरी दिखलाई थी। किंतु वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका और, तदनंतर गुजरात मे वैमनस्य व फूट के क्रमशः बढ़ते जाने के कारण, स्थिति बिगड़ती ही चली गई तथा अंत मे सम्राट् अकबर ने सं० १६२९ मे इसे अपने साम्राज्य मे अंतर्भुक्त कर लिया।

जौनपुर—जौनपुर नामक आधुनिक नगर, जो गोमती नदी के किनारे निर्मित है, मूलतः फीरोजशाह तुगलक का बसाया हुआ है। कहा जाता है कि बंगाल के सिकंदरशाह के विरुद्ध अभियान करते समय जब सं० १४१७ के लगभग वह मार्ग में वर्षा के कारण जाफराबाद मे ठहरा तो उसे उस पुरानी जगह के आसपास की भूमि बहुत पसंद आई, जिसके परिणामस्वरूप उसने, अपने चचेरे भाई मुहम्मद जुना के स्मारक रूप मे वहाँ एक नए नगर का ही निर्माण करा दिया जिसके रूपरंग मे पीछे और भी वृद्धि होती चली गई। फीरोजशाह के मरणोपरांत उस ओर का शासक ख्वाजा जहाँ नियुक्त हुआ जिसे महमूद तुगलक ने पीछे 'मलिकुश्शर्क' की उपाधि सं० १४५१ मे, प्रदान कर दी जिससे प्रोत्साहन पाकर उसने विभिन्न प्रमुख केंद्रों पर आक्रमण किया और अंत मे तिमूरलंग जनित खलबली को सुअवसर समझकर उसने अपने को 'अलावक-ए-आजम' तक बतलाना आरंभ कर दिया और कदाचित् विद्रोह भी कर लिया। परंतु इससे भी अधिक सफल शासक शम्सुद्दीन इब्राहीमशाह शर्की कहा जा सकता है जिससे एक बार दिल्ली के महमूद तुगलक ने भी सहायता माँगी थी और जो अपने शासनकाल मे कला एवं साहित्य का एक बहुत बड़ा प्रेमी कहलाकर भी प्रसिद्ध हुआ था। इसी प्रकार जौनपुर का एक अन्य सुल्तान हुसेनशाह शर्की भी हुआ जिसने दिल्ली के विरुद्ध कई लड़ाइयाँ लड़ीं तथा जिसे, अंत मे असफल हो जाने पर, पहले बिहार में जाकर निवास करना पड़ा और जिसने पीछे बंगाल के सुल्तान अलाउद्दीन हुसेन शाह तक की शरण ले ली। कहते हैं कि इसी जौनपुरवाले हुसेनशाह का अथवा, संभवतः बंगालवाले उक्त हुसेन शाह का नाम सूफी कवि कुतबन ने अपनी प्रेमगाथा 'मृगावती' की रचना करते समय लिया है और उसने वहाँ इनमें से किसी एक की प्रशंसा भी की है। जहाँ तक जौनपुर नगर की बात है, मैथिल कवि विद्यापति की रचना 'कीर्तिलता' के अंतर्गत किसी 'जौनपुर' का वर्णन आ जाने के कारण, अनुमान किया जाता है कि वह इसी से संबंधित होगा, किंतु इस संबंध मे आपत्ति भी की गई है और

इसके विपरीत कहा गया है कि वह नगर, वस्तुतः, 'योगिनीपुर' का अवहट्ठ रूप है और इसी कारण दिल्ली के लिये प्रयुक्त हो सकता है।[१]

बंगाल—बंगाल प्रांत पर मुसलमानों का आक्रमण बहुत पहले से ही हो चुका था, किंतु. राजधानी दिल्ली से दूर अवस्थित रहने के कारण इसपर वहाँ से अपना अधिकार जमाए रहना सदा एक ही प्रकार संभव नहीं हो पाता था। तदनुसार केंद्र के प्रति विद्रोह की भावना यहाँ पर प्रायः जाग्रत होती रहा करती थी जिसे दबाने के लिये सुल्तानों को या तो दिल्ली से स्वयं आना पड़ता था अथवा कोई ठोस प्रयत्न करना पड़ जाता था यहाँ के विषय मे एक बात यह भी उल्लेखनीय रही कि यहाँ पर जो कोई मुसलमान शासक अपने को स्वतंत्र मान बैठता वह अपने यहाँ अधिकतर अपनी प्रजाओं के साथ इस प्रकार व्यवहार करने लगता जिससे कोई स्थानीय राजनीतिक हलचल उतनी तीव्र नहीं हो पाती और हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच कभी मतभेद भी उतना नहीं उभर पाता। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल में यहाँ के शासकों की यह दशा थी कि यद्यपि वे कभी कभी अपनी भेंट दिल्ली राजधानी मे भेज दिया करते थे, तथापि वे अपने यहाँ वस्तुतः स्वतंत्र सुल्तानों जैसा ही व्यवहार किया करते थे। हुसेनवशी शासकों के साथ यह नियम और भी स्पष्ट हो गया। अलाउद्दीन हुसेन शाह (सं० १५५० -७६) के हाथ मे जब इस प्रांत का शासनभार गया, वह अपनी योग्यता एवं उदारता के कारण इतना लोकप्रिय हो गया कि उसे अपने वंशवालों के भावी आधिपत्य की जड़ जमाने मे अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा। उसका संगठनकार्य अत्यंत सफल सिद्ध हुआ। उसने अपने यहाँ जनहित की दृष्टि से कई संस्थाएँ खोल दीं और वह विद्वानों एव धार्मिक पुरुषों को आश्रय भी प्रदान करने लगा। उसने अपनी ओर से 'सत्यपीर' नामक एक संप्रदाय की भी प्रतिष्ठा की जिसका प्रमुख उद्देश्य हिंदुओं और मुसलमानों को अधिकाधिक निकट लाना था। 'सत्य' को ही आराध्य मानना और उसे ही अपने लिये सभी कुछ समझकर पारस्परिक व्यवहार करना किसी को भी अनुचित नहीं जान पड़ सकता था जिसके फलस्वरूप ऐसे मत का उस समय प्रचार भी कम नहीं हुआ तथा उक्त इष्टदेव के विषय मे कुछ बंगला साहित्य तक भी रचा गया। हुसेन शाह का पुत्र एव उत्तराधिकारी नसरत शाह (सं० १५७६--८६) भी इस दृष्टि से कम सफल सिद्ध नहीं हुआ। बाबर ने अपने 'मेमायर्स' के अंतर्गत इसकी चर्चा एक शक्तिशाली सुल्तान के रूप मे की है तथा इसे महत्व भी प्रदान किया है। नसरत शाह ने भी अपने पिता की ही भाँति

[१] वि० प०, भूमिका, पृ० ४६।

कई विशाल भवनों का निर्माण कराया तथा इसने भी उसी प्रकार साहित्यकारों को यथोचित् प्रश्रय दिया। परंतु, हुसेनीवंशवाले इन सुल्तानों का काल व्यतीत हो जाने पर फिर किन्हीं वैसे शासकों के पैर बंगाल मे नहीं जम सके और शेरशाह ने पश्चिम की ओर मुगलों पर विजय प्राप्त कर लेने पर यहाँ भी अपना अधिकार जमा लिया तथा फिर अकबर आदि के राज्यकाल में भी इस प्रांत की स्थिति मे कभी वैसा अवसर नहीं आ सका और न वैसे शासकीय प्रयत्न ही देखे गए।

बहमनी राज्य और उसके क्रमिक परिवर्तन—मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल मे जो दक्षिण की ओर विद्रोह आरंभ हुआ था उसका एक परिणाम यह हुआ कि उधर से अमीरों ने मिलकर इस्माइल मख नामक एक व्यक्ति को अपना सुल्तान बना दिया। परंतु यह शांत स्वभाव का मनुष्य था और किसी प्रकार के शासन संबंधी पचड़े में नहीं पड़ना चाहता था जिस कारण इसने हसन गंगू के पक्ष मे अपने पद का परित्याग कर दिया जिसने सं० १४०४ मे जफर खाँ की उपाधि धारण करके उसकी गद्दी सँभाली तथा अब्दुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह कहलाकर वह दौलताबाद का सुल्तान प्रसिद्ध हो गया। फिरिश्ता के अनुसार हसन पहले किसी दिल्ली निवासी ब्राह्मण गंगू के यहाँ नौकर था जो एक ज्योतिषी भी था। एक बार जब यह किसी खेत को जोत रहा था, इसे वहाँ कोई ताँबे का बर्तन सोने के सिक्कों से भरा मिल गया जिसे इसने अपने स्वामी को सपुर्द कर दिया और गंगू इस बात से इतना प्रभावित हुआ कि उसने इसे सुल्तान के यहाँ सौ घुड़सवारों के ऊपर नियुक्त करा दिया। उसने इसके विषय मे यह भविष्य-वाणी भी की कि यह एक अत्यंत भाग्यशाली व्यक्ति होगा तथा इससे ऐसी प्रतिज्ञा भी करा ली कि 'यदि, मैं कभी राजा बन सका तो अपनी कृतज्ञता के रूप में अपने नाम के साथ 'बहमनी' शब्द का प्रयोग भी करूँगा।' किंतु, इसके विपरीत एक अन्य मत भी प्रचलित है जिसके अनुसार हसन फारस के किसी बहमन बिन इस्फनियार के वंश का था जिसके प्रमाण मे इसके सिक्कों पर बहमन शाह का वंशज होना जैसा कुछ अंकित किया गया भी प्रस्तुत किया जाता है। जो हो, सुल्तान बन जाते ही इसने अपनी राजधानी दौलताबाद से गुलबर्गा स्थानांतरित कर दी और अपने द्वारा शासित क्षेत्र के भीतर कुछ उपक्षेत्र बना दिए। हसन ने कई युद्धों मे विजय भी प्राप्त की, किंतु सं० १४१६ मे ही इसका देहांत हो गया। हसन के अनंतर क्रमशः मुहम्मद (प्रथम) और मुजाहिद एवं दाऊद उसके उत्तरा-धिकारी बने, किंतु इनका राज्य उल्लेखनीय नहीं रहा। इनके अनंतर आनेवाले फीरोजशाह (स० १४५४–७६) के लिये कहा जाता है कि वह इनसे अधिक योग्य

सिद्ध हुआ तथा उसने न केवल अपनी लोकप्रियता एवं बुद्धिमता के कारण ख्याति अर्जित की, अपितु उसने बहुत से कवियों और विद्वानों का संरक्षण भी किया जिससे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई तथा विद्याओं का प्रचार भी हो सका। फीरोजशाह के अनंतर उसके भाई अहमदशाह (सं० १४७६-६२) का नाम आता है जिसने बीदर नगर की बुनियाद डाली तथा अपने लिये 'वली' की उपाधि स्वीकार करके अपने पुत्र जाफर खाँ को शासनभार सपुर्द कर दिया। जाफर खाँ अलाउद्दीन अहमदशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसके अनंतर क्रमशः हुमायूँ एवं निजामशाह सुल्तान बने, किंतु इनमे से किसी का शासनकाल किसी विशेष बात के लिये विख्यात नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि दखिनी हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान 'नदमराव व पदम' के रचयिता निजामी द्वारा उल्लिखित 'अहमदकुँवर' से उसका अभिप्राय वस्तुतः जाफर खाँ का हो, जिसके पिता अहमदशाह वहाँ पर 'बहमन वली' भी कहे गए हैं, उस दशा में उस रचना के निर्माणकाल का कुछ पता लगा पाना उतना कठिन नहीं रह जाता। जिस समय उक्त हुमायूँशाह की मृत्यु हुई, और उसका पुत्र निजामशाह उसकी जगह सुल्तान बना, उसकी अवस्था केवल आठ वर्ष की ही थी जिस कारण उसके अभिभावकों मे एक महमूद गवाँ भी संमिलित कर लिया गया जिसने राज्य की स्थिति को सुधारने के अनेक प्रयत्न किए। वह निजामशाह की मृत्यु के उपरांत उसके भाई मुहम्मदशाह के शासनकाल मे भी प्रबंध करता रहा और उसने बड़ी दृढ़ता के साथ राज्य के सभी शत्रुओं का मानमर्दन किया तथा उसे पूरा समृद्धिशाली तक बना दिया। परंतु अंत मे, एक दिन उससे ईर्ष्या करनेवाले व्यक्तियों ने षड्यंत्र करके सं० १५३८ में उसकी हत्या करा दी, जिसके अनंतर मुहम्मद के पुत्र महमूद की मृत्यु हो जाने पर सं० १५७५ में यह राज्य ही नष्ट हो गया।

वास्तव मे महमूदशाह की मृत्यु के पहले से ही बहमनी राज्य का विशृंखलित होना प्रारंभ हो गया था, जिसके फलस्वरूप पाँच ऐसे स्वतंत्र (मुसलमान) राज्यों की स्थापना हुई जो बरार के 'इमादशाही', बीजापुर के 'आदिलशाही', अहमदनगर के 'निजामशाही', गोलकुंडा के 'कुतुबशाही' तथा बीदर के 'बरीदशाही' के नाम से प्रसिद्ध हो चले और इन्होंने पृथक् पृथक् अपने ढंग से शासन करने के प्रयत्न किए। इनमे से कुछ को बराबर बाहरवाले राज्यों से लड़ना पड़ा तो कभी कभी इनमे से कुछ आपस मे भी लड़ते रहे और अंत मे उत्तर की ओर मुगलराज्य के विशेष शक्तिशाली बन जाने पर, ये सभी समय पाकर उसमे अंतर्भुक्त हो गए। इन पाँचो मे से बरार की इमादशाही, बीदर की बरीदशाही तथा अहमदनगर की निजामशाही सल्तनतो का कार्य अपेक्षाकृत कम महत्व का रहा। परंतु बीजापुर की आदिलशाही तथा गोलकुंडा की कुतुबशाही सल्तनतों ने अपने यहाँ

कुछ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को उल्लेखनीय संरक्षण भी प्रदान करके अपना नाम औरों से अधिक प्रसिद्ध कर लिया और इन्हें इसी कारण कुछ महत्व भी मिल गया। आदिलशाही सल्तनत की स्थापना करनेवाले युसूफ आदिलशाह के लिये कहा जाता है कि इसे महमूद गावाँ ने दास के रूप मे खरीदा था, किंतु एक अन्य मत के अनुसार यह वस्तुतः तुर्की के सुल्तान मुराद (द्वितीय) का पुत्र था जो किसी प्रकार अपने बचपन में ही मार डाले जाने से बचा लिया गया था, किंतु जो समय पाकर महमूद गावाँ के संरक्षण मे ऊँचे पदो तक पहुँच गया और फिर सं० १५४६ में यह पूर्ण स्वतंत्र भी बन बैठा। इसने सं० १५५९ मे शिया संप्रदाय की बातें स्वीकार कर ली थीं तथा उन्हे इसने अपने यहाँ प्रश्रय भी दे दिया था, किंतु यह फिर ऐसा कर न सका। यह विद्वानो का आदर व सम्मान इतना अधिक किया करता था कि इसके दरबार मे फारस, तुर्किस्तान एवं रूम तक के ऐसे लोग आने लगे थे, किंतु इसके उत्तराधिकारियो मे से कदाचित् कोई भी इतना योग्य सिद्ध न हो सका। इनमें से केवल एक इब्राहीम आदिलशाह (द्वितीय) के लिये कहा जाता है कि वह एक विलक्षण पुरुष था और उसने अपने यहाॅ की स्थानीय भाषा 'दक्खिनी हिंदी' की उन्नति मे बड़ी सहायता पहुॅचाई। इब्राहीम का देहांत सं० १६८३ मे हुआ जिसके अनंतर लगभग ६० वर्षों तक भी किसी प्रकार कायम रहकर आदिलशाही राज्य को अत मे सं० १७४२ के अंतर्गत, सम्राट् औरंगजेब के मुगलराज्य मे समाविष्ट हो जाना पड़ा। गोलकुंडा कुतुबशाही राज्य की स्थापना का श्रेय सुल्तान कुली को दिया जाता है जो हमदान से भारत आकर महमूदशाह बहमनी का कृपापात्र बन गया था और इसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसने इसे 'कुतुबुल्मुल्क' की उपाधि प्रदान कर दी थी तथा इसे तेलंगाना का शासक भी नियुक्त कर दिया था। जब सं० १५६७ मे महमूदशाह का देहांत हो चुका और बहमनी सल्तनत भर मे खलबली मच गई तो इसने उससे लाभ उठाकर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और तब से अपनी मृत्यु, सं० १६००, तक यह बड़ी योग्यता के साथ शासन करता रहा। उसके अनंतर इसके क्रमशः सात उत्तराधिकारी और भी हुए, किंतु उनमे कोई ऐसा नहीं हुआ जो राजनीतिक स्थिति मे विशेष उन्नति ला सके। इनमे से दो एक ऐसे अवश्य हुए जिन्होंने साहित्यनिर्माण एवं कला की श्रीवृद्धि मे भी अपने ढंग से पूरा सहयोग दिया। किंतु वे इससे अधिक कर पाने मे सभवतः अपने को सक्षम सिद्ध नहीं कर सके और स० १७४३ मे यह राज्य भी मुगल साम्राज्य मे विलीन हो गया।

सूरवंश—पठानवंशवाले सुल्तानो मे शेरशाह तथा उसके द्वारा स्थापित किए गए सूरवंश का एक अपना अलग स्थान है। शेरशाह का जन्म कदाचित् सं० १५४३ के आसपास हुआ था और उसका मूल नाम 'फरीद' था। उसका पिता

हसन सासाराम (बिहार) का एक जागीरदार था जिसने फरीद के बचपन में इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जिसके परिणामस्वरूप यह उससे तथा अपनी सौतेली माँ से रुष्ट होकर जौनपुर चला आया जहाँ पर इसने कुछ पढ़ने लिखने की ओर प्रयत्न किए। इसने वहाँ पर फारसी एवं अरबी की कतिपय पुस्तकों का अध्ययन किया तथा इतिहास एवं महान् पुरुषों के जीवनवृत्तों के पठन मे भी अच्छी सफलता प्राप्त कर ली, किंतु अपनी सौतेली माँ के कारण यह अपने पिता का प्रेम फिर भी नहीं प्राप्त कर सका और अंत मे इसे सेवावृत्ति स्वीकार करनी पड़ गई। इसने एक बार किसी शेर को मार डालने मे बड़ी कुशलता का परिचय दिया जिस कारण इसके स्वामी बीहर खाँ ने इसे 'शेर खाँ' नाम दे दिया। फिर क्रमशः यह बाबर के संपर्क तक मे आ गया और इसने उसे बिहार एवं बंगाल के जीतने मे बड़ी सहायता पहुँचाई। बाबर के मर जाने पर इसने बंगाल की ओर धावा मारकर गौड़ तक पर भी अधिकार कर लिया जिससे हुमायूँ को सजग होना पड़ गया। हुमायूँ ने इसे नीचा दिखलाना चाहा, किंतु पठानों ने अपने इस नेता का साथ इस प्रकार दिया कि इसने उसे चौसा के युद्ध मे पराजित कर दिया। इसके अनंतर इसने अपने लिये 'शेरशाह' की उपाधि धारण कर ली और अपने नाम के सिक्के तक भी प्रचलित कर दिए। फिर शेरशाह ने हुमायूँ को एक बार सं० १५९७ मे कन्नौजवाले युद्ध में भी परास्त कर दिया। हुमायूँ बादशाह को यहाँ से फारस की ओर भाग निकलना पड़ गया जहाँ से वह फिर कई वर्षों तक वापस नहीं आ सका और तब तक यहाँ सूरवंश का ही राज्य चलता रहा। शेरशाह ने हुमायूँ के ऊपर विजय प्राप्त करके अपने राज्य के संगठन की ओर भी ध्यान दिया था और इसने शासन के कार्यों मे अनेक सुधार किए तथा इस संबंध मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों की नींव डाल दी जिनसे पीछे सम्राट् अकबर तक को पथप्रदर्शन प्राप्त हुआ। शेरशाह अपने प्रत्येक कार्य को बड़ी योग्यता के साथ सँभालने का प्रयत्न करता था। उसके छोटे से छोटे अंग पर भी भरसक पूरी गंभीरता के साथ विचार करता था और तत्पश्चात् उसे अच्छे से अच्छे ढंग पर पूरा करने मे लग जाता था। वह न केवल एक सच्चा सिपाही रहा, प्रत्युत् उसने उसी प्रकार शासन मे भी अच्छी निपुणता प्राप्त कर ली थी। 'पदमावत' नामक प्रेमाख्यान के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी ने इसे चारों ओर 'सूर्य की भाँति तपनेवाला' कहा है। शेरशाह का देहांत सं० १६०२ में हुआ जिस समय तक उसने अपने लिये यथेष्ट ख्याति का आधार अर्जित कर लिया था। जब हुमायूँ बादशाह फारस की ओर से वापस चलने लगा तो उसने अपनी विजय के लिये पूरी तैयारी कर ली थी। इधर शेरशाह के न रह जाने पर उसका पुत्र जलाल खाँ सलीमशाह के नाम से उसका उत्तराधिकारी बना, किंतु इसे पहले अपने पठानों पर ही प्रभाव डालने की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि उनमे से कई

एक इसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने के लिये उद्यत हो गए थे। इसे उन सभी को दबाना पड़ गया जिसमे न केवल इसे पर्याप्त समय लगा, प्रत्युत् जिसके परिणाम-स्वरूप इसके कुछ अपने कहे जानेवाले भी अलग हो गए। सलीम की मृत्यु सं० १६११ मे हो गई, किंतु उसके उत्तराधिकारियो मे कोई ऐसा नहीं हो सका जो उसकी सल्तनत के रक्षार्थ, या केवल पारस्परिक वैमनस्य को दूर कराने तक के लिये भी सफल चेष्टा कर सके। उधर हुमायूँ क्रमशः बिगड़ती जाती हुई स्थिति का बड़े ध्यान से अध्ययन कर रहा था, इसलिये सं० १६११ मे ही उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और लाहौर को ले लिया। फिर तो सूरवंश के अंतिम सुल्तान सिकंदरशाह को सरहिंद मे भी विजित हो जाने पर, कहीं ठहरने की जगह नहीं मिली और हुमायूँ फिर बादशाह बन गया।

(३) मुगल वंश

बाबर—बाबर वास्तव मे अपने पितृकुल के अनुसार, मुगल नहीं, प्रत्युत उसे तुर्कवंशी कहा जा सकता है। वह तिमूरलंग की पाँचवीं पीढ़ी मे उत्पन्न हुआ था और केवल मातृकुल की दृष्टि से ही मंगोल चंगेज खाँ के साथ अपना कोई संबंध ठहरा सकता था। संयोगवश मंगोलों वा मुगलों के प्रति उसकी धारणा भी उतनी अच्छी नहीं थी और वह कदाचित् उनसे कुछ घृणा भी करता था। परंतु यह भी एक विडंबना की ही बात है कि यही बाबर भारत मे कतिपय उन सम्राटों का पूर्वपुरुष बन गया जो पीछे 'मुगल' बादशाह कहलाकर प्रसिद्ध हुए। जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म सं० १५४० मे हुआ था और इसका पिता फरगाना (रूसी तुर्किस्तान) के एक छोटे से राज्य का मालिक था। उसकी मृत्यु के उपरांत यह केवल ११ वर्ष की ही अवस्था मे उसका उत्तराधिकारी बना, किंतु उन्हीं दिनों इसने फारसी एवं तुर्की भाषाओं मे अच्छी योग्यता भी प्राप्त कर ली और अपनी नानी की देखरेख मे इसने अनेक नैतिक गुणो को भी अर्जित कर लिया। युवक सुल्तान बाबर के लिये शत्रुओं की कमी नहीं थी, किंतु इसने बड़ी दृढ़ता से काम लिया और सर्वप्रथम समरकंद को जीतकर उसपर अधिकार कर लिया। परंतु उजबेग अमीरों ने मिलकर इसे अपदस्थ करने का निश्चय किया जिससे उनके द्वारा विजित होकर इसे क्रमशः भारत की ओर मुड़ जाना पड़ गया। इसने एक बार फिर मार्ग मे काबुल पर अधिकार जमाकर समरकंद को वापस लेने की चेष्टा की, किंतु वह अंत मे सफल नहीं हो सका। भारत पर भी पहले इसने कई छोटे मोटे हमले किए और यहाँ की स्थिति का यह बराबर अध्ययन करता रहा। जब दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी द्वारा क्रूरतापूर्वक व्यवहार किए जाने पर दिलावर खाँ ने इसके यहाँ आक्रमण करने के लिये निमंत्रण भेजा तो इसने ऐसे अवसर को अपने हाथ से नहीं जाने दिया और बीच मे कई प्रकार की बाधाओं के पड़ते हुए भी इसने

सं० १५८३ मे पानीपत के मैदान मे विजय प्राप्त कर ली। कहते हैं कि सं० १५८३ मे ही सैयदपुरवाली लड़ाई के समय गुरु नानकदेव पकड़ लिए गए थे और उन्हें बाबर के सामने उपस्थित भी किया गया था। फिर दूसरे ही वर्ष बाबर ने राजपूतो के प्रमुख अग्रणी राणा साँगा को भी हरा दिया और इस प्रकार इसने अपने को सुरक्षित कर लिया। इसके अन्य कार्यों मे यहाँ पर चँदेरी के दुर्ग को हस्तगत करना तथा सं० १५८६ मे घाघरावाली लड़ाई मे पठानो को परास्त करना था। इसने अपने नवप्राप्त राज्य के चतुर्दिक् दृष्टि डालकर यथोचित प्रबंध कर देने की योजना भी निश्चित की, किंतु अपने शाहजादे हुमायूँ के अचानक बीमार पड़ जाने के कारण यह अपना काम पूरा नहीं कर सका। इसने अपने प्रिय पुत्र की रोगशय्या की तीन बार परिक्रमा की तथा उसके कष्टों को अपने ऊपर ले लेने का वास्तविक अनुभव करता हुआ वह स्वयं रुग्ण हो गया, और कदाचित् केवल तीन दिनो के ही भीतर इधर हुमायूँ नीरोग होने लगा और उधर यह सदा के लिये चल बसा। इसके फिर तीसरे दिन हुमायूँ इसके उत्तराधिकारी के रूप में सं० १५८७ मे दिल्ली का बादशाह बन गया।

हुमायूँ—बाबर एक उत्कृष्ट कोटि का लेखक भी था और उसने तुर्की भाषा मे अपना एक आत्मचरित् 'बाबरनामा' नाम से लिखा जिसके अंतर्गत उसने न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन का परिचय दिया, अपितु उसने इसी प्रसंग में अनेक स्थानों, व्यक्तियों, आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयत्न किया तथा इसके लिये उसने एक ऐसी रचनाशैली का प्रयोग किया जो एक ही साथ स्पष्ट व आकर्षक भी है। यह उसमे विविध प्राकृतिक दृश्यों एवं फलो फूलों तक का एक विशद चित्रण प्रस्तुत करता है और अपनी कविताओं के संग्रह (दीवान) वाली पंक्तियो द्वारा एक ऐसे सुंदर काव्य के उदाहरण उपस्थित करता है जिसमे सादगी एवं गंभीरता दोनों एक साथ पाई जाती है तथा जिसपर व्यर्थ के आडंबर अथवा चापल्य का भी कोई दोष नहीं मढ़ा जा सकता। उसके 'आत्मचरित्' में यत्र तत्र उसके अपनी संतान के प्रति गाढ़े स्नेह का भी संकेत कम नहीं मिलता और तदनुसार कहते हैं कि मरते समय उसने हुमायूँ से यह वचन ले लिया था कि यह अपने परिवार के निकटतम सदस्यों के प्रति बराबर सद्भावना प्रदर्शित करता रहेगा। इसके फलस्वरूप हुमायूँ ने ऐसा करना अपनी ओर से अत्यंत आवश्यक समझकर कुछ न कुछ प्रारंभिक प्रबंध भी कर दिए। परंतु इसे तदनुकूल फल नहीं मिल सका और इसके शासनसूत्र को ग्रहण करते ही न केवल इसकी विभिन्न जातियोंवाली सेना के सिपाहियो मे पारस्परिक झगड़े उठ खड़े हो गए, अपितु इसके कुटुंबियों ने अधिकतर इसके प्रति ईर्ष्यालु होने के कारण इसके विरुद्ध विद्रोह का भाव प्रदर्शित करना आरंभ कर दिया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि बाहरी शत्रुओं ने भी इससे बहुत लाभ उठाया। गुजरात

के सुल्तान बहादुरशाह ने एक ओर जहाँ इसे युद्ध के भंझटों मे फँसाया वहाँ दूसरी ओर, जैसा इसके पहले कहा जा चुका है, शेरशाह ने भी इसका सामना बड़ी बहादुरी के साथ किया और अंत मे उसे कन्नौज की लड़ाई मे परास्त होकर फारस की ओर भागना पड़ गया। शेरशाह की मृत्यु के अनंतर वापस आकर हुमायूँ ने अपने अधिकार एक बार फिर प्राप्त कर लिए, किंतु यह उसका उपभोग अधिक दिनों तक नहीं कर सका और सं० १६१३ में एक दिन जब यह अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतर रहा था, इसके कानों मे अचानक दैनिक प्रार्थना के लिये किए गए आह्वान के शब्द सुन पड़े जिसके कारण यह आपसे आप झुक गया और फिसलकर उनके नीचे आ गिरा। यह चोट इसके लिये प्राणघातक सिद्ध हुई तथा इसके मरने के १७वें दिन इसके पुत्र जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के नाम 'खुतबा' पढ़ दिया गया। हुमायूँ अपने पिता के समान योग्य नहीं था और यह कुछ आलसी एवं दीर्घसूत्री भी रहा जिस कारण इसे बहुत हानि उठानी पड़ गई। यह साहित्य का प्रेमी था, कविताएँ भी निर्मित कर लिया करता था और साहित्यकारों का आदर संमान किया करता था। यह उतना व्यवहारकुशल न था।

अकबर—हुमायूँ का उत्तराधिकारी अकबर अपने पिता से कहीं अधिक सफल सिद्ध हुआ। राज्य का भार ग्रहण करते समय इसकी अवस्था केवल १३ वर्ष की ही थी, इस कारण इसके पिता के विश्वासपात्र बैरम खाँ ने प्रारंभिक दिनों मे इसके अभिभावक का कर्तव्य पालन किया और उसकी सहायता से इसने अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर ली। इसके सामने पठान विद्रोहियों को झुकना पड़ा और वे हेमू की सहायता पाने पर भी विजयी न बन सके, तथा फिर जौनपुर की भी दशा वैसी ही हुई। परंतु बैरम खाँ को अकबर ने किसी न किसी बहाने उसके उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया और शासन का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। इसने फिर क्रमशः गोंडवाना, चित्तौरगढ़ और कलींजर को अपने वश मे करने के प्रयत्न किए, फतेहपुर सीकरी का निर्माण कराया, बगाल, बिहार एवं गुजरात के विद्रोहियों को दबाया और कश्मीर को भी जीत लिया। इस प्रकार धीरे धीरे इसने अपने राज्य के भीतर शांति की स्थापना की तथा इसने उसकी सीमा को भी बढ़ाकर उसे सुरक्षित रखने का प्रबंध किया। परंतु इसे केवल इतने से ही संतोष न था, इस कारण इसने अपने यहाँ कई महत्वपूर्ण सुधारों को भी प्रोत्साहन प्रदान कर समाज की आर्थिक, धार्मिक नैतिक एव सास्कृतिक दशा मे बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया और देश को समृद्धिशाली बनाने मे इसने कुछ भी उठा नहीं रखा। आर्थिक स्थिति को व्यवस्थित रूप देने मे इसे टोडरमल के अनुभवो से बड़ी सहायता मिली और अपनी धार्मिक नीति को एक निश्चित रूप देने मे इसे विभिन्न प्रचलित धर्मों एवं संप्रदायों के नेताओं अथवा आचार्यो का सहयोग प्राप्त हुआ।

इसे राजा मानसिंह के कारण पश्चिमी प्रांतो एवं राजस्थान पर अपना अधिकार दृढ़ करने मे भी बड़ी सहायता मिली। इसके दरबारियों मे राजा बीरबल, तानसेन, कविराज फैजी, अबुल फजल, मुल्ला बदायूनी एवं रहीम आदि कई अन्य व्यक्ति भी थे जो अपने अपने ढंग से बहुत योग्य थे और जिनकी सहायता एवं सहयोग के द्वारा इसे अपने राज्य को उच्च स्तर तक पहुँचाने का अवसर बराबर प्राप्त होता रहा जिसका एक परिणाम यह हुआ कि न केवल इसका मुगल साम्राज्य सुदृढ़ एवं समुन्नत बन गया, अपितु इसकी ख्याति भी यथेष्ट रूप मे बढ़ गई। अकबर को, जहाँ तक पता है, कोई वैसी अच्छी शिक्षा नहीं मिल सकी थी और न वह मुहम्मद बिन तुगलक, फीरोजशाह, बाबर अथवा हुमायूँ सा विद्वान्; कवि वा गुणवान् अथवा अन्य ऐसे किसी प्रकार का विशिष्ट व्यक्ति कहला सकता था। किंतु इन बातों के न होते हुए भी वह एक महान् द्रष्टा एवं व्यवहारकुशल पुरुष के रूप मे दीख पड़ा तथा अपनी गुणज्ञता, समन्वयवादिता एवं उदारहृदयता के कारण यह अपने शासनकार्य मे इतना सफल हो गया जितना वे सभी एक साथ मिलकर भी नहीं कहला सकते थे। मुगल राज्य का भूमिगत विस्तार चाहे उसके अनंतर कुछ और भी अधिक हुआ हो, किंतु इसका स्वरूप जितना उसके शासनकाल मे निखरा उससे अधिक की संभावना भी पीछे कभी न हो सकी।

जहाँगीर—सम्राट अकबर का शासनकाल सं० १६१३ से लेकर सं० १६६२ तक रहा और उत्तराधिकारी उसका पुत्र जहाँगीर बना। जहाँगीर का प्रारंभिक नाम 'सलीम' था जो शेख सलीम चिश्ती के नामानुसार पहले पहल रखा गया था। यह उसी के आशीर्वाद से उत्पन्न भी समझा जाता था। शाहजादे की दशा मे इसने पिता के विरुद्ध कुछ विद्रोह करने का भी प्रयत्न किया था जिसमे यह सफल न हो सका। लगभग ३६ वर्ष की अवस्था मे यह अकबर की गद्दी पर आसीन हुआ और इसका कदाचित् सर्वप्रथम कार्य यह था कि इसने आगरा किले के 'शाहबुर्ज' और यमुना नदी पर गाड़े गए किसी पत्थर के स्तंभ के बीच कोई 'इंसाफ की जंजीर' बँधवा दी जिसे खींचकर कोई भी सताया गया व्यक्ति इसके निकट अपनी रामकहानी उपस्थित कर सकता था तथा इसके अतिरिक्त इसने १२ ऐसे नियम भी प्रसारित कर दिए जो सभी पर लागू हो सकते थे। जहाँगीर के पुत्र शाहजादा खुसरो ने ही पहले इसके शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया और उसने इसकी हत्या तक का षड्यंत्र रच दिया, परंतु इसमे उसे सफलता नहीं मिल सकी और वह महावत खाँ द्वारा बहुत कुछ अंधा भी कर दिया गया। जहाँगीर ने 'मिहरुन्निसा' नाम की एक सुंदरी की ओर आकृष्ट होकर उसके पति शेर अफगन की कदाचित् हत्या तक करा डाली और उसके साथ स्वयं विवाह कर लिया। उसकी यही पत्नी पीछे प्रसिद्ध 'नूरजहाँ' कहलाई तथा इसने उसके शासनकार्य मे बहुत कुछ हाथ बँटाया। जहाँगीर

को क्रमशः बंगाल, मेवाड़ एवं दक्षिण की ओर अभियान की योजना समय समय पर करनी पड़ी और इसने काँगड़ा पर भी विजय प्राप्त की और इसी बीच उसके पुत्र खुसरो की हत्या उसके भाई ही द्वारा सं० १६७६ में कर दी गई। यह भाई शाहजादा शाहजहाँ था जो उसके प्रति ईर्ष्यालु रहा करता था तथा जिसने स्वयं अपने पिता के विरुद्ध भी विद्रोह का झंडा उठा लिया। यह विरोध वस्तुतः नूरजहाँ के कारण था जो जहाँगीर के अनंतर उसके उत्तराधिकारी की जगह पर अपने दामाद शहरयार को देखना चाहती थी तथा जिसे इसीलिये शाहजहाँ की किसी प्रकार की भी उन्नति बहुधा खटकती रहा करती थी। अंत मे जब सं० १६८४ मे जहाँगीर की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी का प्रश्न आपसे आप उठ खड़ा हो गया, जिसका पता पाकर शाहजहाँ दक्षिण से राजधानी की ओर चल पड़ा और उसने आसफ खाँ को यह संदेश भेज दिया कि मेरे सभी शत्रुओं को 'जहन्नुम' भेज दो। इस प्रकार अपनी बाधाओं के दूर होते ही वह स्वयं भी वहाँ पहुँच गया और सं० १६८५ में वहाँ पर बादशाह बन बैठा। जहाँगीर किसी प्रकार अयोग्य शासक नहीं कहला सकता था और उसमे कुछ ऐसे गुण थे जिनके कारण उसकी प्रशंसा तक अनुचित नहीं हो सकती। वह अपने शासनकार्य मे भरसक स्वयं ही अपना पथप्रदर्शक बनना चाहता था और किसी भी प्रकार के अत्याचार को वह सहन नहीं कर सकता था, प्रत्युत ऐसी स्थितियों मे वह कभी कभी अत्यंत कठोर वा क्रूर तक भी हो जाया करता था। उसके अवगुणों मे मदपान एवं अपनी प्रियतमा नूरजहाँ के प्रति विशेष आसक्ति की ही ओर प्रमुख रूप मे संकेत किया जा सकता है।

शाहजहाँ—शाहजहाँ जहाँगीर का तीसरा पुत्र था। इसका जन्म सं० १६४९ मे हुआ था तथा इसे 'खुर्रम' नाम से अभिहित किया जाता था। अपने बचपन मे इसे एक शाहजादे के अनुरूप शिक्षा भी दी गई थी। इसे आरंभ से ही ऐसे अनेक अवसर मिलते गए जब इसने अपने कार्यकौशल का परिचय दिया और इस प्रकार यह सबकी दृष्टि मे भावी बादशाह सा प्रतीत होने लग गया। शासनसूत्र को अपने हाथ मे लेते ही इसे बुंदेलों के विद्रोह का सामना करना पड़ा और तदनंतर खाँजहाँ लोदी को भी अपने मार्ग से सदा के लिये दूर कर देना पड़ा। शाहजहाँ को सं० १६८९ के आस पास पुर्तगालियों से भी लड़ना पड़ा तथा दक्षिण की कई सल्तनतों को जीतकर उन्हे अपने राज्य मे मिला लेने के प्रयत्न करने पड़े जिनमे इसे अपने पुत्र औरंगजेब का भी उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ। इसे कंदहार पर अधिकार जमाने के लिये भी कठोर प्रयास करने पड़े जिनमे इसके पुत्र दाराशिकोह वा उसकी सेना को अंत तक भी कोई सफलता नहीं मिल सकी। औरंगजेब कुछ दिनों तक दक्षिण प्रदेश का शासक बना दिया गया था जहाँ की

सफलताओं ने उसके हृदय मे अपने बड़े भाई दारा के प्रति विद्वेष की भावना जागृत कर दी थी और वह इसके हिंदुओं के प्रति सद्भाव प्रदर्शित करते आने के कारण इससे जलने भी लगा था। वह वास्तव में महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और चाहता था कि अपने सभी अन्य भाइयों को किसी न किसी प्रकार नष्ट कर अपना मार्ग आगे के लिये प्रशस्त बना ले ताकि अपने पिता शाहजहाँ का उत्तराधिकारी बनते समय कोई बाधा न उपस्थित हो सके। अतएव समय पाकर शाहजहाँ के जीवनकाल में ही उसने एक ऐसे पारस्परिक युद्ध की योजना सामने ला दी जिसका अंत उसके पक्ष मे प्रतिफलित हो गया तथा तदनुसार उसके सभी भाई क्रमशः नष्ट हो गए और उसका पिता तक भी बंदी रूप में परिणत हो गया। उस सामूगढ़वाले युद्ध (सं० १७१५) के अनंतर, सं० १७२३ तक भी शाहजहाँ जीवित रहा, किंतु उसे अपने बंदीजीवन से छुटकारा नहीं मिल सका। उसकी प्रेयसी मुमताज महल (सं० १६५१-८८), जिसके नाम पर उसने 'ताजमहल' का निर्माण कराया था, इससे बहुत पहले ही मर चुकी थी। अपने सर्वाधिक प्रिय पुत्र दाराशिकोह की सं० १७१७ के लगभग हत्या हो जाने पर वह और भी दुखी रहा करता था, और सिवाय अपनी पुत्री जहाँनारा के उसके स्नेह का कोई दूसरा केंद्र नहीं बच पाया था जिससे उसे प्रायः भग्नहृदय बनकर ही मरना पड़ा। शाहजहाँ अपनी योग्यता मे किसी से कम नहीं कहला सकता था और इसने शूरता, साहस, कार्यकुशलता एवं कला और साहित्य के प्रति अपने प्रेम का भी परिचय अनेक अवसरों पर दिया था, किंतु इसका अंत एक ऐसे रूप मे हुआ जो कभी स्पृहणीय नहीं कहला सकता था। शाहजहाँ का देहांत सं० १७२३ मे हुआ किंतु इसका पुत्र औरंगजेब इसके पहले सं० १७१५-१६ मे ही सिंहासनारूढ़ हो चुका था।

(४) शासनव्यवस्था

सं० १४००-१७०० वाले युग के अंतर्गत हमें दो प्रमुख मुस्लिम वर्गों की शासनव्यवस्था के उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें से प्रथम को साधारणतः 'पठान वंश' कह दिया जाता है और जिसमे अन्य कतिपय शासको के अतिरिक्त उपर्युक्त तुगलक, सैयद एवं लोदी वंशोंवाले सुल्तानो की चर्चा की जा सकती है, तथा इसी प्रकार द्वितीय को 'मुगल वंश' का नाम दिया जाता है। इसके सिवाय इस काल मे ही बीच बीच मे कुछ अन्य ऐसे वंशोंवाले व्यक्ति भी रंगमंच पर आ जाते हैं जिन्हें केंद्र के प्रति समय पाकर किए गए किसी न किसी विद्रोह के फलस्वरूप न्यूनाधिक अधिकार प्राप्त कर लेने का अवसर मिल जाता है तथा जिनमे से कुछ विशिष्ट सुल्तान भी अपना नाम किए बिना नहीं रहते। पठान वंश के शासकों मे से तुगलकों का राज्य बहुत विस्तृत हो गया था, और इनमे से मुहम्मद एवं फीरोज को बहुत कुछ योग्य होते हुए भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ गया जिससे

इनके राज्य मे पूरी शांति कभी नहीं आ सकी और न ये कोई स्थायी व्यवस्था ही कर सके। इनमे से प्रथम को अपनी राजधानी दिल्ली से सुदूर दक्षिण की ओर ले जानी पड़ी, अपने कर्मचारियों मे सुयोग्य व्यक्तियों का अभाव हो जाने के कारण कभी कभी विदेशियों तक को स्थान देना पड़ा तथा न्याय के उच्चतम अधिकार स्वयं अपने हाथ मे लेने पड़े, किंतु फिर भी वह अपने आदर्शानुसार कार्य संपन्न करा पाने मे कदाचित् सदा असफल रहा। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् फीरोजशाह ने भी सुव्यवस्था के उद्देश्य से जागीर की प्रथा को पुनः प्रचलित किया। पूरे साम्राज्य को कई क्षेत्रों मे विभाजित कर उनमे से भी प्रत्येक मे कई जिले कायम किए जिन्हे कर्मचारियों के सपुर्द कर दिया गया, किंतु अपनी निजी मान्यताओं के अनुसार न्याय का प्रबंध 'कुरान' के ही आधार पर होने दिया। इन दोनों सुल्तानों का ध्यान विशेषकर अपनी सेना को शक्तिशाली बनाने की ओर था और ये उसकी भी बागडोर स्वयं अपने हाथ मे ही रखते रहे। मुगल वंशवाले बादशाहों ने शासनव्यवस्था को कहीं दृढ़तर बना दिया और इन्होंने अपने पूर्ववर्ती शासकों की त्रुटियों तथा उनके द्वारा उठाई गई हानियों से भी कम लाभ नहीं उठाया। इनमे से बाबर एक सजग और सुयोग्य व्यक्ति था, किंतु इसे पूरा अवसर नहीं मिला और उसके पुत्र हुमायूँ को भी कई कठिनाइयाँ झेलनी पड़ गईं। इनमे से सम्राट् अकबर को इस ओर बड़ी सफलता मिली और उसने अपने राज्य में सभी प्रकार की सुव्यवस्था लाने के भी प्रयत्न किए। इसने अपने को असीमित अधिकारों का केंद्र मानते हुए भी कभी मनमानी करने की विडंबना सामने नहीं आने दी और बराबर यही चेष्टा की कि जो लोग अपने निकटवाले और विश्वसनीय हों उनसे आवश्यक परामर्श भी प्राप्त कर लिया जाय। अपने उत्तरदायित्व की ओर इसने सदा ध्यान रखा और इसने ऐसा भी अवसर कभी आने नहीं दिया जिसके लिये कोई इसके ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष आरोपित करे। अकबर के समय में भी नागरिक एवं सैनिक विभागो में कोई स्पष्ट अंतर नहीं था, क्योंकि कोई भी नागरिक कर्मचारी साम्राज्य की सेना में मनसबदारी का अधिकारी बन सकता था तथा इसी के अनुसार उसके पद एवं वृत्ति का भी निर्णय किया जाता था। सम्राट् स्वयं उच्चतम न्यायाधीश होता था किंतु फौजदारी के मुकदमों मे काजी मुस्लिम धर्मानुसार व्यवस्था दे दिया करता था जिसकी अपील स्वयं इसके सामने की जा सकती थी। जहाँ तक सैनिक विभाग मे विस्तार आ जाने की बात रही, इसमे पैदल, घुड़सवार, तोप एवं जहाज संबंधी विभिन्न उपविभागों की सृष्टि स्पष्ट रूपों में कर दी गई थी और पूरी सेना के ऊपर सम्राट् का अधिकार होते हुए भी इसे संचालित करने का भार कई योग्य नायकों को सपुर्द किया गया था। जहाँगीर एवं शाहजहाँ ने भरसक अकबर का ही अनुसरण किया और स्वयं अकबर ने भी शेरशाह की अनेक योजनाओं को ही स्वीकार कर लिया

था। शेरशाह ने जो विभिन्न क्षेत्रों के विभाग किए थे उनसे अकबर बहुत कुछ सहमत था और इसमे केवल थोड़े से ही सुधार करके इसने सुव्यवस्था ला दी। शेरशाह की फौज संबंधी योजना, जो संभवतः अलाउद्दीन खिलजी के अनुकरण में प्रस्तुत की गई थी, तथा यातायात की व्यवस्था, जिसे शेरशाह ने बहुत कुछ अपने अनुभवों के अनुसार निर्धारित की थी उन सभी को किसी न किसी रूप में अकबर ने अपना लिया था।

अर्थनीति : जहाँ तक अर्थनीति का प्रश्न है, अकबर ने यहाँ पर भी भरसक शेरशाह की ही व्यवस्था को विकसित करने का प्रयत्न किया। मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने राज्यकाल मे, दोआब क्षेत्र के अंतर्गत कर मे वृद्धि करके साधारण जनता पर बोझ लाद दिया था और जब इसके कारण तथा कई प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव होने लगने पर उसने सं० १३८७ मे नए सिक्कों का प्रचलन किया और इसके द्वारा लोगो के प्रति उदारता प्रदर्शित करने की चेष्टा की, इसका प्रभाव स्वयं उसके राज्यकोष पर भी उल्टा पड़ने लगा जिससे वह असफल रहा। फीरोजशाह ने उसकी करवाली नीति मे कुछ सुधार अवश्य किए, किंतु इसके कट्टर मुस्लिम शासक बन जाने के कारण, अनेक बातें त्रुटिपूर्ण ही रह गईं और इसे भी इस बात का श्रेय नहीं मिल सका कि जो कुछ भी शासनप्रबंध किया जा रहा है वह वास्तव में सबके अनुकूल पड़ सकेगा। परंतु शेरशाह के विषय मे भी हम ऐसा नहीं कह सकते, प्रत्युत इसकी अर्थनीति प्रायः प्रशंसनीय ही मानी जाती रही है। इसके द्वारा प्रत्येक क्षेत्र की निश्चित रूप से माप लेना, उसके अच्छे बुरे होने का निर्णय कर लिया जाना तथा, किन्हीं स्पष्ट व भरसक युक्तिसंगत नियमों के अनुसार मालगुजारी का निर्धारण किया जाना और इसी प्रकार, अन्य करों के लगाते समय भी सावधानी से ही काम लेना तथा इनकी वसूली मे किसी प्रकार के पक्षपात को प्रश्रय न देना, ये सारी बातें ऐसी थीं जिनका लाभदायक सिद्ध होना असंभव नहीं कहला सकता था। जहाँ तक पता चलता है, शेरशाह ने अपनी ऐसी व्यवस्था के कारण बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली। सम्राट् अकबर को इसके द्वारा किए गए विविध प्रयत्नों से बड़ी प्रेरणा मिली और इसने टोडरमल जैसे योग्य प्रबंधक की सहायता से पूर्वप्रचलित परंपराओं को सुधारकर, उनमे ऐसी व्यवस्था ला दी, जिससे वे सर्वथा नवीन सी जान पड़ने लगीं। सं० १६४१ मे दीवान अशरफ के नए पद पर नियुक्त होते ही टोडरमल ने अनेक समस्याओं पर नए ढंग से विचार किया और तदनुसार अपने बादशाह को परामर्श भी दिया। लगान की सालाना वसूली दशवर्षीय योजना के अनुसार की जाने लगी, राज्य के लिये देय परिमाण को पूरी आय का तीसरा भाग निश्चित कर दिया गया; 'जजिया' और तीर्थकर जैसे कुछ आपत्तिजनक करों को उठाकर, कम से कम अमुस्लिम जनता पर बहुत अच्छा

प्रभाव डाल दिया गया। अकबर के सिक्के ताँबे, चाँदी एवं सोने के हुआ करते थे जिनमें से चाँदीवाले को शेरशाह के ही समय से 'रुपया' कहा जाने लगा था। अकबर ने इन सिक्कों के निर्माण संबंधी टकसालों में भी उचित सुधार किए और उनपर कलात्मक ढंग से नामादि अंकित किए जाने की व्यवस्था कर दी। शाहजहाँ के लिये कहा जाता है कि जब सं० १६८७ मे अकाल पड़ा और लोग मरने लगे, उसने बुरहानपुर, अहमदाबाद जैसे कतिपय स्थानों पर 'लंगर' (सार्वजनिक भोजनालय) खुलवा दिए तथा प्रत्येक सोमवार को ५,०००) रुपए दीन दुःखियो मे वितरण किए जाने का प्रबंध किया। इसके लिये यह भी प्रसिद्ध है कि कहीं लगान का परिमाण बिना समझे बूझे बढ़ा देने के कारण इसने अपने दीवान सादुल्ला खाँ को बड़ी डाँट फटकार बतलाई तथा उसे वसूल करनेवाले फौजदार को पदच्युत भी कर दिया।

धर्मप्रचार—इस युग के मुस्लिम शासकों का प्रत्यक्ष कर्तव्य कभी अपने 'मजहबे इस्लाम' का प्रचार नहीं ठहराया जा सकता था और न इस दृष्टि से इनमे से किसी को भी हम इस कार्य मे विशेष तत्परता दिखलाने का वैसा दोष ही दे सकते हैं। परंतु, इतना तो निश्चय है कि इस काल के सभी सुल्तान वा बादशाह इस प्रकार की मनोवृत्ति से सर्वथा मुक्त भी नहीं कहे जा सकते। एक ही वंशवाले मुहम्मद बिन तुगलक को जहाँ हम हिंदुओं के प्रति यथेष्ट उदार बनकर व्यवहार करने के लिये सहिष्णु शासक तक कह डालने में नहीं हिचकते, वहीं उसके भतीजे फीरोज को कट्टर एवं धर्मांध तक भी बतलाने लगते हैं। मुहम्मद ने भी लगभग उसी प्रकार हिंदू राजपूतो के साथ छेड़छाड़ करना अनुचित समझा था जितना पीछे अकबर ने अनुभव किया। उसने कई एक हिंदुओं को अपने यहाँ के शासन प्रबंध में लगाया तथा उनमे प्रचलित सतीप्रथा के निर्मूलन का भी प्रयास किया। उसने उलेमाओं से न्याय के प्रबंध का भार छीनकर अपने को उनके क्रोध का भाजन बनाया तथा, अपनी न्यायप्रियता का उदाहरण स्थापित करते समय उसने कई बार स्वयं अपना अपराधी होना तक भी स्वीकार किया। उसने, काजियों मुफ्तियों अथवा किन्हीं धर्माचार्यों के दोषभागी हो जाने पर, उन्हे कभी क्षमाप्रदान नहीं किया, प्रत्युत उन्हें कठोरता के साथ दंडित किया। फीरोज शाह के राज्यवाले मुफ्ती बराबर मजहबी कानूनों की व्याख्या करते रहे तथा काजी तदनुसार न्याय का ढोंग रचते चले गए, किंतु इस मुसलमान शासक ने इसके औचित्य वा अनौचित्य की ओर कभी ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। इसने इस्लाम धर्म के पंडितों को सदा विशिष्ट आदर की दृष्टि से देखा तथा उनके लिये वृत्ति की व्यवस्था करके उनसे धार्मिक ग्रंथों की रचना भी कराई। इस प्रकार की मनोवृत्ति प्रदर्शित करने से कदाचित् महमूद गावाँ भी अपने को नहीं बचा सका जो दक्षिण के बहमनी राज्य

का अत्यंत योग्य प्रबंधक समझा जाता है और जिसके लिये प्रसिद्ध है कि अपनी विशालहृदयता के ही कारण उसे अपने प्राण तक भी गँवाने पड़े थे। लोदी वंशवाले सुल्तान सिकंदर के लिये भी कहा गया मिलता है कि वह स्वभावतः एक 'कट्टर मुसलमान' था और वह अपने प्रत्येक शासनकार्य मे उलेमाओं के परामर्श की अपेक्षा किया करता था और हिंदुओं की मूर्तिपूजा का घोर विरोधी रहा। परंतु मुगलवंश के बादशाहों मे हम इस प्रकार की बातें, कम से कम उनके प्रारंभिक शासनकाल मे, नहीं देखते और सम्राट् अकबर तो अपनी धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करने के प्रयत्न मे विभिन्न धर्माचार्यों को अपने यहाँ बुलाकर उनके प्रवचनो का सुनना तक भी बुरा नहीं समझा करता था। राजपूतो के साथ वह वैवाहिक संबंध करता है उनमे से विश्वसनीय व्यक्तियो को उच्च से उच्च पद प्रदान कर देता है तथा किसी भी अमुस्लिम का जी दुखाने की कभी इच्छा तक भी नहीं प्रकट करता। सुल्तान शेरशाह ने अपने राज्यकाल मे जो 'सुलहे कुल' अर्थात् सार्वभौम सहिष्णुता का व्यवहार घोषित किया था उसे अकबर ने न केवल सिद्धांततः स्वीकार किया, अपितु उसे भरसक अक्षरशः व्यवहार मे लाने में भी कभी हिचक न की जिसका एक सुंदर परिणाम यह हुआ कि जहाँ तक संभव हो सका उसके साथ सभी ने सहयोग किया जिससे वह इतना सफल बन सका। स्वयं उसके अपने मुस्लिम कर्मचारियों तक मे इस दृष्टि से दो वर्ग बन चुके थे जिनमे से कुछ तो कविराज फैजी, अबुल फजल व रहीम जैसे थे जिनकी धार्मिक उदारता प्रसिद्ध थी और उनका पृथक् वर्ग भी था, तथा इसी प्रकार, कुछ ऐसे लोग साम्यवादी विचारधारा के भी थे जिन्हें किसी प्रकार की भी संकीर्णता पसंद न थी, किंतु, दूसरी ओर, एक वर्ग उन अन्य मुसलमानों का भी था जिन्हे सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता, बराबर खटका करती थी और जो सदा इस चेष्टा मे रहा करते थे कि उसे किसी प्रकार अपने प्रभाव में लाएँ। सम्राट् अकबर ने विभिन्न धर्मों की आधारभूत बातो पर विचार करके उन्हे एक नए संप्रदाय 'दीन इलाही' मे समाविष्ट करने की भी योजना बनाई, किंतु उसे अनुसरण करनेवालों की संख्या मे कभी यथेष्ट वृद्धि न हो सकी। उसके उत्तराधिकारियो मे शाहजहाँ के लिये कहा जाता है कि वह कभी कभी मुस्लिम कट्टरता प्रदर्शित कर देता था, किंतु इसके प्रिय पुत्र दाराशिकोह को हिंदुओं की आध्यात्मिक साधना तक भी पसंद थी।

———

तृतीय अध्याय

धार्मिक परिस्थिति

अ. धर्म और संप्रदाय

उपक्रम—भारत के वर्तमान प्रमुख धर्मों में से सं० १४०० में यहाँ पर हिंदू धर्म, इस्लाम, जैन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी और पारसी प्रचलित थे, किंतु सबकी दशा एक सी नहीं थी और इनमें से केवल प्रथम दो को ही प्रधानता दी जा सकती थी। जैन एवं बौद्ध धर्मों में से प्रथम का प्रचार अधिकतर पश्चिम एवं दक्षिणवाले प्रांतों में था और द्वितीय उक्त समय तक विशेषकर पूर्वीय प्रांतों में ही किसी न किसी रूप में विद्यमान था। ईसाई धर्म का प्रवेश यहाँ पर किसी पादरी टामस के द्वारा दक्षिण की ओर बहुत पहले ही हो गया था, किंतु इसका प्रचार यहाँ पर पीछे होने लगा। यहूदी इनसे भी पहले आ गए थे और पारसी लोग यहाँ पर सर्वप्रथम दक्षिण के पश्चिमी किनारेवाले 'संजाण' नामक बंदरगाह पर सं० ७७८ में उतरे थे जब ईरान से उन्हें अपने रक्षार्थ भागना पड़ा था। इस्लाम का प्रवेश भी यहाँ पर पहले पहल उसी दिशा से हुआ था, किंतु यह उस समय यहाँ कुछ व्यापारियों के साथ मालाबार में पहुँचा था। तब से इसे बराबर कुछ न कुछ प्रोत्साहन मिलता गया और सं० ७६९ में जब सिंध प्रदेश पर धावा हुआ, इसके प्रचार का स्वरूप क्रमशः परिवर्तित भी होने लगा। अतएव, सं० १४०० तक जिस समय यहाँ मुहम्मद बिन तुगलक सुल्तान था, इसे दिल्ली के केंद्रीय शासन तक से न्यूनाधिक सहायता मिलने लग गई थी।

हिंदू धर्म—हिंदू धर्म इस काल तक अनेक संप्रदायों एवं उपसंप्रदायों में विभक्त होने लगा था। इस्लाम के संपर्क एवं संघर्ष में आकर इस धर्म को स्वभावतः अपना आत्मनिरीक्षण करना आवश्यक जान पड़ने लगा था—जिसके फलस्वरूप यहाँ धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो चुकी थी। तदनुसार जितने भी छोटे बड़े संप्रदाय यहाँ पर चल रहे थे उनमें से प्रायः सब किसी ने अपने को समसामयिक स्थिति के प्रकाश में सँभालने के प्रयत्न किए और हमारे आलोच्य युग का आरंभ होते समय तक इस प्रकार के आंदोलनों को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलता गया।

(क) शैव संप्रदाय—शैव संप्रदाय भारत के कदाचित् प्राचीनतम संप्रदायों में से एक है तथा इसके अस्तित्व का पता, ऐतिहासिक खोजों से प्राग्वैदिक

युगीन भारत में भी चलता है। दक्षिण के तमिल प्रांत में यह किसी न किसी रूप मे, वैष्णव संप्रदाय के साथ, विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों में प्रचलित पाया जाता है। सं० १४०० के पहले से ही यह, 'पाशुपत संप्रदाय' के रूप में, विशेषकर काठियावाड़ की ओर प्रसिद्ध था, कन्नड़ प्रांत मे 'वीर शैव' अथवा 'लिंगायत' नाम से अभिहित होकर प्रचलित रहा तथा कश्मीर में इसका एक रूप 'काश्मीर शैव धर्म' कहलाया करता था। इसके कतिपय अन्य उपसंप्रदाय भी यत्रतत्र पाए जाते थे और इन सभी की प्रवृत्ति, उन दिनों, अपने मत को एक सुव्यवस्थित दार्शनिक आधार प्रदान करने तथा उसमे यथासंभव व्यापक सिद्धांतों एवं नियमों को समाविष्ट करते हुए, उसे सर्वजनग्राह्य बनाने की दीख पड़ती थी। इनके प्रचारकों ने इसके लिये यह भी प्रयत्न आरंभ कर दिया था कि इनकी सारी बातें, यथासंभव देश की प्रचलित भाषाओं के माध्यम से ही, समझाई जाएँ तथा उनके अधिकाधिक प्रचार के लिये विविध संगठनों की योजनाएँ भी प्रस्तुत की जाएँ। ऐसे उपसंप्रदायों में ही 'एकनाथ योगी संप्रदाय' भी था जिसने इस प्रकार के साधनों की ओर विशेष ध्यान दिया और इसका एक परिणाम यह हुआ कि अन्य उक्त उपसंप्रदाय जहाँ अपने लिये प्रायः स्थानीय महत्व ही अर्जित कर सके वहाँ, इसने उनसे कहीं व्यापक रूप धारण कर लिया। हमारे आलोच्य काल तक इसका प्रभाव इतना विस्तृत हो गया था कि इसके सिद्धांतों एवं साधनाओं की ओर न केवल हिंदू धर्म के ही अनुयायी आकृष्ट हो रहे थे, अपितु उन्हें न्यूनाधिक अपनाने की ओर, इस्लाम धर्म के सूफी मतवाले भी अग्रसर होते जान पड़ते थे। 'नाथयोगी संप्रदाय' द्वारा उपदिष्ट योगसाधना की उपयोगिता मे प्रायः सभी कोई विश्वास करने लग गए थे और उसमें निष्णात 'जोगी' उन दिनों तक इतनी प्रसिद्धि पा चुका था कि उसकी अपूर्व शक्तियों तथा उसके चमत्कारों की चर्चा सब कहीं सुनी जा रही थी। इस संप्रदाय के सर्वप्रमुख प्रचारक योगी गुरु गोरखनाथ का नाम तो कभी कभी स्वयं शिवरूपी परमात्मतत्व तक के लिये भी व्यवहृत होने लग गया था।

(ख) वैष्णव संप्रदाय—जिस प्रकार शैव संप्रदाय के साथ प्रायः योगसाधना का नाम जोड़ने की परंपरा देखी जाती है, उसी प्रकार वैष्णव संप्रदाय के साथ भी भक्तिसाधना का नाम लिया जाता है जिसे वास्तव में इसने अत्यधिक महत्व भी प्रदान किया है। भक्ति कही जानेवाली उपासना को योगसाधना जितनी प्राचीन नहीं बतलाया जाता, किंतु इसे उससे सुगम अवश्य समझा जाता है और कदाचित् इसी कारण यह उससे कहीं अधिक लोकप्रिय एवं व्यापक रूप भी ग्रहण करती चली आई है। सं० १४०० तक वैष्णव संप्रदाय के भी अंतर्गत कई उपसंप्रदायों की सृष्टि, प्रधानतः इस कारण होती जा रही थी कि इसके विभिन्न आचार्यों ने इसके आधारभूत

दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या अपने अपने ढंग से करनी आरंभ कर दी थी जिसके फलस्वरूप एक ओर जहाँ निंबार्काचार्य का 'द्वैताद्वैत' मत प्रसिद्ध था वहाँ रामानुजाचार्य का 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धांत प्रचलित हो चला था और इसी प्रकार मध्वाचार्य का 'द्वैतसिद्धांत भी प्रवर्तित हो चुका था और उनके अनंतर 'भेदाभेद' एवं 'शुद्धाद्वैत' मतों का भी प्रचार होने लगा। इन सभी के अनुयायी अपने लिये भक्तिसाधना को ही सर्वाधिक महत्व देते थे, किंतु उसके लिये अपने यहाँ कोई ऐसा दार्शनिक आधार भी कल्पित कर लेते थे जिससे उनमे यत्किंचित् भिन्नता आ जाया करती थी जिसका एक परिणाम यह भी होता था कि कोई भी एक वर्ग किसी दूसरे को अपने से भिन्न मानने लगता था। वैष्णव संप्रदाय के ही अंतर्गत कुछ ऐसे अन्य उपसंप्रदाय भी हुए जिन्होंने अपने लिये किन्हीं दार्शनिक सिद्धातो पर उतना बल देना आवश्यक नहीं समझा, किंतु जिन्होंने भक्तिसाधना के ही किसी न किसी रूप को अपना लेना पर्याप्त मान लिया। ऐसे उपसंप्रदायों मे हम बंगाल के 'सहजिया' एवं महाराष्ट्र के 'महानुभाव' तथा 'बारकरी' जैसे कुछ वर्गों के नाम ले सकते हैं। इन सभी मे से कई ने अपने अपने मतों के प्रचारार्थ संस्कृत के अतिरिक्त स्थानीय भाषाओं को भी माध्यम बनाकर कार्य आरंभ किया और जो ऐसा साहित्य, विशेषकर महाराष्ट्र के बारकरी संप्रदाय की प्रेरणा पाकर, मराठी मे निर्मित हुआ, तथा वह दूसरा भी जो मूलतः विशिष्टाद्वैत के समर्थक स्वामी रामानद द्वारा अनुप्राणित होकर उत्तरी भारत मे हिंदी के माध्यम से रचा गया, निर्गुण भक्ति के इतिहास मे कहीं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(ग) **अन्य हिंदू संप्रदाय :** हिंदू धर्म के अंतर्गत अन्य अनेक संप्रदायों की भी सृष्टि हो गई थी जो शाक्त, सौर, गाणपत्य, स्मार्त, आदि विभिन्न नामो द्वारा अभिहित किए जाते थे तथा जिन्होंने अपने प्रचारकार्य के आधार पर सर्वसाधारण मे अपने लिये कोई न कोई स्थान बना लिया था। इनमे से प्रथम शक्ति की पूजा का समर्थक था जिसके लिये उसे मातृवत् उच्च स्थान प्रदान कर उसकी आराधना की जाती थी। इसकी एक यह भी विशेषता थी कि ऐसी माता को बहुधा विकराल व भयसंचारक रूप दिया जाता था और उसे अनिष्टों को नष्ट करनेवाली भी माना जाता था। उसके लिये जो पूजा और उपासना का विधान था वह साधारणतः तांत्रिक कहा जाता था और उसमे कई ऐसी विचित्र विधियों का भी समावेश था जिनके अनुसार कृत्यों को संपन्न करना प्रचलित सामाजिक मर्यादाओ तथा परपराओं के विरुद्ध जाना तक कहला सकता था। इसके सिवा जिन रहस्यमय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ऐसा किया जाता था उन्हें सभी

कोई यथार्थ रूप मे समझ नहीं पाते थे जिस कारण यह सदा संभव था कि उनके कारण कहीं अर्थ का अनर्थ न हो जाय तथा समाज पर विपरीत प्रभाव भी पड़े। शक्ति संप्रदाय से संबंधित ऐसी ही बातों के कारण उसकी चर्चा निर्गुण भक्ति के साहित्य मे किसी सद्भावना के साथ नहीं की जा सकी। यहाँ तक कि न केवल उसके अनुयायियों को 'साकत' की संज्ञा देकर उनकी निंदा की गई, प्रत्युत इस शब्द का प्रयोग साधारण हिंसावादियों एवं अनाचारवादियों तक के लिये कर दिया गया। इस संप्रदाय के 'दक्षिण मार्ग' वालों की ओर कदाचित् कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, प्रत्युत केवल 'वाममार्गी' साधकों को ही 'शक्ति' समझ लिया गया। इसी प्रकार उक्त संप्रदायों मे से अंतिम अर्थात् 'स्मार्त संप्रदाय' के लिये कहा जाता है कि इसका प्रवर्तन, प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य की प्रेरणा से हुआ था और इसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा विभिन्न छोटे मोटे उपसप्रदायों की बातों को एकत्र कर उनके आधार पर किसी ऐसी परंपरा की प्रतिष्ठा की जाय जिससे हिंदू समाज के भीतर एकसूत्रता का भाव जाग्रत कराया जा सके। इसीलिये इसके अंतर्गत प्राचीन वैदिक उपासना की व्याख्या नवीन पौराणिक रूप मे करके उसमे पंचदेवों की पूजा, कुछ नित्य एवं नैमित्तिक कर्म तथा सर्वसुलभ प्रक्रियाओं का विधान कर दिया गया और इसमे पंचदेवों के अंतर्गत शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य एवं शाक्त को स्थान देते हुए, उपर्युक्त पृथक् 'वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य एवं शाक्त' नामक उपसंप्रदायों की सत्ता को भी अनावश्यक ठहराया गया। परंतु इस प्रकार की योजना भी अंततोगत्वा उतनी सफल न हो सकी और इसके अंतर्गत भी अनेक ऐसी कमियाँ आ गईं जिनके कारण इसमे विहित साधना-पद्धति केवल अंधविश्वासों पर आश्रित सी बन गई तथा इसकी कतिपय बातों को कभी कभी हास्यास्पद तक भी समझा गया। उदाहरण के लिये, देवालयों मे इष्टदेव के विग्रह की स्थापना करके उसे किसी विश्वसम्राट् अथवा सर्वशक्तिसंपन्न देव मान बैठना तथा उसकी विधिवत् पूजा करके उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करना इतना महत्वपूर्ण बन गया था कि भक्ति अपना मूल श्रद्धाश्रित रूप कायम नहीं रख सकी और वह साधारण मूर्तिपूजा में परिवर्तित हो गई। ऐसे उपासक की मनोवृत्ति जहाँ पारलौकिक फलों की ओर उन्मुख देखी गई वहीं उपास्यदेव उत्तरोत्तर लौकिक मर्यादाओं के बंधन मे आते गए। तीर्थों का वातावरण भी उनके विशिष्ट धार्मिक वातावरण का परिचायक नहीं रह गया प्रत्युत वे कोरे पुण्य संबंधी किसी व्यापार के केंद्रवत् प्रतीत होने लगे। इसी प्रकार व्रत एवं दानादि का महत्व भी कदाचित् इसी बात में केंद्रित समझा जाने लगा कि इनका उपयोग भावी लाभ की दृष्टि से किया जाता है तथा ऐसे सभी कार्यों मे यथास्थल पंडों और पुरोहितों का आश्रय भी अनिवार्य है। अतएव निर्गुणभक्ति वाले उपासकों की दृष्टि में इस प्रकार की सारी

बातें केवल निरर्थक एवं कोरी विडंबना की ही सूचक सिद्ध हुईं और तदनुसार ही उनके साहित्य मे इनका उल्लेख भी किया गया।

जैन एवं बौद्ध धर्म—ये दोनों धर्म लगभग एक ही साथ प्रचलित किए गए समझे जाते हैं और इन्हें विशेषकर इसलिये भी महत्व प्रदान किया जाता है कि इन दोनो के कारण हिंदू धर्म के अंतर्गत अनेक प्रकार के सुधारों का समावेश किया गया। इन दोनो के नाम प्रायः एक ही साथ निर्गुण भक्तिवाले साहित्य मे लिए गए दिखाई पड़ते हैं और वहाँ पर इनकी आलोचना की गई पाई जाती है। इन्हे वहाँ कदाचित् कहीं पर भी कोई महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया नहीं जान पड़ता, प्रत्युन साधारणतः इनके प्रति उपेक्षा का ही भाव प्रदर्शित किया गया मिलता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे उनके ऋणी होने की कौन कहे, इनके साथ उसका किसी प्रकार का भी संबंध सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी तथ्य यह है कि निर्गुण-भक्ति-साहित्य पर इन दोनों का ही न्यूनाधिक प्रभाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है। जहाँ तक नैतिक आचार एवं अहिंसा का प्रश्न है, वहाँ इसमें उनके पाए जाने का समाधान मूलतः जैन स्रोत के आधार पर भली भाँति किया जा सकता है तथा इसी प्रकार उसके 'मधि' (मध्यममार्ग), 'सुन्न' (शून्यतत्व) एवं 'निरवान' (निर्वाण) जैसे अनेक महत्वपूर्ण विषयो के लिये बौद्ध धर्म के महायान संप्रदायवाली प्रसिद्ध विचारधारा की ही ओर दृष्टि डालनी पड़ सकती है। निर्गुण भक्तिवाले आंदोलन का आरंभ होने के पहले इन दोनों धर्मों की मूल धाराओं का प्रवाह बड़ी दूर तक अग्रसर हो चुका था और उससे यथास्थल एक से अधिक शाखाएँ तक भी फूटकर निकल चुकी थीं। तदनुसार इनके अंतःस्रोत का जल किसी न किसी माध्यम के द्वारा एक बड़े विशाल क्षेत्र तक को आप्लावित कर चुका था। अतएव, जिस किसी ने भी कभी स्वयं उससे लाभान्वित होकर उसे किसी दूसरे तक भी पहुँचाया हो, इसका पूरा श्रेय केवल ऐसे माध्यम को ही देना उचित नहीं और इस प्रकार की सहायता को प्रत्यक्ष नहीं तो कम से कम परोक्ष तो अवश्य ही कहा जा सकता है। स० १४०० के समय तक जैन व बौद्ध दोनों ही धर्म बहुत कुछ पुराने पड़ चुके थे और इनके क्रमिक विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि इनमे प्रायः ह्रास के चिह्न तक भी दिखाई पड़ने लगे थे। इस कारण हम देखते हैं कि उसके कुछ ही दिन अनंतर जैन धर्म के अंतर्गत एकाध सुधारकों का भी आविर्भाव होने लग जाता है। इसके श्वेतांबर संप्रदाय के अनुयायियों मे लौकाशाह (जन्म सं० १४७२) कतिपय मननशील प्रवृत्तियों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं और फिर दिगबर शाखावाले तारण स्वामी (सं० १५०५-७२) भी अपने मूलधर्म को सुव्यवस्थित रूप देने की ओर प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। इधर बौद्ध धर्म की महायान शाखा, जो अत्यंत उदार एवं महान् आदर्श को लेकर अग्रसर होती है,

क्रमशः विविध संकीर्ण 'यानों' के मार्ग में उलझ जाती है जिसका परिणाम भी बहुत भयंकर होता है और इसके कारण मूलधर्म इतना उपेक्षणीय बन जाता है कि उसे यहाँ से भगाने वा पचा डालने का प्रयास चारों ओर से आरंभ हो जाता है और अंत मे इसका ढूँढ़ने पर भी कहीं पता नहीं चलता। निर्गुण भक्ति के साहित्यकार स्वभावतः अपने समय की वैसी विकृत दशाओं पर ही दृष्टिपात कर पाते हैं। इन धर्मों की उन मौलिक विशेषताओं की कोई चर्चा करना आवश्यक नहीं समझते जिन्हें ये 'नाथयोगी संप्रदाय', 'सूफीमत' जैसे विभिन्न वर्गों के सहारे से जाने अनजाने अपना लिए रहा करते हैं तथा यदि सच कहा जाय तो ये ही वास्तव मे उनके लिये विशिष्ट प्रेरणास्रोत भी ठहराए जा सकते हैं।

कहते हैं कि जिस प्रकार जैनधर्म के अनुयायियों ने अपने चौबीस आदर्श तीर्थंकरो को आराध्य मानकर उनका स्तुतिगान आरंभ कर दिया था तथा उनकी मूर्तियो की सविधि पूजा करना ही वे अपने कर्तव्य की इतिश्री मानने लगे थे तथा अपने धर्म की मौलिक बातें उन्हें विस्मृत सी होती जा रही थीं, उसी प्रकार बौद्धधर्म के अनुयायियों ने भी महायान के 'बोधिसत्वपरक' आदर्श के प्रति यथेष्ट ध्यान न देकर क्रमशः व्यर्थ की 'मंत्रयान' एवं 'वज्रयान' संबंधी बातों को ही विशेष महत्व देना आरंभ कर दिया था और इसके 'सहजयान' वाले अनुयायियों तक ने अभी उन महामुद्रादि की साधनाओं से अपने को पूर्णतः बचा नहीं पाया था जिनकी वे कभी कभी आलोचना भी किया करके थे। हिंदू धर्म के विविध संप्रदायों के विकास का अध्ययन करने पर भी हमे यही पता चलता है कि उनके अनुयायियों ने भी साधारणतः इसीलिये अपना वर्ग पृथक् रूप मे प्रतिष्ठित किया कि वे अपनी समझ मे बहुत कुछ सुधार करने की ओर प्रवृत्त थे, किंतु यह एक विचित्र विडंबना है कि अंत मे स्वयं वे भी प्रायः वैसे ही विकारों के शिकार बन गए जिन्हें वे दूर करने के लिये सचेष्ट हुए थे। इन सभी मे से किसी के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्रश्न के मूल तक पहुँचने का कभी प्रयत्न किया होगा। जान पड़ता है कि निर्गुण भक्ति साहित्य के रचयिताओ ने पंडितों, योगियो, यतियों, संन्यासियों, जैनों एवं बौद्धो आदि सभी को, केवल इसीलिये फटकार बतलाई है कि उन्होने मूल समस्या की ओर से आँखें मूँदकर अधिकतर बाह्य बातों को ही सामने लाने मे अपना अधिक समय व्यतीत किया है।

इस संबंध मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जिस समय निर्गुण भक्ति काव्य की रचना आरंभ होने लगी थी, इस्लाम धर्म के क्रमशः बढ़ते जानेवाले प्रभाव के फलस्वरूप जागृत नई सांस्कृतिक चेतना का एक परिणाम, धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत, परस्पर विरोधी संप्रदाओं के बीच न्यूनाधिक सामंजस्य की भावना के रूप

मे भी लक्षित हुआ। उदाहरण के लिये लगभग इसी काल मे, एक ओर महाराष्ट्र-वाले वारकरी भक्तों की उपासना मे, जहाँ वैष्णवों एवं शैवों के कटुतापूर्ण भेद-भाव का अंत हो जाता जान पड़ा वहाँ दूसरी ओर बंगाल मे सहजिया लोगों की साधनापद्धति मे वैष्णवों एवं शाक्तों का आपस मे मेल जोल बैठ जाता समझ पड़ा तथा, इसी प्रकार, उत्कल प्रदेश के 'पंचसखा' भक्तों द्वारा, अपने इष्टदेव की वैष्णवी प्रतिमा का बौद्धों के 'शून्यपुरुष' वाले रूप मे परिवर्तित किया जाना तक भी देखा गया। उस काल का 'भक्ति आंदोलन' तो कदाचित् स्वयं इस ओर किया गया एक सफल प्रयास माना जा सकता था। मुस्लिम सूफी साधकों के व्यापक प्रचारो ने भी इसके लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने मे कुछ कम सहायता नहीं पहुँचाई। परंतु जैसा हम आगे चलकर भी देखेंगे, इस काल के संतों ने जिस आदर्श को लेकर आगे बढ़ना आरंभ किया वह नितांत विलक्षण सिद्ध हुआ।

इस्लाम धर्म

शरा और बेशरा : भारतवर्ष के सूफी संप्रदायों के इतिहास को देखने से पता चलता है कि कालक्रम से उन संप्रदायों के अंतर्गत भिन्न भिन्न उपसंप्रदायों की सृष्टि हुई। इन उपसंप्रदायों मे कुछ तो ऐसे थे जो मूल सप्रदाय तथा इस्लाम की मान्यताओ से अपने को अविच्छिन्न मानते थे और बहुत दूर तक सनातनपंथी इस्लाम के आचार विचार को मानकर चलते थे। ये सप्रदाय 'बाशरा' संप्रदाय थे अर्थात् जहाँ तक संभव होता, ये संप्रदाय 'शरीअत' को मानकर चलते। इन संप्रदायों का संबंध सनातनपंथी इस्लाम के साथ साधारणतः अच्छा है। इन संप्रदायों ने प्रारंभ से ही सनातनपंथी इस्लाम से अपना संबंध बनाए रखने का प्रयत्न किया। बाशरा संप्रदाय में प्रायः सभी प्रमुख सूफी संप्रदाय और उपसप्रदाय थे। लेकिन बेशरा संप्रदायवालो को इस बात की जरा भी चिंता नहीं थी कि 'शरीअत' अर्थात् सनातनपथी इस्लाम के आचार विचार और मान्यताओ से उनके आचार विचार और मान्यताओं का मेल है या नहीं। मेल हो तो ठीक है और नहीं है तो उन्हें इस बात की फुर्सत नहीं कि वे उससे मेल बैठावे। धार्मिक मामलों मे वे अत्यंत ही स्वतंत्र प्रकृति के थे। कुछ बेशरा सप्रदायो की अभी हम चर्चा करेंगे जिनसे यह समझने मे कोई कठिनाई नही होगी कि सनातनपंथी इस्लाम से वे कितनी दूर चले गए थे। सनातनपंथी इस्लाम की कभी भी इनके प्रति अच्छी दृष्टि नहीं रही। लेकिन मजे की बात यह है कि साधारण जनता मे बेशरा संप्रदाय का प्रभाव अत्यंत व्यापक है। इसका कारण यह है कि साधारण अशिक्षित जनता के लिये धर्म के गूढ़ तत्वो तथा आध्यत्मिक गुत्थियों को समझना अत्यंत कठिन है। वह समझना चाहती भी नहीं। साधारणतः उसे अपने निजी सुख दुःख से ही मतलब रहता है। पीरों और फकीरों के विभिन्न चमत्कार देखकर साधारण लोगों को लगता

है, जैसे वे ही उन्हें सांसारिक दुःखो से छुटकारा दिला सकते हैं तथा उनकी अभिलाषाओं को पूरी कर सकते हैं। बेशरा संप्रदायवालों के अद्भुत करिश्मों को देखकर उनमें भय का संचार होता है। उनसे वे भय खाते हैं अवश्य, लेकिन उनके मन मे यह विश्वास बना रहता है कि इन बड़े बड़े चमत्कारों की शक्ति से सपन्न ये पीर जो चाहे कर सकते हैं। अतएव, वे उनकी पूजा करते हैं और सब तरह से उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट कर उनका आशीर्वाद पाना चाहते हैं।

बेशरा संप्रदायवाले बहुत से फकीर विचित्र वेश मे बाजारों मे घूमते हुए भीख माँगते फिरते हैं। मंत्र, तंत्र, झाड़ फूँक आदि के द्वारा वे लोगो पर अपना प्रभाव जमाते हैं। सूफी साधकों के उच्च आध्यात्मिक जीवन की ओर कभी भूलकर भी उन्होंने नहीं देखा। इसी तरह विद्याध्ययन भी उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखता। इस संप्रदाय मे अशिक्षितों की संख्या ही अधिक है। बेशरा संप्रदाय के अंतर्गत एक ऐसा दल है जो 'मजजूब' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दल के लोग न पैगबर के चमत्कारों पर विश्वास करते हैं और न उन्हें रोजा, नमाज से ही कोई मतलब है।

बेशरा संप्रदायवालों मे नशा सेवन खूब प्रचलित है। नाना प्रकार की 'जिक्र' की क्रियाएँ भी उनमे देखने को मिलती हैं। वैसे इनमे बहुत से ठग और धूर्त भी हैं जो जनता के अंधविश्वास का पूरा पूरा लाभ उठाते हैं।

यह सही है कि सूफी संप्रदायों के मोटे तौर पर 'बाशरा' और 'बेशरा' ये दो विभाग कर लिए जाते हैं, लेकिन इस संबंध मे एक बात ध्यान मे रखने की है कि बेशरा संप्रदाय का वैसा कुछ सघटन नहीं है जैसा चिश्ती, नक्शबंदी, कादिरी आदि सूफी संप्रदायों का है। छोटे छोटे संप्रदायों और उपसंप्रदायों के बनने मे विशेष विशेष साधकों की प्रसिद्धि का ही हाथ रहा है। किसी फकीर के अधिक प्रसिद्ध होने पर उसके नाम से एक संप्रदाय का श्रीगणेश हो जाता था। यह भी देखने को मिलता है कि किसी विशेष संप्रदाय का लब्धप्रतिष्ठ साधक अपने नाम से एक नया संप्रदाय चलाने के लिये अपने आपको मूल संप्रदाय से विच्छिन्न कर लेता था। ऐसे भी बहुत से बेशरा संप्रदाय हैं जिनका न कोई लिखित साहित्य है, न कोई सुचिंतित दर्शन। ये अपने संप्रदाय को रहस्यमय बनाए हुए रहते हैं। गुरु-शिष्य-परंपरा से ही इन संप्रदायों के अनुयायियो को उस संप्रदाय के रहस्यों की जानकारी होती है। ऐसे संप्रदायों के संबंध मे यह कहना कठिन है कि कब उनका आविर्भाव हुआ अथवा उनका किसी विशेष सूफी संप्रदाय से संबध था या नहीं। वैसे बेशरा संप्रदाय मे कुछ ऐसे भी संप्रदाय हैं जो किसी न किसी विशिष्ट सूफी संप्रदाय से अपना संबंध जोड़ते हैं।

बेशरा और बाशरा संप्रदायों का अध्ययन करते समय एक और बात की ओर ध्यान देना जरूरी है। कभी कभी ऐसा देखने को मिलता है कि कोई सुप्रसिद्ध संत, जो वास्तव मे बेशरा संप्रदाय का है, अपनी प्रसिद्धि के कारण बाशरा संप्रदाय का कहा जाने लगा। साथ ही ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं कि बेशरा संप्रदाय का कोई संत बाशरा हो गया और बाशरा संप्रदाय का बेशरा हो गया। इसलिये इन संप्रदायों से संबंधित बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों का ठीक ठीक पता लगाना कठिन हो जाता है। चिश्ती, सुहरवर्दी आदि मुख्य संप्रदायों में सबसे अधिक बेशरा संप्रदायों का आविर्भाव सुहरवर्दी सप्रदाय से ही हुआ। उन संप्रदायों के संबंध मे जो जानकारी प्राप्त होती है उससे लगता है कि किसी न किसी रूप में उनका संबंध सुहरवर्दी संप्रदाय से था। वैसे अन्य प्रमुख सूफी संप्रदायों के अनुयायियों मे भी बेशरा संप्रदाय के प्रवर्तक मिल जाते है लेकिन अपेक्षाकृत सुहरवर्दी के अनुयायियों से उनकी संख्या कम है।

बेशरा अथवा बाशरा संप्रदाय के अनुयायियों के ऐसे क्रियाकलाप और आचरण जो सनातनपंथी इस्लाम के मूलभूत सिद्धातों से बहुत दूर जा पड़े हैं अथवा उनसे जिनका कोई संबंध नहीं है बाद मे चलकर उनकी संगति बैठाने की कोशिश की गई है। कहा जाता है कि वैसा आचरण करनेवाले साधक वास्तव में उच्च कोटि के साधक थे और उनके वैसा करने का उद्देश्य यही रहता था जिसमे लोग उनकी आध्यात्मिक शक्ति को न पहचान सकें और उनकी साधना में विघ्न न डालें। उनका एकमात्र उद्देश्य अपने आपको छिपाए रखना था। इसमे कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के साधक होंगे जिनका वस्तुतः ऐसा उद्देश्य रहा हो, लेकिन अधिकांश इस प्रकार के नहीं थे।

इस प्रकार का आचरण करनेवाले साधकों को सूफी 'मलामती' कहा करते थे। किसी समय उन्हे एक विशेष कोटि का समझा जाता था और कहा जाता था कि वे परमात्मा के विशेष कृपापात्र हैं, अतएव अगर वे ऐसा करें जो देखने मे धर्मविरोधी प्रतीत हो तो उसका कोई अर्थ नहीं। कहा जाता था कि उनके लिये धर्म की पाबंदियों में बँधना कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि वे बहुत ऊपर उठ चुके हैं। अल-हुजवीरी ने 'कश्फ अल् महजूब' मे ऐसे बहुत से उदाहरण दिए हैं और उनके आचरणों का समर्थन किया है। हुजवीरी ने अबू मजीद नामक एक सूफी साधक के संबध में बतलाया है कि वह एक बार हिजाज से लौट रहा था। उसे रास्ते मे रैय्य नामक एक नगर से पार होना था। वह रमजान का महीना था। लोगों ने जब उसके आने की बात सुनी तब उसके स्वागत के लिये उसके पास पहुँचे। इससे परमात्मा की ओर से उसका ध्यान खिचा, अतएव लोगों से बचने के लिये बाजार मे आकर सबके सामने रोटी खानी शुरू की जब कि और लोग रोजा रखे हुए थे।

उसके इस धर्मविरोधी कृत्य को देखकर सब लोग उससे अलग हट गए। उसने अपने शिष्य को बतलाया कि लोग नासमझ हैं और उन्हें पता नहीं कि धर्म के विरुद्ध उसने ऐसा नहीं किया है। सफर मे रोजा रखने की पाबंदी नहीं है।

बेशरा संप्रदाय मे कलंदरी, लाल शाहबाजिया, मूसा सुहागिया, रसूलशाही, मदारी तथा मलंग संप्रदाय आदि कई सुप्रसिद्ध हैं। इस तरह के बहुत से संप्रदाय हैं और उनके उपसंप्रदाय और फिर उन उपसंप्रदायों के भी उपसंप्रदाय हैं। यहाँ कुछ की चर्चा कर लेना समीचीन होगा। इन कुछ संप्रदायों की थोड़ी सी जानकारी से अन्य उसी प्रकार के संप्रदायों और उपसंप्रदायों की प्रकृति का पता चल जायगा।

कलंदरी संप्रदाय के प्रवर्तक बू-अली कलंदर कहे जाते हैं। बू-अली कलंदर कहाँ के रहनेवाले थे, इसमे बहुत मतभेद है। कोई उन्हे स्पेन का कहता है और कोई पर्सिमन इराक का। कहते हैं कि भारतवर्ष मे इस संप्रदाय को ले आनेवाले बू-अली कलंदर थे। और किसी किसी के मतानुसार सईद नज्मुद्दीन गौसुद्दहर कलंदर इस संप्रदाय को भारतवर्ष मे ले आए। लेकिन भारतवर्ष मे प्रचलित एक परंपरा के अनुसार इसके प्रवर्तक सईद खिज्रूमी कलंदर खपरादारी थे। रोज ने बतलाया है कि इसके प्रवर्तक का नाम कलंदर यूसुफ अंदलूसी था। इसी प्रकार 'कलंदर' शब्द के अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति को लेकर भी नाना मत उपस्थित किए गए हैं। 'कलदर' के अर्थ कई बतलाए गए हैं, जैसे—विशुद्ध, विशुद्ध सोना, किसी स्थान का प्रधान, एक प्रकार का बाजा, आदि। वैसे इसमे कोई संदेह नहीं कि 'कलंदर' शब्द का प्रयोग 'फकीर' तथा 'परमात्मा के दास' के लिये किया जाता है। इनका प्रसिद्ध स्थान पानीपत है।

कलंदर संप्रदाय का कोई सुचिंतित दर्शन है, इसमें संदेह है। वैसे इसे सप्रदाय कहने मे भी बहुतो को संकोच है। इस संप्रदायवाले बंदर भालू नचाकर भीख माँगा करते हैं। भीख माँगने की कला मे ये बड़े निपुण होते है। साधारण जनता इनसे बहुत भय करती है। गाँव के रहनेवाले हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभी इनसे भय करते हैं और भीख देने मे जरा भी देर नहीं करते, क्योंकि थोड़ी भी देर होने पर ये शाप देते हैं और अन्य दरवाजे पर चले जाते हैं। भीख मिलने पर खूब खुश होकर आशीर्वाद भी देते हैं। से सिर, दाढ़ी, मूँछ तथा भौहो को मुड़वाए हुए रहते हैं। ये गाँव या शहर के भीतर अथवा बाहर एकात मे फूस की झोपड़ी लगाकर रहते हैं। इनमे कुछ तो विवाहित होते हैं और कुछ विवाह नहीं करते।

इस संप्रदायवालो का कहना है कि सईद नज्मुद्दीन गोसुद्दहर कलंदर दो सौ वर्षों तक जीवित थे और उन्होंने चालीस वर्षों तक उपवास किया था। कहते हैं

कि हज करने के लिये बयालीस दफे मक्का गए थे। शर्फ़द्दी-बूअली कलंदर के बारे मे कहा जाता है कि वे एक उच्च कोटि के साधक और परमात्मा के अनन्य प्रेमी थे। कहते हैं कि एक बार वे धर्मोपदेश कर रहे थे। उन्हें लगा, जैसे कोई उनसे कह रहा है क्या वे इसी के लिये बनाए गए हैं। उन्होंने उसके बाद धर्मग्रंथों को फेंक दिया और धर्मोपदेश करना छोड़ दिया। वर्षों पानी मे खड़े होकर उन्होंने तपस्या की और तपस्या पूरी होने पर परमात्मा से यही माँगा कि उसे (परमात्मा को) छोड़कर उन्हें और कुछ नहीं चाहिए।

लाल शाहबाज के नाम पर 'लाल शाहबाजिया' संप्रदाय का नामकरण हुआ। लाल शाहबाज अत्यंत स्वतंत्र प्रकृति के थे। उन्होने इस्लाम के धार्मिक कृत्यो को अपनाया तो नहीं ही, उसके विपरीत वे बराबर आचरण करते रहे। वे शराब खूब पीते थे। उनकी दुश्चरित्रता और शराब के सेवन के सबंध में उनके अनुयायियों का कहना है कि शराब उनके स्पर्श करते ही पानी बन जाती थी और दुश्चरित्रता तो केवल दिखलाने के लिये थी कि जिसमे लोगों को उनकी आध्यात्मिक शक्ति का पता न चले। किसी के मतानुसार इनकी मृत्यु सन् १२७४ ई०, (सं० १३३१) में हुई और अन्य मत के अनुसार सन् १३२४ ई० (सं० १३८१) मे। इससे कम से कम इतना तो पता लग ही जाता है कि लाल शाहबाज का काल ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

मूसा सुहागिया या सोहागिया संप्रदाय के प्रवर्तक 'मूसा साही सुहाग' कहे जाते हैं। ये परमात्मा को पति मानते थे और अपने को सुहागिन। स्त्री का वेश धारण कर ये हिजड़ों के दल मे रहते जिनका काम नाचना और गाना था। उनके स्त्री वेश मे रहने का कारण यह बतलाया जाता है कि वे अपने को भीड़ से बचाने के लिये ऐसा करते थे। इनके अनुयायी स्त्रीवेश मे रहते हैं। भीख देने से इंकार करने पर ये चूड़ियाँ फोड़कर चबाने लगते हैं। विशेष रूप से ये चूड़ीहारों और नर्तकियों के यहाँ ही भीख माँगने जाते हैं। ये गाने मे निपुण होते हैं और अपने मुर्शिद के सामने गाते बजाते हैं। इनका दावा है कि अपने संगीत के बल पर वे पानी बरसा सकते हैं, पत्थर पिघला सकते हैं।

मूसा साही सुहाग की मृत्यु सन् १४४६ ई० (सं० १५०६) में हुई। कहते हैं कि ये साधना के उस स्तर पर पहुँच गए थे जहाँ किसी प्रकार के धार्मिक और सामाजिक कृत्य व्यर्थ हो जाते हैं। ये रोजा, नमाज के प्रतिबंध से दूर हो गए थे। सनातनपंथी इस्लाम के भिन्न भिन्न धार्मिक कृत्य अब इनके लिये कोई अर्थ नहीं रखते थे।

'रसूल शाही' संप्रदायवाले शराब पीने को धर्मविरुद्ध मानना तो दूर उसे

एक धार्मिक कृत्य समझते हैं। कहते हैं कि गुरुपरंपरा से ही इस संप्रदाय मे शराब पीने की बात चली आ रही है। इस संप्रदाय के जन्मदाता रसूलशाह अलवर के पास के थे। इस संप्रदाय मे प्रचलित कहानी के अनुसार रसूलशाह के गुरु नियामतुल्ला ने उन्हें शराब पिलाई और उससे उनमे परिवर्तन आया। उसी से उन्हें ईश्वरीय ज्ञान हुआ। नियामतुल्ला ने रसूलशाह से एक दिन कहा कि उसकी मृत्यु अब होनेवाली है और मृत्यु के बाद उसकी आत्मा उसमे (रसूलशाह मे) प्रवेश कर जायगी और रसूलशाह एक संप्रदाय का प्रवर्तक होगा। कहते हैं नियामतुल्ला को भी उसके गुरु दाऊद ने इसी तरह शराब पिलाकर उसकी कायापलट कर दी थी और उसकी भी आत्मा मृत्यु के बाद नियामतुल्ला मे प्रवेश कर गई थी।

रसूलशाही संप्रदायवाले अपने सिर, मूँछ और भौंहों को मुँडवाते हैं और सिर पर एक उजला या लाल रूमाल बाँधते हैं। इस रूमाल मे वे भस्म बाँधे हुए रहते हैं जिसे वे अपने सिर और चेहरे पर मलते हैं। इस संप्रदायवाले ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते। संभवतः इस संप्रदायवाले गरीब नहीं हैं। वे भीख माँगते हुए नहीं देखे जाते। इस संप्रदाय में बहुत से साहित्य के प्रेमी भी हैं।

जिंदाशाह मदार, 'मदारी संप्रदाय' के प्रवर्तक कहे जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे अमर हैं, इसीलिये वे 'जिंदा' कहे जाते हैं। कहते हैं कि वे अविवाहित थे और स्त्रियों के संपर्क मे नहीं आए। ये जादूगरों के पीर माने जाते हैं। ये काला कपड़ा पहना करते थे। 'मदारी संप्रदायवाले' काला कपड़ा ही पहनते हैं। स्त्रियाँ इनके मकबरे के पास नहीं जातीं। लोगों का कहना है कि अगर स्त्रियाँ वहाँ जायँ तो उन्हें लगता है जैसे वे आग में जल रही हैं। इनके जन्मदिवस पर आटे और मांस की बनी हुई चीजें चढ़ाई जाती हैं। लोगों का विश्वास है कि इनका नाम लेकर आग मे चलने पर कुछ नहीं होता। इसे 'धम्माल कूदना' कहते हैं। 'धम्माल' का अर्थ 'पुण्य स्थान' है। उनके जन्मदिवस पर खूब अधिक आग जलाते हैं। मदारी फकीरों का दल अपने नेता के साथ आकर फातिहा पढ़ता है। इसके बाद दल का नेता आग मे चंदन की लकड़ी डालता है और आग मे कूदता है और उसके बाद अन्य फकीर कूदते हैं उस समय वे 'दममदार', 'दममदार' कहते रहते हैं। उनका विश्वास है कि साँप, बिच्छू का विष भी 'दममदार' कहने से असर नहीं करता। इस संप्रदायवालों से लोग खूब भय करते हैं। जब ये भीख माँगने जाते हैं तो लोग किसी भी तरह जल्दी भीख देकर इन्हे हटाना चाहते हैं। ये जादू और हाथ की सफाई दिखाया करते हैं। भीख माँगते समय ये दूकानदारों को खूब भय दिखाते हैं और गालियाँ देते हैं।

इस प्रकार से बेशरा संप्रदाय के अंतर्गत बहुत से छोटे बड़े संप्रदाय, उपसंप्रदाय हैं जिनमे नाना प्रकार की विचित्रताएँ देखने को मिलती हैं। ऊपर कुछ मुख्य बेशरा सप्रदायों की हमने चर्चा की है जिससे इन संप्रदायों के संबंध में भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रमुख भारतीय सूफी संप्रदाय—अब हम उन सूफी संप्रदायों की चर्चा करने जा रहे हैं जो अत्यंत महत्व के हैं और समाज मे जिनकी प्रतिष्ठा है। ये बाशरा सप्रदाय हैं जो इस्लाम के नियम कानूनों, प्रतिबंधों को बराबर ध्यान में रखते हैं। यद्यपि सनातनपंथी इस्लाम के सिद्धांतों से उनका पूरा मेल नहीं खाता, फिर भी वे इस्लाम के अनुयायियों के द्वारा संमान की दृष्टि से देखे जाते हैं। ये सभी संप्रदाय संघटित हैं और उनका एक बड़ा इतिहास है। इन संप्रदायों ने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्था पर व्यापक और गहरा प्रभाव डाला। इन संप्रदायों की एक लंबी शिष्य-प्रशिष्य परंपरा है। इन संप्रदायों के अंतर्गत बहुत से उपसंप्रदाय भी गठित हुए।

भारतवर्ष में चार सूफीसंप्रदाय मुख्य हैं। ये चार चिश्ती, कादिरी, सुहरवर्दी और नक्शबंदी हैं। भारतवर्ष में इस्लाम के प्रवेश के साथ ही साथ सूफी साधकों का बाहर से आना प्रारंभ हो गया था, लेकिन संप्रदाय के रूप मे सूफीमत का प्रवेश इस देश में ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों मे हुआ। इन संप्रदायों की विशद रूप से चर्चा करना कठिन है फिर भी हम उनकी उन विशिष्टताओं पर यथासंभव प्रकाश डालेंगे जिनसे इन संप्रदायों की मान्यताओं, साधनाविधि और संतों के संबध में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके।

(क) चिश्ती संप्रदाय—भारतवर्ष के चार मुख्य सूफी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय बड़े महत्व का है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक को लेकर पूरा मतभेद है वैसे भारतवर्ष मे इसके प्रवर्तक ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती हैं। इनका जन्म सीस्तान (अफगानिस्तान) मे सन् ११४२ ई० (सं० ११९९) मे हुआ। इस संप्रदाय में 'चिल्ल' और संगीत का प्रचलन है। 'चिल्ल' का मतलब यह है कि साधक चालीस दिनों तक अल्प परिमाण मे भोजन कर किसी मस्जिद या बंद कमरे मे अपना समय बिताता है। उस समय वह प्रार्थना और ध्यान मे लगा रहता है। बातचीत वह प्रायः नहीं ही करता है। वह 'इल्लाल्ला' का जोर जोर से उच्चारण करता हुआ अपने शरीर के ऊपरी भाग और सिर को खूब हिलाता है। उसके सिर पर बड़े बड़े केश होते हैं। वह रंगीन वस्त्र धारण करता है।

इस्लाम धर्म मे संगीत को निषिद्ध मानते हैं लेकिन चिश्ती सप्रदाय मे संगीत को खूब प्रधानता दी गई है। ख्वाजा मुईनुद्दीन ने संगीत और गानों को बहुत ही

आवश्यक माना है। संगीत के द्वारा साधक को भावाविष्टावस्था प्राप्त हो जाती है। संगीत की मजलिसें इस संप्रदाय में कई कई दिनों तक चलती रहती हैं।

चिश्ती संप्रदाय में दीक्षित होनेवालों को कई प्रकार के नियम पालन करने पड़ते हैं, उसके बाद ही वे संप्रदाय में अंतर्भुक्त किए जाते हैं। शिष्य से कहा जाता है कि उसे संपूर्ण जीवन भगवान् की याद मे बिताना होगा। मृत्यु के साथ उसकी निद्रा होगी। अल्ला का नाम ही उसके लिये भोजन है। फिर उससे कहा जाता है कि जब वह फकीर हो गया तो उसे 'फकीर' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए और उसी मुताबिक उसे अपना जीवन बिताना चाहिए। 'फकीर' शब्द का अर्थ यों किया जाता है। 'फकीर' शब्द मे 'फ़े', 'क़ा', 'ये', और 'रे' ये चार अक्षर हैं। इनमे 'फे' का मतलब 'फाका' (उपवास) है, 'काफ' का मतलब 'कन्नत' (संतुष्टि) है, 'ये' का मतलब 'याद इलाही' (परमात्मा का स्मरण) और 'रे' का मतलब 'रियाज़त' (प्रायश्चित्त) है। शिष्य को फिर मुर्शिद (गुरु) का ध्यान करना पड़ता है। इसके बाद उसे एक पवित्र नाम बताया जाता है जिसका वह चालीस दिनों तक उपवास रहकर निरंतर जप करता रहता है। यह जप उसे किसी दरगाह पे करना पड़ता है। इतना करने के बाद उसे वंशपरंपरा का ज्ञान कराया जाता है। इसके बाद वह साधनापथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होता हुआ परमात्मा के चरम रहस्य को जान पाता है।

चिश्ती संप्रदाय भारतवर्ष में अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इस संप्रदाय मे बहुत बड़े बड़े संत हुए। लोग इन संतों के मकबरों का दर्शन करने जाते है और इस प्रकार से वे सभी स्थान इस संप्रदायवालों के लिये तीर्थस्थान हो गए हैं। इस सप्रदाय के कुछ प्रमुख संतों के नाम निम्नलिखित हैं :

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, दिल्ली के ख्वाजा कुतबुद्दीन (कुत्ब साहिब), शेख फरीदुद्दीन शकर गंज (पाक पत्तन के सुप्रसिद्ध बाबा फरीद), हजरत मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबिर (साबीरी संप्रदाय के प्रवर्तक), हजरत निजामुद्दीन औलिया (निजामी सप्रदाय के प्रवर्तक), बू अलीशाह कलंदर, जलालुद्दीन कबीर-उल-औलिया, शेख फरीदुद्दीन, अमीर खुसरो, शाह नसीरुद्दीन आदि। इस सप्रदाय के प्रसिद्ध स्थान, कर्नाल, पानीपत, दिल्ली, अंबाला, पाकपत्तन, लाहौर आदि हैं।

चिश्ती संप्रदाय के अंतर्गत दो उपसप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई। ये दोनों साबिरी और निजामी संप्रदाय हैं। साबिरी संप्रदाय के प्रवर्तक हजरत मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबिर थे। वे ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी (सन् ११९७ ई०—सन् १२९१ ई० अर्थात् सं० १२५४-१३४८) मे वर्तमान थे। "साबिर" का अर्थ

संतोषी होता है। निजामी संप्रदाय के प्रवर्तक हजरत निजामुद्दीन औलिया थे। इस संप्रदाय की भी दो उपशाखाएँ हो गईं—हिसामी और हाजशाही।

चिश्ती संप्रदाय भारतवर्ष में लोकप्रिय तो रहा ही साथ ही मुगल बादशाहों पर इसका बहुत ही अधिक प्रभाव था। कहते हैं, शेख सलीम चिश्ती इस संप्रदाय के एक बहुत बड़े संत हुए। जहाँगीर का जन्म उन्हीं के घर में हुआ। शेख सलीम चिश्ती की मृत्यु सन् १५७२ ई० (सं० १६२६) में हुई। उनकी मृत्यु के दो सौ वर्षों बाद तक का चिश्ती संप्रदाय का इतिहास इसके ह्रास का इतिहास है। ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों मे ख्वाजा नूर मुहम्मद किबलाहे आलम ने पंजाब और सिंध में इस संप्रदाय को फिर से जिलाने की चेष्टा की। इस काल मे आकर चिश्ती संप्रदाय पर भारतीय प्रभाव पूरा का पूरा पड़ा।

(ख) कादिरी संप्रदाय—कादिरी संप्रदाय के प्रवर्तक, अब्दुल कादिर अल्‌जीलानी थे। भक्तिपूर्वक लोग उन्हे कई नामों से याद करते हैं जैसे, पीरदस्तगीर, पीरेपीरा, गौसुस्समदानी, गौसुल आजम, महबूबे सुभानी, मीराँ मुहउद्दीन, हसनुल हुसैनी आदि। कादिरी संप्रदाय ने इस बात की बराबर कोशिश रखी कि वह सनातनपंथी इस्लाम से दूर न जाय, इसलिये साधारण मुसलमानों का इस संप्रदाय के प्रति अच्छा ख्याल बना रहा।

भारतवर्ष मे इस संप्रदाय को ले आनेवाले मुहम्मद गौस थे। मुहम्मद गौस के आने के बाद थोड़े ही समय मे इस संप्रदाय में बहुत लोग दीक्षित हो गए। इसका एक प्रधान कारण यह था कि ये (मुहम्मद गौस), अब्दुल कादिर अल-जिलानी के वंशज थे। कादिरी संप्रदाय की ख्याति पहले से ही भारतवर्ष मे पहुँच चुकी थी। दिल्ली का शासक सिकंदर लोदी, मुहम्मद गौस का शिष्य हो गया। उसने अपनी लड़की की शादी भी उनके साथ कर दी। मुहम्मद गौस सन् १४२८ ई० (सं० १४८५) मे भारतवर्ष मे आए और उच मे बस गए। वहीं पर उनकी मृत्यु सन् १५१७ ई० (सं० १५७४) मे हुई। शेख मीर मुहम्मद या मियाँमीर इसी संप्रदाय की शिष्य परंपरा मे थे। यही मियाँ मीर मुगल बादशाह शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह के आध्यात्मिक गुरु थे।

कादिरी संप्रदाय मे गुलाब का फूल बहुत पवित्र माना जाता है। इस संप्रदाय-वाले अपनी टोपी मे गुलाब का फूल लगाए हुए रहते हैं। इस संप्रदायवाले हरे रंग की पगड़ी भी बाँधते हैं। उनके वस्त्रों मे एक गेरुआ रंग मे अवश्य रंगा रहता है। इस संप्रदाय मे 'जिक्र' के दोनों प्रकार प्रचलित हैं। एक मे बिना किसी शब्द का उच्चारण किए साधक भगवान् का स्मरण करता है और दूसरे में जोर जोर से अल्लाह के नाम का स्मरण करता है। कादिरी संप्रदाय मे संगीत का स्थान नहीं है।

अब्दुल कादिर अल जिलानी के नाम पर लुधियाना में एक मेला लगता है जिसे 'रोशनी का मेला' कहते हैं। वहाँ की दरगाह के पास एक नीम का पेड़ है जहाँ हिंदू और मुसलमान दिए जलाते हैं। यहाँ तीन चार दिनों तक मेला रहता है। जाट अपने पशुओं को वहाँ ले जाकर कुदाते हैं। ऐसा वे अपने कल्याण के लिये करते हैं। इस संप्रदाय के कुछ प्रमुख संतों के नाम निम्नलिखित हैं—शाह-कुमेस, शाह विलावल, बहलुल शाह दरयाई, हयातुल मीर, सईद मुकीम मुहक-मुद्दीन, आदि।

कादिरी संप्रदाय के दो प्रमुख उपसंप्रदाय रजाकिया और वहाबिया हैं। इनके अलावा इस संप्रदाय के अंतर्गत और भी कई उपसंप्रदाय तथा उनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ हो गई हैं।

सईद मुकीम मुहकमुद्दीन के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय 'मुकीम शाही' कहलाता है। हयातुल मीर ने इन्हे कादिरी संप्रदाय मे दीक्षित किया था। 'नवशाही' या 'नौशाही' संप्रदाय भी कादिरी के अंतर्गत है। 'नौशाही' संप्रदाय यद्यपि कादिरी संप्रदाय मे अंतर्भुक्त है फिर भी इसका संबध चिश्ती संप्रदाय से था। कादिरी सप्रदाय मे संगीत निषिद्ध है लेकिन 'नौशाही' संप्रदायवाले चिश्तियों की तरह भावाविष्टावस्था उत्पन्न करने के लिये संगीत का सहारा लेते हैं। इस संप्रदाय के साधक बड़ी तेजी से अपना सिर एक ओर से दूसरी ओर घुमाते हैं। इसे ये लोग 'हाल खेलना' कहते हैं। कुछ लोग हाजी मुहम्मद को इस संप्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं। उन्हीं के नाम के साथ पहले पहल 'नौशा' (दुल्हा) शब्द का प्रयोग हुआ।

हाजी मुहम्मद के चार शिष्य थे जिनमे दो के नाम पर दो संप्रदाय हुए। ये चार शाह रहमान पीर, पीर मुहम्मद सचयार, ख्वाजा खुजेस अथवा फुजैल तथा शाहफतह थे। इनमे शाहरहमान के अनुयायी 'पाक रहमानी' और मुहम्मद सचयार के अनुयायी 'सचयारी' कहलाते थे। 'सचयार' का मतलब सच्चा दोस्त है। पाक रहमानियों मे 'हाल खेलना' तथा भावाविष्टावस्था में बेहोश हो जाना अधिक प्रचलित है। भावाविष्टावस्था मे बेहोश होने पर उन साधकों को पेड़ से उल्टा लटका दिया जाता है जब तक कि उन्हें फिर से होश न हो जाय।

इसी प्रकार से कैसरशाह के नाम पर 'कैसरशाही' संप्रदाय बना और दिल्ली के गुलाम अलीशाह के नाम पर 'बेनवा संप्रदाय'। कादिरी संप्रदाय मे अंतर्भुक्त दो और उपसंप्रदाय पंजाब मे खूब लोकप्रिय हुए। एक तो हजरतशाह लाल हुसैन द्वारा प्रवर्तित 'हुसैन शाही' संप्रदाय और 'मियाँ खेल' संप्रदाय जिसके प्रवर्तक मीर मुहम्मद थे। मियाँ मीर के नाम से ये अधिक प्रसिद्ध हुए। लाल हुसैन का प्रचलित नाम माधोलाल हुसैन है। माधो एक ब्राह्मण का लड़का था जिसकी ओर लाल

हुसैन आकृष्ट हुए और जो बाद मे चलकर उनका शिष्य हो गया। लाल हुसैन और माधो के मकबरे लाहौर मे एक साथ बने हुए हैं।

कादिरी संप्रदाय के ऐसे भी कई संत हुए जो भिन्न भिन्न पेशेवालों के विशेष संत माने जाते है जैसे, हस्सू तेली, तेलियों के संत हैं। वे ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी मे हुए। उनकी मृत्यु सन् १५६३ ई० (सं० १६५०) मे हुई। उनकी एक गल्ले की दूकान भी थी। वे शाहजमाल कादिरी के शिष्य थे। उनके मकबरे पर हर साल मेला लगता है। अली रँगरेज, लाहौर के रँगरेजों तथा शेख मूसा लुहारों के संत माने जाते हैं।

(ग) सुहरवर्दी संप्रदाय—सुहरवर्दी संप्रदाय भी भारतवर्ष में लोकप्रिय हुआ। महत्व की दृष्टि से इसका स्थान चिश्ती संप्रदाय के बाद ही है। इस संप्रदाय का प्रवर्तक कौन था इसके संबंध मे पूरा मतभेद है। किसी ने शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी को इसका प्रवर्तक माना है, किसी ने शेख जियाउद्दीन को और किसी ने शेख जियाउद्दीन के पिता अबुल नजीब को। अबुल नजीब बहुत बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। ये शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी के चाचा थे। इनसे ही सुहरवर्दी ने शिक्षा ग्रहण की थी। शिहाबुद्दीन अत्यंत वाक्पटु थे। इन्होंने सनातनपंथी इस्लाम से संबंध बनाए रखा। इनका दृष्टिकोण अत्यंत उदार है। इनकी लिखी हुई पुस्तक 'अवारीफुल मारिफ' का स्थान सूफी संसार मे बड़े महत्व का है।

भारतवर्ष में सुहरवर्दी संप्रदाय के प्रवेश का इतिहास, शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी के कुछ शिष्यों के बगदाद से यहाँ आने के साथ शुरू होता है। शिहाबुद्दीन इस देश मे कभी नहीं आए। इस देश मे इस संप्रदाय के प्रवर्तक बहाउद्दीन जकरिया हैं। इनका जन्म मुल्तान में सन् ११८२ ई० (सं० १२३९) मे हुआ और मृत्यु सन् १२६७–६८ ई० (सं० १३२४–५) में हुई। इनके बहुत से शिष्य थे। इस संप्रदाय के कुछ प्रसिद्ध संतों के नाम निम्नलिखित हैं: शेख बहाउद्दीन जकरिया शेख सदरुद्दीन, शेख अहमद माशूक, शेख रुक्नुद्दीन, सैयद जलालुद्दीन मख्दुम जहानिया, सईद बुरहानुद्दीन कुत्ब आलम, बाबा दाऊद साकी, सैयद भूलनशाह, शाह जमाल, शाह दौला दरियाई, शेख जान मुहम्मद, शेख हसनलालू आदि। इस संप्रदाय के प्रमुख स्थान मुलतान, दिल्ली, उच, लाहौर, कश्मीर, गुजरात (पंजाब) आदि हैं।

इस संप्रदाय में दीक्षित होनेवाले को सबसे पहले मुर्शिद (गुरु) की आज्ञा से अपने सभी छोटे बड़े पापों के लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। शिष्य से धर्म पर पूरी तरह ईमान लाने के लिये कहा जाता है। नमाज तथा रोजा रखने पर पूरा जोर दिया जाता है। सुहरवर्दी संप्रदायवाले

इसे "मुरीद होना" कहते हैं। ये अपने को रंग बिरंगे कपड़ों से ढँके हुए रहते हैं। उनका कहना है कि इससे साधक को यह बराबर स्मरण रहेगा कि वह नंगा है और परमात्मा उसे बराबर देख रहा है। इस प्रकार के कपड़े का वे यह भी अर्थ बतलाते हैं कि मनुष्य को याद रहे कि उसके लिये परमात्मा ने नाना प्रकार के जीवजंतु बनाए हैं।

भले ही सुहरवर्दी संप्रदायवाले सनातनपंथी इस्लाम के निकट रहना चाहते हों, लेकिन इस संप्रदाय के बहुत से प्रमुख संतों की जीवनियों से लगता है कि सब समय उनके लिये यह संभव नहीं हो पाता था। इस संप्रदाय के संत शेख अहमद माशूक के संबंध में कहा जाता है कि प्रायः ही वे "हाल" (भावाविष्टावस्था) को प्राप्त हो जाते थे और धार्मिक कृत्यों का विधिपूर्वक पालन नहीं कर पाते थे। एक बार उन्होंने फातिहा नहीं पढी जो प्रार्थना का एक आवश्यक अंग माना जाता है। उनका कहना था कि उससे यह वाक्य अगर निकाल दिया जाय कि "तुम्हारी हम सेवा करते हैं और तुम्हारी मदद चाहते हैं" तो वे उसे पढ़ने को तैयार हैं। कहते हैं कि परमात्मा ने अपने को आशिक और उन्हे माशूक कहा था। यह सनातनपथी इस्लाम के विरुद्ध पड़ता है। सनातनपंथी इस्लाम परमात्मा और मनुष्य के बीच इस प्रकार के निकट संबंध को नहीं स्वीकार करता।

सुहरवर्दी सप्रदाय के अंतर्गत भी अन्य संप्रदायों की नाईं बहुत से उपसंप्रदाय हैं। इनमे कुछ के नाम ये हैं : जलाली, मखदूमी, मीरनशाही, इस्माइल शाही, दौलाशाही आदि।

जलाली संप्रदाय के प्रवर्तक सईद जलाल बुखारी थे जो बहावलपुर रियासत के उच स्थान के थे। वे ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी (सन् १३०७ ई०—१३७४ ई० : सं० १३६४-१४३१ वि०) में हुए। इस संप्रदाय के फकीर गले में ऊन का हार अथवा भिन्न रंगों के सूत लपेटे हुए रहते हैं। ये लंगोटीधारी होते हैं और गुलूबंद लिए हुए रहते हैं। सिर पर काला सूत लपेटते हैं। हाथ में तावीज धारण करते हैं। संप्रदाय में दीक्षित होने के समय जलते हुए कपड़े से उनके दाहिने हाथ के ऊपर हिस्से में एक छाप दे दिया जाता है। वे अपना सर, अपनी मूँछ, और भौंहों को मुँडवा देते हैं और दाहिनी ओर एक चोटी छोड़ देते हैं। ये "पंजतन", "दममौला" कहते रहते हैं। ये भंग खाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे साँपबिच्छू भी खाते हैं। उनके रहने का कोई एक स्थान नहीं है।

जलाली संप्रदाय के अंतर्गत "चिहल्तन" (चालीस देह) नामक एक उपसंप्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस संप्रदाय की उत्पत्ति की एक अद्भुत कहानी कही जाती है। कहा जाता है संतान को कामना से एक स्त्री ने चालीस गोलियाँ

खाई थीं जिससे उसे चालीस बच्चे पैदा हुए। फिर गोली देने वाले फकीर के नाम को अमर करने के लिये इस संप्रदाय की प्रतिष्ठा हुई।

सुहरवर्दी संप्रदाय के अंतर्गत 'दौलाशाही संप्रदाय' के प्रवर्तक शाहदौल के संबंध में भी नाना प्रकार की कहानियाँ कही जाती हैं। कहा जाता है कि संतान देने की शक्ति उनमे भी थी। लेकिन इनके बारे में एक अद्भुत सा विश्वास लोगों मे प्रचलित है। कहते हैं कि संतान तो वे दे सकते हैं लेकिन पहली संतान 'चूहा-संतान' होगी। 'चूहासंतान' के बारे मे लोगों का कहना है कि वे दूसरे बच्चों से भिन्न होते हैं। चूहे जैसे लंबे उनके कान होते हैं। उन्हे किसी प्रकार की समझ नहीं होती। उनका सिर छोटा और चेहरा चूहों जैसा होता है। यह पहली संतान शाहदौला को दे दी जाती थी। इनका उपयोग भीख माँगने के काम मे होता था। शाहदौला की मृत्यु के बाद इसमे थोड़ा परिवर्तन हो गया। बच्चो के बदले नजर भेंट करने की प्रथा चली। ऐसा भी होता था कि इस संप्रदाय के फकीर शुरू से ही बच्चों को वैसा बना देते थे और भीख माँगने मे इन विचित्र रूपवाले बच्चों से उन फकीरों को सहायता मिलती।

(घ) नक्शबंदी संप्रदाय—चौथा मुख्य संप्रदाय 'नक्शबंदी संप्रदाय' है। इसके प्रवर्तक ख्वाजा बहाउद्दीन माने जाते हैं जो ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक वर्तमान थे। उनकी मृत्यु सन् १३८९ ई० (सं० १४४६) के लगभग हुई। वैसे 'रशहात अल् हयात' के अनुसार इस संप्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा अब्दुल्ला थे। इस संप्रदाय का नाम 'नक्शबंदी' क्यों पड़ा, इसक सबंध में कहा जाता है कि बहाउद्दीन आध्यात्मिक तत्वों से सबंध रखनेवाले 'नक्शे' बनाया करते और उन नक्शों (आकृतियों) मे रंग भरा करते थे। इसीलिये यह संप्रदाय 'नक्शबंदी' संप्रदाय कहलाया।

'नक्शबंदी' संप्रदाय को भारतवर्ष मे ले आनेवाले ख्वाजा बाकीबिल्लाह 'बेरंग' थे, लेकिन इसके प्रभाव का विस्तार करनेवाले उनके शिष्य शेख अहमद फारूकी सरहिंदी थे। इस संप्रदाय का प्रभाव टर्की मे सबसे अधिक था। इस संप्रदाय का भारतवर्ष और मेसोपोटामिया की राजनीति मे बहुत हाथ रहा था।

इस संप्रदायवालों में अफीम का व्यवहार अधिक है। उनके बाल हवा मे बिखरते रहते हैं। कड़े, नुकीले पत्थरों पर नंगे पैर चलते चलते वे बेहोश हो जाते हैं और इसे वे अपनी साधना का अंग मानते हैं। इसे वे अपनी इच्छाशक्ति बढ़ाने मे सहायक मानते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार से इच्छाशक्ति को बढ़ाते बढ़ाते परमात्मा को पाया जा सकता है। इस संप्रदाय के साधक हाथ मे एक लंबी छड़ी

लिये हुए रहते हैं। विशेष रूप से ईरान के साधकों में यह बात अधिक पाई जाती है।

इस संप्रदायवालों का विश्वास है कि साधना के द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त की जा सकती है कि उससे भूत, भविष्य को सहज ही देखा जा सकता है तथा आनेवाली विपत्तियों से रक्षा की जा सकती है। साधक अपनी मर्जी के मुताबिक इस शक्ति का उपयोग कर सकता है और इस शक्ति के उपयोग के लिये निकट रहना जरूरी नहीं, दूर से भी यह संभव हो सकता है। साथ ही, सभी संतों मे समान शक्ति नहीं होती, किसी में अधिक और किसी मे कम होती है। नक्शबंदी संप्रदाय मे 'जिक्र' की नाना प्रकार की क्रियाएँ प्रचलित हैं।

इस संप्रदायवालों में कुछ का विश्वास है कि कोई भी अपना बलिदान कर दूसरों के जीवन को बढ़ा सकता है, जैसा बाबर ने हुमायूँ के जीवन के लिये किया था। बहुतों ने परमात्मा के ध्यान पर जोर दिया है। उनका कहना है कि तवज्जह (परमात्मा का ध्यान), मुराकबा (भयपूर्वक परमात्मा का ध्यान), खिलवत (उपासना के लिये एकांतसेवन) आदि के साधक की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि होती है। इस संप्रदाय के किसी किसी साधक का यह भी कहना है कि आत्मा दूसरा शरीर धारण करता है और इस संसार मे लौट आता है।

नक्शबंदी संप्रदाय के भारतीय संतों मे अहमद फारूकी सरहिंदी का स्थान बहुत ही ऊँचा है। इनका जन्म सरहिंद में सन् १५६३ ई० (सं० १६२०) मे हुआ। कहते हैं, शेख बाकीबिल्लाह 'बेरंग' अपने गुरु के आदेश से इस देश में इसीलिये आए कि वे अहमद फारुकी का रास्ता साफ कर दें। अहमद फारुकी की दिव्य शक्ति और चमत्कारो की नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि सभी प्रमुख सूफी संप्रदायवाले उनके शिष्य होते रहे। सुहरवर्दी और चिश्ती संप्रदायवाले इन्हे अपना मानते हैं। सनातनपंथी इस्लामवाले इन्हें बहुत ही संमान देते हैं। हजरत मुहम्मद के बाद इनको लोग इस्लाम का सुधारक मानते हैं। उन्हे लोग मुजद्दीद (सुधारक) कहते हैं। ये शियासंप्रदाय वालों के विरुद्ध थे और इन्होंने सुन्नी संप्रदाय को फिर से प्रतिष्ठा लाभ कराई। अकबर बादशाह के चलाए हुए 'दीन इलाही' के विभिन्न प्रभावों से इन्होने इस्लाम धर्म को मुक्त किया।

अहमद फारूकी का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि जहाँगीर को भी उनसे भय होने लगा था। उसके दरबार के बहुत से शक्तिशाली, उच्चपदस्थ कर्मचारी इनके शिष्य थे। कहते है, एक बार जहाँगीर ने इन्हें दरबार मे बुलवाया। दरबार के कायदे के मुताबिक इन्होने बादशाह के सामने सर नहीं झुकाया। जहाँगीर ने तीन वर्षों तक उन्हें कैदखाने मे डाल रखा था। लेकिन बाद में जहाँगीर इतना

इसके प्रभाव मे आ गया कि इनका शिष्य हो गया। औरंगजेब फारुकी के पुत्र मासूम का शिष्य था। अहमद फारुकी की मृत्यु सन् १६२५ ई० (सं० १६८२) मे हुई।

अहमद फारूकी ने जो भी सुधार किए वे कट्टरता को प्रश्रय देनेवाले थे। सनातनपंथी इस्लाम की कट्टरता के साथ सूफीमत का सामंजस्य कराने का उन्होंने अत्यधिक प्रयत्न किया। संगीत, भावाविष्टावस्था मे नाच उठना, बादशाह वा पीर के सामने साष्टांग, संतों की समाधि पर दीप जलाना अथवा समाधि की पूजा करना सबको उन्होंने धर्मविरुद्ध बतलाया।

अहमद फारूकी सरहिंदी ने अपने को 'कयूम' कहा। उनके बाद तीन अधिकारियों को भी उन्होंने 'कयूम' माना। 'कयूम' परमात्मा का एक नाम है। अहमद फारूकी के अनुसार परमात्मा तक किसी की प्रार्थना वही पहुँचाता है। कयूम को उन्होंने 'इंसानुल कामिल' (पूर्ण मानव) से ऊँचा स्थान दिया। 'कयूम' की कृपा से ही साधक के हृदय मे साधना के प्रति आकर्षण होता है। कयूम को उन्होंने परमात्मा का प्रतिनिधि कहा है। उनका कहना है कि हजरत मुहम्मद के शरीर का निर्माण करने के बाद जो कुछ बचा उसी से उनका तथा उनके बाद के तीन 'कयूमों' का निर्माण हुआ है। इन चार 'कयूमो' के बाद और 'कयूम' नहीं हो सकता। ये कयूम ही परमात्मा के अनुग्रह का वितरण करते हैं, परमात्मा ने इसी के लिये इनका निर्माण किया है। अहमद फारूकी ने कहा है कि नरक से पापियों का उद्धार करने का भार उन्होंने अपने पुत्र मासूम को दे दिया है। अहमद फारूकी के अलावा अन्य तीन कयूम, मुहम्मद मासूम, ख्वाजा नक्शबंद हुज्जतुल्ला तथा जुबैर थे। मासूम, अहमद फारूकी के तृतीय पुत्र थे और उनका जन्म १५९८ ई० (सं० १६५५) के लगभग हुआ। हुज्जतुल्ला, मासूम के द्वितीय पुत्र और जुबर हुज्जतुल्ला के पौत्र थे।

नक्शबंदी संप्रदाय के प्रमुख भारतीय संतों मे बाकीबिल्लाह बेरंग, साईं तवक्कलशाह नक्शबंदी, कुत्बसाहिब, अहमद फारूकी, शेख अहमद सईद, मुहम्मद मासूम, शेख सैफुद्दीन, सईद नूर मुहम्मद, शाह अबू सईद, सैयद इमाम अलीशाह आदि थे। इनके प्रसिद्ध स्थानो मे सरहिंद, अंबाला, दिल्ली, लाहौर, कश्मीर, बदायूँ, गुरदासपुर आदि हैं।

(ङ) शत्तारी संप्रदाय—उपर्युक्त चार प्रमुख सूफी संप्रदायों के बाद 'शत्तारी संप्रदाय' भी खूब महत्व का है। भारतवर्ष में इस संप्रदाय को ले आनेवाले फारस के अब्दुल्ला शत्तारी थे। ये शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के वंश के थे। इनकी मृत्यु ईसवी सन् की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मालवा मे हुई। इन्होंने बहुत से सूफी

साधकों से साक्षात्कार किया था। 'शत्तारी संप्रदाय' के लोग कादिरी संप्रदायवालों के समान ही वस्त्र धारण करते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो अपने बाल कटवा देते हैं और धर्म की पाबंदियों को स्वीकार नहीं करते। ये अधार्मिक समझे जाते हैं। इस संप्रदाय के सुप्रसिद्ध सतों मे ग्वालियर के शाह मुहम्मद गौस थे जो हुमायूँ के आध्यात्मिक गुरु थे। मुगल बादशाहों की इस संप्रदाय के प्रति अच्छी दृष्टि रही है।

सूफियों ने भारतवर्ष की विचारधारा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बहुत दूर तक प्रभावित किया है। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के अध्येताओं के लिये सूफी विचारधारा से परिचित होना आवश्यक है। साहित्य तथा समाज मे प्रचलित बहुत सी अद्भुत दीखनेवाली बातों को समझने मे यह अध्ययन अत्यंत सहायक सिद्ध होगा।

आ–सांप्रदायिक भावना

उपक्रम—'धर्म' शब्द का प्रयोग करते समय हम साधारणतः किसी पदार्थ, व्यक्ति वा वर्ग के उस विशिष्ट स्वभाव की ओर निर्देश करते हैं जो उसका नैसर्गिक गुण समझा जा सकता है तथा जिसके अभाव में उसके अपने वर्तमान रूप की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। अग्नि का धर्म जलाना है जिसका परित्याग उसके लिये कभी संभव नहीं समझा जा सकता और इसी प्रकार 'मानवधर्म' शब्द के आधार पर भी मनुष्य वर्ग की उन स्वाभाविक विशेषताओं की ओर इंगित किया जा सकता है जिनके बिना वह कभी 'मनुष्य' कहलाने योग्य नहीं ठहराया जा सकता। इन दोनो प्रकार के धर्मों मे एक उल्लेखनीय अंतर यह है कि किसी पदार्थ का वैसा स्वभाव जहाँ उसके कभी प्रयोग मे आ जाने पर आपसे आप लक्षित होता है तथा उसके निर्जीव होने के कारण उसे स्वयं इसका कोई बोध भी नहीं हुआ करता, वहाँ मानव वर्ग के संबंध मे कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के लिये यह भी संभव है कि वह अपने ऐसे गुण के स्वरूप से भली भाँति परिचित रहे और उसके भीतर तदनुसार व्यापार करने की प्रवृत्ति जगे, किंतु फिर भी वह ऐसा करने से अपने को रोक रखे अथवा किसी अवसर पर इस प्रकार का व्यवहार भी कर दे जो अपने उक्त स्वभाव के प्रतिकूल जाता हो। 'सजीव' तो हम पशुओं, पक्षियों से लेकर कीट पतंगों आदि को भी कह सकते हैं, किंतु ऐसे प्राणियों के संबंध मे हमारा वैसा अनुमान करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता और न हम मान ही सकते हैं कि ये भी अपने निजी गुणों के वास्तविक जानकार होंगे तथा इस प्रकार का बोध रहते हुए ये कभी कोई ऐसी चेष्टा कर जाते होंगे जो इनके विरुद्ध जा सकती होगी। मनुष्य के भीतर बुद्धि के रूप मे कोई एक विशिष्ट शक्ति पाई जाती है जिसके अस्तित्व की कल्पना कभी मानवेतर प्राणियों मे नहीं की जाती तथा जिसके फलस्वरूप ऐसा

समझा जाता है कि वह न केवल अपने मूल स्वभाव एवं तदनुकूल प्रवृत्तियों का जानकार हो जाता है तथा वह इस बात से भी परिचित हो जाता है कि उनके प्रतिकूल जाना हमारे लिये घातक सिद्ध होगा, प्रत्युत वह इस प्रकार का कोई निश्चय भी कर लेता है कि उसे क्या करना चाहिए। ऐसे 'कर्तव्य' अथवा 'अकर्तव्य' का निर्णय प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है, किंतु वह इस बात से यथेष्ट लाभ उठाता नहीं दीख पड़ता। वह इसके लिये बहुधा किसी ऐसे महान् व्यक्ति के आचरण, उपदेश अथवा सुझाव का सहारा भी लेने लग जाता है जिससे उसका देश काल अथवा परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ बाह्य अंतर पाया जा सकता है और इसका एक परिणाम यह होता है कि उसकी दृष्टि अपने मूल मानवोचित स्वभाव से ओझल भी पड़ जाया करती है, तथा इस प्रकार वह अपने किसी एक ऐसे 'धर्म' का परिचय देने लगता है जिसे अवास्तविक, विकृत, कृत्रिम अथवा संकीर्ण तक भी कहा जा सकता है, फलतः तदनुसार उसकी अपनी एक आस्था बँध जाती है, उसकी अपनी मान्यताएँ स्थिर हो जाती हैं तथा उसकी मनोवृत्ति कोई ऐसा रूप ग्रहण कर लेती है जिसके सामने केवल अपने 'समानधर्मों' का ही साहचर्य भला जान पड़ता है। पदार्थों वाले उक्त धर्म मे ऐसी बातें नहीं पाई जातीं।

अतएव धर्म और सप्रदाय की चर्चा करते समय हमारा 'धर्म' शब्द से तात्पर्य यहाँ पर उपर्युक्त नैसर्गिक विशेषता से नहीं है जिसका उल्लेख प्राकृतिक पदार्थ एवं मानववर्ग के संबंध मे प्रायः एक ही प्रकार से किया गया है। इस प्रसंग में उसका अर्थ केवल वह कोई विशेष आस्था वा विश्वास होगा जिसके अनुसार किसी महान् व्यक्ति द्वारा कभी कोई आदर्श प्रतिष्ठित कर दिया गया होगा तथा जिसके अनुरूप आचरण एवं व्यवहार करना उसके अनुयायियों के लिये आवश्यक समझा जाता होगा। कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी इस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक कोई एक ही व्यक्ति न रहा हो, प्रत्युत ऐसे कार्य में उसे दूसरों का भी सहयोग प्राप्त हुआ हो अथवा यह भी संभव है कि उक्त विश्वास ने क्रमशः दीर्घ काल के भीतर अपना स्पष्ट रूप ग्रहण किया हो तथा इस प्रकार उसकी एक ऐसी परंपरा भी निश्चित हो गई हो जिसका पालन करना उसके सभी अनुयायी अपने लिये आवश्यक समझते हों। ऐसे विश्वास के अंतर्गत किसी विशिष्ट सत्ता मे आस्था, सृष्टि आदि विषयक प्रश्नों के संबंध मे अपनी विशिष्ट मान्यता एवं आराधना की विशेष प्रणाली जैसी कई बातों का समावेश किया जा सकता है तथा उन महान् व्यक्तियों के प्रति पूर्ण श्रद्धाभाव का होना भी आवश्यक समझा जा सकता है जिन्होंने या तो उस ओर सर्वप्रथम प्रेरणा प्रदान की हो अथवा जिन्हें अपने यहाँ उक्त सत्ता का प्रतिनिधि मान लिया जाता हो। ऐसे धर्मों का इतिहास हमें बतलाता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यंत प्राचीन काल से देखी जाती आई है

और यह भी देखा गया है कि उनका क्रमिक विकास होते समय कभी कभी उनके मौलिक रूपों मे न्यूनाधिक परिवर्तन तक भी आता गया है। देश काल परिस्थितियों के अनुसार उनके अनेक अनुयायियों ने प्रायः कई नवीन बातें स्वीकार कर ली हैं, कुछ स्वीकृत मंतव्यों की व्याख्या नवीन ढंग से कर डाली है तथा इसी प्रकार अपने श्रद्धेयों मे कतिपय नवीन महापुरुषों का समावेश भी कर लिया है। जो धर्म जितना ही प्राचीन एवं व्यापक रहा है उसमे इसी कारण उतने ही वैसे उपधर्मों की सृष्टि होती चली गई है जिनकी अपेक्षाकृत नवीन स्वीकृतियों उन्हे अपने ही मूल धर्म के दूसरे वैसे वर्गवालों से बहुत कुछ पृथक् एवं भिन्न रूप दे चुकी हैं। ये ही उपधर्म 'संप्रदाय' के नाम से अभिहित किए जाने लगते हैं। जब इनके अनुयायियों मे वैसे किसी अन्य उपधर्मवालों के प्रति उन्हे अपने से पृथक् मानने की प्रवृत्ति जागृत होती है तथा जब ये अपनी विशिष्ट विचारधारा एवं साधना प्रणाली के अनुसार एक विशिष्ट मनोवृत्ति भी स्वीकार कर लिया करते हैं। ये लोग स्वाभावतः अपनी अपनी बातों के साथ चिपके रहना अधिक पसंद करते हैं जिस कारण इनके यहाँ रूढ़िवादिता को भी प्रश्रय मिलने लग जाता है। इसे ही सूफियों के यहाँ 'सिलसिला' अथवा 'खानवाद' (परिवार) भी कहा गया मिलता है। इसे कभी कभी अत्तरीकः (पंथ) भी कहते हैं जब यह किसी ऐसे महापुरुष द्वारा प्रवर्तित मार्ग की ओर संकेत करता है जो अपने वर्ग-विशेष का नेतृत्व कर चुका हो।

गुरुभक्ति वा पीरपरस्ती—संप्रदायों में प्रचलित साधना प्रणाली प्रायः अपनी निजी प्रक्रिया समझी जाने लगती है और उसे ऐसे कई वर्ग अपने यहाँ गुप्त रखने की भी चेष्टा करते हैं तथा उसके विशिष्ट जानकार को 'विशेषज्ञ' के रूप मे संमान की दृष्टि से देखा जाता है। इसके सिवाय जिन संप्रदायों में किन्हीं पवित्र एवं गुह्य मंत्रों द्वारा अनुयायियों को दीक्षित करने का भी विधान है वहाँ ऐसे मंत्रदाताओं को परम पूज्य 'गुरु' माना करते हैं और उनकी कृपा के आधार पर बहुत से व्यक्ति अपने परम कल्याण की आशा करने लगते हैं। अतएव, यह स्वाभाविक है कि उनके प्रति दृढ़ भक्ति प्रदर्शित की जाय तथा अपने को उनकी शरण तक मे डाल दिया जाय। इस प्रकार के कुछ प्रसंग प्राचीन ग्रंथों तक मे भी आते हैं जहाँ 'यथा देवे तथा गुरौ' जैसे वाक्यों के प्रयोग किए गए मिलते हैं और तान्त्रिक सिद्धों, नाथों एवं निर्गुणी संतों के यहाँ तो बिना दीक्षा ग्रहण किए साधकों को 'निगुरा' कहकर उनका मूल्य कम कर दिया जाता है। इस बात के अनेकों उदाहरण हमे सूफी साधकों के इतिहास मे भी मिल सकते हैं। अपने गुरु अथवा पीर द्वारा दिए गए उपदेशों के अनुसार चलना, उसके प्रति अटूट श्रद्धा के भाव रखते हुए उससे बराबर प्रेरणा ग्रहण करते रहना तथा उसके वस्तुतः

विशेषज्ञ होने के कारण उसके आदेशों को अपनाने की चेष्टा करना तो प्रत्येक दशा मे लाभदायक ठहराया जा सकता है। परंतु इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं कि हम उसका अंधानुसरण मात्र करें और उसकी किसी अलौकिक शक्ति की कल्पना कर केवल उसके कृपाकटाक्ष पर भरोसा करें तथा इसके साथ ही अपने आत्मविकास की ओर भी कभी दत्तचित्त न हों। निर्गुणभक्ति के समर्थकों ने गुरु को अवश्य महत्व दिया है और उसके प्रति बारबार अपनी कृतज्ञता भी प्रदर्शित की है, किंतु इनका यह भी कथन है कि यदि शिष्य के भीतर महान् से महान् गुरु के भी संकेतों को समझने एवं धारण करने की क्षमता नहीं तो उसकी सारी गुरुभक्ति केवल दिखाऊ वा निरर्थक तक भी बन जाती है। गुरु एवं शिष्य दोनों का ही योग्य, उपयुक्त एवं एक दूसरे के प्रति सच्चा होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो किसी भी गुरु की चेष्टाएँ केवल ढकोसला मात्र सिद्ध होती हैं तथा अधिक से अधिक श्रद्धालु शिष्य की भी भक्ति कोरी 'पीरपरस्ती' बनकर ही रह जाती है। इसी कारण बड़े से बड़े संतों के लिये भी कहा गया है कि अपने भीतर जिज्ञासा के जाग्रत होते ही वे किसी उपयुक्त गुरु की खोज मे पहले अनेक वर्षों तक यत्रतत्र भटकते फिरे और जब उन्हें कोई सच्चा गुरु मिल गया तो उसने उन्हें केवल क्षणमात्र मे ही तत्व का बोध करा दिया। ठीक यही बात हम उन प्रसिद्ध सूफी साधकों के विषय मे भी सुनते हैं जिन्होंने क्रमशः कई मुर्शिदों के यहाँ पहुँचकर अंत मे केवल एक के ही यहाँ शांति प्राप्त की। जिस युग की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उसके प्रारंभिक दिनों मे प्रायः प्रत्येक प्रमुख संप्रदाय मे 'गुरुभक्ति' अथवा 'पीरपरस्ती' का बोलबाला था जिसके फलस्वरूप ऐसी धारणा तक भी दूषित हो चली थी और इस बात की चर्चा निर्गुणभक्तिवाले कवियों को भी करनी पड़ी। पीरपरस्ती तो कदाचित उसी समय से मृत धर्मगुरुओं तक की समाधि (मजार) पर दीप जलाकर और उन्हे पूजित कर उनसे आशीर्वाद ग्रहण करने के रूप मे प्रचलित थी।

तीर्थ, व्रत, वेशभूषादि—साप्रदायिक भावना के साथ काम करनेवालों के लिये ऐसे पवित्र स्थानों की संख्या भी बढ़ गई थी जहाँ पर वे लोग धर्मभाव से यात्रा करने जाया करते थे और जहाँ पहुँचकर वे स्नान, देवपूजन अथवा पुण्यस्थलों का दर्शन किया करते थे। हिंदुओं के यहाँ कहा गया है कि ये तीर्थ तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें 'जंगम', जैसे साधु ब्राह्मणादि, 'मानस' जैसे सत्य, दान, संतोपादि एव 'स्थावर' जैसे काशी प्रयागादि के नाम लिए जा सकते है। परंतु वस्तुतः इनमे से तीसरे को ही विशेष महत्व दिया जाने लगा था और उसके अंतर्गत गिने जाने-वाले प्रमुख पवित्र स्थानों की संख्या साधारणतः ६८ तक समझी जाती थी और महान् धर्मगुरुओ वा धर्माचार्यों के जन्मस्थल एव मृत्युस्थानों के रूप मे उसमे

वृद्धि का होना सदा संभव बना रहा करता था। लोगों को विश्वास था कि यदि वहाँ जाकर हम स्नानपूजनादि करें तो इनके द्वारा अधिक पुण्य हो सकता है तथा इससे हमारा परलोक तक सुधर सकता है। मुसलमान सूफियों के यहाँ जिस प्रकार जीवित शेख वा मुर्शिद (धार्मिक नेता) के प्रति अंधभक्ति प्रदर्शित की जाती थी और उसके वचनों का अक्षरशः पालन तक अपना कर्तव्य माना जाता था उसी प्रकार मृतक पीरों की शक्ति में अंधविश्वास रखकर ऐसा समझ लिया जाता था कि जो कुछ मिन्नतें (विनतियाँ) उनसे की जाती हैं उनका पूरा होना सर्वथा संभव है तथा उक्त पीरों से सदा सहायता भी मिलती रहेगी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि सूफीमतवाले मुरीद (शिष्य) अपने पीरों या शेखों के वचनों को, प्रायः उनको अपने धर्मशास्त्रों के विरुद्ध समझते हुए भी, पूरा महत्व देते थे तथा बिना किसी प्रकार की हिचक के उनका अनुसरण किया करते थे। इस संबंध मे किसी एक सूफी कवि का कथन है : 'यदि सराय का रखवाला अर्थात् पीर तुम्हें आदेश दे दे कि तू अपनी प्रार्थनावाली चटाई को शराब से रँग दे तो तू ऐसा अवश्य कर दे क्योंकि केवल वही इस बात का जानकार है कि तेरे प्रेममार्ग की साधना के कौन से सच्चे नियम हैं, उसके लिये क्या विहित है तथा उसकी मंजिलें भी कितनी हो सकती हैं। पीर अपने मुरीद में शक्ति का संचार करता है और वह केवल अपनी तवज्जह (कृपादृष्टि) द्वारा ही अपने हृदय से उसके हृदय को प्रभावित कर देता है। सूफीमत के अनुयायी इसीलिये इस निष्ठा के साथ भी पीरपरस्ती करते हैं कि उक्त प्रकार का लाभ उन्हें मृतक पीरों से भी अवश्य हो सकता है।

'व्रत' से अभिप्राय किसी पुण्यकाल में अथवा पुण्य के प्राप्त्यर्थ कतिपय विशिष्ट नियमों का पालन करना होता है जिनमे उपवास भी आ सकता है। इसका उद्देश्य संभवतः यह है कि इसके द्वारा अपने धार्मिक जीवन विषयक संकल्पों में दृढ़ता आ जाय। हिंदुओं के यहाँ 'एकादशी' आदि और मुसलमानों के यहाँ 'रोजा' जैसे व्रत का विधान इसीलिये किया गया समझा जा सकता है। परंतु व्रत करनेवाले बहुधा इस मूल बात की ओर पूरा ध्यान देते नहीं जान पड़ते और कभी कभी तो उनकी ओर से किया गया वैसा अनुष्ठान मूलतः केवल एक साधन मात्र न रहकर किसी साध्य जैसा महत्व धारण कर लिया करता है। इसके सिवाय इन व्रतों का पालन यंत्रवत् करने पर इनसे हानि की भी आशंका हो सकती है। इसी प्रकार जहाँ तक सांप्रदायिक वेशभूषादि के धारण की बात है, इसका भी प्रमुख उद्देश्य कदाचित् यही हो सकता है कि उनके द्वारा किसी विशिष्टता का परिचय मिल सके तथा उनपर दृष्टि के पड़ते ही ऐसा किसी को भान हो जा सके कि उन्हे धारण करनेवाले का संबंध अमुक धार्मिक वर्ग के साथ हो सकता है। इन वेशभूषादि के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के पहनावे हो सकते हैं, शरीर पर धारण किए

गए चिह्न हो सकते हैं तथा उसपर चढ़ाए गए केशादि का भी समावेश किया जा सकता है जिनके कारण किसी के बाह्य रूपों मे दूसरों से कुछ न कुछ विलक्षणता आ जाय। इनमे से कुछ का आकार प्रकार ऐसा भी हो सकता है जिसके द्वारा किसी सांप्रदायिक मान्यता का प्रतीक सूचित किया जा सके। उदाहरण के लिये 'रामावत संप्रदाय' के अनुयायियों द्वारा धारण किए जानेवाले ललाट के तिलक मे तीन अंग होते हैं जिन्हें 'सिंहासन', 'ऊर्ध्वपुंड' एवं 'श्रीविंदु' समझा जाता है। इसी प्रकार सूफी संतों द्वारा प्रायः ओढ़ी जानेवाली गूदड़ी के लिये कहा जाता है कि यह उनके अपनाए गए दारिद्र्यभाव की सूचक है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सारी विलक्षणताएँ केवल बाह्य उपकरण मात्र कही जा सकती हैं और उपर्युक्त तीर्थ, व्रतादि के सेवन की व्यवस्था का भी लक्ष्य किसी साध्य की उपलब्धि के साधन रूप मे ही समझा जा सकता है। विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों ने इन सभी को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान कर अपने मूल कर्तव्य को विस्मृत सा कर दिया था जिस बात की ओर निर्गुण भक्तिवाले प्रमुख संतों एवं सूफियों ने उनका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया।

धार्मिक आंदोलन

इस युग के पहले से ही कुछ ऐसे धार्मिक आंदोलन भी चल रहे थे जिन्होंने उक्त प्रकार की सांप्रदायिक मनोवृत्ति मे बहुत कुछ सुधार लाने का प्रयत्न किया तथा जिनके कारण उन दिनों क्रमशः बढ़ती जाती हुई संकीर्णता एवं आडंबर-प्रियता मे कमी करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस देश मे इस्लाम के आगमन का प्रभाव लगभग उसी समय से लक्षित होने लगा था जब सं० ७६९ में सिंध प्रदेश पर चढ़ाई हुई थी। तब से क्रमशः महमूद गजनी एवं मुहम्मद गोरी के भी धावे हुए तथा, अंत में दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर एक मुस्लिम वंश ने राज्य करना आरंभ कर दिया जिसका क्रम फिर पीछे कुछ शताब्दियों तक भी नहीं टूट सका और इस देश के भीतर अनेक प्रकार के परिवर्तन होते चले आए। मुस्लिम शासकों के इस प्रकार यहाँ जम जाने का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ था कि इसमे प्रधानतः निवास करनेवाले हिंदुओं को एक नितांत नवीन स्थिति का सामना करना पड़ गया और उसको सँभालकर अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा करना इनके लिये अपना परम कर्तव्य बन गया। मुस्लिम शासक प्रायः कट्टर मजहबी नीति के पोषक होते आए और उनमे प्रोत्साहन पाकर मुस्लिम धर्मगुरुओं ने यहाँ मनमाने ढंग से प्रचार कार्य किया। इधर हिंदू समाज के भीतर भी अनेक प्रकार की विशृंखलापरक प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो उठी थीं। उपर्युक्त सांप्रदायिक मनोवृत्ति के अतिरिक्त यहाँ जातिवाद, वर्णव्यवस्था, छुआछूत की भावना, आदि ने

मिलकर पारस्परिक भिन्नता को विशेष प्रश्रय भी दे रखा था जिससे कठिनाई और भी बढ़ गई थी। इस समय इसीलिये यहाँ पर उस भक्तिआंदोलन का महत्व बढ़ने लगा जिसका उदेश्य न केवल किसी एक सर्वजनसुलभ धार्मिक साधना का प्रचार करना था, प्रत्युत जिसका एक परिणाम यह भी हो सकता था कि उक्त प्रकार से अधिकाधिक विलग होते जाने के प्रवाह मे कुछ रुकावट भी आ जाय। जिस समय आचार्य रामानुज (सं० १०७४–११९४) इस आंदोलन के अग्रणी बने थे उस समय उनके समक्ष दक्षिणवाले प्रसिद्ध आडवार भक्तों के उदाहरण उपस्थित थे जिनकी दृष्टि मे उपर्युक्त पार्थक्यवाली भावनाओं का कोई महत्व नहीं था और इनके अनुसार सभी कोई एक झंडे के नीचे आ सकते थे। परंतु उनका ध्यान अधिकतर भक्ति के दार्शनिक आधार तथा उसके स्वरूपादि पर केंद्रित होने के कारण तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान उनसे करते नहीं हो सका और लगभग यही बात उनके अनंतर आनेवाले वैसे कई अन्य आचार्यों में भी पाई गई। आचार्य रामानुज की ही १४वीं पीढ़ी मे स्वामी रामानंद हुए जिन्होंने इस ओर अधिक प्रयत्न किया तथा जिनकी प्रेरणा पाकर अनेक अन्य भक्तों ने भक्तिसाधना के इस दूसरे पक्ष पर ही विशेष बल देना आरंभ किया और इन्हीं में संत कबीर जैसे निर्गुणी कवियों के भी नाम लिए जाते हैं। कहते हैं कि स्वामी रामानंद, स्वामी राघवानंद के शिष्य थे जिन्होने सर्वप्रथम भक्ति के साथ योगसाधन का भी समन्वय उपस्थित किया था, जिस कारण इन्हे उसके दार्शनिक पक्ष पर उतना विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई थी, और इन्होंने इसके साथ ही उसकी सुगमता एवं व्यापकता पर अपना ध्यान इतना अधिक केंद्रित किया कि इसके कारण उपर्युक्त कठिनाइयो को दूर करना भी संभव बन गया। स्वामी रामानंद का आविर्भावकाल हमारे आलोच्य युग का सधिकाल अथवा प्रारंभिक समय भी कहा जा सकता है। इसके पश्चात् और इस युग के लगभग मध्यवर्ती दिनों से ही एक अन्य आचार्य भक्त वल्लभ स्वामी का आविर्भाव हुआ जिनसे भी इस ओर कुछ बल मिल गया।

इस प्रसंग मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे आलोच्य युग के कुछ पहले से एक ऐसे साहित्य का क्रमशः निर्माण भी होता आ रहा था जिसमे लक्षित होनेवाली प्रवृत्ति के द्वारा उक्त प्रकार के परिणाम की संभावना को कदाचित् कुछ विशेष बल मिला। उस समय रचे गए कुछ संस्कृत एवं प्रांतीय भाषावाले उपलब्ध वाङ्मय पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर भी हमे यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उस काल के धार्मिक क्षेत्र मे एक विचित्र ढंग की समन्वयात्मक मनोवृत्ति काम करने लग गई थी जिसके 'फलस्वरूप' यहाँ के विभिन्न संप्रदायो के बीच उत्पन्न हो गई कटुता का न्यूनाधिक दूर होता जाना कोई दूर की बात नहीं समझ पड़ती थी।

उदाहरण के लिये, कहते हैं, इसी के आसपास प्रसिद्ध 'अध्यात्मरामायण' ग्रंथ को अपना वर्तमान रूप मिला था जिसमे श्रीराम एव भगवान् शिव की ओर से एक दूसरे के प्रति श्रद्धाभाव एवं भक्ति तक का प्रदर्शित किया जाना संभव समझा गया था तथा इसी प्रकार संभवतः इन्हीं दिनों 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के आजकल उपलब्ध रूप का भी विशेष प्रचार हुआ जिसमे ऐसी भावना का एक चित्रण उक्त शिव तथा श्रीकृष्ण के संबंध मे किया गया था। इसके अनुसार इन दोनो के बीच अभेद भाव की कल्पना की जा सकती थी और लगभग उसी प्रकार, उन दिनों अधिक प्रसिद्ध 'श्रीदेवी भागवत' के अंतर्गत भगवती दुर्गा एवं श्रीराधा की अभिन्नता की भी चर्चा की गई मिल जाती थी जिसके द्वारा ऐसी मान्यता को अधिक बल मिलता था। हमारे युग मे, अर्थात् सं० १५९७ में सूर्यदेव कवि ने भी 'राम कृष्ण विलोम' काव्य की रचना की जिसमे, राम एवं कृष्ण अवतारों का वर्णन एक साथ करते हुए उन्हें ठीक एक ही प्रकार से स्मरणीय ठहराया गया तथा सं० १६६५ मे अद्वैत कवि के 'रामलिंगामृत' काव्य का भी निर्माण हुआ जिसमें राम शंकर एवं राम कृष्ण की अभिन्नता का प्रतिपादन भी किया गया और इससे वैसी भावना को और भी अधिक बल मिला। इस प्रकार के वातावरण को प्रेरणा प्रदान करने मे वारकरी संप्रदाय के मराठी भक्त कवियों का भी कुछ कम हाथ नहीं रहा जिन्होने अपने इष्टदेव विट्ठल एवं शिव अथवा हरि एवं हर के प्रति एक समान भाव प्रदर्शित किया तथा ऐसी ही भावना कश्मीरी भाषा की प्रसिद्ध कवयित्री लल्ला की पंक्तियो मे भी चित्रित की गई जहाँ पर 'शिव' एवं 'केशव' के बीच अभिन्नता का निरूपण स्पष्ट शब्दों मे किया गया दीख पड़ा। बंगाल के सहजिया वैष्णव भक्त कवियों ने इस प्रकार की प्रवृत्ति का एक ऐसा ही उदाहरण उन दिनो अपनी उपासना पद्धति को शाक्तों द्वारा स्वीकृत साधना-प्रणाली का न्यूनाधिक रूप देकर अपनाने की चेष्टा की तथा उत्कल प्रदेशवाले उड़िया 'पंचसखा' वैष्णव कवि भी कदाचित् इसी प्रवृत्तिविशेष के उदाहरण अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को बौद्धमतवाले 'शून्यत्व' का रूप देकर उपस्थित करते जान पड़े। अतएव इसमे कोई आश्चर्य नहीं यदि हिंदी के निर्गुणी भक्त कवियों ने भी अपनी रचनाएँ इस प्रवृत्ति के ही एक रूप को अपनाकर प्रस्तुत की हों।

जिस प्रकार स्वामी रामानंद के नेतृत्व मे नया बल ग्रहण करनेवाले उपर्युक्त भक्ति आंदोलन के प्रभाव मे हिंदू समाज के भीतरी मतभेदों मे बहुत कुछ कमी आने की संभावना दीख पड़ी, लगभग उसी प्रकार एक अन्य धार्मिक आंदोलन का प्रभाव भी हिंदुओं एवं मुसलमानों को एक दूसरे की ओर खींचने तथा दोनों वर्गों के पारस्परिक वैमनस्य व विद्वेष को दूर करने की ओर प्रवृत्ति जागृत करता सामने आया। इस्लाम धर्म की अनेक बातें हिंदुओं की दृष्टि मे अपने विरुद्ध जाती जान पड़ती थीं और उनका, विशेष कर क्रूर शासकों द्वारा प्रोत्साहन पानेवाले धर्मार्थ प्रचारकों की ओर से,

अपने ऊपर थोपा जाना तो और भी असह्य बन जाता था। बलात्कार के सामने उन्हें न तो कोई अवसर किसी बात के सोचने विचारने का मिलता था और न वे अपने विपक्षी के प्रति कोई तर्क वितर्क ही उपस्थित कर सकते थे। वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे और अपनी मान्यताओ की रक्षा किसी प्रकार विविध यातनाओं को सहन करके ही कर सकते थे। ऐसी विषम स्थिति मे उन्हे कुछ ढाढ़स व भरोसा दिलवाने का कार्य इस्लाम धर्म के ही एक अंग सूफी संप्रदाय ने किया जिसका आंदोलन यहाँ पर विशेष रूप मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (मृ० सं० १२९३) के नेतृत्व मे आरंभ हुआ था। जैसा इसके पूर्व कहा जा चुका है, ख्वाजा सीस्तान के मूल निवासी थे और अपने मत के प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए सं० १२४१ मे अजमेर आए थे। इनके चमत्कारों की बहुत सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य प्रशिष्यो मे उपर्युक्त बाबा फरीद शकरगंज व निजामुद्दीन औलिया जैसे कई प्रचारक हुए जिनका जन्म भारत मे ही हुआ था और जिन्होने बड़ी योग्यता एवं कार्यकुशलता का परिचय देते हुए सूफी संप्रदाय की 'चिश्तिया शाखा' को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसी प्रकार सं० १४०० के पहले ही यहाँ इस ओर कार्य करनेवाली सूफी संप्रदाय की उस एक अन्य शाखा 'सुहरवर्दिया' का भी नाम लिया जा सकता है जिसके प्रारंभिक प्रचारकों मे से सर्वाधिक सफल नेतृत्व करनेवाले शिहाबुद्दीन जकारिया का जन्म भी सं० १२३९ में मुल्तान मे ही हुआ था। इस शाखा की एक विशेषता इस रूप मे देखी गई कि इसके अनुयायियो मे से कई ने अपने को बाशरा (वैध) मुस्लिम कहलाने की जगह बेशरा (अवैध) मुस्लिम रूप मे भी घोषित किया तथा इस प्रकार वे ठेठ इस्लाम के कुछ प्रतिकूल जाकर 'मलामती' (निंदनीय) भी हो गए। सूफी आंदोलन मे भाग लेनेवाली कुछ अन्य ऐसी भारतीय संस्थाएँ भी आगे चलकर प्रसिद्ध हुईं जिनमे से एक 'कादिरिया' थी। भारत मे इसके सर्वप्रथम प्रचारक सैयद मुहम्मद गौस 'बालापीर' हुए जो वस्तुतः बाहर से आए थे, किंतु जिन्होने ख्याति प्राप्त करके सुल्तान सिकंदर लोदी तक पर अपना प्रभाव जमा लिया था और जिसकी शाखा के अनुयायियों मे पीछे शाहजादा दाराशिकोह भी संमलित हुआ। मुहम्मद गौस की मृत्यु सं० १५७४ मे हुई और इनके शिष्य प्रशिष्यों मे से कुछ लोग बहुत प्रसिद्ध हुए। सूफी संप्रदाय की एक चौथी शाखा जिसने भारत मे सूफी आंदोलन को सफल बनाने मे विशेष प्रयास किया 'नक्शबंदिया' कहलाई। इसके यहाँ सर्वप्रथम प्रचारक ख्वाजा बाकीबिल्ला 'बेरंग' थे जिनकी मृत्यु सं० १६६० मे हुई तथा इस शाखा-वाले प्रमुख प्रचारको मे ही अहमद फारुकी (सं० १६२०-८३) भी हुए जिन्होंने 'कयूमियत' की भावना को भी प्रश्रय दिया। सूफीमत मूलतः इस्लाम धर्म के आधारभूत सिद्धांतो का ही समर्थक रहा, किंतु विक्रम की १५वीं शताब्दी के कुछ पहले से ही इसका अपने मूलस्रोत से क्रमशः दूर पड़ता जाना भी आरंभ हो गया

जिस कारण इसके अंतर्गत, समय समय पर इस्लाम के 'विश्वात्मवाद', इब्न अरबी के 'ब्रह्मवाद', इमाम गजाली के 'नैतिक आचरणवाद' तथा कुछ 'मलामती' जैसे लोगों के 'अनियंत्रणवाद' जैसी विचारधाराओं का भी समावेश होता गया और उसका स्वरूप अब उतना अपरिचित वा आतंकपूर्ण नहीं लग रहा था जैसा पहले के हिंदुओं ने समझा था। इसके आंदोलन के व्यापक बन जाने पर इसके लिये ऐसे साहित्य की रचना भी होने लगी जिसका माध्यम प्रातीय भाषाएँ बन गईं तथा जिसके वर्ण्य विषय मे जनसाधारण के दैनिक जीवन एवं आमोद प्रमोद की बातों को भी यथोचित स्थान दिया जाने लगा। फलतः इस आदोलन ने हिंदू धर्म एवं इस्लाम के अनुयायियों के पारस्परिक मतभेदों की कटुता दूर करने में भी इस समय बड़ी सहायता पहुँचाई।

समन्वयात्मक प्रवृत्ति

भक्ति आदोलन एवं सूफी आदोलन के द्वारा क्रमशः हिंदुओं की आपसी पार्थक्यभावना तथा उनके साथ अपने पड़ोसी मुसलमानों की ओर से किए गए शत्रुतापूर्ण व्यवहारो मे कुछ कमी आने की संभावना के हो जाने पर भी अभी तक यहाँ के समाज मे वैसी कोई बात नहीं आ पाई थी जिससे सब किसी के मूलतः एक समान होने की भी कोई कल्पना की जा सके। भक्ति आंदोलन के अनुयायी अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के अनुसार वास्तव मे, हिंदू ही कहला सकते थे और उनके आदर्शों का स्वरूप भी स्वभावतः हिंदू धर्म के ही अनुकूल निर्धारित किया जा सकता था, तथा इसी प्रकार, सूफी आदोलन के अनुयायियों के लिये भी यही संभव था कि अपनी मान्यताओ का प्रमुख आधार इस्लाम धर्म के सिद्धांतों पर निर्मित रहने के कारण उनकी भावना भी यही बनी रहे कि हम मुसलमान हैं। दोनों ही अपने अपने को कम से कम दो भिन्न भिन्न वर्गों का सदस्य मानते थे और तदनुसार उनके अपने अपने संस्कारों मे भी भिन्नता का कायम रह जाना अनिवार्य था जिसका अभिप्राय यही हो सकता था कि इन दोनों के एक होने मे अभी कुछ और बाधा शेष है। इसके सिवाय दक्षिणवाले केरल प्रांत के 'शास्तापूजक संप्रदाय' अथवा पूर्ववाले बंगाल प्रांत के 'धर्मठाकुर संप्रदाय' जैसी समन्वयात्मक संस्थाओं के प्रभाव का भी परिणाम केवल इतना ही मान लिया जा सकता था कि एक से अधिक विभिन्न धार्मिक वर्गों के लिये, किसी सामान्य आराध्य देव की कल्पना कर लेना भी कुछ असंभव नहीं है किंतु इससे अधिक समझना भी बहुत कठिन था। जब तक यह भी न समझा दिया जा सके कि यद्यपि हम किसी धर्मविशेष के अनुयायी कहे जाते है, हमारा मौलिक रूप कुछ है और दृष्टि के अनुसार हमे अपने को एक विशाल मानव समाज का अंग मानना चाहिए तथा अपने को किसी व्यापक मानव धर्म का अनुयायी भी स्वीकार करते

हुए हमे तदनुकूल व्यवहार करना चाहिए, तब तक यह संभव न था कि हमारे अपने भीतर की सारी कटुताएँ निर्मूल की जा सकें। जब तक एक व्यक्ति अपने को हिंदू, मुसलमान, बौद्ध वा जैन जैसे किसी धार्मिक वर्ग का मानता था, वह स्वभावतः किसी वैसे अन्य समुदायवाले को अपने से कुछ न कुछ भिन्न समझा करता था और उसकी बहुत सी धार्मिक स्वीकृतियों को अपने अनुकूल न पाकर, उससे प्रायः चिढ़ भी जाया करता था जिसका एक परिणाम कभी कभी यह भी होता था कि अपनी कलुषित मनोवृत्ति के कारण यह उसकी अच्छाइयों तक की ओर से अपनी आँखें मूँदने लग जाता था तथा यह क्रमशः उसका विपक्षी तक भी बन जाता था। अतएव ऐसी दशा में सबसे अधिक आवश्यक यह था कि सर्वप्रथम अपने को किसी ऐसे घेरे के बाहर का तथा सर्वथा असांप्रदायिक व्यक्ति समझ लिया जाय, दूसरों में पाए जानेवाले गुणावगुणों पर सहृदयता एवं उदारता के साथ विचार किया जाय तथा भरसक किसी सामान्य व्यापक एवं विश्वजनीन धर्म को ध्यान मे रखते हुए उसे ही मानव धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। फलतः इसके अनुसार न केवल किसी प्रकार के पारस्परिक संघर्ष का अवसर ही दूर किया जा सकता है, प्रत्युत किसी एक विश्वबंधुत्व की भावना को भी पूरा प्रश्रय दिया जा सकता है। निर्गुण भक्ति के पुरस्कर्ता संत कवियों ने विशेषकर इसी प्रकार की कोई समन्वयात्मक प्रवृत्ति अपनाई तथा तदनुसार अपने साहित्य की रचना की और इसमें संदेह नहीं कि यह उपर्युक्त मनोवृत्ति से कहीं अधिक व्यापक और विश्वजनीन थी जिसके क्रमिक विकास का कुछ परिणाम भी इनके पहले से ही दीखने लग गया था।

———

चतुर्थ अध्याय

सांस्कृतिक परिस्थिति

सामाजिक व्यवस्था (हिंदू)

हमारे आलोच्य युग का भारत प्रधानतः मुस्लिम सुल्तानों वा बादशाहों द्वारा शासित रहा। बाहर से आनेवाले इस्लामधर्म के अनुयायियों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही थी और स्वयं देश के भीतर भी धर्मपरिवर्तन का चक्र चल रहा था जिस कारण यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ के सामाजिक वातावरण का रूप क्रमशः अधिकाधिक मुसलमानी ही बनता चला जा रहा था। फिर भी अभी तक वैसे ही लोगों के समाज की प्रधानता थी जो अपने को 'हिंदू' कहा करते थे और जो किसी न किसी प्रकार अपने को बचाए रखने तथा अपनी पूर्वागत परंपराओं को किसी न किसी रूप में प्रचलित किए रहने की ओर बराबर प्रयत्नशील रहे। समय के प्रभाव में आकर उन्होंने अपनी सामाजिक व्यवस्था के लिये विभिन्न 'स्मृतियों' तथा 'टीकाओं' का सहारा लिया और अपने भीतर सामंजस्य लाने की चेष्टा की। उन्होंने वर्णाश्रम धर्मानुसार प्रतिपादित व्यवस्था मे कुछ ढीलेपन को प्रोत्साहन दिया और जीवननिर्वाह के साधनों को अपनाने की छूट भी कम न दी। ये अपने विधर्मी शासकों की क्रूरता के कारण सदा आतंकित रहा करते थे और बराबर फूँक फूँककर चलते थे जिससे कोई हानि न उठानी पड़े, इसलिये उन्हें बहुत से अपने धार्मिक वा सामाजिक कृत्यों को छिपे छिपे तथा कामचलाऊ ढग से भी कर लेना पड़ता था। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के भीतर अनेक उपजातियों की सृष्टि हो चुकी थी जिनके पारस्परिक संबध का निर्णय कभी कभी बड़ी कठिनाई के साथ किया जा सकता था और शूद्रों के प्रति कठोरता के व्यवहार मे कमी न आ सकने के कारण, उनका अधिकाश भाग पूरा सहयोग न कर पाता था। अपनी सामाजिक व्यवस्था अथवा दुर्व्यवहार से असंतुष्ट रहने पर कभी कभी बहुत से हिंदुओं को आपसे आप धर्मांतरित होने का अवसर मिल जाता था और ऐसे लोग जब कभी मुस्लिम शासकों की कृपादृष्टि के भागी बन जाते थे तो ये अपने पूर्वधर्मवालों पर प्रायः अत्याचार तक करने लग जाते थे। इन दिनों दास प्रथा भी प्रचलित थी और जैसा इब्नबतूता ने कहा है, दासी कन्याओं को तो अधिक से अधिक संख्या में क्रय करके, उन्हें मुस्लिम लोग अपने यहाँ अपनी संपत्ति के रूप में रख लिया करते थे। उन्हें इस बात का शौक था कि हिंदुओं के प्रतिष्ठित

कुलों तक की स्त्रियों का अपहरण कर उन्हें आत्मसात् कर लें और कभी कभी तो यह भी सोचा जाता था कि वैसी उच्च वंशवाली नारियों को भी दर्बार मे लाकर उनके द्वारा अमीर दरबारियों का मनोरंजन कराया जाय। मुहम्मद बिन तुगलक के लिये कहा जाता है कि उसने चीन सम्राट् के यहाँ 'भारत के काफिरों में से एक सौ पुरुष दास तथा इसी प्रकार एक सौ स्त्री दासियों को जो कदाचित् गायिकाएँ भी थीं, अपनी ओर से भेंट के रूप में भेजा था' तथा एक लेखक के अनुसार 'उस काल के कुछ राजपूत राजा भी ऐसे थे जो मुसल्मान और सैयद स्त्रियों तक को अपने यहाँ ले जाकर दासी बना लेते थे और उन्हें नृत्य एवं गीत की शिक्षा दिलवाया करते थे। 'उक्त काल की कुछ स्मृतियों में दासों के चार रूप दिए गए मिलते हैं जिनमें से एक अपने घर में उत्पन्न कहा जाता है, दूसरा क्रीतदास हुआ करता है, तीसरा, जिसे कहीं से प्राप्त किया गया[1] रहता है और चौथा जो अपने वंशानुक्रम से दास रहा करता है। इससे इस प्रथा की व्यापकता का पता चलता है और यह भी सूचित होता है कि इसे कदाचित् उतना निंदनीय भी नहीं समझा जाता रहा होगा।

हिंदुओं के पारस्परिक विवाह संबंधी अनेक विधानों की चर्चा उस काल की स्मृतियों मे दी गई मिलती है और जिन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख पहले से भी चला आ रहा था उन्हे यहाँ पर अधिक विस्तार दिया गया भी मिलता है। कन्याओं का विवाह उनकी किस अवस्था मे किया जाय, किस प्रकार उन्हें वरण किया जाय, कौन कौन सी विधियाँ विवाहकर्म के समय बरती जाएँ आदि अनेक बातों के विषय मे बड़े विस्तार के साथ व्यवस्थाएँ दी गई मिलती हैं तथा इस बात का भी निर्णय किया गया पाया जाता है कि पुनर्विवाह कहाँ तक विहित है। इसी प्रकार पति का देहांत हो जाने पर 'सती' बन जाने की प्रथा का उल्लेख उस काल के अनेक विदेशी पर्यटकों ने भी किया है। इब्नबतूता से कुछ पहले आनेवाले पादरियों ने दक्षिण भारत में उन दिनों प्रचलित इस प्रथा का आँखों देखा वर्णन किया है और उनमे से ओडरिक (संभवत: सं० १३७८-६) नामक एक फ्रायर का कहना है कि जिस विधवा का कोई पुत्र जीवित रहता है वह 'सती' नहीं हुआ करती[2]। इब्नबतूता के अनुसार तो सती होने के लिये सुल्तान की अनुमति का पहले प्राप्त कर लेना भी आवश्यक था जिससे पता चलता है कि उन दिनों की भावना के अनुसार वैसा करना कदाचित् बुरा नहीं समझा जाता था। जहाँ तक समाज मे नारियों के स्थान के विषय मे कहा जा सकता है, यह उतना स्पृहणीय नहीं था। ये

१ दिडे० सु० पृ० ५८२-३।
२ वही, पृ० ५८३।

उसके पहले से ही, पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक नीचे स्तर की समझी जाती रहीं और इन्हें प्रायः दासियों जैसा ही स्थान प्राप्त रहा। परंतु, इस प्रकार की बातों के धर्मविहित समझे जाने के कारण, स्त्रियों को ऐसी व्यवस्था के प्रति कोई असंतोष नहीं था और वे इस बात को सर्वथा स्वाभाविक तक समझा करती थीं। बहुविवाह की प्रथा प्रचलित रहने के कारण इन्हे विशेषकर अपने प्रति प्रदर्शित की जानेवाली उपेक्षा की आशंका अवश्य बनी रहा करती थी, किंतु प्रायः यह भी देखा जाता था कि अपने पति की मृत्यु हो जाने पर, ऐसी सभी सपत्नियाँ एक साथ 'सती' हो जाया करती थीं। उस काल की स्त्रियों मे प्रचलित पर्दा प्रथा के कारण उन्हें अनेक प्रकार की दुःखद असुविधाओं का भी सामना करना पड़ जाता था। किंतु ऐसी दशा मे भी उनके लिये शिक्षा की व्यवस्था मे कमी नहीं आ पाती थी तथा उन्हें अपनी स्थिति के अनुसार कला, साहित्य, आदि का प्रशिक्षण भी मिल जाया करता था। इतना अवश्य था कि धार्मिक प्रवृत्तिवाले बहुत से व्यक्तियों वा साधु संतों की दृष्टि मे उन्हे सदा निंदनीय समझा जाता रहा तथा उनके विषय मे यहाँ तक भी कहा जाता रहा कि परलोक विषयक भावी कल्याण के मार्ग मे ये बहुत बड़ी बाधा स्वरूप सिद्ध होती हैं। उन दिनों का भी हिंदू परिवार बहुधा सयुक्त रूप मे ही पाया जाता था और उसके सदस्यों का वास्तविक संबंध पूर्वपरंपरानुसार रहा करता था। मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग के हिंदुओं को इसमे किसी विशेष प्रकार की असुविधा का अनुभव नहीं होता था, किंतु जहाँ कहीं उच्च वर्गवाले राजाओं महाराजाओं के परिवारों के संयुक्त बने रहने का प्रश्न उठ खड़ा होता, विविध प्रकार की उलझनें सामने आ जाया करती थीं। ये लोग प्रायः अपने बचपन के समय से ही ऐसे कलुषित वातावरण मे रहने लगते थे जिसमे इनमे ईर्ष्या, विद्वेष, वैमनस्य, जैसे अनेक दुर्गुण घर करने लगते थे तथा अपने स्वार्थी दरबारियों एवं अदूरदर्शी मित्रों के फेर मे पड़कर अपने निकट से निकट संबंधियों एवं गुरुजनों तक के विरुद्ध षड्यंत्र रचने तथा उन्हें अपदस्थ करने के प्रयास मे जुट जाते थे। हिंदू समाज के भीतर जो वर्णव्यवस्थानुसार ऊँच नीच अथवा स्पर्श्यास्पर्श्य का भी नियम प्रचलित था उसके द्वारा उसमे विशृंखलता आने की आशंका सदा बनी रहा करती थी। कुछ लोग जहाँ ब्राह्मण होने के कारण देवतुल्य पवित्र एवं आदरणीय समझे जाते थे वहाँ चांडालादि जातियों के लोग इतने अपवित्र और उपेक्षणीय माने जाते थे कि उनकी छाया तक से दूर रहना उच्च वर्ण के लोगों के लिये आवश्यक बन जाया करता था। इस प्रकार की छुआछूत का नियम इतना व्यापक था कि निम्न वर्ग के लोगों तक मे इसका अनुसरण स्वयं अपने भीतर भी किया जाने लग गया था।

सामाजिक व्यवस्था (मुस्लिम)

जहाँ तक उस समय के मुस्लिम समाज का संबंध है, उसकी व्यवस्था भी

अधिक भिन्न नहीं कही जा सकती और जो कुछ अंतर लक्षित होता था वह या तो मुस्लिम शासन के कारण था अथवा उसके मूल मे कुछ ऐसी मजहबी विशेषताएँ भी काम करती थीं जो उसके सदस्यों के लिये सांप्रदायिक रूप ग्रहण कर चुकी थीं। इस संबंध मे यह भी उल्लेखनीय है कि जो हिंदू वैसे समुदाय के भीतर धर्मांतरित होकर प्रवेश पाते थे और विशेषकर वे, जिन्हें बलात्कारपूर्वक ऐसा करना पड़ता था, कभी कभी अपनी नवीन स्थिति के साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं स्थापित करते थे और अधिकतर अपनी कई पुरानी बातों से ही चिपके रह जाते थे। ये तत्कालीन शासकों की सहधर्मिता एवं विशिष्ट सहानुभूति का लाभ अवश्य उठा लेते थे, किंतु अपने कई संस्कारों को त्याग न पाने के लिये विवश थे। इसके सिवाय, वहाँ पर अधिक दिनों तक रहने के कारण, बाहर से आए हुए बहुत से विदेशी मुसलमान भी यहाँ की अनेक बातों को क्रमशः अपना लिया करते थे जिससे उनके साधारण रहन सहन व पारस्परिक व्यवहारों मे कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाया करता था। इस प्रकार की बातों की संभावना उस समय और भी बढ़ जाया करती थी जब ऐसे लोग सूफीमत के अनुयायी होते थे जिससे उनमें हठधर्मिता की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहा करती थी और जो उपयोगी बातों को बाहर से ग्रहण करने मे अपनी उदारहृदयता भी प्रदर्शित कर सकते थे। उस समय सुलतान का पद तो सबके ऊपर था ही, उसके नीचे 'उमरा' एवं 'उलेमा' का स्थान रहा करता था जिनमे से प्रथम के अंतर्गत फारस, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान एवं अरब के मूल निवासियो की गणना की जा सकती थी। इन्हीं चार 'कौमों' को क्रमशः शेख, मुगल, पठान, एवं सैयद के नाम भी दिए जाते थे और ये लोग अपने से बाहरवालो के साथ कोई वैवाहिक संबंध करना भी पसंद नहीं करते थे। इन चारों मे से प्रथम को उनकी बुद्धिमत्ता एवं पांडित्य के लिये विशिष्ट स्थान प्रदान किया जा सकता था और वे सुयोग्य सुसंस्कृत समझे जाते थे। परंतु इनमे से अधिकांश का झुकाव इस्लाम के शिया वर्ग की ओर भी रहता था। इसके विपरीत, तुर्किस्तानवाले तुरानी वा मंगोलों (मुगलों) के लिये कहा जाता है, कि ये कट्टर सुन्नी मुसलमान थे जिनके वर्गवाले स्वयं सुल्तान भी रहा करते थे। इस कारण इनकी प्रतिष्ठा भी उनसे इसलिये कम नहीं की जाती थी कि ये उनसे अपेक्षाकृत अधिक निकटवर्ती समझे जा सकते थे। उधर अफगानी पठान अपने शौर्य, साहस एव देहातीपन के लिये प्रसिद्ध थे और यहाँ पर सर्वप्रथम अधिकार जमाने के कारण स्वाभिमानी भी बने रहते थे। इनकी मुगलों से कदाचित् कभी नहीं पटती थी जिस कारण ये कभी कभी दिल्ली सल्तनत के विद्रोहियो मे भी गिने जाते थे। अंतिम अथवा चौथे संप्रदायवाले सैयद भी कम साहसी और वीर नहीं थे, किंतु इनकी सख्या कदाचित् कम रहा करती थी और लोदी पठानों से पहले कुछ दिनों तक इन्होने दिल्ली पर यदि अपना अधिकार भी जमाया तो वह भी क्षणस्थायी ही सिद्ध हुआ। इन सैयदों एवं शेखों

में से ही इस्लामी शास्त्रों के मर्मज्ञ लोग उपर्युक्त उलेमा की कोटि मे आते थे और इनका वर्ग इसीलिये समादृत रहा। उमरा एवं उलेमा के नीचे एक वर्ग उन लोगों का भी आता था जो वस्तुतः कर्मचारी कहे जा सकते थे। ये लोग या तो किसी न किसी रूप मे शासनकार्य मे भाग लेते थे अथवा सुलतानों के गृहप्रापंचिक बातों मे कुछ हाथ रखते थे। इन सभी के नीचे मुसलमानों का वह वर्ग आता था जो खेती मजदूरी, वाणिज्य वा नौकरी आदि का काम करता था। इन सभी के बीच कोई उस प्रकार की भावना काम नहीं करती थी जैसी हिंदुओं के वर्णव्यवस्थावाले समाज की थी, किंतु फिर भी कुछ भेदभाव स्पष्ट रहा जो, कभी कभी केवल गृहकलह के रूप मे भी आरंभ होकर, पीछे षड्यंत्रों वा विद्रोहों तक का कारण उपस्थित कर देता था। भारतीय मुस्लिम समाज के भीतर स्त्रियों का स्थान उससे नितांत भिन्न था जो कभी अरब की नारियों को प्राप्त कहा जाता है। भारत के मुस्लिम शासकों ने बहुविवाह की प्रथा का दुरुपयोग करके जो न्यूनाधिक बड़े 'हरम' स्थापित करने का आदर्श रखा था, उसका बहुत बुरा प्रभाव साधारण जनता पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। नारी प्रत्यक्षतः उपभोग की वस्तु बन गई। इसी प्रकार उनके पारिवारिक ईर्ष्या, कलह एवं प्रतिस्पर्धा की कहानियों ने साधारण मुस्लिम पारिवारिक जीवन को भी प्रभावित किया। मुस्लिम समाज के ढाँचे का फिर भारतीयकरण आरंभ हुआ और मुगलों के शासनकाल तक यह और भी स्पष्ट हो गया।

संपत्ति, आर्थिक विषमता एवं साधुवृत्ति

भारत में उन दिनों संपत्ति की कमी नहीं थी। प्रसिद्ध है कि यहाँ की विपुल धनराशि की ख्याति से ही आकृष्ट होकर अनेक आक्रमणकारी यहाँ पर समय समय पर आते रहे। देश की तत्कालीन सांपत्तिक अवस्था का कुछ परिचय हमें उस समय के विदेशी यात्रियों द्वारा किए गए विविध उल्लेखों से मिल जाता है। इब्नबतूता अपने समकालीन सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के दर्बार का वर्णन करते हुए लिखता है कि उसके सार्वजनिक दर्शन प्रदर्शन के अवसरों पर घोड़े और हाथी, रेशमी एवं सुनहले साजो से सजाकर प्रदर्शित किए जाते थे, प्रांतीय शासक लोग सोने चाँदी के बर्तन व मुहरें भेंट के रूप मे लेकर उपस्थित होते थे। ईद के दिनों दर्बारभवन के केंद्र मे रेशम से तैयार किए गए कृत्रिम वृक्षों की तीन पंक्तियाँ लगाई जाती थीं जिनके बीच बीच मे सुनहली कुर्सियाँ रखी जाती थीं और स्वयं सुल्तान एक विशुद्ध स्वर्ण द्वारा निर्मित किए गए सिंहासन पर, जिसके चारों चरण रत्नों से जटित होते थे और जिसके ऊपर एक रत्नजटित छत्र भी लगा रहा करता था, बैठा करता था। मुहम्मद के अनन्तर आनेवाले सुल्तान फीरोजशाह के राज्यकाल की चर्चा करते समय भी कहा गया मिलता है कि उन दिनों क्रय की जाने-

वाली वस्तुओं की सस्ती असाधारण थी, चाहे वे गेहूँ, जौ आदि जैसे खाद्य पदार्थ हों, चाहे सादे वा रंगीन रेशम के वस्त्र हों। ऐसी ही आर्थिक स्थिति के रहते राजधानी के ऊपर तिमूरलंग का क्रूर आक्रमण सं० १४५५ मे हुआ था जब वह यहाँ से लूटकर बहुमूल्य पत्थर, मोती एवं स्वर्ण की राशि अपने यहाँ ले गया। जहाँ तक उस समय के अमीरों आदि के वस्त्राभूषण की बात है, एक अन्य लेखक के अनुसार पुरुष सूती, रेशमी वा 'कार्मिक' वस्त्र पहना करते थे, स्नान के पश्चात् सुगंधित चूर्ण गुलाबजल मे डालकर उसका अवलेपन कर लेते थे, अपनी अंगुलियों में सुनहली अँगूठियाँ पहनते थे जिनपर बहुमूल्य पत्थर जड़े रहा करते थे तथा वे मोतियों के कुंडल भी अपने कानों मे धारण करते थे। इसी प्रकार उनकी स्त्रियाँ भी अत्यंत महीन सूती वा चमकीले रंग के रेशमी पहनावे अपने उपयोग मे लाती थीं, चमड़े की जूतियाँ पहनती थीं जिनपर काम किया रहता था, सुनहले कंगन, जिनपर बहुमूल्य पत्थर जड़े रहते थे तथा मूँगों के दानोंवाले केयूर अपनी बाहों पर धारण करती थीं।[1] गुजरात एवं दक्षिण के कुछ अन्य प्रदेशों मे वाणिज्य व्यवसाय के कारण वहाँ की वणिक् जनता तक भी सुखी समझी जा सकती थी और उधर के बंदरगाह अच्छी दशा मे थे। धन एवं ऐश्वर्य का वर्णन हमारे आलोच्य युगवाले मुगल सम्राटो के राज्यकाल के संबंध मे भी प्रायः इसी प्रकार किया जाता है और इस काल के अंतिम बादशाह शाहजहाँ के लिये तो कहा जाता है कि अपने अतुल वैभव का प्रदर्शन वह विशेष रूप से किया करता था। इसी प्रकार उस समय राज्य करनेवाले दक्षिण के विजयनगर जैसे कतिपय राज्यों के नरेशों के लिये भी कथन किए गए मिलते है।

परंतु इतना सब कुछ होते हुए भी, यह नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों के सभी लोग एक ही प्रकार से सपन्न थे। एक ओर जहाँ सम्राट, सुल्तान, राजे महाराजे एवं उमरा लोग अपने धन के गर्व मे चूर समझे जा सकते थे, वहीं समाज के निम्न वर्गवालों की दशा ठीक नहीं थी। दक्षिण के बहमनी राज्य के प्रसिद्ध योग्य सचिव महमूद गावाँ (सं० १४६२–१५३८) के समय; जब कि वहाँ की समृद्धि एवं शासन-व्यवस्था कम प्रशंसनीय नहीं समझी जाती थी, अफनेसियन निकितिन नाम का एक रूसी व्यापारी (लगभग सं० १५२७ मे) आया था जिसका कहना है कि राज्य की जनसख्या उस काल मे बहुत अच्छी थी, भूमि की पैदावार प्रचुर मात्रा मे हो रही थी, सड़कें डाकुओं से सुरक्षित रहा करती थीं तथा राजधानी एक भव्य नगर के रूप में दीख पड़ती थी। परंतु एक ओर जहाँ स्वार्थी सुल्तानों के आडंबर एवं विलासिता का प्रदर्शन किया जाता था और उमरा एवं धनी व्यक्ति उनके अनुकरण में ही

[1] दि डे० स० (पृ० ६०१२)

अपने महत्व की वृद्धि माना करते थे वहाँ दूसरी ओर साधारण जनता की स्थिति अत्यंत दयनीय भी बन गई थी जिस कारण वे बहुधा दुःखमय जीवन बिताया करते थे। इसके सिवाय उपर्युक्त बड़े समझे जानेवाले लोगों में भी अधिकतर उन्हीं की दशा संतोषपूर्ण कही जा सकती थी जो इस्लाम धर्म के अनुयायी थे तथा जिनपर तत्कालीन शासकों की विशेष कृपादृष्टि रहा करती थी। पुर्तगाली बार बोसा (सं० १५५७-७३) का कहना है कि उसके समयवाले बादशाह एवं उमरा जहाँ महलों में निवास करते थे वहाँ दूसरे लोग गलियों में बनाए गए तथा छाए गए मकानों में रहते थे जिनके सामने कुछ सहन भी रहा करती थी और शेष के भाग्य में केवल झोपड़ियों में ही रहना बदा था।[१] मुगल सम्राटों के राज्यकाल की दशा का वर्णन करनेवाले किसी पेलसपार्ट नामक विदेशी लेखक के विषय में कहा गया है कि उसने उक्त समय के तीन ऐसे वर्गों का उल्लेख किया है जिनका सामाजिक स्तर दासों से किसी प्रकार भिन्न नहीं कहा जा सकता था और वे श्रमजीवी साधारण नौकर एवं दूकानदार थे। इन श्रमजीवियों को यथेष्ट द्रव्य नहीं मिला करता था और न उनकी इच्छा पर उनका श्रम करना कभी निर्भर ही रहा करता था। उनसे बलात्कारपूर्वक काम लिया जाता था और उनकी कमाई भी मनमाने ढंग से ही दे दी जाती थी तथा वे किसी प्रकार केवल एक ही बार खिचड़ी खाकर दिन काट ले जाते थे। उनके घर मिट्टी के बने होते थे जिनमें कदाचित् ही कभी कोई चारपाई जैसा सामान रहता होगा और उन्हें अपनी मजदूरी में होनेवाली कमी की पूर्ति 'दस्तूरी' के द्वारा करनी पड़ती थी। दूकानदारों को अपनी वस्तुएँ साधारणतः छिपाकर रखनी पड़ती थीं जिससे क्रूर शासकों को उनका पता न चल सके।[२] भिखमंगी प्रचलित थी और अनेक साधुओं फकीरों का भी एक ऐसा वर्ग था जिसे किसी जीविका का आश्रय न लेकर दूसरों पर ही जीवननिर्वाह करना पसंद था। इस प्रकार संपन्न लोगों तथा निम्न कोटि के धनहीन व्यक्तियों के बीच महान् अंतर था और पृथक् कोटिवाले द्वितीय वर्गवालों से सीधी बातें तक भी नहीं किया करते थे। जैसा संत कबीर ने कहा है, 'यदि निर्धन धनवान् के पास जाता है तो धनवान् पीठ फेर लेता है किंतु यदि धनवान् निर्धन के यहाँ जाता है तो यह उसे आदर दिया करता है।'[३]

स्वभाव, रहनसहन, अंधविश्वासादि

जिस प्रकार समाज के भीतर धनिकों एव निर्धनों के दो स्पष्ट वर्ग हो गए थे उसी प्रकार उनके दैनिक जीवन, रहन सहन, उत्सव, पर्व त्योहार आदि

[१] हि० डे० स०, पृ० ३५७।

[२] दशा० हि० मु० रू० इ०, पृ० ४१६–२०।

[३] आ० ग्रं०, रागु भैरव, पद ८, पृ० ११६०।

के संबंध मे भी दो भिन्न भिन्न प्रकार की बातें प्रायः देखने को मिला करती थीं। प्रथम कोटि के सम्राटों, सुल्तानों, राजाओं, महाराजाओं अथवा अमीरों सामंतों के जीवन मे जहाँ सब कहीं ठाटबाट एवं विस्तार की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और अपने वैभव का प्रदर्शन करते हुए उल्लास का अनुभव किया जाता था वहाँ साधारण श्रेणी की जनता, अपनी परंपरागत प्रथाओं के अनुसार, प्रमुख विधियों का निर्वाह मात्र कर लेने पर भी, 'तोष की साँस ले लिया करती थी। इसके सिवाय प्रथम वर्गवालों मे जहाँ मनमाने ढंग का व्यवहार करने की भी छूट रहा करती थी वहाँ द्वितीय वर्ग केवल परंपरापालन मात्र को ही अपना कर्तव्य मान लिया करता था और, मुस्लिम शासको के आतंक द्वारा प्रभावित रहने के कारण, हिंदुओ को कभी कभी बहुत कुछ छिपकर भी करना पड़ जाता था। फिर भी अपने मन के अनुसार करनेवाले सुल्तानों के व्यवहार मे सदा सब किसी की हानि होने की ही आशंका नहीं रहा करती थी, प्रत्युत कभी कभी उसके द्वारा कई साधारण व्यक्तियों को न्यूनाधिक लाभ तक पहुँच जाया करता था। किंतु ऐसे अवसर बराबर नहीं मिला करते थे। मुहम्मद बिन तुगलक के विषय में लिखते हुए इब्नबतूता ने बतलाया है कि 'मुहम्मद एक ऐसा विलक्षण व्यक्ति है जो एक ओर तो लोगों को बहुधा भेंट दिया करना पसंद करता है और दूसरी ओर उसे रक्तपात कर देना भी उतना ही अच्छा लगता है। उसके द्वार पर बराबर निर्धन व्यक्ति धनी बन जाते दीख पड़ते हैं और कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई प्रिय व्यक्ति मृत्युदंड का भागी बन जाय। उसकी उदारता एवं वीरता की चर्चा तथा उसके क्रूर एवं भयानक कृत्यों का वर्णन सब कहीं लोगों मे सुन पड़ते हैं। फिर भी वह एक ऐसा पुरुष है जो सदा विनम्र बना रहना चाहता है तथा जो अधिक से अधिक समानता का व्यवहार प्रदर्शित भी किया करता है, अपने मजहबी कर्मों को वह अपने हृदय से चाहता है और दैनिक प्रार्थना के विषय मे भी वह इतना कठोर बना रहता है कि उसे इसकी उपेक्षा करने पर दंड देने मे कुछ भी हिचक नहीं हुआ करती।' इसी प्रकार फीरोजशाह के लिये कहा गया मिलता है कि उसने शाही महलों की सजावट बंद कर दी थी और स्वयं मिट्टी के वर्तनों मे भोजन किया करता था। परंतु एक बार के लिये यह भी कहा जाता है कि जब तातार खाँ उससे मिलने आया तो उसने इसे शराब पीकर अर्धनग्न पड़ा हुआ पाया। इसके विपरीत मुगल बादशाह बाबर के लिये कहा जाता है कि वह असाधारण शारीरिक शक्ति का मनुष्य था, वह अपने दोनों बाहुओं में एक एक व्यक्ति को लिए हुए, बिना किसी भय के दौड़ सकता था, नदियों में बिना किसी प्रकार की सावधानी के बर्ते बड़ी दूर तक तैरता चला जाता था जब कि वहाँ पर बर्फ भी पड़ा करती थी, तथा अपने आत्मविश्वास के द्वारा वह दूसरों मे भी उत्साह जाग्रत कर दिया करता था। उसमे अनुशासनप्रियता भी यथेष्ट थी तथा

वह उन दिनों प्रचलित सुरा, सुंदरी एवं संगीत विषयक प्रेम की मर्यादा से पूर्ण अवगत भी था। बाबर के अनंतर उसके वंशजों मे सम्राट् अकबर का स्वभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय था। उसका जीवन बहुत कुछ सादा व संयमित रहा। वह केवल एक बार दिन मे भोजन करता और अपने खाद्य व पेय पदार्थों मे भरसक प्याज, लहसुन एवं मांस और मद्य का उपयोग नहीं करता था। उसका दैनिक जीवन समय की बचत को ध्यान मे रखते हुए व्यतीत हुआ करता। वह आखेट का प्रेमी था और हाथियों का युद्ध भी बड़े चाव के साथ देखा करता था तथा कभी कभी निर्भयता के साथ साहसिक कार्यों में प्रवृत्त भी हो जाया करता था। उसके विषय मे एक प्रत्यक्षदर्शी लेखक का कथन है, 'वह अपने परिवार के लिये अत्यंत प्रिय, बड़े के लिये भयंकर और छोटे के लिये दयालु कहा जा सकता था। जनसाधारण के प्रति उसकी सहानुभूति इतनी अधिक थी कि वह जब कोई अवसर आता, उनकी प्रार्थनाओं के सुनने का समय निकाल लेता। वह उनकी छोटी से छोटी भेंटों को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया करता था और उन्हें अपनी गोद तक मे डाल लेता था जहाँ अमीरों की अत्यंत मूल्यवान भेंटों तक के प्रति वह कभी आकृष्ट नहीं हुआ करता था। उसमे सादगी इतनी थी कि वह प्रायः तख्त के सामने आकर सबके साथ फर्श पर बैठ जाता और बिना किसी औपचारिक नियमों की ओर ध्यान दिए सबसे बातचीत करने लग जाता था।'[1] परंतु सम्राट् जहाँगीर अथवा शाहजहाँ में इस प्रकार की बातें कदाचित्, कभी भी देखने को नहीं मिलती थीं। इनमें से प्रथम जनहित एवं न्याय को विशेष महत्व प्रदान करता हुआ भी, अपनी विलासप्रियता के कारण उतना जनसंपर्क में नहीं आ सकता था तथा द्वितीय के लिये भी कहा जा सकता है कि इसके वैसा हो सकने के मार्ग मे इसकी ऐश्वर्यप्रियता तथा कदाचित् धर्मांधता ने भी बाधा पहुँचाई। इसके विपरीत पठान सुल्तान शेरशाह अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण, स्वयं अकबर का भी आदर्श समझा जा सकता था। वह उपयुक्त कार्यों के लिये दान की व्यवस्था करता तथा उसके पर्यवेक्षण में अपना समय भी दिया करता। उसका तो यह सिद्धांत सा बन गया था कि भरसक एक भी योग्य व्यक्ति बिना उपयुक्त संमान प्राप्त किए न रह सके। उसके राज्यशासन की ओर से कुछ ऐसे भोजनालय भी चलाए जाते थे जिनमें धनाभाव से पीड़ित लोगों के लिये खाने पीने का प्रबंध था और जिनकी वार्षिक लागत ८०००० (अस्सी सहस्र) अशर्फियाँ तक थीं। यह बादशाह, वास्तव में, अपने राजधर्मानुसार चलना पसंद करता था और इसे इस बात की चिंता रहा करती थी कि सर्वत्र सुव्यवस्था रहे और किसी को तथा

[1] अक०, पृ० २८८।

विशेषकर किसानों एवं निर्धनों को, कभी कष्ट का अनुभव न हो सके। इन सम्राटों, सुल्तानों वा बादशाहों का ही अनुकरण, अपनी रुचि एवं मनोवृत्ति के अनुसार, इनके समकालीन सामंत, अथवा राजे महाराजे भी किया करते थे और उनमें से बहुत कम ऐसे हुए जिन्होंने, अपने स्वभाव, शासनपद्धति वा सार्वजनिक व्यवहार के संबंध में, किसी प्रकार की विशेषता प्रदर्शित की हो।

उस काल के सर्वसाधारण की जीवनपद्धति का कोई विस्तृत परिचय हमें नहीं मिलता। उस समय रचे गए साहित्य मे कुछ न कुछ ऐसे उल्लेख मिल जाते हैं, जिनके आधार पर विचार करते समय, हमे उसकी रूपरेखा की कल्पना करने मे कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है। उदाहरण के लिये इस युग के धार्मिक समझे जानेवाले व्यक्तियों का चित्रण कई संतों एवं भक्तों ने अपनी रचनाओं मे किया है और, कहीं कहीं सर्वसाधारण की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालते हुए, उनके साथ अपनी सहानुभूति भी प्रदर्शित की है अथवा उन्हें चेतावनी तक भी दी है, गुरु नानक देव का कहना है कि 'पाखंडी साधक संसार को ठगने के उद्देश्य से, अँगूठे और उसके पास की दो अंगुलियों से अपनी नाक पकड़ते हैं और, 'तीनों लोकों का ज्ञान' रखते हुए भी, उन्हें स्वयं अपने पीछे की ही वस्तु नहीं सूझ पड़ती। आजकल के क्षत्रियों ने भी अपनी दासता के फेर मे पड़कर निजी धर्म का परित्याग कर दिया है तथा सारी सृष्टि ही वर्णसंकर सी बन गई जान पड़ती है।[1] फिर, ऐ समृद्धिशाली हिंदुओं, एक ओर तो तुम इस्लामी शासन दृढ़ करने के उद्देश्य से, गायों एवं ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और दूसरी ओर उस गौ के ही गोबर के बल पर तरना भी चाहते हो, धोती पहनते हो, टीका लगाते हो पर, जप की माला गले मे धारण किये रहने पर भी, म्लेच्छों का अन्न खाते हो[2]। इन्होंने, उन दिनों के, जीविकार्थ रासलीला करनेवालों की भी आलोचना की है और कहा है, 'चेले बजाते हैं और गुरु नाचते हैं तथा, ऐसा करते समय, अपने पैरों को हिलाते एवं सिर को घुमाया करते हैं और पैरों के ताल के साथ पटकने पर धूल उड़कर सिर के बालों पर पड़ती है—इस प्रकार की रासलीला मे वे गोपी और कृष्ण बनकर गाते हैं। और कभी कभी सीता एवं राम का स्वाँग भी बनाकर गाया करते हैं।'[3] इसीप्रकार यदि गो० तुलसीदास द्वारा किए गए वैसे वर्णनों को भी उनकी समकालीन स्थिति का परिचालक मान लें तो, उन्हीं के शब्दों मे कहा जा सकता है :

[1] आ० ग्रं० रागु धनासरी, सबद ८।
[2] वही, आसानी वार, सलोकु ३३।
[3] वही, सलोकु १०।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख वलि,
वनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सों कहाँ जाई, का करी ॥[1]

तथा

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं ॥[2]

जहाँ तक साधारण जनता के अंधविश्वास की बात है, इसके संबंध मे एक उदाहरण शाहजहाँ के प्रारंभिक शासनकाल मे भारत आए हुए यात्री बर्नियर के 'ट्रैवेल्स'[3] नामक यात्राविवरण से उद्धृत किया जा सकता है जिसमे उसने पुरी की जगन्नाथवाली रथयात्रा के विषय मे लिखा है और उनके दर्शन की भी चर्चा की है। इसके अनुसार कभी कभी वहाँ डेढ़ लाख तक दर्शकों की भीड़ हो जाती थी और चौदह वा सोलह पहियों के रथ पर अधिष्ठित मूर्ति को वस्त्राभूषणों द्वारा अलंकृत कर उसके रथ को पचास साठ आदमी खींचते थे और उसे एक मंदिर से दूसरे तक ले जाते थे। प्रथम दिनवाले दर्शन की अत्यधिक भीड़ मे तो इतनी कठिनाई से प्रवेश निर्गम हो पाता था कि अनेक यात्री उसमे पिसकर मर भी जाते थे और उनकी ऐसी मृत्यु की सराहना उन्हे भाग्यशाली ठहराकर की जाती थी। ऐसी रथयात्रा की भयंकर भीड़ के अवसर पर बहुत से तीर्थयात्री तो अपने धार्मिक आवेश मे आकर स्वयं रथ के पहियो के नीचे पड़कर पिस जाते थे। ऐसे लोगों को दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार के व्यवहार से प्रसन्न होकर जगन्नाथ जी मुझे सद्गति प्रदान करेंगे।

३—कलाप्रियता, मनोरंजनादि—यहाँ के तीर्थों मे निर्मित किए गए भव्य व विशाल मंदिरों की कमी नहीं थी, किंतु उनका अधिकांश पहले का ही बना था तथा उनके निर्माण का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक योजनाओं से संबंध रखता था और वे शिल्पशास्त्र के नियमानुसार प्रतिष्ठित भी रहे। परंतु हमारे आलोच्य काल के अंतर्गत अनेक ऐसे भवनो एवं नगरों का भी निर्माण किया गया जिनका आदर्श उनसे सर्वथा भिन्न कहा जा सकता था। फीरोजशाह तुगलक ने, अधिकतर अपनी कलाप्रियता और वैभवप्रदर्शन के ही विचार से, फीरोजाबाद, फतहबाद जैसे नगरो का निर्माण कराया तथा पीछे जौनपुर, गौड़ एवं गुजरात के कुछ

[1] कवि० उ० का०, छंद ९७।
[2] रा० च० मा०, उ० का० ९८।८।
[3] ब० ट्रै०, पृ० ३०४-५।

सुल्तानों ने भी अपने यहाँ कई महल बनवाए और बहुत सी मस्जिदों का भी निर्माण कराया जो अभी तक वर्तमान हैं। मुगल बादशाहों को वास्तुकला से विशेष प्रेम था। बाबर ने अपने 'मेमायर्स' में लिखा है कि वह, अपने महलों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये, प्रत्येक दिन ६८० आदमियों से काम लेता था और आगरा, सीकरी, धौलपुर, ग्वालियर आदि कई स्थानों के लिये उसने १४९१ संगतराश नियुक्त कर रखे थे। सम्राट् अकबर ने सं० १६२६ मे फतेहपुर सीकरी के निर्माण की नींव डाली थी जिसके 'जामा मस्जिद' एवं 'बुलंद दर्वाजा' वाले भवन अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उसने आगरे मे भी अनेक भवन बनवाए। शाहजहाँ ने इस ओर और भी अधिक प्रयास किया और वह केवल अपने 'ताजमहल' के भी कारण जगत्प्रसिद्ध भवननिर्माता बन गया। उसने, इसके सिवाय, बहुत से अन्य विशाल एवं सुंदर भवनो, मस्जिदों आदि का निर्माण कराया और इस संबंध मे उसने बहुत व्यय भी किया। चित्रकला के प्रति फीरोजशाह को कोई आकर्षण नहीं था, प्रत्युत धार्मिक दृष्टि से वह इसे निषिद्ध तक भी समझा करता था। वह अपने महलो पर किसी प्रकार के भी चित्रों वा दृश्यों तक का निर्माण किया जाना पसंद नहीं करता था। इसके विपरीत मुगल बादशाहों का विचार इससे भिन्न रहा और अकबर के लिये तो अबुलफजल ने यहाँ तक कहा है कि 'वह इस ओर प्रत्येक ढंग का प्रोत्साहन प्रदान करने को तैयार रहता है। सभी चित्रकारों का कार्य प्रति सप्ताह सम्राट् के सामने प्रस्तुत किया जाता है जिसके लिये वह पुरस्कार भी दिया करता है—हिंदुओ द्वारा निर्मित चित्र कल्पना से परे जान पड़ते हैं और संसार भर मे उनकी बराबरी करनेवाला कदाचित् कोई नहीं मिल सकता।'[1] प्रमुख चित्रकारों के लिये यह आदेश था कि वे प्रसिद्ध पुस्तकों, जैसे 'जाफरनामा', 'रामायण', 'नलदमन', 'चंगेजनामा' आदि, को सचित्र रूप प्रदान कर दें। जहाँगीर बादशाह के लिये तो कहा जाता है कि वह स्वयं चित्रकला का एक निपुण समीक्षक भी था जिस बात का उल्लेख उसने अपने 'संस्मरण' (मेमायर्स) मे भी किया है। जहाँगीर के अनंतर वहाँ पर कोई वैसा चित्रों का प्रेमी नहीं हुआ, यद्यपि उस काल के राजपूत राजाओं के यहाँ भी यह कला महत्वपूर्ण मानी जाती थी। चित्रकला संबंधी कलाकारों के 'मुगल कलम', 'राजपूत कलम' एवं 'काँगड़ा कलम' के नाम आज भी बड़ी प्रशंसा के साथ लिए जाते हैं। सं० १४०० से सं० १७०० के बीच संगीत का भी प्रचार कम न था और इसके प्रेमियों मे, बादशाहों, सुल्तानों एवं महाराजाओं से लेकर, अनेक प्रसिद्ध हिंदू महात्माओं तक के नाम लिए जा सकते थे। इसके पूर्व सुल्तान अलाउद्दीन के शासनकाल (सं० १३५३–७३) मे, अमीर

[1] आ०,अक०।मा० १, पृ० १०७।

खुसरो (मृ० सं० १३८२) द्वारा, संगीतविद्या के प्रदर्शन में, गोपाल नायक का हरा दिया जाना कहा जाता है, जब यह दक्षिण के यादव राजाओं की पराजय के अनंतर, उधर से दिल्ली लाया गया था। अमीर खुसरो को ही सर्वप्रथम श्रेय इस बात के लिये भी दिया जाता है कि उसने ईरानी एवं भारतीय संगीत पद्धतियों के संमिश्रण की ओर ध्यान दिया तथा इन दोनों प्रणालियों के विशिष्ट स्वरों के उपयुक्त 'सितार' नामक एक नवीन वाद्ययंत्र का आविष्कार भी किया। कहते हैं कि इस्लाम धर्म के अनुसार कभी संगीत को प्रश्रय वा प्रोत्साहन प्रदान करना उचित नहीं समझा जाता था, किंतु उसके अनुयायी किन्हीं शासकों ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत इस कला ने उनके दर्बारों में बहुधा आश्रय तक ग्रहण किया। राजधानी दिल्ली से कुछ दूरवाले राजाओं और नवाबों के यहाँ तो इसे बराबर प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिये चित्तौर के राणा कुंभा (सं० १४९०-१५२५) ने 'संगीतराज' जैसे बृहत् ग्रंथ की रचना तक कर डाली और जौनपुर के नवाब हुसेन शाह शर्की (सं० १४९५--१५३६) ने 'ख्याल' नामक संगीतप्रणाली का प्रवर्तन किया जिससे इन दोनों के संगीतशास्त्र के ऊपर न्यूनाधिक अधिकार होने का भी प्रमाण मिलता है। इस प्रकार की परंपरा बहुत दिनों पीछे तक भी चलती रही जिसके अनुसार कहा जाता है कि ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (सं० १५४३-७५) ने ध्रुपद का आविष्कार किया तथा उनके आश्रित प्रसिद्ध गायक बैजू बावरा ने, गुजरात के संगीतप्रेमी नवाब बहादुरशाह (सं० १५७३-९३) के यहाँ जाकर, 'बहादुरी टोड़ी' प्रसिद्ध की जिसके कारण उस शासक का भी नाम हो गया। प्रसिद्ध है कि इसी युग के भीतर गोपाल टिप्पा भूपाल (सं० १४८०-१५०३) नामक एक संगीतज्ञ ने 'ताल दीपिका' की रचना की थी। इधर सम्राट् अकबर के शासनकाल (सं० १६१३-६२) में संगीतकला का और भी अधिक प्रचार हुआ जबकि उक्त बैजू बावरा के अनंतर उसके दर्बारी प्रसिद्ध मियाँ तानसेन (मृ० सं० १६५२) का नाम सर्वत्र प्रचलित हो चला और इसे उसके विख्यात 'नवरत्नों' में भी उच्च स्थान मिला। ये मियाँ तानसेन स्वामी हरिदास के सुयोग्य शिष्य थे और इन्होंने अकबर के दर्बार में निरंतर ३२ वर्षों तक रहकर उसे अलंकृत किया था। जहाँगीर एवं शाहजहाँ ने भी संगीत के प्रति अपना प्रेम दिखलाया था, किंतु इसके अनंतर औरंगजेब के समय में इसकी अवनति हो गई। शाहजहाँ के समय तकवाले संगीत के विस्तृत प्रचार के ही कारण इस विद्या के साथ साहित्य का भी पूरा मेल बैठ गया था तथा इसका एक परिणाम यह हुआ था कि उक्त युग के अंतर्गत जितनी भी उल्लेखनीय रचनाएँ निर्मित की गईं उनमें प्रायः सर्वत्र इसका प्रयोग, किसी न किसी रूप में, मिला करता है। गेय गीतों की रचना की जाती है, उन्हें विविध रागों में विभक्त किया जाता है तथा संगीतपरक प्रतीकों एवं रूपकों तक से काम लिया जाता है।

———

पंचम अध्याय

साहित्यिक परिस्थिति

उपक्रम

सं० १४०० से लेकर सं० १७०० तकवाले युग की साहित्यिक परिस्थिति पर विचार करते समय हमे उसके संबंध मे एक बड़े व्यापक दृष्टिकोण से काम करना पड़ सकता है तथा, इसके लिये, उस काल की विभिन्न प्रचलित साहित्यिक परंपराओं एवं प्रवृत्तियो की ओर ध्यान देना भी पड़ सकता है। इस युग के अंतर्गत पूर्व की ओर बंगाल एवं आसाम से लेकर पश्चिमवाले गुजरात एवं सिंध तक तथा, इसी प्रकार, उत्तर की ओर कश्मीर एवं पंजाब से लेकर दक्षिण-वाले उत्कल एवं महाराष्ट्र तक के विस्तृत क्षेत्र मे, अनेक प्रांतीय भाषाएँ अपने अपने पृथक् साहित्यों के सृजन मे प्रवृत्त होती दीख पड़ने लगती हैं और उनका ऐसा कार्य, हिंदी भाषा के प्रायः समानांतर चलता भी प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि इन सभी का उद्भव एवं प्रारंभिक विकास, इस काल के कुछ पहले से ही, दृष्टिगोचर होने लगा था, किंतु अभी तक ये बहुत कुछ अपने अपने मूल अपभ्रंश रूपों को भी अपनाती चली आ रही थीं और इसी प्रकार, इनके वर्ण्य विषयों तथा काव्यरूपों एवं रचनाशैलियों की विविध परंपराएँ भी पाई जाती रहीं जिस कारण इनमे किसी प्रकार की स्पष्ट नवीनता के लक्षण अभी तक नहीं दीख पड़ते थे। एक ओर जहाँ तबतक इनके बाह्य रूप नहीं सँवर पाए थे वहाँ दूसरी ओर इन्हे या तो, विशेषकर किन्हीं धर्मों वा संप्रदायो से संबंधित विषयों को ही लेकर चलना पड़ता था अथवा अपने यहाँ के ठेठ जनसामान्यवाले लोक-साहित्य का निर्माण करना पड़ रहा था। हमारे आलोच्य युग के अंतर्गत, समया-नुसार लक्षित होनेवाली प्रवृत्तियों मे, कुछ न कुछ विविधता के भी आने की संभावना बढ़ी जिस कारण इन्होंने अपने अपने को तदनुरूप अधिकाधिक सक्षम सिद्ध करते जाने का अभ्यास बढ़ाया तथा इसके साथ ही, इनमें यथेष्ट निखार भी आने लग गया। इस बात के कतिपय लक्षण सं० १४०० के बहुत पहले से भी दीख पड़ने लगे थे और बौद्ध सिद्धों, जैन मुनियों तथा विशेषकर नाथों एवं कहीं कहीं पर सूफियों के भी द्वारा रचे जानेवाले फुटकल साहित्यों में इस बात के उदाहरणों का प्रचुर मात्रा मे पाया जाना आरंभ हो चुका था। उक्त समय के आस पास इसकी प्रगति मे और भी तीव्रता आ गई तथा इनमें निर्मित साहित्य का रूप क्रमशः

स्पष्टतर होता जाने लगा। इस संबंध मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि साहित्य रचना के लिये हिंदी भाषा को प्रयोग मे लानेवालों की संख्या उन दिनों भी अन्य भाषावालों की अपेक्षा अधिक रही तथा इनके क्षेत्र के उन सभी के मध्य मे पड़ जाने तथा तदनुसार उनके साथ इनके प्रायः संपर्क में आते रहने के भी कारण, इस भाषा की लोकप्रियता को न्यूनाधिक प्रोत्साहन मिलता चला गया जिसके फलस्वरूप, कभी कभी उन लोगो ने भी इसे अपनाना उचित समझा।

परंतु जहाँ तक पता है, अभी संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी पुरानी भाषाओं मे भी साहित्यरचना का क्रम कहीं न कहीं पूर्ववत् चलता आ रहा था और वह फिर कुछ दिनों तक उसके आगे भी दीखता आया। कम से कम संस्कृत भाषा मे किए जानेवाले ऐसे प्रयोगों की परंपरा तो अभी आज तक भी सर्वथा लुप्त नहीं हो पाई है और न इसकी वैसी कोई संभावना ही दीख पड़ती है। संस्कृत उन सभी से अधिक पुरानी थी क्योंकि उसका क्रमिक विकास प्राचीन वैदिक वाङ्मय मे सुरक्षित भाषा से हुआ था तथा उसकी साहित्यिक परंपरा का मूल स्रोत भी वैदिक युगीन आर्य संस्कृति के ही द्वारा प्रभावित ठहराया जा सकता था। परंतु उसके प्रयोगों मे, समय के साथ साथ, इतनी व्यापकता आती गई थी कि पीछे, मातृभाषा के रूप मे अपनाई न जाती हुई भी, वह लोकप्रिय बनी रहती आई थी। जिन अन्य साहित्यिक परंपराओंवाले लोगों ने वैदिक समाज की अनेक मान्यताओं का विरोध खुलकर किया उन्होंने भी इसे अपना माध्यम बनाते समय किसी प्रकार की हिचक का अनुभव नहीं किया, अपितु इससे अपने सांप्रदायिक साहित्य के सृजन मे भी पूरा काम लिया। इसके सिवाय, जहाँ तक इसकी अपनी साहित्य-रचना-पद्धति के लिये कहा जा सकता है, उसकी प्रचलित विधाओं का भी कुछ कम उपयोग नहीं किया गया। इसके विपरीत हम देखते हैं पालि भाषावाले साहित्य का क्षेत्र प्रायः बौद्धधर्म संबंधी बातो तक ही सीमित रह गया तथा इसी प्रकार, अधिकतर जैन धर्म के अनुयायियों द्वारा अपनाई गई प्राकृत भाषावाले साहित्य में भी यथेष्ट विषयवैविध्य नहीं आ पाया। पालि एवं प्राकृत भाषाएँ, अपने अपने समयवाले जनसामान्य की बोलियों के रूपों मे भी प्रचलित रहीं जिस कारण उनमे की गई अभिव्यक्ति का सब के लिये बोधगम्य होना स्वाभाविक था जो बात उसी प्रकार, संस्कृत जैसी, केवल शिक्षितों की ही भाषा के लिये भी, नहीं कही जा सकती थी। परंतु पालि भाषा को जहाँ, भारत के अंतर्गत बौद्ध धर्म मे ह्रास आ जाने के कारण, अपने सुरक्षित साहित्य के साथ श्रीलंका, बर्मा एवं स्याम जैसे देशों मे प्रवास करना पड़ गया और इसके परिणामस्वरूप, यहाँ उसका प्रयोग में आना बंद हो जाने पर, उसकी साहित्यरचना मे कोई प्रगति न हो सकी वहाँ प्राकृत भाषा मे भी

सर्वत्र एकरूपता नहीं बनी रह सकी। एक विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होते आने के कारण, समय पाकर, इसके अंतर्गत अनेक अवांतर भेदों की सृष्टि होती चली गई। फलतः भिन्न भिन्न अवस्थाओं के अनुसार, इसके विभिन्न रूपों का विकास होने लगा जो पीछे अपभ्रंश भाषा के प्रचार मे आ जाने पर, क्रमशः उन अनेक प्रांतीय भाषाओं मे परिणत होते चले गए जिनकी चर्चा, कम से कम उनके नामोल्लेख द्वारा, इसके पहले ही की जा चुकी है।

प्रमुख साहित्यिक परंपराएँ

संस्कृत साहित्य—संस्कृत उन दिनों प्रधानतः शिक्षितों की ही भाषा रह गई थी जिस कारण यह स्वाभाविक था कि उसके माध्यम द्वारा अधिकतर ऐसे साहित्य का ही सृजन किया जाता जिससे या तो उच्च वर्गों का समाज लाभ उठा सके अथवा जिसका संबंध केवल धार्मिक विषयों के साथ हो। इसलिये हम देखते हैं कि उक्त समय तक, एक ओर जहाँ इसने बृहत् साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक काव्यों का निर्माण किया जाता है तथा विभिन्न पौराणिक रूपकों एवं चंपुओं की रचना होती है वहाँ दूसरी ओर इसमे, प्रायः धार्मिक ग्रंथ ही लिखे जाते हैं अथवा विविध निबंध प्रस्तुत किए जाते हैं, ऐसे साहित्य के रचयिताओं मे भी स्वभावतः पंडित-समाज की ही प्रधानता रहा करती है जिनमें कभी कभी एकाध राजपुरुष भी आ जाया करते हैं। जहाँ कहीं गद्यकाव्य के उदाहरण मिलते हैं अथवा जहाँ पर शृंगारिक विषयों का समावेश पाया जाता है वहाँ पर भी बहुधा पूर्वागत परंपरा का ही प्रभाव देखने को मिलता है और यदि कभी इसके एकाध अपवाद भी आ जाते हैं तो उनका आगे उतना अनुकरण नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये कवि कल्हण द्वारा लिखी गई 'राजतरंगिणी' का आदर्श इतिहासलेखन की दृष्टि से सर्वथा अनुकरणीय रहा करता है, किंतु जोगराज और उसके शिष्य श्रीवर के अतिरिक्त अन्य कोई कवि कदाचित् उसे उतना महत्व प्रदान करता नहीं दीख पड़ता। कवि श्रीवर तो अपनी 'कथाकौतुक' नामक रचना के अंतर्गत, फारसी के कवि जामी की प्रसिद्ध रचना 'यूसुफ व जुलेखा' वाले अभारतीय विषय को अपना लेता है, किंतु उसका अपना शैव संप्रदाय भी वहाँ पर पूरा काम करता जान पड़ता है जिस कारण उक्त काव्यग्रंथ का विशुद्ध कथापरक रूप बराबर कायम नहीं रह पाता। इस काव्यवाले अंतिम सर्ग के लिये तो कहा जाता है कि वह समूचा केवल भगवान् शिव की प्रशंसा मे ही लिखा गया है।[1] उस कालवाले संस्कृत साहित्य की एक अन्य विशेषता उसके

[1] हि डे० सं०, पृ० ४६६।

द्वारा अपनाई गई शास्त्रीय विवेचना की पद्धति मे भी दीख पड़ती है जो यहाँ पर कम उल्लेखनीय नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि, संस्कृत साहित्य की ऐसी प्रचलित परंपराओं द्वारा हमारे आलोच्य युगवाले निर्गुण भक्ति काव्य को कदाचित् कोई भी अनुकूल प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई होगी, प्रत्युत उसका बहुत कुछ अंश इनकी प्रतिक्रिया के रूप मे भी निर्मित किया गया होगा।

प्राकृत साहित्य—परंतु ठीक यही बात हम उक्त काल के पहले तक रचे गए प्राकृत साहित्य के विषय मे नहीं कह सकते। इस भाषा के संबंध मे कहा जाता है कि इसका प्रयोग न केवल साहित्यरचना के लिये किया जाता रहा, अपितु यह प्रायः बोलचाल मे भी प्रयुक्त होती रही तथा, यद्यपि इसे जैन धर्म के अनुयायियों ने अपने धार्मिक ग्रंथों का निर्माण करते समय भी अपनाया था, इसके माध्यम द्वारा सर्वसाधारण के लिये उपयुक्त साहित्य भी प्रस्तुत किया जाता आ रहा था। प्राकृत-साहित्य का बहुत कुछ अंश अपने समकालीन संस्कृत वाङ्मय के आदर्श पर भी निर्मित हुआ, किंतु इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी रहती आईं। इसमे रचे गए कथासाहित्य एवं गाथासाहित्य, इस संबंध मे, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं 'जिनमे से प्रथम के द्वारा जहाँ साधारण कहानियों के माध्यम से धार्मिक बातो के प्रचार मे सहायता लेने की नवीन पद्धति का सूत्रपात किया गया वहाँ, द्वितीय के सहारे, छोटी छोटी 'गाथाओं' जैसे मुक्तको के माध्यम द्वारा विभिन्न सूक्तियो की सृष्टि भी की जाने लगी। प्राकृत भाषा मे रचे गए जैनो के आगम साहित्य तथा उसकी व्याख्यादि मे निर्मित किए गए विविध शास्त्रीय वाङ्मय अथवा साधारण काव्य एवं चरितसाहित्यों तक मे हमे अधिकतर संस्कृत साहित्य की रचनाप्रणाली का ही अनुसरण किया गया जान पड़ता है, किंतु जहाँ तक इसकी उक्त दो विधाओं के लिये कहा जा सकता है, इसकी सृजनपरंपरा, कदाचित् कुछ दृष्टियो से नितांत विलक्षण भी मानी जा सकती थी जिसका न्यूनाधिक प्रभाव आगे भी पड़े बिना नहीं रह सका। कहते हैं कि इस प्रकार की रचनाओं की संस्कृत की रचनाशैली, उस प्रचलित पौराणिक पद्धति के बदले मे अपनाई जाने लगी थी जिसके अनुसार वहाँ पर विविध कल्पित एवं अतिरंजित विषयो का समावेश होता आ रहा था तथा जिसमे इसी कारण बहुधा अविश्वस-नीयता भी आ जाती रही। प्राकृत मे लिखनेवाले जैनधर्मी कथाकारो ने उसके स्थान पर कभी कभी ऐसे शृंगारपरक प्रेमाख्यानों का भी सृजन आरंभ कर दिया था जो प्रत्यक्षतः उनके वैराग्यप्रधान उद्देश्य के प्रतिकूल जाते जान पड़ते थे, किंतु जिनका फिर भी अपना पृथक् महत्व रहा। इनके द्वारा धार्मिक बातों की ओर वे लोग भी सरलता-पूर्वक आकृष्ट कर लिए जा सकते थे जिनकी प्रवृत्ति प्रायः कामकथाओं के प्रति उन्मुख रहा करती थी तथा जो इसी कारण ऐसे माध्यमों द्वारा उन्हें अपनाते समय अपने सर्वथा अनुकूल मार्ग का ही अनुसरण करना समझ ले सकते थे। ऐसे ही प्रसंग में

'वसुदेव हिंडी' के रचयिता ने भी उसके एक स्थल पर इस प्रकार कहा था, 'अमृत औषध को पीने की इच्छा न करनेवाले किसी रोगी को जैसे कोई वैद्य मनोभिलषित वस्तु देने के बहाने उसे अपनी औषध भी दे देता है, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय कामकथा का श्रवण करने मे संलग्न है उन्हें शृंगारकथा के बहाने, मैं अपनी इस धर्मकथा का श्रवण करा रहा हूँ।'[1] कहना न होगा कि, इस प्रकार की मनोवृत्ति के आधार पर चलाई गई प्राकृत की उक्त परंपरा हमारे आलोच्य युग के अंतर्गत बहुत कुछ उन सूफी कवियों के लिये भी प्रेरणादायक सिद्ध हुई जिन्होंने यहाँ अपने प्रेमाख्यानों की रचना फारसीवाली मसनवियों के आदर्श पर आरंभ की थी। इसके सिवाय जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं, प्राकृत भाषा के कवियों द्वारा प्रयोग में लाए जानेवाले उपर्युक्त मुक्तक छंदों के अनुकरण मे ही आगे कदाचित् उन अनेक सूक्तियों के सृजन की भी परंपरा चल निकली होगी जिनसे मिलते जुलते विविध उदाहरण हमें हिंदीवाले संतों की 'साखियों' तथा कभी कभी वैसे सूफियों के विभिन्न उपलब्ध 'दूहों' आदि मे भी मिल जाया करते हैं।

अपभ्रंश साहित्य--प्राकृत साहित्य के अनंतर प्रचलित हुए अपभ्रंश-साहित्य की परंपरा मे उपर्युक्त बाते और भी स्पष्टतर होती चली गईं। इसकी उपलब्ध प्रारंभिक रचनाओं मे हमे एक ओर जहाँ जैनधर्मी कवियों द्वारा निर्मित अनेक सुंदर प्रबंध काव्य मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर बहुत से ऐसे बौद्ध धर्मानुयायी सिद्ध कवियो के फुटकल पद्य भी प्राप्त होते हैं जिन्हे 'दोहों' एवं 'चर्यापदों' की सज्ञा दी जाती है। प्रबंध काव्यों के अंतर्गत 'चरिउ', 'पुराण', 'महापुराण' एवं 'कहा' जैसी विभिन्न रचनाएँ आती हैं जिनके माध्यम द्वारा प्रायः सांप्रदायिक बातों की चर्चा की गई रहती है। इनमे से 'चरिउ' एवं 'कहा' कहलानेवाले काव्यग्रंथों मे अधिकतर प्रेमकथाओ का भी समावेश रहा करता है और वे बहुत कुछ उसी ढंग से कही गई भी दीख पड़ती हैं जिस पद्धति का अनुसरण उपयुक्त प्राकृतवाली कथाओं मे किया गया मिलता है। ऐसी रचनाओं मे भी विशेषकर वे 'खंडकाव्य' उल्लेखनीय हैं जो 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित), 'सुदक्षण चरिउ' (सुदर्शन चरित), 'सनत्कुमार चरित', 'करकंड चरिउ', 'पउमासिरी चरिउ' (पद्माश्री चरित), 'सुलोचना चरिउ' आदि जैसे नामों द्वारा प्रसिद्ध हैं। इसीप्रकार अपभ्रंशवाले मुक्तक साहित्य के उदाहरण मे जैन कवियो द्वारा रचे गए उन पद्यसंग्रहो के नाम

[1] 'जह णाम कोई वेज्जो आउरं अमय उसह पाण परंमुहं ओसढमिति उव्विलयं मणोभिलखिय पाणवएसेण उसह तं पज्जेति। कामकहारतहितयस्स जणस्स सिंगार कहावसेण धम्मं चेव परिकहेमि।' 'प्रा० सा० इ०, पृ० २६३-४।

लिए जा सकते हैं जो 'परमप्पयासु', 'योगसार' एवं 'पाहुड़ दोहा' जैसे रूपों में अभी तक निकल चुके हैं तथा इस संबंध मे उस 'चूनड़ी' तक का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसके अंतर्गत विविध व्रतों की चर्चा की गई मिलती है। बौद्ध सिद्धों द्वारा रचे गए 'दोहाकोशों' तथा 'चर्यागीतों' मे भी उनके सांप्रदायिक विचारों का ही वर्णन वा विवेचन किया गया मिलता है तथा इनके अंतर्गत भी प्रायः ठीक वही कथनशैली अपनाई गई जान पड़ती है जिसका प्रयोग आगे निर्गुण भक्तिकाव्य मे किया गया। उपर्युक्त जैनों तथा बौद्ध सिद्धों के 'दोहा' कहे जानेवाले पद्य जहाँ संतों के यहाँ अपने ढंग से, इनकी 'साखियों' का रूप ग्रहण कर लेते है वहाँ उक्त 'चर्यागीतों' को हम यहाँ पर इनकी 'बानियों' अथवा 'सबदों' मे पा लेते हैं। इसी प्रकार उन दिनों प्रचलित अनेक फुटकल लोकगीतों तक की परंपराएँ जैसे 'चर्चरी', 'फाग' 'बारहमासा', 'कक्का' आदि आगे निर्गुनी कवियों द्वारा अपनाई जाती हैं तथा, विशेषकर प्रेमाख्यानों के अंतर्गत उस वर्णनशैली का भी प्रयोग किया जाने लगता है जो हमे अपभ्रंशवाले 'संदेशरासक' नामक लौकिक खंडकाव्य में देखने को मिलता है। जहाँ तक धार्मिक प्रेमाख्यानों के आधार पर प्रेमतत्व के प्रतिपादन की बात है वह जैन धर्मानुयायी कवियों द्वारा, उतने प्रत्यक्ष रूप मे सामने नहीं लाया जाता और न वस्तुतः उसे यहाँ पर उतना महत्व ही प्रदान किया जाता है प्रत्युत उसका अंत, प्रायः प्रेमियों को वैराग्य या शील की सीमा तक पहुँचाकर, कर दिया जाता है जहाँ सूफी कवियों के लिये वही सब कुछ रहा करता है और उसे वे अपने अभीष्ट आदर्श तक के रूप मे देखा करते हैं। अतएवं, जैन कथाकार जहाँ अपनी प्रेमकहानी को उसके नायक नायिका की ओर से नैतिक व्रतों का अनुष्ठान मात्र कराकर भी, समाप्त कर देना चाहते हैं वहाँ सूफी कवि प्रेम का आदर्श, इतने विलक्षण रूप में चित्रित कर देना चाहते हैं कि उसकी वास्तविक उपलब्धि नितात असंभव सी बन जाती है।

अपभ्रंश साहित्य की रचना का आरंभ, स्पष्ट रूप में, संभवत सातवीं विक्रमी शताब्दी के कहीं आसपास, हुआ था और इसी प्रकार उसकी अभिवृद्धि भी निरंतर उसकी ग्यारहवीं या बारहवीं शती तक होती आई तथा हिंदीवाले क्षेत्र में, उसके माध्यम का अंतिम रूप उस काल की राजस्थानी से अधिक भिन्न नहीं था, इसके सिवाय, उस विस्तृत भूखंड के अंतर्गत, उसके कुछ अन्य रूप भी क्रमशः विकसित होते जा रहे थे जिनमे, समय समय पर, कतिपय छोटी बड़ी रचनाओं का निर्माण किया गया जिनमे से इस समय तक बहुत अल्पसंख्या में ही उपलब्ध हो सकी हैं। इस प्रकार के साहित्य मे हम गुरु गोरखनाथ जैसे कई नाथ कवियों की उन 'बानियों' वा 'सबदियों' आदि की भी गणना

कर सकते हैं जिनके वर्णविपर्यय का अधिकांश हमारे आलोच्य कालवाले संत साहित्य में पाया जाता है तथा जिनकी रचनाशैली तक मे इसके साथ अपूर्व समानता दीख पड़ती है। इन दोनों के बीच एक प्रमुख अंतर केवल इस बात मे ही दीख पड़ता है कि नाथ कवि जहाँ योगप्रधान साधना को विशेष महत्व प्रदान करता जान पड़ता है और उसकी अधिक रुझान जहाँ विरक्तिपरक निवृत्ति मार्ग की ओर लक्षित होती है वहाँ किसी संत कवि के लिये भक्ति साधना का स्थान अत्यंत ऊँचा है तथा, इसके साथ ही, यह प्रवृत्तिमार्गी जीवन को भी, अपने सर्वथा अनुकूल वातावरण के रूप मे स्वीकार कर लेना चाहता है। नाथ कवियों द्वारा प्रयोग मे लाई जानेवाली उपर्युक्त 'पुरानी हिंदी के साहित्य की परंपरा, इस प्रकार वैसी अपभ्रंश की साहित्यिक परंपरा से तत्वतः भिन्न नहीं ठहराई जा सकती जिसके अनुसार जैनधर्मी कवि अपनी ओर से त्याग, वैराग्य, सदाचारादि को प्रश्रय देता आया था। परंतु इसके लिये उसने कदाचित् कभी उस पौराणिक वा कथात्मक साहित्य की रचनापद्धति को भी नहीं अपनाया जिसे इसने अपने मत का व्यापक प्रचार करते समय, विशेष उपयोगी समझा था तथा जिसकी ओर आकृष्ट रहने के कारण इसने अनेक प्रबंध काव्य भी रच डाले थे। वास्तव में नाथ कवियों ने, अपनी मुक्तक रचनाओं का निर्माण करते समय, अधिकतर बौद्ध सिद्ध कवियों का अनुसरण किया जहाँ हमारे आलोच्य कालवाले हिंदी के सूफी कवियों ने, अपने प्रेमाख्यानो की रचना करते समय, संभवतः प्राकृत एवं अपभ्रंशवाले जैन कवियों से प्रेरणा ग्रहण की।

अरबी साहित्य—संस्कृत, पालि, प्राकृत, एवं अपभ्रंश भारतीय भाषाएँ थीं तथा इन सभी की साहित्यिक परंपराओं का मूलतः भारतीय समाज एवं संस्कृति के द्वारा प्रभावित होना स्वभावतः अनिवार्य समझा जा सकता था। परंतु यही बात हम उन अरबी एवं फारसी जैसी भाषाओं के संबंध मे भी नहीं कह सकते जो विभिन्न व्यापारियो वा धर्मप्रचारकों के सहारे अथवा मुस्लिम आक्रमणकारियों के साथ यहाँ पर प्रचलित हुईं तथा जिनमे किसी न किसी समय विविध साहित्यों की रचना भी होती चली आई। इन दोनों भाषाओ मे से प्रथम, अर्थात् अरबी, इस्लाम धर्म के मान्य ग्रंथ 'कुरान शरीफ' की भी भाषा थी जिस कारण यह कुछ विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती थी तथा इसका प्रयोग भी अधिकतर उन उलेमाओं वा धर्मगुरुओं ने ही किया जो यहाँ मुस्लिम देशों से आकर बस गए थे। वे मानों वैसे देशों से सीधे चले आए थे अथवा, कम से कम, उनके पूर्वपुरुषों का संबंध उन क्षेत्रोंवाले किन्हीं प्रसिद्ध मुस्लिम वंशों के साथ जुड़ा रह चुका था। ठेठ भारतीय अथवा धर्मांतरित मुस्लिम लेखको वा कवियों मे से ऐसे लोगों की सख्या बहुत कम कही जा सकती थी जिन्होंने अरबी ग्रंथों

का निर्माण किया। इस कारण, इसमें संदेह नहीं कि उनके द्वारा अपनाई गई साहित्यिक परंपरा भी बराबर मूल अरबी अथवा इस्लामी ही रहती चली आई। इसके सिवाय, अरबी यहाँ पर कभी सर्वसाधारण की भाषा नहीं बन पाई और बहुधा शिक्षित समुदायों द्वारा ही प्रयोग मे लाई जाने के कारण, इसके नवनिर्मित साहित्य मे भी सदा उन विशिष्ट रूढ़ियों की ही प्रधानता बनी रह गई जिन्होंने कभी मुस्लिम देशों· वाली मुस्लिम संस्कृति के परिणामस्वरूप, वहाँ पर बहुत पहले से ही अपना स्थान ग्रहण कर लिया था। जिन ऐसी रचनाओं का वर्ण्य विषय विशुद्ध धार्मिक रहा करता था उनकी तो बात ही कुछ और थी, उनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयोंवाले वाङ्मय के अंतर्गत भी हमे प्रायः वैसे ही प्रसंग, वातावरण, व्यक्ति एवं दृश्यादि के चित्रण दीख पड़ते हैं तथा उन्हे अधिकतर ऐसी रचनाशैली द्वारा ही प्रस्तुत किया गया मिलता है जिसकी परंपरा इस्लामी देशोंवाली पृष्ठभूमि की उपज कही जा सकती थी और जो इसी कारण यहाँ के लिये नितांत नवीन भी ठहराई जा सकती थी। अतएव, इस प्रकार के ग्रंथ-प्रणेताओं मे से चाहे वे सिराजुद्दीन उमर बिन इसराक अल हिंदी (मृ० सं० १४२६) और अमीर सैयदअली बिन शिराबुद्दीन बिन मुहम्मद (मृ० सं० १४४१) जैसे धर्मशास्त्री भाष्यकार थे अथवा सैयद यूसुफ हुसेनी 'गेसूदराज' (मृ० सं० १४७६) और जैनुद्दीन अबू यूसुफ बिन अली बिन अहमद अल मावरी (मृ० स० १५७८) जैसे सूफीमत के वेत्ता व प्रचारक भी रहे, इन सभी लोगों ने उक्त पूर्वागत परंपरा का ही निर्वाह करना अपने लिये उचित समझा तथा तदनुसार निर्मित की गई विभिन्न कृतियाँ हमे बराबर दीखती चली आईं और इसका बहुत कुछ प्रभाव आगे दक्खिनी हिंदी के माध्यम द्वारा प्रस्तुत की गई अनेक सूफी रचनाओं पर भी बिना पड़े नहीं रह सकता।

फारसी साहित्य—फारसी भाषा भी यहाँ पर बाहर से आनेवाले मुस्लिम पर्यटकों अथवा आक्रमणकारियों के ही साथ किसी प्रकार पहुँची थी, किंतु इसकी साहित्यिक परंपरा मूलतः ठीक उसी प्रकार की नहीं रही जैसी अरबी की रह चुकी थी। इसका पुराना संबंध ईरान देश के साथ रहा जहाँ पर इसके प्राचीन साहित्य का निर्माण अपने निजी ढंग से हो चुका था। अरब एवं ईराक जैसे देशों की ओर से आनेवाले मुस्लिम धर्मानुयायियों द्वारा पीछे विजित होकर धर्मांतरित कर दिए जाने पर जब वहाँ के निवासियो के जीवन मे विशिष्ट परिवर्तन आ गया तो उनके समाज एवं साहित्य पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि एक ओर जहाँ इनके साहित्य के अंतर्गत इस्लामधर्म विषयक बातों का क्रमशः अधिकाधिक समावेश होता गया वहाँ दूसरी ओर उसपर अरबी साहित्य-वाली कतिपय विशेषताओं का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। फिर भी ईरानी समाज मे इस्लामधर्मवाले वैसे प्रमुख तत्वों को ही विशेष प्रश्रय मिल सका जो

ईरानी संस्कृति के अधिक अनुकूल पड़े। इस कारण यहाँ की नवनिर्मित अथवा किंचित् परिवर्तित साहित्यिक परंपरा मे भी तदनुसार भिन्नता आ गई। ईरान के निवासियों द्वारा शिया शाखा को विशेष मान्यता प्रदान की जाने तथा सूफीमत को अधिक महत्व की दृष्टि से देखे जाने के कारण, फारसी साहित्य उन अनेक विषयों तथा रचनाशैलियों को ही अपनाने की ओर अग्रसर हुआ जो उस विचार से अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकते थे तथा अंत मे वैसे ही आदर्शों को लेकर प्रस्तुत किए गए उक्त वाङ्मय के साथ मुसलमानो का इस देश मे प्रवेश हुआ और उसकी साहित्यिक परंपरा के प्रचार का आरंभ भी हुआ। मुस्लिम शासकों एवं सुल्तानों का संरक्षण पाकर इसके रचयिताओं को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस कारण न केवल इसमे समृद्धि होती गई, अपितु इसकी लोकप्रियता ने अनेक वैसे साहित्यकारों को भी आकृष्ट किया जो मुस्लिम धर्म के अनुयायी नहीं कहला सकते थे। अरबी साहित्य की अपेक्षा इसकी एक विशेषता इस बात मे देखी गई कि इसके निर्माण मे, यहाँ के निवासियों ने भी अधिक सहयोग किया तथा इसमे उन अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवाद भी करा दिया गया जिन्हे बड़ा गौरव दिया जाता था।

हमारे आलोच्य काल (सं० १४००-१७००) के पहले काव्यरचना करनेवालों मे सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम अमीर खुसरो (मृ० सं० १३८२) का आता है जिसके लिये कहा जाता है कि उसने फारसी साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना बहुत बड़ा सहयोग दिया। उसके फारसी भाषा मे इतिहास एवं अन्य विषयो के अतिरिक्त सूफी मत सबंधी काव्यग्रंथों का भी निर्माण किया जिनमे से कुछ प्रेमाख्यान भी थे। इस कवि की एक विशेषता यह भी बतलाई जाती है कि इसने अपनी रचनाओं के अंतर्गत प्रायः भारतीय बातों को भी स्थान देना उचित समझा, जिसका अनुसरण कदाचित् बिरले फारसी कवियो द्वारा किया जा सका। सूफी सिद्धांत एवं साधना का विषय लेकर खुसरो के समसामयिक ख्वाजा नजमुद्दीन हसन (मृ० सं० १३८३) ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'फुवायदुल फुआद' की रचना की जो सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का दर्बारी कवि भी रहा तथा सर्फुद्दीन बू अली कलंदर (मृ० सं० १३८१) आदि ने भी ऐसा ही किया। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में हम शेख सर्फुद्दीन अहमद 'मनेरी' (मृ० सं० १४१८) एवं 'अब्दुल कुद्दूस गंगोही (मृ० सं० १५९४) को भी ले सकते हैं जिन्होंने इस प्रकार के साहित्य की रचना के साथ वैसे कतिपय हिंदी मुक्तकों का भी निर्माण किया। विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी मे महमूद नक्शबंदी शेर खाँ 'मसूद'[1] (मृ० सं० १४५५) ने अपनी मसनवी 'यूसुफ व जुलेखा' नाम से

[1] 'मसूद' नाम का एक अन्य फारसी का कवि भी, इसके पहले महमूद गजनी के शासनकाल में हो चुका था जिसके क्रमशः अरबी, फारसी एवं हिंदवी मे लिखे, तीन दीवानों की

प्रसिद्ध कवि जामी के अनुकरण में लिखी थी और इसी प्रकार उसके अनंतर शेख जमाली कंबोह ने भी अपनी रचना 'मेहर व माह' का निर्माण किया था। सम्राट् अकबर के दर्बारी कवि (सं० १६०४–५२) ने तो प्रसिद्ध नल एवं दमयंती-वाली कथा का आधार लेकर अपनी मसनवी 'नलदमन' की रचना की जिसके विषय में मुल्ला बदायूनी (सं० १५९७-१६५३) का कहना था कि ऐसी कोई मसनवी 'खुसरोशीरीं' के बाद यहाँ इन तीन सौ वर्षों में नहीं लिखी गई होगी। कहते हैं कि कविराज फैजी को भी भारतीयता के साथ लगभग उसी प्रकार का प्रेम था जैसा, उसके पहले अमीर खुसरो को रह चुका था। अतएव इस प्रकार का कथन भी कदाचित् सत्य के निकट मान लिया जा सकता है कि अरबीवाली साहित्यिक परंपरा की अपेक्षा फारसी की साहित्यिक परंपरा इस देश के कुछ अधिक अनुकूल थी और, इसी कारण, यहाँ के साहित्य पर इसका प्रभाव भी कम नहीं पड़ा।

कतिपय साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

(१) लोकचेतना का जागरण—निर्गुण काव्यधारावाले साहित्य के प्रारंभिक विकास का अध्ययन करते समय हमें ऐसा लगता है कि इसे प्रगति प्रदान करने में सर्वप्रमुख हाथ, कदाचित्, लोकचेतना के जागरण का ही रहा होगा। इस प्रकार की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संकेत संभवतः उस युग में ही मिल चुका था जबकि तीर्थंकर महावीर एवं गौतमबुद्ध ने, अपने अपने मतों का प्रचार करते समय, उसके लिये अपने समकालीन सर्वसाधारण को संबोधित किया था तथा जब इसी कारण अपनी बातें, सबके लिये बोधगम्य भाषा में ही, प्रकट की थीं। फिर इसे आगे, अधिकाधिक बल, क्रमशः उस काल से भी, मिलता गया जब से यहाँ पर, विक्रमीय शताब्दी के बहुत पहले से ही, विदेशी जातिवालों का आगमन आरंभ हुआ तथा जब से उनके संपर्क में आते जाने के कारण, इस देश के निवासियों में, अपनी स्थिति पर बार बार विचार करते रहने एवं तदनुसार उसे भरसक सँभालने का भी अभ्यास बढ़ने लगा। तीर्थंकर महावीर एवं गौतमबुद्ध का उद्देश्य मूलतः आध्यात्मिक था तथा वस्तुतः प्रत्येक के लिये व्यक्तिगत उत्कर्ष के ही निमित्त, उन्होंने विशेष ध्यान भी दिया था। परंतु उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए आदर्शों के स्वरूप का क्रमिक विकास इस प्रकार होता गया जिससे सामूहिक सुख एवं कल्याण का महत्व भी निरंतर उभरता आया और बौद्धधर्म के महायान संप्रदायवाले 'सर्वजनहिताय' संबंधी आदर्श

चर्चा अमीर खुसरो ने की है। इसका पूरा नाम मुहम्मद सलनान था और उसकी प्रतिभा की प्रशंसा बहुत से लेखकों ने की है। (दे० प्रीमु० प० हि०, पृ० १६६-२१३।)

तथा तदनुसार सब किसी की आत्मोन्नति के उद्देश्य से की गई नैतिक उत्थान की योजना के फलस्वरूप, इसे प्रोत्साहन प्राप्त करने का एक अच्छा अवसर मिल गया। इसी प्रकार बाहरी आक्रमणों के समय भी वास्तव में यहाँ के कतिपय राजाओं अथवा राजवंशों ने ही उनका विरोध किया, किंतु वैसे संघर्षों का एक परिणाम ऐसी धारणा के बनते जाने मे भी लक्षित हुआ कि हमारी अपनी दुर्बलता किस प्रकार दूर की जानी चाहिए तथा, विशेषकर मुस्लिम लोगों की ओर से किए गए आक्रमणों ने तो यहाँ की जनता को इतना अधिक झकझोर डाला कि उससे बाध्य होकर इसने अपने संरक्षण के लिये, किसी न किसी आराध्यदेव की शरण के प्रति उन्मुख होना ही परम श्रेयस्कर समझ लिया। इसके द्वारा एक ऐसे भक्ति आंदोलन का आश्रय लिया गया जिसके नाते एक ओर जहाँ इसे अपने समष्टि रूप का बोध हो सकता था वहाँ दूसरी ओर उसके नैतिक आदर्शों का अनुगमन करके किसी एक आदर्श समाज की बुनियाद भी डाली जा सकती थी। बौद्धों का प्राचीन पालि साहित्य एवं जैनियों द्वारा निर्मित प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, इन तीनों के सदाचार-परक अंश, हमारे जीवनादर्शों के अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत बन चुके थे जिससे लाभ उठाना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का कर्तव्य समझा जा सकता था। निर्गुण धारा-वाले विभिन्न साहित्यकारों ने इस बात की ओर किसी न किसी रूप में, सब किसी का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की।

(२) लोकभाषा का महत्व—संस्कृत एवं फारसी जैसी, शिक्षितो द्वारा प्रयोग मे लाई जानेवाली, भाषाओ की अपेक्षा प्रचलित लोकभाषाओ को ही अपनाने की प्रवृत्ति भी उपर्युक्त समय तक, बड़े वेग के साथ काम करने लगी थी जिसका एक प्रमुख कारण यह था कि तब तक जागृत हो गई लोकचेतना समाज के साधारण से साधारण व्यक्तियों को भी, अपने हृदयगत भावों के प्रकाशन में, प्रोत्सा-हित कर सकती थी और वे, बहुधा निरक्षर होते हुए भी, उन्हे, कम से कम मौखिक रूपों मे भी, प्रकट कर सकते थे। अशिक्षित रहने के कारण ऐसे लोग स्वभावतः उन विशिष्ट नियमों से सर्वथा अपरिचित रहा करते थे जिनका पालन प्रसिद्ध साहित्यकारो द्वारा किया जाता आ रहा था तथा, इस दृष्टि से, उनकी रचनाएँ प्रायः अनेक भूलों से भरी भी रहा करती थीं। परंतु, वर्ण्य विषयों के उच्चस्तरीय रहने पर, ये अपने विकृत रूपों में भी अपनाई जाया करती थीं और इन्हे प्रायः लिखित रूप भी दे दिया जाता रहा। इस प्रकार की प्रवृत्ति की अपनी एक परपरा भी प्रचलित रहती आई थी जिसका आरंभ, गौतमबुद्ध एवं महावीर के ही समय से हो चुका था। यह उसी का प्रभाव था जिसके परिणामस्वरूप पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी बोलचाल की जनभाषाओं तक मे साहित्य का निर्माण होता आया तथा उसका प्रचार क्रमशः बढ़ता ही चला जा रहा था। हमारे

आलोच्य काल के पहले तक यह पद्धति इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी कि न केवल अशिक्षित अपितु शिक्षित वर्गवाले साहित्याकार भी, इसे काम मे लाने लगे थे तथा कभी कभी तो ऐसा करना वे अपने लिये बहुत आवश्यक तक भी मान लिया करते थे। ऐसे लोगों का कहना यह था कि लोकभाषा के प्रयोग का चाहे कोई कितना भी तिरस्कार करना चाहे, उसके लिये ऐसा करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। तदनुसार, विभिन्न प्रांतीय भाषाओं मे, साहित्यरचना का आरंभ हो जाने तक, इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ पढ़ने को मिलती हैं जिनमे महान् पंडित कवियों तक ने भी अपने भाव उक्त प्रकार से व्यक्त किए हैं। वे प्रायः स्पष्ट शब्दों में कह देते थे कि अपने विचारों या भावों की अभिव्यक्ति हम, साधारण भाषा के माध्यम द्वारा, जान बूझकर भी करने जा रहे हैं। इसके सिवाय, जहाँ तक अशिक्षित कोटिवाले पद्यरचयिताओं के लिये कहा जा सकता है, वे कभी कभी इस बात की भी घोषणा कर देने से नहीं चूकते थे कि संस्कृत जैसी भाषा केवल 'कूपजल' के समान है जिसमे उन गुणों का पाया जाना सदा संभव नहीं कहा जा सकता जो, सरिता के जल जैसे नित्य प्रवाहित होनेवाली लोकभाषा के भीतर, स्वभावतः उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार की उक्ति केवल अनपढ़ संत कवियों द्वारा ही नहीं प्रकट की गई, प्रत्युत बहुत से ऐसे सूफी कवियों ने भी इस प्रकार का मिलता जुलता कथन किया जब उन्होंने, प्रायः फारसी अथवा अरबी के जानकार होते हुए भी, ऐसी हिंदवी वा 'हिंदी' को ही अपनाया जो जनसाधारण की भाषा थी।

(३) लौकिक वर्ण्य विषयों की प्रधानता—लोकभाषा के अधिकाधिक होते जानेवाले प्रयोगों के साथ साथ, उसके माध्यम द्वारा किए जानेवाले कथनों मे, लौकिक तत्वों की प्रधानता का समावेश भी उपर्युक्त युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता रही। शिक्षित वर्गों द्वारा रचे गए साहित्य में अधिकतर ऐसी बातों की ही चर्चा रहा करती थी जिनका संबंध या तो शास्त्रीय चिंतन के साथ होता था अथवा जिनमें, शिष्ट एवं सुसंस्कृत समाज के अनुरूप ही, विभिन्न दृश्यों वा घटनाओं का समावेश भी किया गया रहता था। विशेषकर दर्बारी कवियों द्वारा प्रस्तुत किए गए साहित्य में तो कभी कभी इससे विपरीत बातों को 'ग्राम्यदोष' तक भी मान लिया जाता था। इसके सिवाय, महाकाव्यों जैसी रचनाओं का निर्माण करते समय, उनके नायकों का कोई दिव्य पुरुष वा राजपुरुष होना तथा उनके चरित् का वर्णन करते समय, स्वभावतः उनके अलौकिक शील शौर्य का चित्रण कर देना भी आवश्यक समझ लिया जाता था। इस प्रकार की कृतियों मैं जनसाधारण के जीवन अथवा उनके अनुरूप चित्रित किए गए वातावरणादि का उन दिनों प्रायः अभाव ही पाया जाता था। परंतु, लोकचेतना के क्रमशः जाग्रत होते जाने के साथ, उन अनेक बातों को भी न्यूनाधिक महत्व मिलने लगा

जो उक्त प्रकार से, उपेक्षित ठहराई जाती और उन्हें अब से बिना किसी संकोच के, प्रमुख स्थान तक दिया जाने लगा। संयोगवश यह एक ऐसा युग था जब हमारे यहाँ लोकगाथाओं एवं लोकगीतों का भी निर्माण कम नहीं हुआ था और उनके माध्यम से अनेक ऐसी लोकोक्तियों, ऐसे दृष्टांतों, रूपकों, प्रतीकों आदि को भी प्रधानता मिलती गई थी जिनका कुछ न कुछ उपयोग, अन्य प्रकार के साहित्य मे भी, किया जा सकता था। लोकभाषा में रचना प्रस्तुत करनेवाले कवि साधारणतः इन बातों से भी लाभ उठाने लगे जिससे उनकी कृतियों की रोचकता बढ़ने लगी। इस संबंध मे यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिन संतों एवं सूफियों ने ऐसे वातावरणों मे अपनी बानियों का निर्माण किया उनका वास्तविक उद्देश्य बराबर इस प्रकार का ही रहा करता था कि हमें अपनी धार्मिक वा आध्यात्मिक अनुभूतियों का संदेश सर्वसाधारण तक पहुँचाना है तथा उसे इतना बोधगम्य एवं आकर्षक बना देना है कि वह उन्हें भली भाँति प्रभावित कर सके। ये लोग अधिकतर वैसे समाज के सदस्य स्वयं भी रहा करते थे जिस कारण इनके लिये ऐसा करना उतना कठिन नहीं रहा करता था। अतएव, कभी कभी इन्होने, केवल साधारण प्रतीकों एवं दृष्टांतों जैसे माध्यमों के ही सहारे अनेक ऐसी बातें भी कह डालीं जिन्हे अत्यंत गूढ़ समझा जा सकता था तथा जिनका विवेचन और प्रतिपादन, बिना शास्त्रों के मंथन एवं मनन द्वारा, नहीं किया जा सकता था। ये लोग ऐसे सारे प्रश्नों को ही, उनके शास्त्रीय स्तर से, जैसे अपने लौकिक धरातल तक उतार लाए और इस प्रकार, सबके लिये सुपरिचित से बन गए तथा इन्होंने उन्हें कुछ ऐसा रूप भी दे डाला जिसकी परख व छानबीन, अपनी अनुभूति की प्रयोगशाला के भीतर, प्रत्येक अवसर पर की जा सकती थी।

(४) समन्वयात्मक दृष्टिकोण—लोकचेतना के जाग्रत हो जाने पर उसका एक अन्य परिणाम इस रूप में भी लक्षित हुआ कि निम्न स्तरवाले समाज के सदस्यों मे भी, कुछ न कुछ आत्मविश्वास की मात्रा बढ़ने लग गई तथा, जहाँ कहीं इसके कारण संघर्ष का घटित हो जाना अनिवार्य नहीं था वहाँ, एक दूसरे को समझने की प्रवृत्ति काम करने लगी और कभी कभी पारस्परिक सहयोग से लाभ उठाना तक भी संभव दीख पड़ने लगा। अतएव, जो लोग चिंतनशील रहे उन्होने एक दूसरे को, पूरी सहानुभूति के साथ समझने का अभ्यास डाला। तदनुसार क्रमशः किसी एक ऐसे समन्वयात्मक दृष्टिकोण से काम लिया जाने लगा जिससे सभी लोगों के, एक दूसरे के निकट आते जाने की भी संभावना बढ़ी। कहना न होगा कि उन दिनों धार्मिक भावनाओं के प्रसार एवं प्रचार का युग था और स्वभावतः उन्हें ही सदा प्रधानता भी दी

जाती थी तथा, उच्च कोटि के वर्गोंवाले एक दूसरे को चाहे जिस दृष्टि से देखते रहे हों, सर्वसाधारण के लिये यह अधिक संभव था कि वे उदारता से ही काम लिया करें। यदि धार्मिक भावनाओं द्वारा विशेष रूप से प्रभावित हों, उस दशा मे वे सब किसी को एक ही परमात्मा की संतान समझें तथा तदनुकूल व्यवहार भी करें। इसके सिवाय, जहाँ तक विभिन्न धर्मों अथवा संप्रदायों बीच किसी भेद भाव के आ जाने का प्रश्न था, उन्होंने उसे भी यथासंभव अपनी ओर से कम करके देखने का ही प्रयत्न किया तथा इसी के अनुसार, उन्होंने कभी कभी अपने उपदेश भी दिए। उन्होंने किन्हीं दूसरे मतवालों पर कोई प्रहार करना भी केवल उसी दशा मे उचित समझा जब उन्होंने उनके व्यापक धर्म के मौलिक आदर्शों से दूर पड़ते जाने का संदेह किया। इसके लिये उन्होंने उनकी भर्त्सना की तथा उनके विरुद्ध कटु शब्दों तक का व्यवहार किया, किंतु उनका इस प्रकार का आचरण दूसरों के प्रति किसी वैरभाव का परिचायक न होकर, वस्तुतः उनके किसी ऐसे सद्भाव का ही द्योतक रहा जो कभी, किसी को सन्मार्ग पर लाने के उद्देश्य से, कड़े शब्दों मे भी प्रकट किया जाता है। यदि इस प्रकार के कटु उद्गारों को, अपने ही आत्मीयों द्वारा प्रयुक्त किए गए तीखे शब्दों के रूप में, स्वीकार कर लिया जा सके तो हम कहेंगे कि ऐसे कड़वेपन का मूल कारण उनके हृदयों की उस मर्मांतक वेदना में ढूँढा जा सकता है जिससे अभिभूत हो जाने पर ही, उन्हे ऐसा करने के लिये बाध्य होना पड़ा होगा। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग, चाहे वह बौद्धसिद्धों की ओर से किया गया हो, चाहे वह नाथपंथी कवियों द्वारा किए गए किसी कथन के रूप मे हो, अथवा किसी अन्य ऐसे स्रोत की भी उपज हो, इसका उन दिनों एक अपना पृथक् महत्व रहा जिसे आगे निर्गुण भक्तिवाले संत वा सूफी कवियों ने भी, अपने अपने ढंग से अपनाना उचित समझा तथा उन्होंने ऐसी रचनाशैली को प्रोत्साहन भी दिया।

उक्त मध्ययुगीन धार्मिक भावनावाले कवियों के दृष्टिकोण को समन्वयात्मक रूप देने मे उन दिनों प्रचलित भक्ति साधना-परक अथवा सूफीमत संबंधी विविध साहित्य का भी हाथ कुछ कम न रहा होगा। ऐसे वाङ्मय के आधार पर भक्तिसाधना के लिये, जिस प्रकार किसी वर्गविशेष का ही सदस्य अधिकारी नहीं समझा जा सकता था इसी प्रकार उसके लिये यह भी नितात आवश्यक न था कि वैसा कोई उपासक केवल किसी पद्धतिविशेष को ही अपनाकर आगे बढ़े। वह अपने उपास्य का रूप, अपनी निजी धारणा के अनुसार निर्धारित कर सकता था, उसके साथ अपना कोई भी विशिष्ट संबंध स्थापित कर सकता था तथा उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के प्रयास मे वह विभिन्न उपयुक्त साधनों का उपयोग भी कर

सकता था। आवश्यकता केवल इसी बात की थी कि वह उसे अपने एकमात्र इष्टदेव के रूप मे स्वीकार कर ले, तथा फिर, एकांतनिष्ठ भाव के साथ, उसके प्रति अपना सभी कुछ समर्पित भी कर देने के लिये दृढ़संकल्प बन जाय। यदि ऐसे भक्तों के हृदय मे वास्तविक भक्तिभाव है, उस दशा मे उनकी उपासनापद्धतियों का कोई भी रूप किसी दूसरे की अपेक्षा कम वा अधिक मूल्य का नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार, किसी एक सच्चे सूफी 'सालिक' के विषय मे भी, कहा जा सकता था कि, जबतक वह भगवत्प्रेम के मार्ग पर अग्रसर होता जा रहा है, उसके लिये किसी प्रकार की भी विधिनिषेधात्मक आज्ञाओं का पालन कभी अनिवार्य नहीं माना जा सकता। उसका 'इश्क हकीकी' उसकी मनोवृत्ति को एक ऐसे विलक्षण रंग मे रँग दे सकता है जिसके फलस्वरूप वह एक अत्यंत ऊँचे स्तर तक उठ जा सकती है तथा वह इतनी व्यापक भी बन जा सकती है जिसके आगे किन्हीं धार्मिक विधानों का कोई महत्व नहीं रह जाता। सूफी मतानुसार इस कोटि का प्रेमभाव स्वयं उस ईश्वरी प्रेम का एक प्रतिरूप है जिससे सारा विश्व संचालित हुआ करता है, जिस कारण केवल वही सब किसी के लिये सहज एवं स्वाभाविक भी ठहराया जा सकता है। उसके अतिरिक्त सभी नियम कृत्रिम व संकीर्ण से दीख पड़ते हैं। अतएव, उक्त दोनों प्रकार की धारणाओं की दृष्टि से, विभिन्न मतभेदो के बीच सामंजस्य बिठा लेना अथवा, उनके सारतत्व के आधार पर, किसी सर्वमान्य मौलिक आदर्श की प्रतिष्ठा करके, किसी समन्वयात्मक वृत्ति को प्रथम प्रश्रय दे देना कोई उतनी बड़ी समस्या नहीं रह गई थी। हमारे आलोच्य कालवाले निर्गुण भक्त कवियो ने उस प्रकार के वातावरण द्वारा बहुत कुछ लाभ उठाया और इसके परिणामस्वरूप उन्होने एक ऐसे साहित्य का निर्माण किया जिसके अंतर्गत निरी सांप्रदायिकता के लिये कोई स्थान ही नहीं दिया जा सकता था।

(५) कवि का व्यक्तिगत उल्लेख—भारतीय साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की एक परंपरा पाई जाती रही कि किन्हीं रचनाओं का निर्माण करनेवाले अपने को उनमे प्रकट कर देना आवश्यक नहीं समझा करते थे। छिटफुट पंक्तियों में कहीं कहीं उनका नामोल्लेख चाहे कभी आ भी जाता रहा हो, यह बात कदाचित् जान बूझकर, कभी नहीं कही जाती थी कि उनका रचयिता अमुक व्यक्ति है अथवा अमुक समय में, अमुक स्थान पर एवं अमुक उद्देश्य द्वारा प्रेरित होकर, वह उन्हे प्रस्तुत कर रहा है। कवि के इस आत्मगोपन की प्रवृत्ति, हमारे प्राचीन साहित्य के अंतर्गत प्रायः सर्वत्र उल्लेखनीय रही है जिस कारण हमे उसका कोई व्यक्तिगत परिचय प्राप्त कर पाना बराबर कठिन जान पड़ता आया है। वैदिक वाङ्मय, प्राचीन संस्कृत साहित्य, पालि साहित्य एवं अधिकांश प्राकृत साहित्य में पाई जानेवाली इस कमी को दूर करने का प्रयास कदाचित्,

सर्वप्रथम, अपभ्रंशवाली कतिपय रचनाओं का निर्माण करते समय, किया गया जिसका प्रभाव आगे चलकर भी दीख पड़ा। जहाँ तक पता चलता है, इस प्रकार की नामोल्लेखपद्धति का आरंभ, पहले पहल बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियों ने किया होगा जिन्होंने या तो किसी बात की चर्चा करते समय, उसपर अधिक बल देने की इच्छा से और संभवतः उसके लिये प्रत्यक्ष साक्ष्य उपस्थित करते हुए भी, ऐसा करना अवश्यक मान लिया होगा अथवा कुछ अन्य कवियों की यह अभिलाषा भी रही होगी कि इसके द्वारा मेरी कीर्ति प्रचलित हो सकेगी। फुटकल चर्यापदों को पढ़ते समय और अनेक 'दोहों' पर दृष्टि डालते समय भी, हमें सरह लुई, कुक्कुरी, कन्ह, शबर, आदि कई बौद्ध सिद्धों के नाम प्रत्यक्ष हो जाया करते हैं जिसके आधार पर हमें कुछ न कुछ उसके व्यक्तित्व के विषय में अनुमान कर लेने का एक अवसर मिल जाता है। इस प्रकार के कुछ व्यक्तिगत उल्लेख हमें, जैन कवियों द्वारा रचे गए प्रबंध काव्यों तक में मिलते हैं और कभी कभी तो उनमें प्रसंगवश ऐसी अनेक बातें भी कही गई मिलती हैं जिनका सूत्र पकड़कर हम उनके विषय में कुछ अधिक जानकारी भी प्राप्त कर ले सकते हैं। इसके सिवाय उन दिनों के कवियों की कृतियों के अंतर्गत, कभी कभी कुछ ऐसे आत्मप्रकाशन की भी प्रवृत्ति दीख पड़ती है जिसे ध्यान में रखते हुए हमारे लिये, इस प्रकार का निर्णय कर पाना भी कुछ अंशों तक सुगम हो जाता है कि उनका वास्तविक अभिप्राय क्या है। इस प्रकार की प्रवृत्ति पीछे संस्कृत में रचे गए कई ग्रंथों तथा अनेक मुक्तक रचनाओं में भी देखी जा सकती है और इसके अधिक उदाहरण हमें किसी भाषा के भी उन गीतों वा दोहों जैसे फुटकल पद्यों में ही मिलते हैं जो विशेषकर स्तुतिपरक, नीतिपरक या उक्तिपरक रहा करते हैं। जहाँ तक हमारे आलोच्य युगवाले निर्गुण कवियों के लिये कहा जा सकता है, इन लोगों ने ऐसी प्रवृत्ति से बहुत अधिक प्रेरणा ग्रहण की तथा उन्होंने इसके द्वारा, अपनी सहानुभूति का परिचय देने के अतिरिक्त अपने विचारस्वातंत्र्य को भी प्रमाणित करना चाहा।

(४) कुछ प्रश्न

ऐसा अनुमान कर लेना स्वाभाविक हो सकता है कि उपर्युक्त विभिन्न साहित्यिक परंपराओं तथा प्रवृत्तियों का न्यूनाधिक प्रभाव उन दिनोंवाले उन सभी कवियों के ऊपर पड़ा होगा जिन्होंने अपनी अपनी रचनाएँ किसी न किसी रूप में प्रस्तुत की होंगी। इसके सिवाय, जहाँ तक तत्कालीन प्रवृत्तियों के विषय में कहा जा सकता है, उनकी संख्या, उक्त पाँच से कहीं अधिक भी रही होगी। परंतु यहाँ पर केवल उन्हीं कुछ का संक्षिप्त उल्लेख कर देना अभीष्ट रहा है जिनका स्पष्ट पता निर्गुणभक्ति साहित्य के अंतर्गत लगाया जा सकता है। जैसा अन्यत्र कहा गया भी मिलेगा, इस प्रकार के वाङ्मय की एक अपनी पृथक परंपरा ही रही जिसका आरंभ इसके

बहुत पहले संभवतः अन्य प्रदेशों में, हो चुका था तथा जिसके क्रमिक विकास में उक्त प्रवृत्तियों से बहुत बड़ी सहायता मिली तथा जिसके कारण समूचे देश की प्रांतीय भाषाओं में कुछ विशिष्ट रचनाओ के निर्माण मे प्रोत्साहन भी मिल सका। यहाँ पर इस संबंध मे केवल इतना ही उल्लेख कर देना कदाचित् यथेष्ट हो सकता है कि हिंदी-वाले निर्गुणभक्ति साहित्य के मूल प्रेरणास्रोत का पता, सुदूर दक्षिण भारत के प्रांतों तक मे लगाया जा सकता है, यद्यपि इस बात के लिये, हमारे पास इस समय कोई भी निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं जिसके आधार पर कहा जा सके कि ऐसा अमुक माध्यम एवं क्रमानुसार संभव हुआ होगा तथा अमुक मात्रा तक इसके रचयिता उधर के ऋणी ठहराए जा सकते हैं। इसी प्रकार एक अन्य ऐसे ही प्रश्न का हल कर पाना भी उतना सरल नहीं है कि प्रायः उत्तर प्रांतोंवाले सूफी कवियों तथा दक्खिनी हिंदी के माध्यम से रचना करनेवाले ऐसे लोगो की रचनाशैलियों में इतना महान् अंतर क्यों आ गया। दक्खिनी हिंदी मे काव्यरचना करनेवाले सूफी कवियों ने अपने लिये विदेशी अरबी एवं फारसी साहित्यों के आदर्शों का अपनाना क्यों उचित समझा जब उनमे से कई एक का कुछ न कुछ संबंध उत्तर से भी रह चुका था जहाँ पर बहुत पहले से ही कोई सुनिश्चित रचनापद्धति प्रचलित व प्रसिद्ध थी तथा जिसे अपनाते समय यहाँवाले ऐसे कवियों को किसी प्रकार की अड़चन का भी अनुभव नहीं हुआ था। अरबी एवं फारसी भाषा अथवा उनके साहित्य को उत्तरी भारत के शिक्षित मुस्लिम तथा यहाँ के वैसे सुल्तान व बादशाह भी कम श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे और यहाँ पर उन्हें कम संरक्षण भी प्राप्त नहीं था। किंतु फिर भी इधरवाली प्रांतीय भाषाओं के सूफी कवियों ने इससे कोई लाभ उठाना उचित नहीं समझा और न इधर के अमीर खुसरो जैसे फारसी कवियों का ही अनुसरण किया। इस प्रश्न का महत्व उस दशा में और भी बढ़ जाता है जब देखते हैं कि दक्खिनी हिंदी के सूफी कवियों का यथेष्ट ध्यान उपर्युक्त प्रवृत्तियों की ओर भी जाता नहीं जान पड़ता और इनकी अपेक्षा वे अधिकतर उन बातों से ही प्रेरणा ग्रहण करते दीखते हैं जो बाहरी साहित्यों से छनकर आती हैं।

द्वितीय अध्याय

संत साहित्य

प्रथम अध्याय

प्रारंभिक संत साहित्य एवं संतपरंपरा

(१) संत साहित्य की विशेषताएँ

संत साहित्य क्या है, उसके अंतर्गत कौन सी रचनाएँ अभिप्रेत हैं, तथा वे किस प्रकार की हैं, यह स्थिर करने के पूर्व इसपर भी विचार करना आवश्यक है कि संत कौन हैं; कारण कि 'संत' शब्द का निरुक्तार्थ तो बहुत व्यापक है ही, लोकव्यवहार मे साधारणतः 'संत' शब्द से जो अर्थ समझा जाता है वह भी प्रसंग में गृहीत अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

संत—'संत' शब्द का प्रयोग, प्राचीन साहित्य के अंतर्गत परोपकारी, सज्जन, विवेकशील आदि अनेक अर्थों मे किया गया मिलता है और इसकी व्युत्पत्ति भी कई प्रकार से की गई है।[१] 'संत' के बताए गए सभी अर्थ सद्गुण, सदाचार तथा एक विशेष प्रकार की अनुभूति और जीवनदृष्टि के सूचक हैं और वे सभी प्रसिद्ध संतों पर घटित होते हैं। परंतु ये गुण, आचरण आदि न तो संतों के विशिष्ट लक्षण हैं, न इनसे यही पता चलता है कि 'संत' शब्द से इनका क्या विशेष संबंध है। जहाँ तक 'संत' की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, वह संस्कृत की 'अस्' धातु (=होना। इसके वर्तमान कृदंत रूप 'संत' के पुल्लिंग एकवचन 'सत्' का बहुवचन 'संतः') से ही ठीक जान पड़ती है। 'ऋग्वेद' मे 'सत्' का प्रयोग ब्रह्म के लिये (संभवतः उसकी नित्य सत्ता के बोध के लिये) हुआ,[२] और 'तैत्तिरीय उपनिषद्' मे ब्रह्मविद् के लिये भी।[३] बाद में इसका प्रयोग (ब्रह्मविद् के) अच्छे भाव और अच्छे कर्मों के लिये होने लगा और फिर तो सामान्य रूप से 'सत्' का अर्थ 'अच्छा', असत् का 'बुरा' हो गया। यद्यपि वह भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया सम्यक् रूप से स्पष्ट नहीं है जिसके अनुसार केवल सत्तावाचक 'होना' का अर्थ 'अच्छा' हो गया, परंतु यह अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता कि जब ब्रह्म की महत्ता का आरोप ब्रह्मविद् में हो गया तो स्वभावतः ब्रह्मविद् का सत्, सभी पवित्र और महान् गुणों का आश्रय माना गया। 'सत्' और अच्छाई का नित्य संबंध मान लेने से फिर जो कुछ अच्छा हो उसे सत् और

१ द्रष्टव्य, उ० भा० सं०, पृ० ३।

२ 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—ऋ०।

३ 'अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद सन्तमेनं विदुर्बुधा'—तै० उ०।

बुरे को असत् कहना सरल हो गया। एकवचन 'सत्' के बदले जो उसका बहुवचन रूप 'संत' के लिये प्रयुक्त हुआ, वह हिंदी के लिये कोई असाधारण बात नहीं है। संस्कृत के शब्दों को सुविधानुसार लिंग, वचन और विभक्ति प्रदान करके ही ग्रहण करना हिंदी की प्रकृति रही है।[१]

लोकोत्तर आचरण

संत के गुणों या व्यवहारों का जहाँ कुछ विस्तृत वर्णन पाया जाता है वहाँ वे गुण आदि प्रायः लोकोत्तर ही देखे गए हैं। साधारण लोगों के आचरण से संत का आचरण कुछ विपरीत ही सा लगता है। साधारणतः संसार में देखा जाता है कि छोटे बड़े सभी लोग रत्ती भर भलाई करके मन भर लाभ और यश पाने और, अपनी थोड़ी सी हानि होने पर, दूसरों की चौगुनी हानि करने का प्रयत्न करते हैं। स्वयं मधुरभाषी न होने पर भी दूसरों की एक कटु बात नहीं सह सकते और, अपने भीतर कुछ सत्व न होने पर भी, सबसे ऊँचे ही रहना चाहते हैं। और इस प्रकार के प्रयत्नों में जो जितने सफल हैं वे उतने ही बड़े और प्रभावशाली माने भी जाते हैं। परंतु स्वयं दुःख सहकर भी दूसरों की भलाई करना, अपनी निंदा सुनकर बुरा न मानना और यश पाकर फूल न उठना, शत्रु को भी मित्र जानना—ये गुण किन्हीं बिरले ही व्यक्तियों में, जिन्हें 'संत' कहते हैं, पाए जाते हैं। इसी से भर्तृहरि को संतों की चर्या आश्चर्यजनक प्रतीत हुई—'वे नीचे झुके रहकर भी ऊँचे उठते हैं, पर-गुण-कथन मे ही अपने गुणों का ख्यापन करते हैं, परोपकार द्वारा ही स्वार्थसंपादन करने हैं और कटुभाषी दुर्मुखों को क्षमा द्वारा ही दोषी सिद्ध करते हैं। ऐसी साश्चर्य चर्यावाले संत किसके पूज्य नहीं हैं?'[२] तुलसीदास भी संत को मीठे आम के पेड़ के सदृश परोपकारी कहते हैं, जो पत्थर मारने पर भी फल ही देता है।[3]

[१] उदाहरणार्थ, 'हम' का मूल 'अहम्' संस्कृत में एकवचन है। 'मैं' का मूल मया (अपभ्रंश मइं) संस्कृत में तृतीय एकवचन है। संस्कृत का पुलिंग 'आत्मा' भी हिंदी में स्त्रीलिंग बना डाला गया है।—ले०।

[२] नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान् ख्यापयन्तः।
स्वार्थान् सम्पादयन्तः विततपृथुतरारम्भ यत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेप रूक्षाक्षर मुखर मुखान् दुर्मुखान् दूषयन्तः।
सन्तः साश्चर्यचर्याः जगति बहुमताः कस्य नाऽभ्यर्चनीयाः॥

[3] तुलसी सत सु अंब तरु, फूल फलहिं पर हेत।
इत ते ये पाहन हनैं, उत ते वे फल देत॥

संत का ऐसा ही आचरण तर्कसंगत भी है। साक्षात्कृत संत ब्रह्म या परमात्मा की तद्रूपता प्राप्तकर उसी की भाँति द्वंद्वातीत और पूर्ण हो जाता है, अतः उसकी भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है और लाभ हानि, शत्रु मित्र सबमे उसका समान भाव हो जाता है। विश्वरूप ब्रह्म से तादात्म्य होने के कारण उसके लिये कुछ अपना पराया नहीं रह जाता।

संत और भक्त

संताग्रणी कबीर संत को 'साक्षीभूत साध' या सच्चे भक्त का ही पर्याय मानते हैं और उसके लिये संक्षेप मे तीन मुख्य गुण बतलाते हैं—किसी से वैर न रखना, परमात्मा से निष्काम प्रेम, विषयों से वैराग्य।[1] धूर्त संसारी लोग भी इन गुणों को दिखावटी रूप में धारणकर, 'संतई' का कृत्रिम आवरण ओढ़कर, दुनिया को ठग सकते हैं, पर कठिन परीक्षा की आँच लगते ही उसे उतार फेंकते हैं। इसी से कबीर कहते हैं कि संतों मे उक्त गुण 'सहज' होते हैं; करोड़ों असतों से पाला पड़ने पर भी वे अपनी संतई नहीं छोड़ते, जैसे विषधर सर्पों के लिपटे रहने पर भी चंदन अपनी शीतलता नहीं छोड़ता।[2]

निर्गुण सगुण भेद संतई में बाधक नहीं

भक्त के अर्थ मे, सामान्यतः निर्गुण और सगुण उपासना की दृष्टि से, संतों मे कोई भेद नहीं किया गया है। सगुण भक्त तुलसीदास को भी 'संत' कहा जाता है। 'रामचरितमानस' (उत्तर, बंध ३८) मे भरत के प्रश्न करने पर राम विस्तार से संत और असंत के लक्षण बतलाते हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—शत्रु का भी हित, विषयों मे आसक्त न होना, परम दुःख मे दुःखी और सुख मे सुखी न होना, समभाव, अजातशत्रुता, निरभिमानता, लोभ, मोह, भय, का त्याग, निष्काम भगवद्भक्ति, परुष वचन का त्याग, इत्यादि। इन सबके साथ द्विज-पद-प्रीति भी जोड़ देना तुलसीदास जैसे वर्णाश्रम मर्यादावादी के लिये आवश्यक ही

[1] निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहै, संतन का अग एह॥ (क० ग्रं०, सा० २६।१)

[2] संत न छाँड़ै संतई, कोटिक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा वैठिया, तउ सीतलता न तजंत॥ (वही, २६।२)

था,[1] परंतु वैसे कबीर द्वारा बताई गई उक्त तीन मूल बातें, निर्वैरता आदि, इसमे भी हैं और शेष सब इन्हीं की पोषक हैं। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास जी ने 'संत सुभाव' और 'संत रहनि' ग्रहण करने की लालसा प्रकट करते हुए जिन गुणों की कामना की है, वे भी इसी प्रकार के हैं।[2]

सारांश यह कि सच्चे भक्त या संत के भाव और आचरण के संबंध में, कबीर और तुलसी की दृष्टियों में कोई तात्विक भेद नहीं, प्रत्युत मौलिक समता है। कबीर ने एक जगह संक्षेप में तत्व की बात कह दी है, अन्यत्र उन्होंने अन्य गुणों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। इस दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि निर्गुण और सगुण उपास्य भेद के कारण 'संत' की मौलिक विशेषताओं मे भी कोई ऐसा भेद माना है।

कबीर ने अपनी बानियों में, विभिन्न स्थलों पर, भक्ति के प्रसंग में, जिन प्रसिद्ध भक्तों के नाम लिए हैं वे प्रायः वे ही हैं जो भक्त परंपरा मे सर्वत्र समान रूप से आदृत हैं। अपने पूर्ववर्ती जयदेव और नामदेव के अतिरिक्त उन्होंने शिव, विरंचि, शेष, सनकादि, विभीषण, हनुमान, उद्धव, अक्रूर, व्यास, शुकदेव, ध्रुव और प्रह्लाद का भी उल्लेख किया है। नाभादास के 'भक्तमाल' मे भी ये नाम आए हैं। इनमें से व्यास, शुकदेव, शेष, उद्धव, हनुमान और विभीषण का नामोल्लेख तो भक्ताचार्यों के रूप मे 'नारद भक्तिसूत्र' में भी किया गया है। इनमें कहीं कोई भेद नहीं किया गया है। नाभादास ने 'भक्तमाल' मे जिस श्रद्धा के साथ कबीर की प्रशंसा की है उसी श्रद्धा के साथ तुलसीदास की भी। तात्पर्य यह कि मुख्य भक्त परंपराओं मे साधारणतः न तो, निर्गुण सगुण उपास्य भेद के आधार पर भक्तो में भेद किया गया है, और न, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संत और भक्त को ही एक दूसरे से भिन्न बताया गया है। वस्तुतः भक्त कहिए या संत, निर्गुनी कहिए या सगुनी, परमात्मा में अनन्य और निष्काम भक्ति तथा उस भक्ति के आवश्यक परिणामस्वरूप समस्त प्राणियों में एवं सुख दुःख, हानि लाभ, शत्रु मित्र, मान अपमान मे समभाव ही उसके मुख्य लक्षण हैं, अन्य सब लक्षण इन्हीं की व्याख्या हैं।

[1] अन्यत्र राम की भक्ति का अधिकारी होने के लिये तुलसीदास जी भी भक्तिपरंपरा के अनुरूप ही जात पाँत का विवर्जन आवश्यक मानते हैं:

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई।।
सब तजि रहइ तुमहिं लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई।। (रा० च० मा०, अयोध्या०)।

[2] तु० ग्रं० खं० २, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ५५०, पद १७२।

व्यावहारिक भेद

यद्यपि उपास्य वा उपासना में भेद के आधार पर संत और भक्त के बीच भाव और आचरण का कोई वास्तविक भेद नहीं दिखाई पड़ता, परंतु उनके उपास्य, और उपासना के प्रकारों में भेद तो है ही, अतः उसके अनुसार भक्तों और उनके द्वारा रचित साहित्य का भी व्यवहार में वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है।

साहित्य के इतिहास में भेद

उक्त भेद के आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास मे भक्तिमार्ग की दो शाखाएँ मानी गई हैं निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। यद्यपि दोनों प्रकार की भक्तियों मे समानताएँ बहुत हैं, तथापि इनमे भक्ति के प्रकारों या पद्धतियों के साथ साथ भक्तों की रचनाओं मे भी पर्याप्त अंतर पाया जाता है। यद्यपि निर्गुण परमात्मा और सगुण ईश्वर दोनो के भक्त 'भक्त' ही कहे गए हैं, तथापि एक विशेष वर्ग के, अर्थात् निर्गुणोपासक कहे जानेवाले, भक्तों को 'संत' कहने की रूढ़ि चल पड़ने के कारण, प्रस्तुत प्रसंग मे भी 'संतों' से तात्पर्य निर्गुण निराकार के भक्तों से ही है।

निर्गुण भक्ति परंपरा

निर्गुण संत और सगुण भक्त से यह तात्पर्य नहीं कि दार्शनिक दृष्टि से एक केवल निर्गुण ब्रह्म का उपासक है, दूसरा केवल सगुण भगवान् का। वस्तुतः सगुण भक्त भी अपने को एक, पूर्ण, अद्वैत, निर्गुण ब्रह्म के ही उपासक समझते हैं, परंतु वे राम या वासुदेव कृष्ण को उस ब्रह्म का अवतार मानकर उनकी मूर्तियों की पूजा करते हैं। भक्त आचार्य रामानुज भी निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं, पर उसका अर्थ 'प्राकृत गुणों से हीन' और 'दिव्य गुणों' से युक्त बतलाते और उसके 'विभव' का अवतार भी मानते हैं। दूसरी ओर निर्गुणी कहे जानेवाले संत अवतारों और मूर्तियों को न मानकर केवल दया आदि गुणों से युक्त निराकार को ही मानते और उसकी भावभक्ति या प्रेमभक्ति करते हैं।

निर्गुण भक्ति की परंपरा का मूल उपनिषदों मे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे निष्कल, निरंजन, सर्वभूताधिवासी, सर्वेंद्रिय विवर्जित, अकर्ता, निर्गुण ब्रह्म का उस एक देव के रूप मे वर्णन है जो सबका प्रभु, सबका शरणदाता है। उससे शुभ बुद्धि देने की प्रार्थना की गई है। वह प्रतिमारहित है, नेत्रों का विषय नहीं बन सकता; वह केवल भावग्राह्य है। जिसकी उस देव मे तथा गुरु मे समान रूप से पराभक्ति है उसी के हृदय मे वह प्रकाशित होता है।[१] ब्रह्म

[१] श्वेत० १।६, ३।१७, ६।११, ६।१६, ४।१६, ५।१४, ६।२३ इत्यादि; तथा 'कबीर साहित्य का अध्ययन', पृ० २१४।

का इसी से मिलता जुलता वर्णन 'भगवद्गीता' में भी मिलता है, परंतु श्वेताश्वतर में किसी रूप का वर्णन नहीं है, जब कि गीता मे वासुदेव कृष्ण के विराट् दिव्य चतुर्भुज रूप का वर्णन किया गया है। भागवत में तो भगवान् के अनंत अवतारों और उनके चरित्रों का वर्णन है। इन अवतारों और चरित्रों का मूल पांचरात्र आगम मे जान पड़ता है जिसे शंकराचार्य ने अवैदिक घोषित किया है, परंतु रामानुजाचार्य ने देवतुल्य प्रमाण माना है।

पांचरात्र आगम वेद का ही अंश, वेद की ही एकायन शाखा माना जाता है। इसके अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, दुःखरहित, आद्यंतहीन, निर्विकार और सर्वघटवासी है। नारायण वासुदेव ही परब्रह्म हैं। वासुदेव से संकर्षण (जीव), उससे प्रद्युम्न (मन) और उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। इसे चतुर्व्यूह कहते हैं। नारायण प्राकृत गुणहीन होने से निर्गुण और दिव्य गुणयुक्त होने से सगुण भी हैं। वे अवतार (विभव) लेते हैं और मूर्तियों (अर्चावतार) मे भी अवतरित होते हैं। ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज उनके छह दिव्य गुण हैं। इससे विदित होता है कि, यद्यपि पांचरात्र आगम वैदिक माना जाता है तथापि उसमें अवतार और मूर्तिपूजा विहित होने से उपनिषदीय भक्ति और पांचरात्र मूलक वैष्णव भक्ति मे मौलिक अंतर आ गया है। श्वेताश्वतर और गीता दोनों वैदिक हैं, साथ ही दोनों अपने से पुराने सांख्य और योग सिद्धांतों का आश्रय लिए हुए हैं। परंतु श्वेतांबर मे ब्रह्म को शिव और रुद्र कहकर भक्ति का आलंबन बनाते हुए भी उसे निर्गुण, निरंजन, अचक्षुगोचर ही रहने दिया गया, जब कि गीता में उसे वासुदेव कृष्ण कहकर उसके चतुर्भुज रूप और विभूतियों का भी वर्णन किया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक संप्रदायों मे स्वतंत्र चिंतन के फलस्वरूप, बुद्ध से बहुत पहले ही जब सांख्य और योग के सिद्धांतों का प्रचार हुआ तो श्वेतांबर में वेद और सांख्य योग का समन्वय किया गया, किंतु गीता में वेद और सांख्ययोग के साथ साथ आगमिक (पांचरात्र) सिद्धांतों का भी मेल बैठाया गया। शैव और वैष्णव भक्ति के रूप में दोनों मत चलते रहे। परंतु उक्त मृदु समन्वय से विकृत्युन्मुख वैदिक समाज मे हिंसामूलक कर्मकांड वा पुरुष स्त्री, द्विज शूद्र की अधिकारविषमता आदि पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। एक ओर विभिन्न अवैदिक संस्कृतियोंवाली अनार्य जातियों का आर्यों के साथ निरंतर रक्तसंमिश्रण हो रहा था, तब दूसरी ओर यह कैसे संभव था कि आर्यों की वैदिक संस्कृति उससे अछूती रहकर स्वच्छंद गति से चलती रहती। फलतः बुद्ध ने, अपनी संपूर्ण शक्ति से हिंसा और विषमता का विरोध करके अहिंसा और समता का प्रचार किया। वैदिक अध्यात्मवाद, वर्णाश्रमवाद और हिंसात्मक यज्ञवाद को तो उन्होंने अस्वीकार किया ही,

अपने उपदेशों के प्रचार के लिये उन्होंने वेद की भाषा तक को छोड़कर सामान्य लोकभाषा का सहारा लिया। अपनी सामाजिक और धार्मिक उदारता के कारण एक बार बौद्धधर्म ने भारतीय समाज और संस्कृति मे अपूर्व परिवर्तन और प्रगति का युग उपस्थित कर दिया। परंतु कालांतर मे बौद्ध राजमार्ग पर सुविधानुसार पृथक् पृथक् अनेक 'यानो' के चल पड़ने तथा भौतिक विलास और रागद्वेष मे प्रवृत्त होने के कारण जब यह पतनोन्मुख हुआ उस समय शंकराचार्य ने इसके अनात्मवादी सिद्धांतों का उच्छेदन कर अध्यात्मवादी वैदिक धर्म की ध्वजा फिर से फहराई। परंतु उन्होंने बौद्ध धर्म के साथ साथ सांख्य, योग, पांचरात्र आदि के भी मतों का खंडन किया जिससे भागवत भक्तिसिद्धांत को बहुत बड़ा धक्का लगा। तब उसके बाद रामानुज आदि भक्तिआचार्यों ने एक बार फिर पांचरात्रमूलक निर्गुण-सगुण-समन्वित भक्ति का प्रचार किया जिसका रोचक रूप हमें सगुण भक्ति के मध्यकालीन विकास मे दिखाई पड़ता है।

निर्गुण, निरंजन का अर्थ शून्य वा अनात्म कभी नहीं था। सांख्य का निर्गुण पुरुष भी भावात्मक सत्तावाला था और जैसा हम देख चुके हैं श्वेताश्वतर में भी वह शुद्ध भावरूप, सत् रूप, ब्रह्म का ही विशेषण था। निर्गुणभक्ति जो वेद और सांख्ययोग समन्वित थी पर जिसमे सगुण मत का मेल न था, बौद्धकाल मे दब भले ही गई हो किंतु लुप्त नहीं हुई थी। गुप्त सम्राट् तो स्वयं परम भागवत थे, परंतु बौद्ध सम्राटों के शासनकाल मे भी पर्याप्त धार्मिक सहिष्णुता होने के कारण बौद्धेतर मत भी साथ साथ चलते थे। बौद्ध धर्म के अंतिम समय मे अध्यात्मवादी निर्गुण मत पुनः पल्लवित होता दिखाई पड़ता है। आठवीं शती के लगभग कश्मीरी शैव संप्रदाय में और आगे चलकर नाथसंप्रदाय मे हम उसका समयानुरूप संस्करण पाते हैं। ये मत बौद्ध मार्ग और यानों की भूमि पर पनपे थे, अतः यह संभव नहीं था कि ये उनसे प्रभावित न होते। यही कारण है कि एक ओर जहाँ हम बौद्ध सिद्धों में रहस्य की प्रवृत्ति पाते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके बाद शैव नाथ संप्रदाय में शून्य आदि बौद्ध शब्दावली, यद्यपि दोनों का यह मौलिक भेद बना ही रहा कि एक अनात्मवादी था, दूसरा आत्मवादी।

सिद्ध और नाथ दोनों सगुण उपासना अर्थात् अवतार और मूर्तिपूजा एवं वेद, बाह्याचार तथा जाति पाँति के विरोधी थे। भागवत या 'वैष्णव धर्म का संपूर्ण साहित्य यह बतलाता है कि सगुणाश्रयी होते हुए भी उसमें ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही माना गया है और उसमे मूलतः[1] ऊँच नीच के भेद के लिये को ईस्थान

[1] द्रष्ट० पूर्व, पृ० ५।

नहीं है तथा वेद और बाह्याचार भी गौण हैं। परंतु बारहवीं शती में रामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग मे वेद, बाह्याचार और जाति पाँति के बंधन व्यवहारतः ढीले नहीं हुए थे। अतः सिद्धों और नाथों से छाई हुई भूमि पर जब यह भक्तिमार्ग फैला तो इन बंधनों के होते हुए उसका मुक्त प्रचार संभव नहीं था। सगुण भक्ति और बाह्याचारों का विरोध ही बना रहा। वह समय ऐसा था जब किसी सबल केंद्रीय शासन शक्ति के अभाव मे देश का राजनीतिक संघटन तो शिथिल और दुर्बल था ही, आंतरिक विषमताओं और दुर्बलताओं के कारण, उसका समाजशरीर भी जर्जर हो रहा था। ऐसे समय मे न केवल विदेशी शासन अपने क्रूर विजयोन्माद के साथ संपूर्ण देश को आक्रांत करता जा रहा था, अपितु उनका एक निराकारी खुदा, समान धार्मिक बंधुत्व और जीवन के नए दृष्टिकोण-वाला मूर्तिविरोधी मजहब भी भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति से सीधे सीधे टकरा रहा था। वि० चौदहवीं शती के उत्तरार्ध तक मुसलमान सारे देश मे फैलकर बस भी गए थे और हिंदू प्रजा से उनका संबंध निकटतर होता जा रहा था। ऐसी अवस्था मे हिंदू धर्म और समाज के भीतरी भेदभावों की ओर से आँख मूँदे रहना समझदार धर्मनेताओं के लिये और भी असंभव था। अतः भेद और पाखंडविरोधी समानदर्शी संतों का आविर्भाव उस समय की ऐतिहासिक आवश्यकता थी। चौदहवीं शती मे नामदेव आदि कुछ संत हुए, पर पंद्रहवीं शती मे रामानुजाचार्य की ही शिष्यपरंपरा मे होनेवाले स्वामी रामानंद के हाथों भक्ति मार्ग का एक ऐसा कालानुरूप संघटन हुआ जिसमे निर्गुण और सगुण दोनों को समान छूट दी गई। उन्होने, जाति पाँति और स्त्री पुरुष के अनुचित भेद की उपेक्षा कर, स्त्री, शूद्र, यवन सबके लिये भक्ति का द्वार खोल दिया और उन्हे अपना शिष्य बनाया। इन्हीं शिष्यों मे प्रसिद्ध संत जुलाहा कबीर भी माने जाते हैं जो उत्तरी भारत की मध्यकालीन संतपरंपरा के प्रवर्तक प्रसिद्ध हैं।

संतपरंपरा और उसकी विशेषताएँ

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'संत' शब्द एक विशेष प्रकार और कोटि की भक्ति और रहनी का द्योतक है और संतों की गणना मे संतजीवन के आदर्शवाले निर्गुण एव सगुण सभी भक्त समान रूप से आ जाते हैं। परंतु उपास्यभेद से भक्तों के एक विशेष वर्ग को 'सत' कहने की रूढ़ि हो गई है, जिसके अनुसार संतपरंपरा के अंतर्गत केवल निर्गुणी कहे जानेवाले भक्त ही आते है। उनमे भी प्रस्तुत प्रसंग मे उन्हीं संतों से तात्पर्य है जिन्होंने अपनी बानियाँ हिंदी मे कही हैं।

इन संतों का उपास्य परमात्मा या भगवान् निर्गुण निराकार होने पर भी, अभाव वा शून्यरूप निर्गुण नही है। वह प्रायः सगुण निर्गुण दोनो से परे कहा गया है, पर उसका तात्पर्य उसके स्वरूप को और उलझन मे डालना नहीं। वस्तुतः तो उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता: पर सगुण निर्गुण से परे कहने का तात्पर्य कुछ वैसा ही है जैसे 'गीता' मे कृष्ण ने कहा है—'मै क्षरातीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसी से लोक मे पुरुषोत्तम विख्यात हूँ।'[1] श्वेताश्वतर भी कहता है—'क्षर और आत्मा दोनों का ईश वह एक देव है।'[2] क्षर सगुण प्रकृति है, अक्षर निर्गुण पुरुष वा आत्मा दोनों से परे और दोनों का ईश जो परम आत्मा वा पुरुषोत्तम है वही इन संतों का उपास्य है। उसे कोई एक नाम नहीं दिया जा सकता, चाहे जिस नाम से पुकारा जा सकता है। भागवत परपरा के अनुसार संतों ने ज्ञान, योग या कर्म को प्रधानता न देकर उसकी भक्ति को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बताया है और उसे राम, कृष्ण, गोविंद आदि विष्णु के नाम भी दिए है, किंतु उपनिषदीय परंपरा के अनुसार; उसे अवतार या मूर्तियों मे अवतरित नहीं होने दिया है। इस दृष्टि से यह उपनिषदीय भक्ति का वैष्णव संस्करण या वैष्णव निर्गुण भक्ति कहा जा सकता है। उपनिषदीय भक्ति अभेद भक्ति, अद्वैत या आत्मरति है जिसका उल्लेख शांडिल्य भक्तिसूत्र में बादरायण के नाम से हुआ है और नारद भक्तिसूत्र मे उससे शांडिल्य का अविरोध बताया गया है।[3]

इन संतो के भक्तिमार्ग मे गुरु और संत का पद भगवान् के समान ही ऊँचा है। भावभक्ति वा प्रेमभक्ति की सिद्धि के लिये वेदशास्त्र, पुस्तकीय ज्ञान अथवा तीर्थ व्रतादि, बाह्य उपायों की कोई आवश्यकता नहीं, इसमे सब कुछ गुरुसेवा, स्वतंत्र चिंतन और स्वानुभूति पर ही अवलंबित है। घर छोड़कर सन्यास लेने, वन मे तप करने या नाना वेश धारण करके घूमने से कुछ नहीं होता। घर गृहस्थी मे रहकर यथालाभ संतोष और संयम के साथ जीवन बिताना, न परोपजीवी होना और न आवश्यकता से अधिक सग्रह करना और मनुष्य मात्र क्या जीव मात्र मे समभाव रखकर व्यवहार करना तथा अहंकार त्याग कर अनन्य भाव से गुरु के उपदेशानुसार भक्तिसाधना करते रहना ही नित्य परमानंद

[1] यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तम.।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। श्री म० गी० ॥ १५।१८

[2] क्षरात्मानावीशते देव एक। वही, १।१०।

[3] शां० भ० सू०, २९-३२; ना० भ० सू० ५-८८।

रूप परमात्मा के साक्षात्कार का सरल राजमार्ग है। स्वर्ग नरक में इन संतों का विश्वास नहीं, न मुक्तिप्राप्ति के लिये इन्हें मृत्यु तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भक्ति सिद्ध हो जाने पर ये इसी शरीर से जीवन्मुक्त होकर संसार मे विचरते हैं।

हिंदी मे रचना करनेवाले, उक्त भावधारा के कई संत, कबीर के पहले भी हो चुके हैं परंतु फिर भी अपनी विशिष्टता तथा व्यापक और भविष्यगामी प्रभाव के कारण कबीर ही इस परंपरा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कबीर के समय में और उनके बाद यह परंपरा अनेक शाखाओं में विभक्त होकर आज तक चली आ रही है।

संत साहित्य की विशेषताएँ

संत मत ने किसी उच्च और शिष्ट श्रेणी या वर्ग तक सीमित न रहकर अपना संबंध सीधे जनसाधारण से रखा और वह विशेष रूप से दीन, दुःखी, दलित, पतित जनों के उद्धार मे अपने ढंग से प्रवृत्त हुआ। इसलिये स्वभावतः उसने वेद, शास्त्र और काव्यों की शिष्ट भाषा संस्कृत को, जिसके पठनपाठन की सुविधा सर्वसाधारण को सुलभ न थी, छोड़कर लोकभाषा का सहारा लिया। फलतः उक्त संतों की रचनाएँ हमे उस समय की हिंदी भाषा में मिलती हैं। शिष्ट काव्य की भाषा मे उसके पहले संस्कृत के अतिरिक्त उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रयोग होता था और कबीर के बाद अवधी और ब्रज का प्रयोग हुआ। अपभ्रंश का संबंध तो जनसाधारण से छूट चुका था, पर ब्रज और अवधी जीवित लोकभाषाएँ थीं, और उस समय तक एकदेशीय थीं। संतों की हिंदी का रूप बहुत कुछ अंतःप्रांतीय और सार्वदेशिक था। उसमे ब्रज और अवधी के साथ खड़ी बोली और राजस्थानी का भी मेल पाया जाता है। इस कारण इसे 'सधुक्कड़ी' नाम भी दिया गया है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। इस भाषा मे संस्कार की वा व्याकरणशुद्धि की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसका कोई अपना रूप या व्याकरण है ही नहीं।

भाषा की भाँति छंदशास्त्र के नियमों का भी पालन करने की प्रवृत्ति इन संतों की नहीं है। भाषा और छंद दोनों का ध्यान रखनेवाले सुंदरदास जैसे शिक्षित संत, जिन्होंने सवैया आदि छंदों में भी रचना की है, इसके अपवाद रूप हैं। संतों ने सर्वसाधारण में प्रचलित छंदों या गीतों मे ही अपने भाव व्यक्त किए हैं। अधिकतर तो साखियाँ और पद हैं, उनके अतिरिक्त रमैनियाँ भी हैं जिनमें कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहा होता है, और फुटकर कहरवा आदि अन्य लोकगीत भी हैं। ये गाने के लिये रचे गए अतः इनमें मात्रा और वर्ण प्रायः स्वर के अधीन हैं जो गानेवाले की सुविधा का अनुसरण करते हैं। पदों के संग्रह प्रायः रागबद्ध मिलते हैं।

संतों की रचनाओं का विषय प्रधानतः भक्ति और वैराग्य तथा स्वानुभूति और संत रहनी है, इस कारण स्वभावतः प्रबंधरचना की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं है। सारी रचनाएँ मुक्तकों के ही रूप मे हैं। प्रधान संतों के नाम से चलनेवाले संप्रदायों या पंथों मे आगे चलकर उनके शिष्यों ने उनकी परचइयाँ लिखीं और संवाद रूप मे उनके उपदेश भी लिखे, परंतु उन्हे संत साहित्य न कहकर पंथ साहित्य कहना अधिक उचित है।

(२) कबीर के पूर्ववर्ती तथा पथप्रदर्शक संत

हिंदी साहित्य के इतिहास मे, भक्तियुग के आरंभ के संतों मे, सबसे प्रसिद्ध नाम कबीर का है। कबीर मे हमे संत मत अपने पूर्ण और प्रखर तेज से दीप्त दिखाई देता है। बाद की पीढ़ियों पर इनका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। परतु जैसा कहा जा चुका है, कबीर के पहले भी कई संत हुए जो पथप्रदर्शकों के रूप में माने गए हैं। ऐसे संतों मे जयदेव, सधना, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन प्रसिद्ध हैं। इनमे से जयदेव और नामदेव को तो कबीर ने बड़े आदर के साथ भक्तों मे ऊँचा स्थान दिया है :

> जागे सुक उद्धव अकूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
> संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव ॥[1]

१. जयदेव—नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' मे जयदेव का उल्लेख अष्टपदी का अभ्यास करनेवाले, प्रसिद्ध 'गीतगोविंद' काव्य के रचयिता, सरस शृंगाररस के आकर, कविनृपचक्रवर्ती तथा राधारमण के भक्त के रूप मे किया है।[2] 'ग्रथ साहब' मे जयदेव के नाम के दो पद संगृहीत हैं। कबीर द्वारा उल्लिखित जयदेव 'ग्रंथ साहब' के जयदेव और प्रसिद्ध राधाकृष्ण काव्य 'गीतगोविंद' के रचयिता जयदेव एक ही हैं या भिन्न भिन्न, इस विषय मे विद्वानों ने शंका उठाई है जिसका पूर्ण समाधान अभी तक नहीं हो सका है।

[1] क० ग्रं० (का० सं०), पद ३८७।

[2] प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीतगोविंद उजागर।
कोक काव्य नवरस सरस शृंगार को आगर।
अष्टपदी अभ्यास करै तिहि बुद्धि बढावै।
राधारमण प्रसन्न सुनि तहाँ निश्चै आवै।
संत सरोरुह खंड को पद्मावति सुख जनक रवि।
जयदेव कवि नृप चक्कवै खंडमण्डलेश्वर अन्य कवि।—भ० मा० (ना० दा०), छप्पय ४४।

'गीतगोविंद' संस्कृत मे बारह सर्गों का एक छोटा सा किंतु बहुत प्रसिद्ध काव्य है जिसमें विभिन्न रागों की चौबीस अष्टपदियाँ हैं। इस काव्य की मधुर कोमलकांत पदावली जिसका कवि को स्वयं उचित गर्व है[1] संस्कृत साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इसका विषय 'श्री वासुदेव की रतिकेलि कथा' है।[2] परंतु इसमें संयोग या संभोग शृंगार का जैसा मुक्त वर्णन हुआ है वैसा भक्तिकाव्य मे, विशेषतः संतकाव्य मे, सर्वथा अपरिचित है। हिंदी कृष्णकाव्य में केवल विद्यापति ने संयोग-शृंगार का खुला वर्णन किया है, सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों मे राधा का विरह पक्ष ही प्रधान है। इस कारण 'गीतगोविंद' को भक्तिकाव्य मानने मे संकोच होता है। यों कवि ने प्रथम अष्टपदी मे ही हरि के दशावतार की स्तुति की है और बीच बीच मे उसने अपने काव्य से कलिकलुष के शमन की आशा की है।[3]

उधर 'ग्रंथ साहब' में जयदेव के नाम से जो दो पद मिलते हैं उनकी रचना और विषय देखने से यह नहीं जान पड़ता कि इनके रचयिता संत जयदेव वही हैं जो 'गीतगोविंद' के। वैसे इन दोनों पदों के रचयिता के एक होने मे संदेह नहीं किया जाता, परंतु विशेष ध्यान देने से इनमे भी भाषा और विषय की बहुत समानता नहीं दिखाई पड़ती। एक की रचना जहाँ हिंदी में है और संत कवियों के पदों से मिलती है, वहाँ दूसरे की 'गीतगोविंद' की अष्टपदियों जैसी है और भाषा भी संस्कृत है जो केवल लेखनप्रमाद से विकृत हो गई जान पड़ती है।[4] जहाँ तक विषय का संबंध है, इसमे कोई ऐसी बात नहीं है जो गीतगोविंदकार की रचना के लिये असंभव कही जा सके। इसमे कहा गया है—'अमृत तत्वमय मनोहर राम नाम कहो, जो जन्म-जरा-मरण का भय दूर करनेवाला है। सब दुष्कृत छोड़कर चक्रधर

१ यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलिं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥ प्रथम सर्ग, श्लोक ३।

२ श्रीवासुदेवरतिकेलि कथा समेतं एतं करोति जयदेव कवि प्रबंधम्॥ प्रथम सर्ग, श्लोक २।

३ श्री जयदेवभणितमतिललितम्। कलिकलुषं शमयतु हरिरमितम्॥ सर्ग ७, अ० १४।

४ संत-वानी-संग्रहों के संस्कृत से अनभिज्ञ लेखकों द्वारा 'बद' का 'बदि', 'तेनाति' का 'दनौति', 'परिग्रहं' का 'परगृहं' लिखा जाना असंभव नहीं। एक आध पंक्तियों में इसके अनुसार थोड़ा हेरफेर करने से वे शुद्ध संस्कृत रूप में आ जाती है, यथा—'···बदि अमृततत्त्वमयं। न दनोति जस मरणेन जन्मजरादिमरणभयं। इच्छसि यमादि पराभय यशस्वस्ति सुकृतं कृतं।' को इस प्रकार पढ़ने से—'···वेद अमृततत्त्वमयम्॥ न तनोति यत्स्मरणेन जन्म जराधिमरणभयम्॥ इच्छसि यमादिपराभवं यशस्वस्विसुकृतकृतं।' इसकी ध्वनि भी गीतगोविंद की सातवीं अष्टपदी के समान है, केवल आदि में दो मात्राएँ अधिक हैं और अंत में एक कम।

भगवान् की शरण जाओ। यदि मन-वचन-क्रम से हरि की भक्ति करे तो योग, यज्ञ, दान, तप से क्या प्रयोजन? हे नर! गोविंद गोविंद जप।'

हिंदीवाला पद, मात्रा या गति की दृष्टि से तो 'गीतगोविंद की अष्टपदियों से बहुत भिन्न नहीं है,[1] परंतु भाषा और विषय की दृष्टि से वह हिंदी की आदिकालीन संत रचना है। उसमें चंद, सूर, नाद, अघड़घड़िया आदि का उल्लेख संतों के योग संबंधी पदों के समान है और उसमे 'दुविधा दृष्टि' को छोड़कर जयदेव के ब्रह्मनिर्वाण मे लीन होने का वर्णन है। यह पद निश्चय ही कबीर द्वारा नामदेव के साथ स्मृत जयदेव के सर्वथा अनुरूप कहा जा सकता है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या यह गीतगोविंदकार की रचना हो सकता है।

उक्त दोनों पद अपने रचयिता के संबंध मे जयदेव नाम के अतिरिक्त और कोई परिचय नहीं देते। परंतु गीतकार के विषय में 'गीतगोविंद' से कई बातों का पता चलता है। यथा उनके पिता का नाम भोजदेव, माता का राधादेवी[2] और पत्नी का पद्मावती था।[3] इनका जन्म किंदुबिल्व[4] नामक ग्राम मे हुआ था, जो बंगाल के वीरभूम जिले मे वर्तमान केंदुली नामक ग्राम बताया जाता है, परंतु जिसे कुछ लोग उड़ीसा मे पुरी के पास स्थित 'केंदुली सासन' नामक गाँव बतलाते हैं। 'गीतगोविंद' मे जयदेव के साथ चार अन्य कवियों—उमापतिधर, शरण, गोवर्धन, धोयी[5] का भी उल्लेख है, जो पाँचों बंगाल के विद्याव्यसनी राजा लक्ष्मणसेन की सभा के पंचरत्न थे। मुहम्मद गोरी के सेनापति, इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार ने सं० १२५४ (सन् ११९७) मे बिहार विजय करने के बाद, लक्ष्मणसेन

[1] तुल०—वदसि यदि किंचिदपि दन्तरुचिकौमुदी हरति दरतिमिरमतिघोरम्।
जयति पद्मावती रमण जयदेव कवि भारती भणितमिति गीतम्॥ (अष्ट०, १९)
चंद सत भेदिया नाद सत पूरिया सूर सत षोडशा दत्त कीया।
वदति जयदेव जयदेव कौ रम्मिआ ब्रह्मनिर्वाण लिवलीण काया॥ (ग्रं० सा०)

[2] 'श्री भोजदेव प्रभवस्य राधादेवी सुत श्री जयदेवकस्य' (गी० गो०, अंतिम श्लोक)।

[3] 'पद्मावती चरणचारण चक्रवर्ती' (वही, प्रारंभ श्लोक २); 'जयति पद्मावती रमण····' (अष्ट०, १९)

[4] किन्दुबिल्वसमुद्रसंभव रोहिणीरमणेन (अष्ट० ७)। 'तिन्दुबिल्व' भी पाठ मिलता हैं जिसे कवि का वंशनाम कहा गया है।

[5] वाचः पल्लवत्युमापतिधरः संदर्भ शुद्धिंगिरां।
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धन–
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः॥ (प्रारंभ, श्लोक ४)

की राजधानी नदिया पर भी सहसा आक्रमण कर दिया, तब वे राज छोड़कर भाग गए। उसके बाद उनके पंचरत्नों का क्या हुआ, इसका पता नहीं। हाँ, इससे राजा लक्ष्मणसेन द्वारा समादृत गीतगोविंदकार जयदेव का उस समय तक रहना अवश्य माना जा सकता है। परंतु 'गीतगोविंद' के आधार पर यह सिद्ध नहीं हो सकता कि इसके कर्ता जयदेव ही कबीर द्वारा स्मृत जयदेव हैं।

भक्तपरंपरा मे गीतकार जयदेव का ही वर्णन है। उसके अनुसार ये उड़ीसा मे संभवतः पुरी के पास ही किसी गाँव के निकट वृक्ष के नीचे रहा करते थे। एक दिन एक विप्र इन्हे अपनी कन्या समर्पित करने आया, परंतु इन्होने उस कन्या को ग्रहण नहीं किया। तब वह विप्र उस कन्या को इनकी सेवा मे छोड़कर चला गया और अंत मे इन्हों ने उसे स्वीकार कर लिया। यही कन्या 'गीतगोविंद' में उल्लिखित इनकी पत्नी पद्मावती है। जयदेव अपने मधुर गीतों के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए और उन्हे बहुत धनमान भी मिला। इनके विषय में, एक बार डाकुओं द्वारा इनके लूट लिए जाने और हाथ पैर काट लिए जाने पर, इनकी भक्ति के प्रभाव से हाथ पैर फिर बन जाने तथा इनकी पत्नी के मर जाने पर इनके द्वारा उसके जिलाए जाने आदि की अलौकिक चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनके बिना कदाचित् भक्त मंडली की दृष्टि मे किसी संत का पूरा बड़प्पन सिद्ध ही नहीं होता था। इनसे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भक्तपरंपरा मे जयदेव का काफी ऊँचा स्थान है। परंतु गीतगोविंदकार भक्त जयदेव और कबीर के जयदेव की एकता इससे सिद्ध नहीं होती। इस विषय मे तो विचार की मुख्य सामग्री 'ग्रंथ साहब' में जयदेव के नाम से दिए गए पद ही हैं।

दो ही बातें संभव हैं। या तो हम गीतकार जयदेव को, कबीर के या 'ग्रंथ साहब' के जयदेव से, भिन्न मान लें, अथवा यह अनुमान करें कि लक्ष्मणसेन के अपयान के बाद गीतकार उड़ीसा में जाकर पुरी के पास रहने लगे होंगे। वहाँ वे काफी समय तक जीवित रहे होंगे और 'ग्रंथ साहब' वाले पद उन्होंने वृद्धावस्था में रचे होंगे। कुछ लोगों का यह भी मत है कि जयदेव उड़ीसा के राजा कामार्णव (सं० १२५६-७०) तथा पुरुषोत्तमदेव (सं० १२८४-१२६४) के समकालीन थे। यदि यह सत्य हो तो लक्ष्मणसेन की सभा छोड़ने के बाद कवि का लगभग चालीस वर्ष जीवित रहना सिद्ध होता है, जो असंभव नहीं है। इस प्रकार कवि का समय लगभग १२२५-१३०० वि० माना जा सकता है। इन जैसे कृष्णभक्त के लिये भी वृद्धावस्था में योगवैराग्य और ब्रह्मनिर्वाण की चर्चा करना कोई अनोखी बात

[1] श्री म० भ० गी० में ब्रह्मनिर्वाण का वर्णन इस प्रकार है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शांतिमधिगच्छति ॥

नहीं। रही हिंदी में रचना करने की बात, सो वह समय ही देशभाषाओं के मैदान में आने का था। संस्कृत के विद्वान् भी उस समय कभी कभी तत्कालीन हिंदी मे एक आध पद्य रच लिया करते थे और जयदेव के लिये भी यह असंभव नहीं था। इस अनुमान के आधार पर दोनों जयदेव एक माने जा सकते हैं। परंतु, पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे, यह अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है।

दोनों जयदेव एक रहे हों या भिन्न, यह कहना पड़ेगा कि, 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत हिंदी पद, भाषा, छंद और भाव सभी दृष्टियों से, काफी प्रौढ़ रचना है और जयदेव की प्रसिद्धि के अनुरूप है। यह असंभव नहीं कि हिंदी मे उनके और भी पद रहे हों।

२. सधना–सधना एक उच्च कोटि के संत थे। ये जाति के कसाई प्रसिद्ध हैं, परंतु इनके समय एव निवासस्थान के विषय मे कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'ग्रंथ साहब' में इनका एक पद दिया हुआ है, परंतु उससे इनके जीवन के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं होता। डा० ग्रियर्सन ने सधना का समय ई० १७वीं शती दिया है और सधना पंथ का भी उल्लेख किया है जिसका कोई पता नहीं चलता। 'संतगाथा' नामक पुस्तक मे सधना के नाम से छह पद दिए गए हैं, परंतु जैसा पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है, वे किसी अन्य सधना के होंगे।[1] संभवतः ये नामदेव के समय मे वि० १४वीं शती के द्वितीयार्ध में विद्यमान थे। कहा जाता है कि दक्षिण में संत नामदेव और ज्ञानदेव से इनकी भेंट हुई थी।[2] संत रैदास ने अपने एक पद मे इनका नामोल्लेख उच्च कोटि के संतों मे किया है—'नामदेव कबीर त्रिलोचनु सधना सैणु तरे।'

ये अपने कुल के उद्यम के अनुसार मास बेचने का काम करते थे। परंतु इनका चित्त कोमल था इससे स्वयं जीववध नहीं करते थे। अनजान में ये गंडकी-सुत अर्थात् शालिग्राम की बटिया का उपयोग बाट की जगह करते थे। एक दिन किसी साधु ने उसे देखा तो, शालिग्राम का ऐसा अनादर करने के कारण, इनसे चिढ़ गया और बटिया को पूजा के लिये अपने घर ले गया। परंतु स्वप्न मे शालिग्राम ने उसे आज्ञा दी कि मुझे सधना के ही पास पहुँचा दो, तब उसने ऐसा ही किया।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्त कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (२।७१-७२)
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ इत्यादि (५।२४-२६)

[1] उ० भा० सं०, पृ० १०१।

[2] मेकालिफ, दिसि० रे०, भाग ६, पृ० ३२।

सधना के ऊपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि वे, अपना कुल का उद्यम छोड़कर, जगन्नाथ जी चले गए।[1]

'ग्रंथ साहब' मे दिए हुए इनके पद से परमात्मा के प्रति इनकी अनन्य भक्ति प्रकट होती है। उसकी भाषा और रचना मे भी प्रौढ़ता है जिससे जान पड़ता है कि इन्होंने बहुत से पद रचे होंगे। वह पद इस प्रकार है :

नृप कन्या के कारने इक भया भेषधारी।
कामारथी सुवारथी वाकी पैज सँवारी ॥ १
तव गुन कहा जगतगुरो जौ कर्म न नासै।
सिंह सरन कत जाइयै जौ जंबुक ग्रासै ॥ १ ॥ रहाउ ॥
एक बूँद जल कारनै चातक दुख पावै।
प्रान गए सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥ २ ॥
प्रान जु थाके थिर नहीं कैसे बिरमावौं।
बूड़ि मुए नौका मिलै कहु काहि चढावौं ॥ ३ ॥
मैं नाही कछु हौं, नहीं कछु आहि जु मोरा।
औसर लज्जा राखि लै सधना जन तोरा ॥ ४ ॥

३. वेणी—संत वेणी के जीवन के विषय मे कोई तथ्य उपलब्ध नहीं है। परंतु 'ग्रंथ साहब' मे इनके तीन पद दिए हुए हैं जिनसे ये भी एक अच्छे संत जान पड़ते हैं। 'ग्रंथ साहब' मे चुने हुए संतों के ही पद संकलित किए गए हैं, अतः उसके संकलन के समय अवश्य ही इनकी गणना उच्च कोटि के संतों मे रही होगी। इनके विचार ऊँचे हैं, किंतु, इनके पदों की भाषा और रचना में, वह सफाई नहीं है जो हम सधना के पद मे पाते हैं। भाषा से ये नामदेव के समकालीन तथा दक्षिणपूर्व पंजाब वा उत्तरपूर्व राजस्थान के निवासी जान पड़ते हैं। इनके तीन पदो मे से एक में ऐसे पाखंडियों पर आक्षेप किया गया है जो नित्यप्रति स्नान करके चंदन माला आदि धारण करते और पत्थर पूजते हैं, किंतु हृदय से क्रूर हैं, बकध्यान लगाकर परद्रव्यहरण का उपाय करते हैं और अधर्म मे रत हैं इनके मत से जब तक आत्मतत्व का परिचय न हो तब तक आचार व्यर्थ हैं। बिना सद्गुरु के सच्चा मार्ग नहीं मिल सकता।

[1] नाभादास के 'भक्तमाल' में छं० ६६ की टीका में इनके भिक्षा माँगने के समय किसी स्त्री के इनपर रीझ जाने और अपने पति का वध कर इनके साथ जाने का आग्रह करने और इनके अस्वीकार करने पर उसके प्रतिशोध लेने, जगन्नाथ जी द्वारा इनके लिये पालकी भेजी जाने आदि का भी वर्णन है।—ले०।

एक अन्य पद मे इड़ा पिंगला सुषुम्ना के संगम पर निरंजन राम के वास का वर्णन है जिसे बिरला ही कोई व्यक्ति गुरु के उपदेश से जान पाता है। इसमे अनहद बानी, अमृत रस, दशम द्वार, मन को उलटकर शून्य मे स्थिर करना, इत्यादि योग संबंधी बातों का भी वर्णन है। तीसरे पद मे, राम नाम को भूलकर जन्म से मृत्यु पर्यंत सांसारिक माया मोह मे लिप्त रहनेवाले मनुष्यों की भर्त्सना करते हुए, उन्हें इसी जीवन मे राम नाम की आराधना करके जीवन्मुक्ति की साधना करने की प्रेरणा दी गई है।

४. **नामदेव**—कबीर के पूर्ववर्ती संतों मे संत नामदेव का नाम, हिंदी साहित्य के इतिहास मे सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ये महाराष्ट्रीय थे और इनके मराठी मे रचे हुए बहुत से 'अभंग' पाए जाते हैं। परंतु इन्होने हिंदी मे भी पद रचे थे और एक संत के रूप मे इनकी कीर्ति उत्तर भारत मे भी दूर तक फैल गई थी। जैसा पहले कहा जा चुका है,[1] इनके परवर्ती कबीर जैसे संतशिरोमणि ने इनकी गणना शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान तथा शंकर जैसे महान् भक्तों की श्रेणी मे की है। संत रैदास ने इनका नाम उन संतों के साथ लिया है जिन्होंने, नीच जाति मे जन्म लेकर भी, हरिभक्ति के प्रभाव से उच्च पदवी प्राप्त की।[2]

जन्म—इनका जन्म समाज मे नीची समझी जानेवाली छीपी जाति मे हुआ था। इसका उल्लेख नामदेव ने स्वयं अपनी रचनाओं मे किया है।[3] इनके पिता का नाम दामाशेट था और माता का गोनाबाई। ये प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय संत ज्ञानदेव के समकालीन थे। इनका जन्म संवत् १३२७ (शाके ११९२) मे सतारा जिले के नरसी बमनी नामक गाँव मे हुआ था।

भक्ति में प्रवृत्ति—नामदेव जब आठ वर्ष के बालक थे तभी उनका विवाह हो गया था, जिससे आगे चलकर उनके पाँच संतानें हुईं। परंतु बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति भगवद्भक्ति की ओर थी और संतों की संगति मे इनका बहुत मन लगता था। इनका हृदय अत्यंत निश्छल एवं पवित्र था। इनके विषय मे प्रसिद्ध है कि, जब ये बहुत

[1] द्रष्टव्य पूर्व, पृष्ठ ११।

[2] नामदेव कबीर तिलोचन सधना सैन तरे।—ग्रं० सा०, रागु मारू, पृ०११६४।
ग्रं० सा० की पृष्ठसंख्याएँ नवलकिशोर प्रेस सं० सन् १८९३ ई० की हैं।

[3] छीपे के घर जनम पैला, गुरु उपदेस भैला,
संतह कै परसाद नामा हरि भेंटुला।।—ग्रं० सा० रागु आसा, पृ० ४२७।
हीनड़ी जाति मेरी जादमराया। छीपे कै जनमि काहे को आया।—ग्रं० सा०, भैरो, पृ० ११६३।

छोटे ही थे तब एक बार पिता की अनुपस्थिति में, इन्हें स्वयं ठाकुर जी को भोग लगाना पड़ा। ये दूध का कटोरा लिए ठाकुर जी के सामने सचमुच इस विश्वास के साथ बैठे रहे कि वे दूध पी लेंगे। जब ठाकुरजी ने दूध न पिया तो ये यह समझकर रोने लगे कि मैं छोटा हूँ इसलिये वे मेरे हाथ से दूध नहीं पीते। अंत मे द्रवित हो ठाकुर जी ने दूध पी लिया। महान् संतों के चरित्र की अलौकिकता दिखाने के लिये इस प्रकार की कथाएँ प्रायः उनके जीवन के साथ बाद में जोड़ दी जाती हैं, परंतु इससे बालक नामदेव के हृदय का भोलापन तथा भगवान में उनका दृढ़ विश्वास प्रकट होता है। 'ग्रंथ साहब' में स्वयं नामदेव का एक इस घटना की ओर संकेत जान पड़ता है,[1] परंतु यह निश्यपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह पद नामदेव ही का है, अथवा उनके नाम से अन्य किसी का रखा हुआ।

कहा जाता है कि नामदेव युवावस्था में एक बार कुसंगति में पड़कर डाका तक डालने लगे थे और इस प्रकार कितनों ही का द्रव्यहरण एवं बध कर डाला था। परंतु एक बार एक मंदिर मे कोई गृहस्थ भोग लगाने आया, तब वहाँ उपस्थित एक स्त्री का भूखा बालक उस भोग की सामग्री को देखकर रोने लगा। इसपर उस स्त्री ने बालक को डाँटा और नामदेव के मना करने पर उसने अपनी विपत्ति कथा बताते हुए कहा कि डाकुओं ने सर्वस्व लूटकर मेरे पति को अन्य साथियों समेत मार डाला। इससे नामदेव को बड़ी ग्लानि हुई और वे डकैती का दुष्कर्म छोड़ अपना सब कुछ लुटाकर पंढरपुर चले गए और बिठोवा या विट्ठल जी के भजन कीर्तन मे समय बिताने लगे। पहले ये सगुण भगवान् के उपासक और मूर्तिपूजक रहे, परंतु कुछ समय पश्चात् सर्वव्यापक, निराकार, अंतर्यामी परमात्मा के भक्त हो गए।

गुरु की प्राप्ति—इनके गुरु बिसोबा खेचर नामक एक महाराष्ट्रीय संत थे। नामदेव संत ज्ञानदेव के बड़े मित्र थे और दोनों का प्रायः सत्संग होता था।[2] परंतु ज्ञानदेव और उनके साथी इन्हे दीक्षा न लेने के

[1] दूध कटोरै गड़वै पानी। कपल गाइ नामे दुहि आनी॥ १॥ दूध पीउ गोविंदे राइ। दूध पीउ मेरो मन पतिआइ। नाहित घर को बाप रिसाइ। १॥ रहाउ॥ सुइन कटोरी अमृत भरी। लै नामे हरि आगे धरी॥ २॥ एक भगत मेरे हिरदै बसै। नामै देखि नराइन हँसै॥ ३॥ दूध पियाइ भगत घर गया। नामै हरि का दरसन भया॥ ४॥—ग्रं० सा० रागु भैरो, पृ० १०१३।

[2] संत ज्ञानदेव संत नामदेव की कीर्ति सुनकर स्वयं उनसे मिलने पंढरपुर गए थे और फिर उन्हें लेकर उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक स्थानों की यात्रा की थी।—मेकालिफ दि० सि० रि०, पृष्ठ २७-३३।

कारण, 'निगुरा' कहा करते थे। एक बार उनकी मंडली के साथ ये यात्रा करते हुए एक गाँव मे ठहरे। उस मंडली में गोरोबा नामक एक संत थे जो जाति के कुम्हार थे। उन्होंने ज्ञानदेव की बहीन मुक्ताबाई के अनुरोध पर, इस बात की परीक्षा लेनी आरंभ की कि मंडली में कौन संत पक्का है और कौन कच्चा। वे अपनी थापी लेकर बारी बारी से एक एक के सिर पर चोट करते जाते थे। सबने तो चुपचाप चोट सह ली परंतु नामदेव ने आपत्ति की, जिसके कारण और संत तो पक्के घड़े सिद्ध हुए परंतु ये कच्चा घड़ा ठहराए गए। इससे नामदेव को किसी गुरु से दीक्षा लेने की चिंता हुई और उसके बाद उन्होने बिसोबा खेचर को अपना गुरु बनाया।

चमत्कारपूर्ण कथाएँ

संत नामदेव के जीवन में घटनेवाली अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की कल्पना की गई है। ठाकुर जी को दूध पिलाने की कथा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके गुरु के विषय मे प्रसिद्ध है कि जब ये उनके पास पहुँचे उस समय वे शिवालय मे शिवलिंग के ऊपर पैर फैलाए लेटे हुए थे। नामदेव के शंका करने पर उन्होंने कहा कि मेरा पैर शिवलिंग पर से हटा दो। ज्यों ज्यों ये पैर को घुमाकर दूसरी ओर करते त्यों त्यों शिवलिंग भी उसी ओर घूमता जाता। इससे ये बहुत प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे दीक्षा ले ली।

स्वयं नामदेव के विषय मे प्रसिद्ध है कि एक बार साक्षात् भगवान ने आकर उनकी छान (छप्पर) छाई थी। एक अन्य अवसर पर इनके छीपी होने के कारण ब्राह्मणों ने इन्हें डाँटकर मंदिर के द्वार से पिछवाड़े की ओर चले जाने को कहा, और जब ये उधर चले गए तो मंदिर का द्वार भी इन्हीं की ओर घूम गया और पंडित लोग पिछवाड़े रह गए। इसी प्रकार एक बार किसी सुलतान[१] ने इनसे एक मरी गाय जिलाने को कहा, और वैसा न करने पर इनपर मत्त हाथी छोड़ने की आज्ञा दी। परंतु वह हाथी इनका कुछ न बिगाड़ सका और इनकी प्रार्थना पर भगवान ने आकर गाय जिला दी जिससे सुलतान बहुत प्रभावित हुआ।

[१] इस सुलतान को कोई मुहम्मद तुगलक, कोई फीरोज तुगलक और कोई बीदर का शासक कहते हैं। मुहम्मद तुगलक का शासनकाल सं० १३८२ से १४०८ तक है जो नामदेव जी के पंजाब निवास के समय (सं० १३८२-१४०७) से मेल खाता हैं। इस बीच उसी से नामदेव की भेंट होना अधिक संभव है।

इन अंतिम तीन घटनाओं का उल्लेख नामदेव के नाम से 'ग्रंथ साहब' में दिए हुए तीन पदों मे भी हुआ है,[१] परंतु स्वयं नामदेव द्वारा इनका वर्णन संदिग्ध जान पड़ता है।

मृत्यु—संत नामदेव ने उत्तरी भारत के अनेक स्थानों में यात्रा की और कुछ दिनों तक हरिद्वार में निवास किया। तत्पश्चात् ये पंजाब प्रांत में चले गए और गुरदासपुर जिले की बटाला तहसील मे तालाब के किनारे रहने लगे, जहाँ पीछे 'घूमन' नाम का गाँव बस गया। पंजाब में पहुँचने के समय नामदेव की अवस्था पचपन वर्ष के लगभग बताई जाती है। उसके बाद स्थायी रूप से घूमन गाँव मे ही रहे और संभवतः वहीं संवत् १४०७ में इनकी मृत्यु हुई। माघ मास के आरंभ में प्रतिवर्ष उस स्थान पर मेला लगा करता है। गुरदासपुर, जलंधर और हिसार जिलों मे अब भी नामदेव के अनुयायी पाए जाते हैं।

रचनाएँ

संत नामदेव की रचनाएँ मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में पाई जाती हैं। हिंदी रचनाएँ कुछ तो मराठी संग्रहों मे प्रकाशित हुई हैं और कुछ 'गुरु ग्रंथ साहब' में संगृहीत हैं। 'ग्रंथ साहब' मे दिए हुए पदों की संख्या ६१ है। मराठी संग्रह के पदों को मिलाकर और दोनों में से समान पदों को निकाल देने पर नामदेव के संपूर्ण प्राप्य पदों की संख्या १२० के लगभग होती है।[२]

अभी तक, नामदेव के हिंदी पदों का सम्यक् आलोचनात्मक अध्ययन न हो सकने के कारण, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वे सभी अपने मूल रूप मे सुरक्षित हैं। गेय रूप मे पदों का व्यापक प्रचार होने के कारण उनमे कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाना सर्वथा संभव है। परंतु 'ग्रंथ साहब' के पदों मे कम से कम सं० १६६१ के बाद परिवर्तन की संभावना बहुत कम होने के कारण, प्राचीनता की दृष्टि से, वे अधिक प्रामाणिक माने जाने के योग्य हैं।

[१] ग्रं० सा०, राग सोरठ, पृ० ५७६; भैरो, पृ० १०१३ तथा पृ० १०१४-१५।

[२] डा० भगीरथ मिश्र ने इनकी प्रायः सभी उपलब्ध हिंदी रचनाओं का एक संग्रह 'संत नामदेव की हिंदी पदावली' के नाम से संपादित कर सन् १९६४ ई० में विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया है जिसमें २३० पद एवं १३ साखियों का समावेश हुआ है।—सं०।

भाषा—'ग्रंथ साहब' में दिए हुए नामदेव के पदों की भाषा बहुत कुछ अपने उसी रूप को लिए हुए जान पड़ती है जो उनके रचयिता के समय मे सर्व-साधारण की बोलचाल मे सामान्य रूप से प्रचलित था, और जिसका अधिक प्रौढ़ रूप हम उनके परवर्ती कबीर आदि संतों की रचनाओं मे पाते हैं। हिंदी का ब्रज और खड़ीबोली मिश्रित रूप, नामदेव के ही समय में, प्रचलित हो चुका था और वह उनके पदों मे बराबर देखा जा सकता है। कहीं कहीं तो एक आध पदों में खड़ीबोली का रूप बहुत स्पष्ट रूप से निखर आया है। जैसे—

पांडे तुमरी गाइत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेगा टँगरी तोरी लॉगत लॉगत जाती थी॥
पांडे तुमरा महादेव धौले बलद चढ़्या आवत देख्या था।
मोदी के घर खाणा पाका वाका लड़का मार्‌या था॥

(ग्रं० सा० राग गौंड, पृ० ७६३)

साधारणतः इनकी भाषा में फारसी आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता, परंतु एक आध पदों मे फारसी का प्रयोग जान बूझकर किया गया मिलता है जिसमे मसकीन, गनी, दीगर, दाना, बीना, कुजा, आमद जैसे शब्द भी आए हैं।[1] कहीं कहीं इनकी मातृभाषा मराठी की छाया अवश्य, संबंध कारक के चिह्न 'चा' या 'चे' के रूप मे, मिलती है। जैसे—'नामे चे स्वामी बीठलो जिन तीनै जरिया।'[2] इसी प्रकार एक आध स्थलो पर मराठी की भाँति क्रिया का सामान्य भूतकालिक रूप लाकारांत मिलता है। जैसे—

छीपे के घर जनम पैला गुरु उपदस भैला,
संतह के परसाद नामा हरि भेंटुला।[3]

भक्तिसाधना

नामदेव जी पहले सगुण भगवान् के उपासक थे और भगवान् के विविध अवतारों के चरित्रों मे भी उनका विश्वास था। अपने पदों मे कहीं कहीं उन्होंने

[1] ग्रं० सा०, रागु तिलंग, पृ० ६३६।

[2] वही, गूजरी, पृ० ४६२।

[3] यह ध्यान रखना चाहिए कि भोजपुरी में भी क्रिया का रूप लाकारांत पाया जाता है। जैसे 'हम जाई ला', 'मोहन जाला'। परंतु वह वर्तमानकालिक रूप है, भूतकालिक नहीं। जयपुर की ओर भी क्रिया के साथ 'ला' बोला जाता है, परंतु भविष्यत में, जैसे—'जायला' (जायगा)। सामान्य भूत में लाकारांत रूप मराठी में होता है। जैसे केला (किया), गेला (गया), आला (आया) इत्यादि।—ले०।

भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हें अजामील, पूतना, द्रौपदी, अहल्या आदि का उद्धार करनेवाला, हिरण्यकश्यपु का प्राण हरनेवाला, केशी का वध करनेवाला और कालिय को जीवनदान देनेवाला कहा है।[१] एक अन्य पद में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि दशरथ पुत्र रामचंद्र ही मेरे पूज्य हैं :

जसरथ राय नंद राजा मेरा रामचंद
प्रणवै नामा तत्व रस अमृत पीजै।[२]

परंतु आगे चलकर, संभवतः 'वारकरी संप्रदाय' तथा संत ज्ञानदेव के प्रभाव से, वे एक, सर्वव्यापक, निराकार, घट-घट-वासी भगवान् की भाव भक्ति के साधक हो गए। फिर तो उन्हीं के मुख से इस प्रकार के भी वाक्य निकले कि 'पांडे तेरा रामचंद्र सो भी आवत देख्या था, रावन सेती सरवर होई घर की जोय गँवाई थी'।[३] उनके व्यापक राम 'शत सहस्र मणियों में एक सूत की भाँति सब मे ओतप्रोत हैं। जिस प्रकार तरंग, फेन और बुद्बुद जल से भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार संसार के नाना रूप भी उस एक के ही रूप हैं जो सबमें समाया हुआ है। वस्तुतः सब कुछ गोविंदमय है[४] उनका गोविंद हिंदुओं और मुसलमानों के भगवान और अल्लाह की तरह किसी मंदिर या मसजिद के भीतर रहनेवाला नहीं है :

हिंदू पूजै देहुरा, मुस्सलमाण मसीत।
नामे सोई सेविया, जहँ देहुरा न मसीत॥[५]

और जहाँ तक उसके नामों का संबंध है, उसे राम, केशव, विट्ठल, मुरारी, रहीम, करीम, अल्लाह किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।

नामदेव जी अनेक देवी देवताओं की पूजा के बड़े विरोधी थे और उन्होंने भैरव, भूत, शीतला, शिव, भवानी आदि के पूजकों पर बहुत व्यंग्य किया है।[६] मूर्तिपूजा के संबंध में भी उन्होंने कहा है कि 'लोग एक पत्थर की भक्ति करते हैं, दूसरे को पैरों से रौंदते हैं, यदि एक पत्थर देव है तो दूसरा भी क्यों नहीं है?'[७]

१ ग्रं० सा०, रागु गौड़, पृ० ७६२।
२ वही, रामकली, पृ० ८४८।
३ वही, गौंड़, पृ० ७६३।
४ ग्रं० सा०, रागु आसा, पृ० ४२७।
५ वही, रागु गौड़, पृ० ७६३।
६ वही, पृ० ७६२।
७ वही, गूजरी, पृ० ४६२।

उनकी दृष्टि में केवल राम नाम का ही सर्वोपरि महत्व है। कठोर तप, तीर्थ, अश्वमेध यज्ञ तथा अनेक प्रकार के दान—ये सब मिलकर भी राम नाम के बराबर नहीं हो सकते।[1]

राम का ध्यान नामदेव के विचार से, संसार के सब आवश्यक कार्य करते हुए भी प्रतिक्षण इस प्रकार करना चाहिए, जैसे गुड्डी उड़ानेवाला अपने साथियों से बातचीत करते हुए भी ध्यान बराबर डोरी पर ही रखता है, अथवा जैसे पानी से भरा घड़ा सिर पर लेकर चलनेवाली स्त्रियाँ अपनी सहेलियों से हँसते बोलते हुए भी चित्त घड़े पर ही रखती हैं, अथवा जैसे माता घर मे भीतर बाहर के सब काम करती हुई भी ध्यान पालने मे लेटे हुए अपने बालक पर ही रखती है।[2] राम को उन्होंने अपना 'भर्तार' और 'खसम' भी कहा है जिसका वे आठों पहर ध्यान करते और जिसके बिना एक घड़ी भी नहीं रह सकते।[3]

योग की क्रियाओं का भी संतों की भक्ति मे सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा है और नामदेव ने भी गुरु के उपदेश से इड़ा और पिंगला से सुषुम्ना मे पवन को बाँधने, सूर्य और चंद्र दोनों को सम करने, अनहद नाद बजाने, शून्य समाधि लगाने तथा ब्रह्मज्योति में मिल जाने का वर्णन किया है।[4]

५. **त्रिलोचन**—संत त्रिलोचन भी महाराष्ट्रीय थे और नामदेव के समकालीन ही थे। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार नामदेव और त्रिलोचन दोनों ज्ञानदेव के शिष्य थे।[5] इन दोनों का प्राय: सत्संग रहता रहा होगा और 'ग्रंथ साहब' मे कहीं कहीं नामदेव और त्रिलोचन के संवाद का भी संकेत मिलता है।[6]

संत त्रिलोचन का जन्म सं० १३२४ में होना प्रसिद्ध है। ये जाति के वैश्य थे और घर में पति और पत्नी केवल दो ही प्राणी थे। ये संतों के बड़े सेवक थे और अपने घर पर बराबर उनका सत्कार किया करते थे। इनकी पत्नी इस कार्य मे इनका पूरा साथ नहीं दे पाती थीं, इस कारण ये संतसेवा के लिये एक नौकर की खोज में थे। भक्तपरंपरा में प्रसिद्ध है, स्वयं भगवान् ही इनके यहाँ नौकर बनकर आए और कुछ दिन रहे, पर त्रिलोचन को इसका ज्ञान उनके चले जाने पर हुआ। बात यों

१. वही, रामकली, पृ० ८४८।
२. वही, पृ० ८४७।
३. वही, भैरो, पृ० १०१३, आसा, पृ० ४२७।
४. वही, रामकली, पृ० ८४८।
५. छप्पय ४८।
६. यथा—'कहत नामदेव सुनहु त्रिलोचन', रागु रामकली, पृ० ८४७।

हुई कि कई सेर आहार करनेवाले एक व्यक्ति ने इस शर्त पर नौकरी की कि मेरे आहार की निंदा होगी तो मैं नौकरी छोड़कर चला जाऊँगा। संयोगवश त्रिलोचन की पत्नी ने एक दिन पड़ोसिन से इसकी चर्चा कर ही दी और जब इसकी सूचना नौकर को मिली तो वह चुपचाप वहाँ से चला गया। संत त्रिलोचन से किसी ने कहा होगा कि वह नौकर स्वयं भगवान् थे, जिससे उनके मन मे बड़ा दुःख हुआ।

रचनाएँ

संत त्रिलोचन के चार पद 'ग्रंथ साहब' में संकलित हैं जिनमे प्रकट किए गए भाव उच्च हैं, किंतु रचना बहुत साधारण कोटि की है। नामदेव की भाँति इनकी भाषा मे भी संबंध कारक मे मराठी 'चे' का प्रयोग मिलता है। जैसे—'जापियले रामचे नामं' तथा 'पंखीराय गरड़ ताचे बांधवा।'[1]

इनके एक पद में 'जयचंदा' और एक दूसरे मे 'बाई' संबोधन से किसी स्त्री का उल्लेख हुआ है जो संभव है इनकी पत्नी ही रही हो—'भरमे भूली रे जयचंदा' तथा 'अरी बाई गोविंद नाम मति बीसरे'।[2]

इनके पदों से इनका यह विश्वास प्रकट होता है कि मृत्यु के समय सांसारिक वस्तुओं की चिंता करनेवाला व्यक्ति तो बुरी बुरी योनियों मे जन्म पाता है, परंतु नारायण को स्मरण करनेवाला मुक्त हो जाता है। अंतर्मन को निर्मल न कर बाहर से संन्यासी बनने या 'भेख' धारण करने को ये पाखंड समझते थे। इनके विचार से मनुष्य मायामोह मे पड़कर जरामरण का भय भूल जाता और दुःख पाता है। बिना राम की कृपा के उसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

———

[1] ग्रं० सा०, राग धनाश्री, पृ० ६०८।
[2] वही, गूजरी, पृ० ४६३।

द्वितीय अध्याय

कबीर और उनके समकालीन संत

१. उपक्रम

संतपरंपरा, संतगुणग्राहक सामान्य जनसमुदाय तथा विद्वानों में जितनी ख्याति और चर्चा कबीर की हुई उतनी गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त किसी अन्य भक्त कवि की नहीं। हिंदी संत कवियों की अविच्छिन्न परंपरा कबीर से ही आरंभ होती है और हिंदी साहित्य में उनका एक अत्यंत विशिष्ट स्थान है। उनके समसामयिक तथा परवर्ती संतों मे उनका एक अत्यंत विशिष्ट स्थान है। उनके समसामयिक तथा परवर्ती संतों पर उनका बहुत बड़ा प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व एवं उनके प्रभाव का कारणसंबंध इतिहास मे ढूँढ़ना सर्वथा स्वाभाविक एवं समीचीन है। अतः उसे समझने के लिये उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन उन व्यक्तियों और परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है जिनका प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रभाव उनके ऊपर पड़ने की संभावना हो सकती है। पिछले अध्याय मे जिन संतों का वर्णन हुआ है उनका, विशेषतः नामदेव का, परोक्ष, प्रभाव उनके ऊपर विशेष पड़ा होगा। कबीर के समकालीन संतों की चर्चा इस अध्याय मे की जायगी। उनमे एक ऐसे विशिष्ट संत भी हैं जिनकी रचनाएँ तो प्राप्त नहीं हैं, परंतु जिनका प्रत्यक्ष और व्यापक प्रभाव कबीर पर पड़ने का अनुमान होता है।

कबीर के आविर्भाव के समय तक इस्लामी शासन और मजहब की जड़ भारत में गहराई तक पहुँच चुकी थी। हिंदू शासक, राजनीतिक दूरदर्शिता और संघटन के अभाव के कारण परास्त हुए थे, परंतु वस्तुतः संपूर्ण हिंदू समाज ही अपनी आतरिक विषमताओं के कारण दुर्बल हो गया था। अनेक धार्मिक मतों और जातियों में उच्च नीच का भेद उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी। इस्लाम ने अपने प्रचार के लिये तलवार का सहारा लिया, परंतु उसका मुख्य बल धार्मिक एकता और सामाजिक समानता था। जब हिंदू मुसलमान एक दूसरे के पड़ोसी बन गए तो साधारण जनता स्वभावतः मेल और शांति की ओर प्रवृत्त हुई। सूफी संतों ने धर्मप्रचार के लिये तलवार के बदले शांतिमय उपाय अपनाए, इससे हिंदू समाज के निम्नवर्गीय लोग, जो एक सरल धर्म की विजय प्रत्यक्ष देख रहे थे, अनायास उनकी ओर झुकने लगे। सवर्ण हिंदू समाज अपने स्वार्थ और पाखंड के कारण इस स्थिति का सामना करने मे असमर्थ था। नाथपंथ के भीतर जाति पाँति का भेद नहीं था,

परंतु इस कारण वह सवर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करने में तो असमर्थ था ही, केवल हठयोग के बल पर वह निम्नवर्गीय गृहस्थों को भी अपनी ओर नहीं खींच सकता था। ऐसे समय मे एक ऐसी शक्ति की ऐतिहासिक आवश्यकता थी जो धर्म के वास्तविक तत्व की रक्षा करते हुए, बाह्य नियमों और आचारों की शृंखला ढीली करके प्रेम और समानता के आधार पर हिंदू मुसलमान, ऊँच नीच, स्त्री पुरुष सबको एक सूत्र में बाँध सकती। भक्ति के सिद्धांत इस विषय मे निश्चय ही उदार थे, परंतु उस समय तक भक्त आचार्य स्वयं अपने को जाति पाँति आदि की भेदमूलक रूढ़ियों से मुक्त नहीं कर सकते थे। उस समय, जहाँ तक पता चलता है, प्रसिद्ध भक्त आचार्य स्वामी रामानंद ऐसे हुए जिन्होंने भक्ति के लिये वेदशास्त्र, संस्कृत भाषा, वर्णभेद, बाह्याचार, आदि का बंधन अनिवार्य नहीं माना और भक्ति के वास्तविक तत्व को व्यावहारिक रूप देने के लिये, उन्होंने स्त्री, शूद्र और यवन को भी अपना शिष्य बनाना स्वीकार किया।

२. रामानंद

स्वामी रामानंद का नाम उत्तर भारत के संतों मे बहुत प्रसिद्ध है और यह माना जाता है कि उत्तर भारत मे संतमत के व्यापक प्रचार में इनका बहुत बड़ा हाथ था। इनके अनेक शिष्य प्रशिष्य हुए जिनमे से बारह के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। नाभादास ने यह भी लिखा है कि इन्होंने बहुत काल तक शरीर धारण किया।[1] परंतु, इनके जीवन और इनकी रचनाओं तथा संप्रदाय और सिद्धांतों के संबंध में, अब तक कोई असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इनकी ख्याति और इनके संबंध के उल्लेखों से यह अवश्य विदित होता है कि ये एक बड़े विद्वान् तथा भक्तियोग के सफल साधक एवं अत्यंत उदार विचारवाले आचार्य थे। भक्तिपथ में यद्यपि तत्त्वतः कहीं भी किसी प्रकार का भेदभाव विहित नहीं है, तथापि भक्ति के प्रायः सभी पूर्ववर्ती आचार्य किसी न किसी रूप मे बहुत कुछ सामाजिक रूढ़ियों और लोकवेद

[1] अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पदमावत नरहरि।
पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसुर की धरहरि।
औरो शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर।
विश्व मंगल आधार भक्ति दशधा के आगर॥
बहुत काल वपु धारिकै प्रणत जनन को पार दियो।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेत जग तरण कियो॥
—भ० मा० (ना० दा०) छं० ३७।

की मर्यादा के पोषक थे जिससे भक्तों के बीच से भी भेदभाव का व्यवहार दूर न हो सका था। स्वामी रामानंद ने इस विषय में, पूर्व आचार्यों से अपने विचार कुछ भिन्न रखते हुए, भक्ति सिद्धांतों का सचाई और दृढ़ता से पालन किया। इसी से इनके शिष्यों में हम कबीर जुलाहा, सेन नाई, रैदास चमार, और धन्ना जाट आदि के भी नाम पाते हैं।

जीवनकाल

इनके जन्म और मृत्यु का संवत् क्रमशः १३५६ और १४६७ वि० माना जाता है। परंतु न इस संबंध में कोई एक निश्चित मत है, न ये संवत् असंदिग्ध रूप से सत्य माने जा सकते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो निश्चित रूप से इन संवतों के विरुद्ध पड़ते हैं। अपने को रामनंद की ही शिष्य-परंपरा में बतानेवाले अनंतदास ने अपने द्वारा 'नामदेव की परचई' के सं० १६४५ में लिखी जाने का उल्लेख किया है और 'पीपा की परचई' में अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार दी है—अनंतदास, विनोदी, अग्रदास, कृष्णदास, अनतानंद, रामानंद। इसे असत्य मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता, और, इस दृष्टि से यदि पाँच पीढ़ियों के लिये १२५ वर्ष का समय मानकर, इसे १६४५ में से निकाल दिया जाय तो रामानंद का मृत्युकाल सं० १५२० वि० के लगभग ठहरता है। रामानंद का एक मृत्युसंवत् १५०५ भी प्रसिद्ध है, यह उक्त हिसाब से संभव जान पड़ता है। रामानंद जी आचार्य रामानुज की शिष्यपरंपरा में उनसे चौदहवीं पीढ़ी में माने जाते हैं। रामानुजाचार्य का मृत्युकाल सं० ११९४ प्रसिद्ध है। यदि तेरह पीढ़ियों के लिये ३२५ वर्ष (१३ × २५) समय मानकर उसे ११९४ में जोड़ दिया जाय, तो इस हिसाब से भी रामानंद की मृत्यु सं० १५१९ में आती है। अतः अधिक संभव यही जान पड़ता है कि उनकी मृत्यु सं० १५०५ में हुई।[1] यदि यह मृत्युकाल ठीक माना जाय तो, उनके दीर्घ जीवन को ध्यान में रखते हुए, उनका जन्मकाल सं० १४०० के आसपास माना जा सकता है।

कुल और शिक्षा दीक्षा

कहा जाता है, इनका जन्म प्रयाग के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये विद्याध्ययन के लिये काशी भेजे गए और वहीं स्वामी राघवानंद के शिष्य हो गए। नाभादास ने इनके राघवानंद का शिष्य होने का उल्लेख करते हुए, राघवानंद के विषय में बतलाया है कि ये रामानुजाचार्य की शिष्यपरंपरा में

[1] द्रष्ट० 'कबीर साहित्य का अध्ययन', पृ० ३२४-२५।

हरियानंद के शिष्य थे और संपूर्ण पृथ्वी भ्रमण कर काशी मे ही स्थायी रूप से रहने लगे थे। इन्होंने चारों वर्णों और आश्रमों के लोगों मे भक्ति भावना को दृढ़ किया था।[1] रामानंद के राघवानद का शिष्य होने का उल्लेख सतरहवीं शती मे मिट्ठीलाल द्वारा 'गुरु प्रकारी' नामक ग्रंथ में भी हुआ है।[2] दीक्षा लेने के बाद स्वामी रामानंद भी स्थायी रूप से काशी में प्रसिद्ध 'पंचगंगा' घाट पर रहे।

रचनाएँ और सिद्धांत

स्वामी रामानंद कुछ संस्कृत ग्रंथों के रचयिता कहे जाते हैं, परंतु उनके संबंध मे प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हिंदी मे उनके दो एक पद मिलते हैं, परंतु उनसे उनके सिद्धांतों के विषय मे कुछ विशेष जानकारी नहीं होती। इनके गुरु राघवानंद दक्षिण से उत्तर भारत मे आकर राममंत्र का प्रचार करनेवाले बताए गए हैं। राघवानंद के सिद्धांतों के संबंध मे उनकी 'सिद्धातपंचमात्रा' नाम की पुस्तक के आधार पर डा० बड़थ्वाल का मत है कि उनका 'साधनामार्ग' योग और प्रेम का समन्वित रूप है जो सनत्कुमार आदि ब्रह्मा के चार मानसपुत्रों के द्वारा चलाया गया था।' उसमे वैष्णवधर्म संबंधी बातों का भी पर्याप्त समावेश है और नामस्मरण का बहुत अधिक महत्व माना गया है। इससे उनके शिष्य रामानंद के सिद्धांतो का कुछ अनुमान किया जा सकता है। जहाँ तक आचार विचार का सबंध है, रामानंद का अपने गुरु राघवानंद से मतभेद हो गया था, जिसके बाद इनका अलग मत चला, जो 'रामावत' या 'रामानंदी' संप्रदाय कहलाता है।

नाभादास ने रामानंद के साधनामार्ग के विषय मे कुछ विशेष न लिखकर केवल उन्हें 'दशधा भक्ति के आगर' लिखा है। परंतु रामानंद के शिष्य अनतानंद के शिष्य गणेशानंद का सं० १६०६ का लिखा 'भक्ति भावती जोग' ग्रंथ मिलता है, जिसमें दशधा का कुछ विस्तार से वर्णन है। उसके अनुसार दसवीं प्रकार की भक्ति

[1] देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानंद।
तस्य राघवानंद भए भक्तन को आनद।
पत्रावलंब पृथ्वी करिव काशी अस्थाई।
चारि बरन आसम सबही को भगति दिढाई॥
तिनके रामानंद प्रगट विश्वमंगल जिहि वपु धरयो।
श्री रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत है अनुसरयो॥
—भ० मा० (ना० दा०, छं० ३६)।

[2] यो० प्र०, पृ० ३।

प्रेमभक्ति है जो नवधा के बाद आती है।[१] पहले संतों की संगति करके योग्य गुरु की खोज करनी चाहिए और गुरु मिल जाने पर उसी की उपासना करना तथा नवधा भक्ति मे मन लगाना चाहिए। इसके साथ ही भक्त के ये कर्तव्य बतलाए गए हैं—अपनी गृहिणी के साथ संयम से गृहस्थ जीवन बिताना, परधन और परदारा मे न लिप्त होना, हरिकृपा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आशा न करना, संत को सर्वस्व मानना, गुरु और गोविंद मे भेद न करना, वर्णधर्म के नियमों का पालन करना, दूसरों के गुण अवगुण न देखना, पराई निंदा न सुनना, कटुभाषण न करना, शत्रु और मित्र को समान समझना, यथाशक्ति परदुःख का निवारण करना, हरि को हृदय मे धारण किए रहना और निर्मम तथा निर्भय होकर संसार मे विचरना। ऐसा करते करते भक्ति अंतर्मुखी हो जाती है, तब बाहर की करणी शिथिल पड़ जाती है।[२] यही भक्ति की दसवीं भूमिका है। इसमे भक्त के हृदय मे हरि का प्रकाश हो जाता है। तब वह पुलकित हो जाता है, उसके नयनों मे अश्रु आ जाते हैं और वह आनंदमग्न होकर गद्गद वचन बोलता है। वह जैसे अपने भीतर हरि का प्रकाश देखता है वैसे ही सबमे देखता है। उसे चतुर्भुज रूप का भी दर्शन होता है। फिर उसका सारा त्रास दूर हो जाता है और उसे पूर्ण शांति मिल जाती है। मरने पर वैकुंठ मिलता है और फिर आवागमन नहीं होता।

इस भक्ति को गणेशानंद ने, सतगुरु के उपदेश से प्राप्त 'भागवती' भक्ति कहा है और इसी को मुक्ति का सबसे सरल साधन बतलाया है। इसके द्वारा ज्ञान भी सहज प्राप्त हो जाता है, जैसे भोजन से भूख मिट जाती है। ज्ञानमार्ग, वेदांतसंमत है और उससे भी मुक्ति मिलती है। साधक अपनी वृत्ति के अनुसार ज्ञान या भक्ति किसी एक मार्ग को चुन लेता है। ज्ञान की सिद्धि का लक्षण है भीतर बाहर सर्वत्र अद्वैत की प्रतीति। ज्ञान की अंतिम भूमिका तुरीयावस्था है जिसमे पहुँचने पर जीवन्मुक्ति हो जाती है।

'भक्तिभावती' मे बीच बीच मे रामानंद और अनंतानंद के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है,[३] इससे अनुमान किया जा सकता है कि रामानंद इसी दशधा भक्ति के साधक और उपदेशक रहे होंगे। साथ ही ज्ञानवृत्तिवालों को वे ज्ञानमार्ग का उपदेश देते रहे होंगे। पर यहाँ विचारणीय यह है कि यदि कबीर ने उनसे दीक्षा

[१] जो पहले नौधा करि आवै। प्रेम भगति ता पीछैं पावै।

[२] यूं करनैं अतरगा आई। तब बाहरि करणी सिथलाई॥

[३] यथा—परमहंस गुरु चित धरै, सुमिरि अनंतानद।
अग्यान ध्वात के रवि सदा, प्रपन्न रामानंद॥

ली तो वह इन दोनों मे से किस मार्ग की थी? उक्त भक्ति में वर्णधर्म के पालन तथा उसकी अंतिम अवस्था मे चतुर्भुज के दर्शन एवं मरणोपरांत वैकुंठप्राप्ति की बात कही गई है। परंतु कबीर न वर्णमर्यादा को मानते थे और न परमात्मा के रूप या आकार मे विश्वास करते थे। अद्वैत के अनुभव का उन्होने अवश्य वर्णन किया है, परंतु अपनी साधना को 'प्रेमभक्ति', 'भावभक्ति' या 'नारदी भक्ति' ही कहा है। ऐसी अवस्था मे यही संभव प्रतीत होता है कि या तो कबीर ने रामानंद से दीक्षा नहीं ली और अपनी सारग्रही वृत्ति द्वारा एक नया पंथ रचकर उसे ही उन्होने अपनाया और प्रचारित किया, अथवा उन्होने रामनाम की दीक्षा और भक्तितत्व का उपदेश रामानंद से प्राप्त किया, परंतु पीछे ज्ञान का उपदेश सुनने और योग के अनुभव प्राप्त करने के बाद, उन्होने अपने विचारों मे कुछ परिवर्तन कर लिया। परंतु उससे भी अधिक संभव यह जान पड़ता है कि 'भागवती' भक्ति और ज्ञान का वास्तविक तत्व समझनेवाले तथा समय की गति पहचाननेवाले स्वामी रामानंद ने स्वयं भक्ति की मर्यादा को मानते हुए भी, नवधा और सगुण भक्ति की विहित चर्या सबके लिये अनिवार्य नहीं समझी थी। उन्हे ज्ञान था कि भागवत भक्ति के अनुसार स्त्री, शूद्र, हूण, शबर, तथा अन्य पापयोनियों के जीव भी हरिकृपा के अधिकारी हैं। परंतु उस समय समाज की दशा इसके प्रतिकूल थी और इन पतित माने जानेवाले जीवों के लिये प्रणवजप, मंदिरप्रवेश आदि का भी निषेध था। इसी से ऐसे लोगो के लिये उन्होंने रामनाम का ही उपदेश दिया। वे यह भी जानते थे कि परमात्मा के स्थूल और सूक्ष्म रूप तथा उनकी लीलाएँ उनके वास्तविक स्वरूप तथा चरित्र नहीं हैं। ये दोनों प्रकार के रूप मायायुक्त हैं और विवेकी लोग इन्हें परमार्थ रूप में ग्रहण नहीं करते।[1] भगवान् का वास्तविक स्वरूप तो वही है जिसे मुनिगण ब्रह्म कहते हैं, जो सदा शांत, अभय, ज्ञानस्वरूप, शुद्ध, सत् असत् से परे, परम आत्मतत्व-रूप है।[2] यद्यपि श्रीमद्भागवत में भगवान् के अवतारों की कथा का भी विधान है, परंतु वह चित्तशुद्धि एवं भगवान् मे प्रीति उपजाने के लिये है। वस्तुतः भक्ति की चरम परिणति निर्गुण, अकर्ता परमात्मा से पूर्ण अभेद की प्रतीति ही है।[3] भक्ति के प्रसंग मे रामानंद जी इन बातों का उपदेश भी करते ही रहे होंगे, तब आश्चर्य नहीं कि कबीर की निर्मल वासना एवं जाग्रत विवेक ने सगुण लीलाओं को

[1] अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते। उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥—भाग० २।१०।३५॥

[2] भागवत, २।७।४७-४८; विशेष द्रष्टव्य, कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० २२१।

[3] भाग० २।२।३३ ३।६।१४।

निरर्थक जान उनका त्याग किया और भक्ति के मूल तत्व तथा परमात्मा के निर्गुण स्वरूप को ही ग्रहण किया। विशेषतः जब विहित पूजोपचार और मंदिरप्रवेश आदि का तथा द्विजातियों के बीच बैठने तक का, उन्हे उनकी जाति के कारण, सामाजिक निषेध था, तो उनके पाखडविरोधी मन के लिये सगुण का त्याग और भी स्वाभाविक था। निर्गुण राम की भक्ति का प्रचार जो अधिकतर द्विजेतर जातियों में हुआ उसका कारण मुख्यतः उनकी सामाजिक असमर्थता ही थी। लुप्तप्राय नाथपंथ की भूमिका पर पल्लवित भक्ति के रामानंद जैसे आचार्यों ने ऐसे लोगों के भी उत्थान का यही मार्ग सरल समझा था।

हिंदी रचना

'ग्रंथ साहब' मे स्वामी रामानंद का एक पद सकलित है। इसकी भाषा और भाव से विश्वास होता है कि उन्होंने ऐसे और पद भी अवश्य रचे होंगे, जो अब प्राप्य नहीं हैं।[1] पर इस एक पद मे भी उनकी निर्भ्रम साधना का स्पष्ट दर्शन होता है।[2] इस पद मे स्वामी रामानंद के तीर्थ, मूर्ति, पूजा, वेद, पुराण तथा बाह्य कर्मों एव उपासनाविधियो को त्याग कर, घर मे ही रहते हुए, अंतर्यामी एवं विश्वव्यापक ब्रह्म वा परमात्मा की प्रेमाभक्ति करने, गुरु के शब्द से उनके अज्ञान एवं पूर्वकर्मों के नष्ट होने तथा उनके ब्रह्मज्ञान होने का उल्लेख है। यह स्पष्टतः वही भक्ति है जिसका हम कबीर मे इतना भावपूर्ण वर्णन पाते हैं। इससे यह भी आभास मिलता है कि आरंभ मे उनकी सगुण पूजा मे प्रवृत्ति थी, पीछे निर्गुण की भाव-भक्ति मे रत हुए। इस पद की भाषा स्वच्छ एवं (उस समय की दृष्टि से) काफी प्रौढ़ है।

शिष्य

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नाभादास ने रामानंद के बारह शिष्यों के नाम दिए हैं जो इस प्रकार हैं—अनंतानंद, कबीर, सुखानंद, सुरसुरा, पद्मावत, नरहरि, पीपा, भावानंद, रैदास, धना, सेन और सुरसुर।[3] इनके अतिरिक्त और भी अनेक

[1] स्वामी रामनंद की उपलब्ध हिंदी रचनाओं का एक सग्रह नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सं० २०१२ में प्रकाशित हो चुका है।—सं०।

[2] कत जाइये रे घर लागे रंगु। मेरा चितु न चलै मन भयो पगु॥ १॥ एक दिवस मन भई उमंग। घसि चंदन चोआ बहु सुगंध॥ पूजन चाली ब्रह्म ठाइ। सो ब्रह्म बतायो गुरु मनही मॉहि॥१॥ जहाँ जाइयै तहँ जल परवान। तूरि रह्यौ है सब समान। वेद पुरान सब देखे जोइ। ऊँहाँ तौ जइयै जौ ईहाॅ न होइ॥ २॥ सतिगुरु मैं बलिहारी तोर। जिन सकल विकल भ्रम काटे मोर॥ रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म। गुरु का शब्द काटै कोटि कर्म॥ ३॥ (ग्रं० सा०, पृ० १०४१)

[3] भ० मा०, छप्पय ३७।

शिष्य प्रशिष्य हुए जो एक से एक बढ़कर थे। 'रहस्यत्रयी' ग्रंथ के टीकाकार ने सुरसुर के स्थान पर योगानंद और गालवानंद के नाम दिए हैं और पद्मावती को आधा गिनकर कुल साढ़े बारह शिष्य लिखे हैं। इनमे केवल पाँच की रचनाएँ हिंदी मे उपलब्ध हैं।

३. सेन

नाभादास के अनुसार ये रामानंद के शिष्य थे। ये जाति के नाई थे और बाँधोगढ़ नरेश की सेवा मे रहते थे। ये बड़े भगवद्भक्त थे और प्रसिद्ध है कि एक बार स्वयं भगवान् ने इनका रूप धरकर राजा की सेवा की थी, जिससे प्रभावित होकर राजा इनका शिष्य हो गया था। परंतु दक्षिण मे यह प्रसिद्धि है कि ये बीदर के राजा के यहाँ रहते थे और संत ज्ञानदेव की शिष्यमंडली मे थे। भगवान् के नाई बनकर राजा की सेवा करने के विषय में, मराठी मे इनके कई 'अभंग' प्रचलित हैं जिनमें पंढरपुर के विट्ठलनाथ की स्तुति है। इससे ये वारकरी संप्रदाय के जान पड़ते हैं। यह असंभव नहीं है कि ये पहले उक्त राजाओं मे से किसी एक के सेवक रहे हों, फिर दूसरे के यहाँ चले गए हो। परंतु ज्ञानदेव (सं० १३२९-५०) और रामानंद (१३६६-१५०५) के समय में बहुत अंतर होने के कारण दोनों से उनका सत्संग होना संभव नहीं। 'ग्रंथ साहब' में उद्धृत एक पद मे सेन ने कहा है—रामा भगति रामानंदु जानै। पूरन परमानंद बखानै।[1] और इसपर 'संत परंपरा' के लेखक का यह अनुमान ठीक जान पड़ता है कि सेन रामानंद के समकालीन थे और वे अपने जीवन के पूर्वभाग मे दक्षिण मे वारकरी संप्रदाय में रहे होंगे, पीछे उत्तर मे आकर रामानंद के भी संपर्क मे आए होंगे।[2]

प्रो० रानडे के मत से इनका मृत्युकाल सं० १५०५ है। यदि यह ठीक हो तो रामानंद के कुछ ही आगे पीछे इनकी मृत्यु हुई होगी।

इनकी हिंदी रचना से इनकी भाषा और भक्ति की सरलता और सचाई स्पष्ट है।

४. कबीर

जन्म और मृत्युकाल—कबीर पंथ मे कबीर का आविर्भावकाल सं० १४५५ मे ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार के दिन माना जाता है और मृत्युकाल सं० १५७५, माघ शुक्ल एकादशी, बुधवार को। उक्त तिथियों का समर्थन करनेवाले कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, परंतु साथ ही इनके कोई बाधक प्रमाण भी

[1] ग्रं० सा०, रागु धनाश्री, पृ० ६०८।

[2] उ० भा० सं० प०, पृ० २३२।

नहीं हैं। जन्मसंवत् के साथ दिए गए मास, तिथि और वार गणना से शुद्ध निकलते हैं और अधिकतर विद्वानों ने उक्त जन्मसंवत् को स्वीकार किया है। मृत्यु का संवत् अनेक विद्वानों ने १५७५ माना है, परंतु कुछ विद्वान् सं० १५०५ अथवा अन्य कोई वर्ष मानते हैं।[१] सं० १५०५ मृत्युसंवत् मानने के लिये डा० फ्यूर का यह उल्लेख प्रमाण माना जाता है कि नवाब बिजली खाँ ने सं० १५०७ (सन् १४५०) में बस्ती जिले मे आमी नदी के तट पर कबीरदास का रौजा बनवाया; परंतु जैसा डा० श्यामसुंदरदास का मत है, किसी दृढ़ प्रमाण का आधार न होने से, उसका निर्माणकाल १५०७ वि० मान्य नहीं है। दूसरे, अनंतदास और कबीर के अन्य जीवनीलेखकों ने लिखा है कि सिकंदर लोदी एक बार काशी आया था और हिंदुओं और मुसलमानों के परिवाद करने पर, उसने कबीर को दंड दिया था। कबीर के एक पद में उनको काजी द्वारा हाथी से कुचलवाने की आज्ञा दी जाने और एक अन्य पद मे उन्हें जंजीर में बाँधकर गंगा मे डुबाने का प्रयत्न किए जाने का उल्लेख है।[२] सिकंदर लोदी ने सं० १५४५ से १५७४ तक शासन किया और १५५३ मे उसका काशी में आना भी माना जाता है। यदि उक्त घटना को सत्य माना जाय तो सं० १५०५ कबीर का मृत्युकाल नहीं हो सकता, और तब दूसरा मृत्युकाल सं० १५७५ ही संगत जान पड़ता है। इसके पक्ष मे यह भी कहा जा सकता है कि अनंतदास ने यद्यपि अपनी 'कबीर परचई' में उनके जन्म और मृत्यु के संवत् नहीं दिए हैं तथापि लिखा है कि बीस वर्ष में वे चेतन हुए और सौ वर्ष तक भक्ति करने के बाद उन्होंने मुक्ति पाई,[३] अर्थात् उन्होंने १२० वर्ष की आयु पाई थी। सं० १४५५ से १५७५ तक १२० ही वर्ष होते हैं। यह आयु असाधारण लगने पर भी कबीर जैसे पवित्र जीवनवाले संत के लिये असंभव नहीं।

स्थान—कबीर ने अपने को स्वयं काशी का जुलाहा कहा है और उनका निवासस्थान काशी होने के संबंध में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। परंतु उनके जन्म और मृत्यु के स्थान के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। कबीरपंथी परंपरा के अनुसार उनकी जन्मभूमि काशी ही थी, परंतु कबीर के एक पद के आधार पर यह मत प्रकट किया गया है कि उनकी जन्मभूमि मगहर थी, जहाँ से ये काशी आए और मृत्यु के पहले फिर मगहर चले गए।[४] उक्त पद मे 'दरसन पायो' का अर्थ

[१] विभिन्न जन्म एवं मृत्यु संवतों के लिये द्रष्ट० कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ३१६।

[२] क० ग्रं०, पद ३६५।

[३] बालपनौ धोखा मैं गयो। बीस बरिस तें चेतन भयो॥
बरिस सऊ लगि कीन्हीं भगती। ता पीछै सो पाई मुकती॥

[४] सगल जनमु सिवपुरी गवाइया। मरती बार मगहरि उठि आइया॥—गं० पा०, गउडी १५।

'जन्म लिया' संगत नहीं प्रतीत होता, अतः मगहर को जन्मभूमि मानना ठीक नहीं जान पड़ता। कबीर की उक्ति के अनुसार उनका संपूर्ण जीवन काशी मे ही बीता, परंतु मृत्यु के पूर्व वे मगहर चले गए थे।[1] इसके कारण का तो उन्होंने कोई संकेत नहीं दिया है, परंतु जान पड़ता है कि, उन्हें अनिच्छापूर्वक ही वहाँ जाना पड़ा था जिससे वे कुछ दुःखी भी हुए थे।[2] यद्यपि उन्होंने यह भी कहा है कि राम में विश्वास करनेवाले के लिये काशी और मगहर मे कोई अंतर नहीं है, तथापि जिस स्थान पर उन्होंने सारा जीवन बिताया उसे छोड़ने में कुछ दुःख होना स्वाभाविक था। उन्हें यह दुःख होना इसलिये भी संभव है कि काशी के उन पंडितों और मुल्लों के कुचक्र से ही उन्हें मगहर जाना पड़ा होगा जो उनके द्वारा की गई अपनी खरी आलोचना को सह नहीं सकते थे। काशी से उदवासने मे उनके शत्रुओं का यह भी इरादा रहा होगा कि इसकी मुक्ति न हो पाए, तो कोई आश्चर्य नहीं। परंतु कबीर तो काशी मरण से नहीं, राम की भक्ति से मुक्ति माननेवाले थे, इसी से उन्होंने कहा था कि यदि कबीर काशी मे ही मरकर मुक्ति पाए तो राम का क्या निहोरा रहेगा।[3]

मगहर के अतिरिक्त रतनपुर (अवध) तथा पुरी (उड़ीसा) मे भी कबीर की मृत्यु होने की संभावना समझी गई है, परंतु कबीर की उक्तियाँ मगहर के ही उनका मृत्युस्थान होने का समर्थन करती हैं।

माता पिता

कबीर के माता पिता कौन थे, इसका कोई पता नहीं चलता। भक्तपरंपरा मे प्रसिद्ध है कि किसी विधवा ब्राह्मणी को स्वामी रामानंद के आशीर्वाद से पुत्र उत्पन्न होने पर उसने उसे समाज के भय से काशी के समीप लहरतारा (लहर तालाब)-में फेंक दिया था, जहाँ से नूरी और नीमा नामक जुलाहा दंपति ने उसे ले जाकर पाला और उसका नाम कबीर रखा। कबीर की रचनाओं मे उनके माता पिता अथवा पालकों का कहीं नाम नहीं मिलता, न असंदिग्ध रूप से उनके संबंध मे कोई उल्लेख ही पाया जाता है। कबीर के एक पद से प्रतीत होता है कि वे अपनी माता की मृत्यु से बहुत दुःखी हुए थे और उनके पिता ने, जो एक बड़े गुसाईं थे, उन्हें बहुत सुख दिया था। परंतु उक्त पद में 'पिता' से तात्पर्य परमपिता परमात्मा और 'माई' से माया जान पड़ता है,[4] अतः उन्हें उनके लौकिक माता पिता मानना निर्विवाद

[1] वही।

[2] अब कहु राम कवन गति मोरी। तजीले बनारस मति भई मोरी ।।—वही।

[3] जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामै कौन निहोरा।—क० ग्रं०, का० सं०, पद ४०२।

[4] क० सा० अ०, पृ० २४४।

नहीं है। माता का प्रसंग और भी कई पदों मे आया है परंतु उनका भी आध्यात्मिक अर्थ उनके मातापरक अर्थ मे बाधक होता है। 'ग्रंथ साहब' के एक पद से विदित होता है कि कबीर कुलपरंपरा के विरुद्ध गुरुमंत्र लेकर माला धारण करके राम की भक्ति करते थे और अपने वयनकार्य की उपेक्षा करके हरिनाम के रस मे ही लीन रहते थे। इनकी माता को नित्य कोरा घड़ा लेकर घर लीपना पड़ता था। जब से इन्होंने माला ली, उसे कभी सुख नहीं मिला, इस कारण वह बहुत खीझ गई थी।[1] यह पद धर्मदास के नाम से भी इसी रूप॰मे प्रसिद्ध है।[2] यदि यह वस्तुतः कबीर का हो तो यह मानना पड़ेगा कि, इनकी भक्ति और संतसत्कार के कारण इनकी माता को कष्ट था।

जाति—कबीर ने अपने को स्पष्ट रूप से जुलाहा कहा है।[3] रैदास ने भी बताया है कि इनके कुल मे ईद बकरीद को गोवध होता था, शेख शहीद और पीर की पूजा होती थी।[4] इससे विदित होता है कि कबीर जन्मना मुसलमान थे। परंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, परंपरा से वे जन्मना हिंदू तथा केवल जुलाहाकुल में पालित माने जाते हैं। कबीर के जीवन-वृत्त-शोधक आधुनिक देशी तथा विदेशी विद्वानों मे भी इस संबंध मे दो पक्ष हैं—एक उन्हें जन्म से हिंदू मानता है, दूसरा मुसलमान। इनके समर्थन मे एक ओर कबीर की रचनाओं पर हिंदूधर्म का प्रभाव अधिक बताया जाता है, दूसरी ओर मुसलमानी धर्म का। परंतु यदि कबीर की रचनाओं से ही इसकी जाँच की जाय तो हिंदूधर्म संबंधी उक्तियाँ उनमें कहीं अधिक एवं तात्विक मिलेंगी। यह उनके जन्मगत संस्कार के कारण होना संभव है, परंतु जब ये जन्मते ही माता पिता से अलग कर दिए गए तो उनपर धार्मिक प्रभाव उनके पालक कुल अथवा साधनापरंपरा का ही होना अधिक संभव है। अतः धर्म संबंधी उक्तियों से उनके जन्म का पता लगाना सर्वथा भ्रमशून्य नहीं हो सकता।

डा॰ बड़थ्वाल ने कबीर पर योग मार्ग का बहुत प्रभाव बतलाया है और कबीर की एक उक्ति से, जिसमे उन्होंने अपने को कोरी कहा है, यह अनुमान किया है कि हिंदुओं की वयनजीवी कोरी जाति ही, जिसपर योगमार्ग और गोरखनाथ

[1] ग्रं॰ सा॰, राग बिलावल ४।

[2] क॰ क॰, पृ॰ १३।

[3] यथा—'मेरे राम की अभय पद नगरी कहै कबीर जुलाहा।'—क॰ ग्रं॰, पद १३४।
'तिनकूँ मुकति का संसा नाही कहै जुलाह कबीरा।'—क॰ ग्रं॰,पद ३१७, इत्यादि।

[4] जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानियहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप ऐसी करी पूत ऐसी सरी तिहू रे लोक परसिध कबीरा॥

का अधिक प्रभाव था, धर्मांतरित होकर कुछ ही समय पहले जुलाहा बनी थी।[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत से भी यह जुलाहा जाति नवधर्मांतरित ही थी, परंतु उसके पहले वह कोरी न होकर नाथपंथी जोगियों की जाति थी। श्री परशुराम चतुर्वेदी यह भी संभावना करते हैं कि कबीर का कुल क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आसपास निवास करनेवाले बौद्धों वा उनसे प्रभावित हिंदुओं मे से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा होगा।[२] जो भी हो, इस विषय में वर्तमान प्रमाणों के आधार पर, किसी निर्णय तक पहुँचना संभव नहीं। केवल इतना ही निर्विवाद है कि कबीर मुसलमान जुलाहा कुल में पले थे। इस कुल पर इस्लाम के अतिरिक्त अन्य किसी मत वा पंथ का प्रभाव किसी उक्ति से लक्षित नहीं होता जिससे कबीर को हिंदू वा नाथपंथी विचार प्राप्त होते। अतः मानना पड़ता है कि कबीर ने हिंदू वा नाथपंथी विचार, संतसंगति से ही अर्जित किए। उस युग मे नाथपंथ की भूमि पर ही भक्ति का वृक्ष पल्लवित हो रहा था और उसका व्यापक प्रभाव वैष्णव संतों और मुसलमान सूफियों पर भी पड़ना स्वाभाविक था।

स्त्री और संतान—प्रसिद्ध है कि कबीर की पत्नी का नाम लोई था, और उनके कमाल और कमाली नाम की दो संतानें भी थीं। कबीर पंथ मे कबीर को बाल ब्रह्मचारी और विरागी माना जाता है और कमाल को उनका शिष्य तथा कमाली और लोई को शिष्याएँ। 'ग्रंथ साहब' के एक 'सलोकु' से विदित होता है कि कमाल उनका पुत्र था, परंतु संभवतः वह उनके मत का विरोधी था।[3] कमाली का उल्लेख कबीर की बानियों मे कहीं नहीं है, परंतु लोई 'ग्रंथ साहब' के एक पद के अनुसार इनकी स्त्री कही जाती है। घर मे रातदिन मुंडियों का जमघट रहने से बच्चों को रोटी तक मिलना कठिन हो गया था, जिससे वह झुँझला उठी थी। कबीर उसे समझाते हैं—'सुनि अंधली लोई बेपीर। इन मुंड़ियन भजि सरन कबीर।[४] लोई शब्द का प्रयोग कबीर ने एक स्थल पर कंबल के अर्थ मे और अनेक स्थलों पर 'लोग' के अर्थ में किया है जिससे लोई नाम संदिग्ध लगता है। परंतु उक्त पद में वे किसी लोई नाम को स्त्री को ही संबोधित कर रहे हैं, जो उनकी पत्नी ही जान पड़ती है। एक पद से उनकी स्त्री का नाम 'धनिया' भी विदित होता है[५] जो

[१] यो० प्र०, पृ० १२०।

[२] उ० भा० सं० प०, पृ० १५०।

[3] बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सिमरन छाँडि के, घर ले आया माल॥—क० ग्रं०, परिशिष्ट साखी १८५।

[४] ग्रं० सा०, राग गौंड ६।

[५] वही, आसा ३३।

संभवतः उनकी दूसरी स्त्री थी और जो लोई की तरह झगड़ालू न होकर संत-सत्कार में कबीर की सहायता करती थी, जिससे उन्होंने उसका नाम 'रामजनिया' रख दिया था।

गुरु कबीर की रचनाओं में उनके स्वतंत्र चिंतन और स्वभाव को देखकर एक बार यह धारणा होती है कि कबीर ने किसी की शिष्यता स्वीकार न की होगी, अतः उनके गुरु का पता लगाना व्यर्थ है। परंतु भक्तपरंपरा और कबीर पंथ में भी स्वामी रामानंद उनके गुरु प्रसिद्ध हैं। सबसे पहले संभवतः भक्त व्यास जी ने, जो वि० सत्रहवीं शती के प्रारंभ में विद्यमान थे, उन्हें रामानंद का शिष्य लिखा।[1] सं० १६४५ के लगभग नाभादास और अनंतदास ने भी रामानंद को उनका गुरु, बताया और तब से बराबर यही प्रसिद्धि चली आती है। पादरी वेस्टकाट ने अपनी 'कबीर ऐंड दि कबीर पंथ' नामक पुस्तक में कबीर नाम के कई व्यक्तियों का परिचय दिया है जिनमें से एक शेख जुलाहा कबीर किसी शेख तकी के शिष्य और उत्तराधिकारी थे; परंतु इन कबीर की मृत्यु सं० १६५१ में और तकी की सं० १६३२ में हुई, अतः ये हमारे संत कबीर नहीं हो सकते। 'बीजक' की एक रमैनी में कबीर के मानिकपुर जाकर शेख तकी की प्रशंसा सुनने का उल्लेख है, परंतु उससे यह प्रकट नहीं होता कि वे तकी के शिष्य थे। एक दूसरे झूँसीवाले शेख तकी से भी कबीर की भेंट हुई बताई जाती है परंतु उन्हें भी उनका गुरु मानने का कोई प्रमाण नहीं है। कबीर के एक पद के अनुसार[2] गोमती तीरवासी किसी पीतांबर पीर (फकीर जर्दपोश) को भी उनका गुरु कहा जाता है, परंतु इस पद में जिस रूप में पीतांबर की प्रशंसा की गई है (वाहु वाहु किआ खूबु गावता है !) उससे उन्हें कबीर का गुरु मानना ठीक नहीं जान पड़ता। अधिक से अधिक कबीर को उनका प्रशंसक मान सकते हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने किसी गुरु से दीक्षा ली ही नहीं। भले ही गुरु से दीक्षा लेने के बाद वे उनके संप्रदाय में ही बँधे न रहे हों, परंतु उस युग में कोई गुरु न करना, 'निगुरा' होकर साधना करना, प्रायः असंभव ही था। नाथपंथ, सूफीमत, वैष्णव भक्तिमार्ग, सभी के अनुसार साधना गुरु के शब्द के बिना हो ही नहीं सकती थी। स्वयं कबीर ने गुरु और गोविंद में कोई भेद नहीं माना है और यहाँ तक कहा है कि गुरु के बिना चेला ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, वह गणिकापुत्र के

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० २५८।

[2] हज हमारो गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीतांबर पीर॥
वाहु वाहु किआ खूबु गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥
—ग्रं० सा०, आसा १६।

समान है, जो किसी को अपना पिता नहीं कह सकता।[1] इससे विदित होता है कि उनके भी कोई गुरु अवश्य थे।

कबीर साहब के 'साखी ग्रंथ' के एक दोहे से विदित होता है कि 'कबीर को जब रामानंद गुरु मिले तो उनके प्रताप से सब दुःख द्वंद्व मिट गए।[2] एक अन्य दोहे के अनुसार भक्ति द्रविड़ देश मे उपजी, उसे रामानंद उत्तर में ले आए और कबीर ने उसे सप्तद्वीप नवखंड में प्रकट किया।[3] पर यह कहा जा सकता है कि ये दोहे प्रक्षिप्त हैं। 'बीजक' मे एक स्थल पर कबीर कहते हैं—'हम कहते कहते थक गए कि रामानंद रामरस से मत्त है।[4] पर इससे भी उनका कबीर का गुरु होना सूचित नहीं होता। 'कबीर ग्रंथावली', 'ग्रंथ साहब' अथवा 'बीजक' के किसी उल्लेख से यह पता नहीं चलता कि कबीर के गुरु कौन थे। परंतु ऐसे उल्लेख के अभाव मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि कबीर के कोई गुरु नहीं थे। अन्यत्र मिलनेवाले उल्लेखों में अधिकांश रामानंद के ही गुरु होने के पक्ष में हैं। यदि ये उल्लेख रामानंद के पक्ष मे पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं तो उन्हें कबीर का गुरु मानने के विरुद्ध भी कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, और जब तक ऐसे विरुद्ध प्रमाण न मिल जायँ, तब तक चार सौ वर्षों से कबीर के रामानंद से दीक्षा लेने की जो प्रसिद्धि चली आ रही है वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। रामानंद को कबीर का गुरु मानने मे सबसे बड़ी बाधा यह बतलाई जाती है कि रामानंद की मृत्यु के समय (सं० १४६७ मे) तो कबीर का जन्म ही नहीं हुआ था, अथवा वे उस समय केवल ११-१२ वर्ष के थे। परंतु जैसा रामानंद जी के प्रकरण में पहले बताया जा चुका है, अधिक संभव यह है कि उनकी मृत्यु सं० १५०५ मे हुई।[5] इस प्रकार यदि कबीर ने बीस वर्ष की अवस्था मे (स० १४७५) दीक्षा ली हो तो लगभग तीस वर्ष तक वे गुरु के संपर्क मे रहे होंगे।

देशभ्रमण—'बीजक' की एक रमैनी से पता चलता है[6] कि कबीर मानिकपुर गए थे और वहाँ शेख तकी की प्रशंसा सुनी थी। उसमे जौनपुर और झूँसी मे भी

[1] गनिका को पूत पिता कासौं कहे। गुरु बिन चेला ग्यांन न लहै॥
—क० ग्रं०, का० सं०, पद १२६।

[2] सा० ग्रं०, पृष्ठ १०७, दो० ६।

[3] वही, दोहा १।

[4] बीजक, शब्द ७७।

[5] द्रष्ट०, पूर्व पृ० २७।

[6] मानिकपुरहि कबीर बसेरी। मद्दति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊनौ सुनी जवनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥—रमैनी ४८।

पीरों के नाम सुनने का उल्लेख है। इन स्थानों में कबीर का जाना असंभव नहीं। उक्त रमैनी मे जौनपुर मे 'ऊजो' का भी उल्लेख है जिसे पादरी वेस्टकाट ने खरौना के पास 'ऊँजी' गाँव बताया है। खरौना गोमती नदी के तट पर एक गाँव है जहाँ इस समय भी एक कबीरपंथी मठ है। कबीर ने एक पद मे कहा है—'हज हमारा गोमती तीर। जहाँ बसें पीताबर पीर ॥' संभव है, इसी स्थान के पास कहीं पीतांबर पीर (जिसे जर्दपोश फकीर भी कहा गया है) रहते रहे हों और कबीर वहाँ गए हों।

प्रसिद्ध है कि कबीर राजस्थान, गुजरात, जगन्नाथपुरी और दक्षिण भी गए थे। अनंतदास लिखित पीपा की 'परचई' के अनुसार कबीर रामानंद की साधुमंडली के साथ पीपा के देश गागरोनगढ़ गए थे। इन स्थानों मे उनके पर्यटन का उल्लेख कहीं उनकी रचनाओं में नहीं है। यों वे तीर्थ या हज करने के पक्ष मे नहीं थे, किंतु संतो के प्रति उनका आदरभाव था, अतः संतसमागम के उद्देश्य से वे काशी के बाहर भी अनेक स्थानों मे घूमे होंगे।

शिष्य और पंथ—कबीर ने गुरुदक्षिणा के लिये शिष्य बनानेवाले लोभी गुरुओं की बड़ी भर्त्सना की है। उनके जैसे निराडंबर संत के लिये यह नहीं सोचा जा सकता कि ढूँढ़ ढूँढ़कर लोगों को कान फूँककर शिष्य बनाते रहे होंगे। परंतु अज्ञान और पाखंड मे लिप्त संसार के दुःखी लोगों को सन्मार्ग पर लाने की चिंता उन्हे अवश्य थी और वे चाहते थे कि जिस मार्ग पर चलकर उन्हें परमपद प्राप्त हुआ उससे अन्य लोग भी लाभ उठाएँ। इस दृष्टि से वे लोगों को सदुपदेश भी देते थे। इससे अनायास उनके कितने ही भक्त और शिष्य बन गए होंगे। ऐसे लोगों मे बाँधोगढ़ के राजा वीरसिंह बघेल, नवाब बिजली खाँ, सुरत गोपाल, धर्मदास, तत्वा, जीवा, जागूदास और भागूदास के नाम प्रसिद्ध हैं। महापुरुषों और संतों की मृत्यु के पश्चात् उनके नाम से पंथ और संप्रदाय चल ही पड़ते हैं, सो कबीर के नाम से भी पंथ चला, जिसके अनेक मठ आज भारत के विभिन्न भागों मे विद्यमान हैं।

रचनाएँ—कबीर ने कभी अपनी रचनाओं को एक कवि की भाँति लिखने लिखाने का प्रयत्न किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। गानेवालों के मुख मे पड़कर उनका रूप भी एक सा नहीं रह गया। अतः कबीर की प्रामाणिक रचनाओं और उनके शुद्ध पाठ का पता लगाना कठिन कार्य है। सैकड़ों पद और पुस्तकें अन्य लोगों ने भी कबीर के नाम से रचकर प्रसिद्ध कर दीं, जिससे कठिनाई और भी बढ़ गई।

कबीर के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है, परंतु उनमें से अधिकांश कबीरपंथियों द्वारा बाद की लिखी हुई हैं। उन्हे छोड़ देने पर

भी स्वयं कबीर की रचनाएँ कम नहीं हैं, परंतु वे कई ग्रंथों के रूप में नहीं हैं। अब तक अनेक संग्रह उनकी रचनाओं के प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं :

१. बीजक

बीजक कबीरपंथियों का धर्मग्रंथ है और इसके मूल और सटीक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । परंतु इनकी कोई मूल प्राचीन प्रति उपलब्ध न होने से, इसके संकलन की तिथि का पता नहीं चलता। 'बीजक' के विभिन्न संस्करणों मे रचनाओं की संख्या और क्रम में थोड़ा अंतर है, परंतु पंथ मे सर्वाधिक प्रचलित संस्करणों में संख्या और क्रम समान हैं—रमैनी ८४, शब्द ११५, चौंतीसी १, विप्रमतीसी १, कहरा १२, वसंत १२, चाँचर २, बेली २, बिरहुली १, हिंडोला ३, साखी ३५३, चौंतीसी आदि भी शब्द ही हैं, अतः इस प्रकार सबसे पहले रमैनी, फिर शब्द और अंत में साखियाँ हैं। नाभादास ने अपने कबीर संबंधी छप्पय मे उनकी 'रमैनी, सबदी, साखी' का उल्लेख इसी क्रम से किया है। संभवतः उनके वैसा उल्लेख करने के पहले ही 'बीजक' का संग्रह हो चुका था, परंतु वर्तमान 'बीजक' में कबीर की समस्त रचनाओं का संग्रह नहीं है।

२. ग्रंथसाहब

सिखों के 'ग्रंथ साहब' मे कबीर के नाम से २२८ पद तथा २३८ सलोकु (साखियाँ) संगृहीत हैं। इनका डा० रामकुमार वर्मा कृत सटीक संग्रह पृथक् भी प्रकाशित है। 'ग्रंथ साहब' का संकलन सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सं० १६६१ मे कराया था। कबीर की रचनाओं में उसके पूर्व ही उनके विभिन्न स्थानो के संतों द्वारा गीत होने के कारण, पर्याप्त रूपभिन्नता आ गई थी, परंतु जो रचनाएँ 'ग्रंथ साहब' मे संकलित हो गईं वे सं० १६६१ से उसी रूप में सुरक्षित हैं। केवल यही एक संग्रह ऐसा है जिसका निश्चित समय ज्ञात है।

३. कबीर ग्रंथावली

डा० श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित यह प्राचीन संग्रह नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से सर्वप्रथम सं० १९८५ मे प्रकाशित हुआ। इसका मूल आधार 'कबीर जी की बानी' नामक एक हस्तलिखित प्रति है जिसपर उसका लेखनकाल सं० १५६१ दिया है। परंतु इस प्रति के अंत मे दी हुई पुष्पिका, जिसमे उक्त तिथि लिखी है, की लिखावट पुस्तक की लिखावट से भिन्न है और पीछे से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी हुई जान पड़ती है। इस कारण विद्वानों को उक्त तिथि की प्रामाणिकता मे संदेह है और उसे निर्विवाद रूप से स्वीकार करना संभव नहीं है। परंतु उक्त प्रति की भाषा आदि की 'बीजक' तथा 'ग्रंथसाहब' में दी हुई रचनाओं

से तुलना करने पर वह इन दोनों से प्राचीन जान पड़ती है। 'कबीर ग्रंथावली' में पहले ८०८ साखियाँ, फिर ४०३ पद, अंत मे ७ रमैणियाँ हैं।[1]

अन्य संग्रह—उक्त तीनों के अतिरिक्त अन्य संग्रहों मे वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित 'शब्दावली' और 'साखी संग्रह' साधु युगलानंद की 'सत्य कबीर की साखी', विचारदास का 'साखी संग्रह' और हनुमानदास जी का 'साखी ग्रंथ' प्रसिद्ध हैं। इनमें निश्चय ही बहुत सी रचनाएँ कबीर की हैं जो उपर्युक्त तीन संग्रहों में नहीं आई हैं। परंतु इनमें किसी का आधार कोई ऐसी प्राचीन प्रति नहीं है जिसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध हो। ये संग्रह या तो अनेक प्रतियों से शोधकर प्रस्तुत किए गए हैं, या संतों से सुनकर। अतः इनमे बहुत से पद और साखियाँ कबीर कृत जान पड़ने पर भी उनका रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। अतः प्राचीनता की दृष्टि से उपर्युक्त तीन संग्रह ही अधिक मान्य ठहरते हैं।

कबीर की भाषा—कबीर काशी के थे, इस दृष्टि से उनकी भाषा काशी की, अर्थात् भोजपुरी का प्राचीन रूप होना चाहिए। परंतु उनकी भाषा एक मिली जुली भाषा है जिसमे खड़ीबोली और ब्रजभाषा की प्रधानता है। कबीर की एक साखी के आधार पर कुछ लोग उनकी भाषा पूरबी बतलाते हैं परंतु उसमें 'पूर्व की बोली' का अर्थ 'आध्यात्मिक वाणी' भी होना संभव है।[2] उक्त तीनों ग्रंथों की भाषा का अध्ययन करने से उसमे राजस्थानी, व्रज, खड़ी और अवधी चारों के व्याकरण रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त 'कबीर ग्रंथावली' पर राजस्थानी, 'ग्रंथ साहब' पर पंजाबी तथा 'बीजक' पर भोजपुरी का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। कई भाषाओं के मेल के कारण कबीर की भाषा को विद्वानों ने 'पंचरंगी मिलीजुली' अथवा 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है, जो कबीर को नाथपंथी परंपरा से प्राप्त हुई थी और जिसमे खड़ी बोली का मेल विशेषतः मुसलमानों के लिये किया गया।[1] परंतु तथ्य यह जान पड़ता है कि इसमें किसी के लिये विशेष रूप से किसी बोली का मेल नहीं किया

१ 'कबीर ग्रंथावली' नाम का ही एक नवीन संग्रह सन् १९६१ ई० में, 'हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय' द्वारा प्रकाशित हुआ है, जिसे डा० पारसनाथ तिवारी ने वैज्ञानिक ढंग से संपादित करने की चेष्टा बड़े परिश्रम के साथ की है।—सं०।

२ बुद्धचरित (पं० रामचंद्र शुक्ल), भूमिका, पृ० १६।

३ 'बोली हमरी पूर्व की, हमैं लखै नहिं कोय' (बीजक, साखी १९४)। द्रष्ट० क० सा० अ०, पृ० ६४।

४ हिं० सा० इ०, सं० २००६, पृ० १८।

गया, न यह केवल साधुओं की भाषा थी, प्रत्युत उस समय जिस प्रकार अवधी, ब्रज आदि बोलियों का विकास हो रहा था उसी प्रकार एक सामान्य भाषा का भी उदय हो रहा था जिसमे विभिन्न प्रांतों के लोग परस्पर विचारविनिमय करते थे। सामान्य अंतर्प्रांतीय भाषा होने के नाते यह अपभ्रंश (उसका पिछला रूप, पुरानी हिंदी) की उत्तराधिकारिणी थी और आगे चलकर इसीसे दखिनी और खड़ी हिंदी का विकास हुआ। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, इसमें से अवधी, ब्रज आदि के रूपों का लोप होता गया और खड़ीबोली निखरती गई। सारांश यह कि कबीर की रचनाओं की भाषा कोई यत्नपूर्वक बनाई हुई कृत्रिम भाषा नहीं, न वह काव्य की रूढ़ और शिष्ट भाषा है, प्रत्युत वह उस समय की बोलचाल की सामान्य भाषा है, जिसका प्रयोग संतों ने अपनी वाणी को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये, किया। उन संतों का संपर्क किसी एक स्थान के लोगों से नहीं, प्रत्युत बिना किसी भेद भाव के सभी प्रांतों के लोगों से था, और यही कारण है कि कबीर ने भी अपनी स्थानीय भाषा (काशी की भाषा) का प्रयोग न कर अपनी बानियाँ उस समय की सामान्य हिंदी मे ही कहीं।

कबीर का साधना मार्ग—जैसे कबीर की भाषा मे कई बोलियों का मेल देखकर उसे एक खिचड़ी भाषा कहने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार उनके विचारों मे कई सिद्धांतों वा साधनापद्धतियों का मेल देखकर उनका मार्ग कई मतों की एक एक दो दो बातें जोड़कर खड़ा किया हुआ एक नया पंथ प्रतीत होता है। अनेक पद उनमे योग संबंधी मिलते हैं जिनमे इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, नाद, पवन, शून्य आदि का उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने न केवल नाथ पंथ से ये चीजें उधार लीं, अपितु ये स्वयं एक ऐसे कुल मे जन्मे या पले थे जो पहले नाथपंथी था। उनकी निराकारोपासना तथा कभी कभी उनका अपने को हिंदू मुसलमान, सगुण मार्ग निर्गुण मार्ग, सबसे तटस्थ बताना भी नाथपंथी प्रभाव का ही सूचक जान पड़ता है। कितने ऐसे ज्ञान संबंधी पद हैं जिनमे निर्गुण, अद्वैत और ज्ञानमार्ग का वर्णन इतना सबल और सजीव हुआ है कि कबीर पूरे वेदांती जान पड़ते हैं। भक्ति संबंधी पद भी बहुत अधिक हैं और साथ ही वैष्णव भक्ति और अहिंसा का बड़ा महत्व बतलाया गया है। यहाँ तक कि 'नारदी भक्ति' द्वारा कबीर के सानंद भवसागर तरने का भी उल्लेख हुआ है।[1] इससे ये पक्के वैष्णव भक्त समझे जा सकते हैं। निराकार परमात्मा तथा उसके प्रेम और विरह की चर्चा भी कम नहीं है, जिससे उनके सूफी होने का संदेह हो जाता है। जब वे हिंदू मुसलमान दोनों को उनकी कुरीतियों के लिये फटकारते हैं तो सीधे सीधे धर्म और समाज के सुधारक नेता मात्र प्रतीत होते हैं।

[1] भगति नारदी मगन सरीरा। इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा—क० ग्रं०, पद २७८।

इन विभिन्न प्रतीतियों के कारण उनके किसी एक मत के अनुयायी न होकर केवल एक सारग्राही संत होने का विश्वास होता है। उनके रहस्यवादी होने की ख्याति तो आज विदेशों तक पहुँच चुकी है।

कबीर की साधना और सिद्धांतों मे एक साथ ही नाथपंथ, वेदांत, वैष्णवमत, सूफीमत, प्रत्येक के कुछ मुख्य तत्वों का संग्रह देखकर यह धारणा होना स्वाभाविक है कि वे किसी एक मत वा संप्रदाय मे न बँधे रहकर एक स्वतंत्र विचारक थे और जिस मत मे जो अच्छा लगा उसी का संग्रह कर लेते थे। उन्हे किसी एक मत का अनुयायी या समर्थक मानने मे यह बाधा समझी जाती है कि उनमे जो अन्य मतों के तत्व पाए जाते हैं उनका समाधान नहीं होता। उन्हे एक साथ उक्त सभी मतों का अनुयायी कहना भी संभव नहीं, विशेषत. जब वे बारी बारी से प्रत्येक की कुछ बातों की निंदा भी करते जान पड़ते हैं; जैसे ज्ञान के विषय मे कहीं तो वे कहते हैं—जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी, वाकी विधवा काहे न भई महतारी (कं० ग्रं०, पद १२४), और कहीं कहते हैं—'ब्रह्म गियानी अधिक धियानी जम कैं पटैं लिखावा' (वही, पद २६४)। यदि उन्हे सारग्राही कहा जाय तो, कोई आपत्ति नहीं हो सकती, परंतु उसका केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि कबीर सारग्राहिता को संतों का एक आवश्यक गुण मानते थे और यह गुण उनमे भी था; यह नहीं कि अन्य मतों के कुछ तत्वों को लेकर उन्होंने एक नया मत या पंथ खड़ा किया। एक तो उनकी रचनाओं मे इसका कहीं आभास नहीं मिलता, दूसरे ऐसा मानने की आवश्यकता तो तब होती जब उनके समय मे या उनके पहले से विद्यमान कोई ऐसा मत न होता जिसमे उनके मत की सारी विशेषताएँ पाई जातीं। कबीर की रचनाओ के अनुशीलन से पता चलता है कि उनमे विभिन्न मतों का कहीं समर्थन और कहीं खंडन प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वे एक ही मार्ग के अनुयायी थे जिसमे अन्य मार्गों की बातों का भी समन्वय था; और ऐसे मार्ग का प्रवर्तन वा पुनर्विकास उस समय हो चुका था। कबीर का स्थान भारतीय साधना परंपरा मे और हिंदी साहित्य के इतिहास मे भी भक्तिमार्ग के अंतर्गत माना जाता है और भक्तिमार्ग मे भी वे ज्ञानमार्गी शाखा के भक्त माने जाते हैं। भारतीय भक्तिमार्ग और कबीर की रचनाओ की समीक्षा से यही उचित भी जान पड़ता है।

कबीर ने अपने जिन पदों में ज्ञान और योग का महत्व बतलाया है और फिर जिनमें ज्ञान, योग, तीर्थ, व्रत, पूजा, आचार सबकी व्यर्थता बतलाई है उनके सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे कोई असंगति नहीं है। वस्तुतः जिन पदों में ज्ञान और योग की अनिवार्यता प्रतीत होती है उनमे भी प्रायः प्रधानता भक्ति की ही मिलेगी। जहाँ ज्ञान, योग, तीर्थ, व्रतादि की व्यर्थता बताई गई है वहाँ उनका

तात्पर्य यह है कि भक्ति के बिना ये सब व्यर्थ हैं। भक्ति में मन को एकाग्र करने के लिये योग, तथा भक्ति को दृढ़ करने के लिये ज्ञान एवं आत्मविचार अत्यावश्यक है। परंतु यदि ये भक्ति मे सहायक न हों तो कबीर की दृष्टि से ये भी व्यर्थ हैं। परमात्मा के विरह की तीव्र अनुभूति का जो उन्होंने वर्णन किया है वह परमात्मा से मिलन की उतनी ही तीव्र उत्कंठा का द्योतक है। विरह, ज्ञान और योग का कबीर की भक्ति से कोई विरोध नहीं, प्रत्युत इनका उसमे आवश्यक समावेश है। साधारणतः, भक्ति का तात्पर्य सगुण भक्ति समझने और ज्ञान तथा विरह को भक्ति के बाहर की वस्तुएँ मानने के कारण ही, कबीर को कभी कभी भक्त मानने मे संकोच होता है, परंतु भक्ति परंपराओं मे उपर्युक्त ज्ञान, योग आदि तत्व वर्जित नहीं, प्रत्युत आवश्यक माने गए हैं। ऐसा भक्तिमार्ग कबीर के समय मे अविदित नहीं था। कबीर की रचनाओं मे वैष्णव संत का बहुत ही उच्च और आदरपूर्ण स्थान स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है,[1] और यद्यपि उन्होने परमात्मा को किसी एक नाम से संबोधित न कर राम, रहीम आदि सभी नाम उसी के बताए हैं तथापि परमात्मा के जितने नामों और गुणो के उल्लेख किए हैं वे अधिकतर वैष्णव भक्ति मे ही प्रसिद्ध नाम गुण हैं। उन्होंने अपनी भक्ति को 'प्रेमभक्ति' और 'नारदी भक्ति' कहा है,[2] जो वैष्णव भक्ति ही है। इससे यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि उन्होंने वैष्णव भक्तिमार्ग को ही अपनाया और यह भी संभव है कि इस भक्ति का बीज उन्हें स्वामी रामानंद से मिला, जो परंपरा से उनके गुरु प्रसिद्ध हैं।

भक्ति की साधना

कबीर के विचार से यह जीवन, संसार तथा उसके संपूर्ण सुख क्षणिक हैं अतः इनके पीछे भटकना व्यर्थ है। वस्तुतः यह संसार दुःखों का मूल है। सुख का वास्तविक मूल केवल आनंदस्वरूप राम है। उसकी कृपा के बिना जन्ममरण तथा तज्जन्य सांसारिक दुःखों से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी कारण कबीर उसकी भक्ति पर इतना बल देते हैं और कहते हैं कि सब कुछ त्याग कर राम को ही भजना चाहिए।[3] दुःख का वास्तविक कारण राम की अज्ञानरूपिणी माया है जिसके प्रभाव से मनुष्य क्षणिक सांसारिक सुखों को, जो वस्तुतः दुःखमूलक हैं, वास्तविक सुख समझकर उन्हीं मे लिप्त रहता है। राम या परमात्मा की भक्ति से ही माया का प्रभाव नष्ट हो सकता है। इसी से कबीर कहते हैं कि राम नाम के बिना मनुष्य माया

[1] क० ग्रं०, साध महिमा को अंग, साखी १, ७, ६।

[2] कहै कबीर जन भए खलासे प्रेम भगति जिन जानी।—ग्रं० सा०, राग सोरठ, ३।
भगति नारदी मगन सरीरा।—क० ग्रं०, पद २७८।

[3] ਸਰਬੁ ਤਿਆਗਿ ਮਜੁ ਕੇਵਲ ਰਾਮੁ।—ਗੁ० क०. गउडी ३।

से अंधा बना रहता है, बिना हरि की भक्ति के कभी दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती।[1] परंतु भक्ति कबीर की दृष्टि से पूर्णतः निष्काम होनी चाहिए। वे हरि से धन, संतान वा कोई अन्य सांसारिक सुख माँगने के विरुद्ध हैं; भक्ति के द्वारा वे स्वर्ग भी नहीं चाहते।

कबीर के राम दशरथ के पुत्र राजा राम नहीं, परंतु घट घट मे निवास करनेवाले निर्गुण, निरंजन, निराकार, सत्यस्वरूप एवं आनंदस्वरूप राम हैं। उन्हे परमात्मा, हरि, गोविंद, मुरारी, अल्लाह, खुदा किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उन्हे ढूँढ़ने के लिये वन मे भटकने की आवश्यकता नहीं, भक्ति और युक्ति से उनका हृदय मे ही साक्षात्कार किया जा सकता है। आनंदस्वरूप राम और मनुष्य का आत्मा वस्तुतः कोई दो भिन्न तत्व नहीं हैं। पानी के भीतर डूबे हुए घड़े के भीतर और बाहर का जल जैसे एक ही है, उसी प्रकार मनुष्य के भीतर का आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं।[2] भक्ति के द्वारा जब माया का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब आत्मा परमात्मा का द्वैतभाव नष्ट होकर एक परमात्मा का अथवा आत्मा के शुद्ध मुक्त आनंदस्वरूप का साक्षात्कार होता है। साधक अपना अहंभाव खोकर सागर मे बूँद की भाँति परमात्मा से मिलकर एकाकार हो जाता है।[3] यही मुक्ति वा परमपद की प्राप्ति है। यह अवस्था इस जीवन मे ही प्राप्त हो सकती है, जिसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

इस भक्ति की साधना मे आत्मविचार, नामजप, संतसंगति और गुरु के उपदेश का बड़ा भारी महत्व है। कबीर कहते हैं कि मनुष्य को अपने आप यह विचार करना चाहिए कि दुःख का वास्तविक कारण क्या है, सुख का मूल क्या है और उसे पाने का उपाय क्या है।[4] इस प्रकार विचार करते करते और संतों की संगति मे रहते रहते उसे किसी दिन कोई 'साषीभूत' संत (जिसे परमात्मा का साक्षात्कार हो चुका हो) गुरु के रूप में मिल जाता और उसे अपने भीतर निवास करनेवाले आनंदमूल परमात्मा के साक्षात्कार की विधि बता देता है। ज्ञानदाता गुरु को इसलिये कबीर अत्यंत पूज्य मानते हैं, यहाँ तक कि गुरु और गोविंद मे कोई अंतर नहीं मानते।[5]

[1] बिनु हरि भगति न मुकति होइ, इउ कहि रमे कबीर।—वही, श्लोक ५४।

[2] जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी॥—क० ग्रं०, पद ४४।

[3] हेरत हेरत हे सखी, गया कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद में, सो कत हेरी जाइ।—वही, लांबि कौ अंग, सा० ३।

[4] वही. पृ० २३०।

[5] गुर गोविंद तौ एकु है, दूजा यहु आकार।—वही, गुरदेव कौ अंग, सा० २६।

इस प्रकार सारासार विवेक के साथ संतों की संगति, अहंकार का त्याग और गुरु में श्रद्धा कबीर की हरिभक्ति मे सर्वप्रथम आवश्यक तत्व हैं।

उक्त भक्तिसाधना मे वेद शास्त्र के ज्ञान, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा आदि की कोई आवश्यकता नहीं। उसमे घर छोड़कर संन्यास लेना और तरह तरह के 'भेख' बनाना व्यर्थ है। कबीर की भक्ति भावभक्ति है। भाव, प्रेम, परमात्मा से मिलने की उत्कट इच्छा, उसके विरह की तीव्र अनुभूति तो होनी ही चाहिए, साथ ही भक्ति की विधि और चर्या (रहनी) मे नामजप, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, संतोष और सकल जीवों मे तथा दुःख सुख, निंदा स्तुति आदि मे समभाव रखने का अभ्यास भी बहुत आवश्यक है।

कबीर की रचनाओं मे उनकी साधनापद्धति कहीं एक स्थान पर व्यवस्थित रूप से वर्णित नहीं है, परंतु उनके समन्वित अनुशीलन से उसका उपर्युक्त रूप उपलब्ध किया जा सकता है। कबीर उसे भक्ति—'प्रेमभक्ति', 'भावभक्ति', 'ज्ञानभक्ति' वा 'नारदी भक्ति'—कहते हैं, परंतु उनके ऐसा कहने का तात्पर्य अपनी साधनापद्धति पर किसी प्रकार की मुहर लगाना नहीं; अतः उसकी शास्त्रीय व्याख्या उनकी रचनाओं मे ढूँढने का प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी, उनकी साधना में जिन जिन तत्वों का उल्लेख किया गया है वे सब उस रूप मे भारतीय भक्तिमार्ग में मिलते हैं। सत्संगति, गुरु और हरिनाम की महिमा, परमात्मा की पूर्णता और सर्वव्यापकता, भक्ति के द्वारा नीच और पतित जीवों का उद्धार, गृहस्थी में ही संयमपूर्वक भक्ति की साधना तथा संत की सरल और पवित्र रहनी इत्यादि बातें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति मे समान हैं। रही परमात्मा के निर्गुण अद्वैत रुप की भक्ति, वह भी भक्तिमार्ग मे विहित है। अतः कबीर जब स्वयं अपने को भक्त कहते हैं तो, उपर्युक्त बातों को देखते हुए यही निश्चय होता है कि उन्होंने कोई नया मार्ग नहीं खड़ा किया, प्रत्युत उन्हें वह मार्ग संतपरंपरा से ही प्राप्त हुआ। उसमे जो बौद्ध, जैन, नाथ, सूफी आदि मतों के कुछ शब्द वा विचार मिलते हैं उससे उसके प्रकृत स्वरूप मे उसी प्रकार कोई अंतर नहीं पड़ता जैसे राम को 'अल्लाह' कहने से उनके परमात्मा के स्वरूप मे। भक्ति यद्यपि उपनिषत्काल से चली आ रही थी, तथापि बारहवीं शती मे उसकी जो बाढ़ आई उसे भक्ति का पुनरुत्थानकाल कहा जा सकता है। सारे भारत मे उसकी लहर फैली और थोड़े बहुत रूपभेद से वह सत्रहवीं शती तक फैलती ही गई। कबीर पंद्रहवीं सोलहवीं शती मे हुए, तब ऐतिहासिक दृष्टि से, यह असंभव था कि उस समय प्रचलित अन्य मतों का कुछ आभास उनकी भक्तिसाधना मे न मिलता।

कबीर की विशेषता—कबीर की साधना परंपरा से प्राप्त थी और उसका तत्व उन्हें किसी गुरु से मिला था, इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें स्वतंत्र विचार वा

व्यक्तित्व का अभाव था। साधक की मौलिकता पद्धति मे नहीं, साधना और अनुभूति मे होती है। वे केवल राम राम जपनेवाले जड़ साधक नहीं थे, सत्संगति से उन्हें जो बीज मिला उसे उन्होने स्वयं अपने पुरुषार्थ से—विचार, संयम और साधना से—वृक्ष का रूप दिया। उनके विचार और भाव केवल सुने सुनाए नहीं, उनके अपने पवित्र आचरण और तीव्र अनुभूति के फल थे। सामाजिक भेदभाव और मतमतांतरों के पाखंड का निरीक्षण भी उनका अपना था। वह उनका अपना ही मौलिक व्यक्तित्व था जिससे उन्हे उनके जीवनकाल मे ही एक महान् संत का पद मिला।

व्यक्तिगत साधना और सामाजिक तथा धार्मिक सुधार—कबीर को एक प्रसिद्ध धर्म एवं समाज सुधारक के रूप में भी देखा जाता है जिसने मतमतातर के झगड़ों और पाखड को दूरकर, जाति पाँति और ऊँच नीच के भेद को मिटाकर सबको एक राह पर लाने का प्रयत्न किया। यह यथार्थ है। समाज मे फैला हुआ दुःख, अज्ञान, भेदभाव और पाखड उन्हें असह्य था, अतः उन्होने हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, अवधूत, ज्ञानी, जोगी जिसमे भी जो दोष देखा, किसी को उसके लिये क्षमा नहीं किया। सबकी निर्भीक और निष्पक्ष आलोचना की। इसका उनकी व्यक्तिगत साधना से विरोध नहीं था, प्रत्युत वह उसका आवश्यक अंग थी। संतों की साधना केवल अपनी मुक्ति की साधना नहीं, लोक को भी अज्ञान और दुःख से मुक्त करने की साधना है। परंतु लोक जिसे स्वार्थ और सुख कहता है, जिसके संग्रह के प्रयत्न में इतनी विषमता, इतना पाखंड और वैर फैलता है, उसे वे लोक का अज्ञान मानते हैं। इसीलिये कबीर ने सुख के लौकिक साधनो के सग्रह का उपाय न बताकर आचरण और भाव की शुद्धता, पवित्र विचार और निश्छल व्यवहार तथा बाह्य आडंबरों को छोड़कर एक परमात्मा की आंतरिक भक्ति करने का उपदेश दिया। व्यक्तिगत साधना के द्वारा जब सब जीवों मे एक ही परमात्मा की सत्ता की अनुभूति होने लगे तब अपने पराए का भेद भूलकर मनुष्य सबसे प्रेम और समता का व्यवहार कर सकता है। अतः कबीर के सामाजिक और धार्मिक सुधार का दृष्टिकोण एक संत का ही दृष्टिकोण है और उसका उपाय हमे, उनके द्वारा किसी सामूहिक संघर्ष अथवा सामाजिक वा आर्थिक योजना के रूप मे न मिलकर, संत की पवित्र रहनी और उपदेश के रूप में ही मिलता है।

कविता—संत कबीर एक उच्च कोटि के संत तो थे ही, हिंदी साहित्य मे वे एक श्रेष्ठ एवं प्रतिभावान् कवि के रूप मे भी प्रतिष्ठित हैं, तथा हिंदी साहित्य के बाहर भी उनकी रचनाओं का पर्याप्त आदर है। परंतु कबीर ने कवि के रूप मे अथवा कवि कहलाने के लिये कुछ नहीं लिखा, न उनकी कविता काव्यशास्त्र के अभ्यास अथवा शिष्ट काव्यों के अनुशीलन का परिणाम है। पुस्तकीय

ज्ञान की उपेक्षा करनेवाले कबीर जैसे संतों की पुस्तक तो उनका अंतर्जगत् और उनके चारों ओर का संसार ही है। इस कारण उनकी कविता मे काव्यगत रूढ़ विषयों तथा रस, छंद, अलंकार आदि का शास्त्रीय निर्वहन एवं वैचित्र्य तो नहीं है, परंतु उनमे अनुभूति और अभिव्यक्ति के वे आवश्यक तत्व विद्यमान हैं जिनके बिना कविता नहीं बन सकती। उनकी अनुभूतियों मे सचाई और तीव्रता है और उनकी अभिव्यक्ति में उनकी भाषा और शैली पूर्णतः शक्त एवं समर्थ है।

कबीर की भाषा काव्य की रूढ़ भाषा नहीं, प्रत्युत उस समय की प्रचलित सामान्य जनभाषा है। उनके छंद मुख्यतः 'साखियों' मे दोहे, 'शब्दों' मे विभिन्न रागों के गेय पद तथा 'रमैनियों' मे चौपाइयों के साथ दोहे हैं, जिनमे मात्रा का बहुत ध्यान नहीं रखा गया है। उनकी निराकार भक्तिसाधना के कारण उनकी कविता का विषयक्षेत्र संकीर्ण है। उनके मुख्य विषय हैं असार संसार से वैराग्य, परमात्मा का प्रेम और विरह, उनके मिलन का आनंद। इन विषयों मे उनका मन तन्मयता के साथ रमा है और एतत्संबंधी अपनी अनुभूतियों का उन्होने विविध प्रकार से सुंदर वर्णन किया है। साथ ही जोगी, पंडित, अवधूत, मुल्ला आदि तथा सामान्य जनता को संबोधित कर उन्होने जो अपने समय मे फैले हुए पाखंड और अज्ञान की आलोचना की है वह भी अत्यंत मार्मिक है। इन सभी विषयो पर उनकी उक्तियाँ सरल, स्वाभाविक तथा अत्यंत प्रभावोत्पादक हैं।

उनकी बानियों मे अनेक ऐसी भी हैं जिनमे कोरा उपदेश अथवा हठयोग आदि की चर्चा है। उनमे काव्यत्व का अभाव है। उन्होने बहुत सी उलटबाँसियाँ भी कही हैं। इन उलटबाँसियों तथा योगसंबंधी पदों का अर्थ सरलता से नहीं लगता, उसके लिये संतों की साधना परंपरा का विशेष ज्ञान आवश्यक है। परंतु अधिकतर रचनाएँ सरल हैं जो उनके भावो को समझने के लिये पर्याप्त हैं।

५. रैदास

रैदास या रविदास एक अत्यंत विनम्र स्वभाववाले, खंडन मंडन की प्रवृत्ति से रहित बड़ी उच्च कोटि के संत प्रसिद्ध हैं। नाभादास के अनुसार इन्होंने श्रुति और शास्त्र के अविरुद्ध सदाचार की बातें कहीं। इनकी विमल वाणी संदेहग्रंथि के खंडन में निपुण थी। लोग वर्णाश्रम का अभिमान छोड़कर इनके पदरज की वंदना करते थे। इन्होने इसी शरीर से परमगति पाई थी।[1]

[1] भ० मा० (ना० दा०), छं० ५९।

अनंतदास ने इनकी 'परचई' में लिखा है कि ये नगर बनारस के निवासी थे। पूर्व जन्म मे ये ब्राह्मण थे। मांस खाना न छोड़ने के कारण इन्होंने नीच कुल मे जन्म पाया। इनके माता पिता चमार और शाक्त (सापित) थे। इनके जन्म के बाद ही रामानंद ने इन्हे दीक्षा दी। सात वर्ष की अवस्था में ये नवधा भक्ति मे लग गए। बड़े होने पर घरवालों ने इन्हे अलग कर दिया और बखरा भी नहीं दिया। ये चमड़ा लाकर जूता बनाते थे और न्यारे मंदिर में भोग लगाते तथा बड़े आचार के साथ पूजा अर्चा करते थे। ब्राह्मण लोग इनकी पूजा से रुष्ट हो गए और बघेले राजा (वीरसिंह ?) की सभा मे इनके विरुद्ध वाद प्रस्तुत किया गया। शालिग्राम रैदास के ही पक्ष मे थे, अतः इनकी जीत हुई।

चित्तौर की रानी झाली दीक्षा लेना चाहती थी। लोगों ने बताया कि शुकदेव के अवतार कबीर और नारद के अवतार रैदास दोनों विष्णु के अंश हैं, उन्हीं से दीक्षा लेनी चाहिए। रानी ने रैदास से दीक्षा ली। इसपर पंडित लोग बिगड़ गए। बाँधोगढ़ से उन्हे शांत करने के लिये राजा वीरसिंह अपनी रानी सहित काशी आए, फिर भी वे शांत न हुए। तब कबीर के यहाँ संदेशा गया और उनकी सलाह से विवाद का निर्णय शालिग्राम पर ही छोड़ दिया गया। शालिग्राम ने निर्णय दिया कि जन रैदास सच्चा, ब्राह्मण झूठे। तब कहीं झगड़ा शांत हुआ।

संध्या समय रैदास सेन के साथ कबीर के यहाँ गए और आधी रात तक सुमिरन करने के बाद वहीं सोए। दोनों को चतुर्भुज का दर्शन हुआ, पर कबीर को नहीं। उनका मन निर्गुण मे लगा था। वे सगुण मतों को कच्चा कहते थे, इससे रैदास ने चिढ़कर कहा कि मैं तो सगुण निर्गुण को एक मानता हूँ। पहर भर ज्ञानकथन के पश्चात् रैदास और सेन ने उनके मत को सच्चा और उन्हे गुरु के समान मान लिया।। सेन और रैदास ने स्थिर किया कि सगुण यदि नवनीत है तो निर्गुण उसे तपाकर बनाया हुआ घृत। फिर रैदास भी निर्गुण के ध्यान मे लगे। झाली रानी के निमंत्रण पर कबीर की आज्ञा लेकर रैदास चित्तौर भी गए थे। ब्राह्मणों ने वहाँ भी उत्पात किया, तब उन्होंने अपनी नम्रता और भक्ति के बल से उन्हें शांत किया।

इससे इनकी विनयशीलता, सच्ची भक्ति, सगुण निर्गुण के प्रति समान आदर भाव तथा नीच कुलोत्पन्न होने पर भी इनके सर्वादृत होने का समर्थन होता है। झाली रानी का इनका शिष्या होना भी संभव है। मीराबाई ने भी अपने को रैदास की शिष्या कहा है, परंतु जैसा संत परंपरा के लेखक का मत है, वे किसी रैदासी संत की शिष्या रही होंगी।[1] अनंतदासवाली कथा से विदित होता है

[1] उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० २१६।

कि कबीर और रैदास की ख्याति राजस्थान तक फैल गई थी। काशी में पंडितों से विचार होने के समय रैदास की अवस्था २६ वर्ष की थी। उस समय रामानंद का कोई उल्लेख न होने से जान पड़ता है, वे पहले ही मर चुके थे, पर सेन जीवित थे। बड़े गुरु भाई कबीर का दोनों पर बड़ा प्रभाव था। यदि उक्त कथा में कुछ सत्यांश माना जाय और जैसा पहले कहा गया है,[1] सेन और रामानंद के मृत्युकाल मे थोड़ा ही अंतर रहा हो तो, रामानंद की मृत्यु उक्त विवाद के कुछ ही पहले हुई होगी और उसके कुछ समय बाद सेन की। उस समय (सं० १४०६) रैदास २६ वर्ष के युवा थे, और कबीर लगभग ५० वर्ष के रहे होंगे।

रचनाएँ—रैदास के जितने पद उपलब्ध हैं उनसे यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि वे एक आडंबरहीन, अत्यंत विनम्र, समन्वित और समतुलित विचारवाले सच्चे भक्त थे। इनकी बानियों का एक संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से निकला है और कोई तीस पद 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत हैं, परंतु खोज करने पर और अधिक बानियों का मिलना संभव है। इनकी बानियों का कोई सुसंपादित संस्करण नहीं है; फिर भी उपलब्ध बानियों से इनके भावों की सरलता और सचाई टपकी पड़ती है; भाषा भी सरल और भावानुगामिनी है। अपना दैन्यभाव व्यक्त करते हुए इन्होंने कई पदों मे अपनी जाति को ओछी, कमीनी और चमार कहा है।[2]

एक पद से इनकी भक्ति संबंधी विचारधारा भली भाँति व्यक्त होती है। वे कहते हैं—'सतयुग मे सत्य, त्रेता मे यज्ञ, द्वापर मे पूजाचार का आधार था पर कलियुग मे केवल नाम का आधार है। मैं कैसे पार पाऊँगा। कोई वह उपाय समझाकर नहीं बताता जिससे आवागमन मिट जाए। लोग अनेक प्रकार से धर्म का निरूपण करते हैं; वेद पुराण सुनकर शंकाएँ उत्पन्न होती हैं, संशय और अभिमान दूर करनेवाला मूल उपाय कोई नहीं बतलाता। भाग्य से परमपुरुष गुरु से भेंट हो, मन उन्मन हो जाय, तब जाकर वज्रकपाट (अनुभूति के बंद द्वार) खुलते हैं। भक्ति, योग और ज्ञान के समन्वित मार्ग से ही विकार दूर होकर भ्रमबंधन कटते हैं। उसके अनुसार विचार करने से सगुण निर्गुण एक ही जान पड़ते हैं। अनेक यत्न और निग्रह करने से भी भ्रम का बंधन काटे नहीं कटता। और प्रेमभक्ति उत्पन्न

[1] द्रष्ट०, पूर्व पृ० ३३।

[2] मेरी जाति कमीनी पाति कमीनी ओछा जनमु हमारा।
तुम शरनागति राजा रामचंद कहि रविदास चमारा॥—ग्रं० सा०, सोरठ, पृ० ५७७।
जाती ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा।
राजा राम की सेव न कीन्ही कहि रविदास चमारा॥—वही, आसा, पृ० ४२६।

नहीं होती, इससे रैदास उदास है।[1] इससे इनकी सगुण निर्गुण में समान बुद्धि तथा सच्चे मार्ग के लिये इनकी व्याकुलता प्रकट होती है। दशधा में प्रेम भक्ति दसवीं और अंतिम सीढ़ी है जो बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है। संभव है, रामानंद के भक्तिसिद्धांतों को रैदास ने और ढंग से समझा हो और कबीर ने और ढंग से; कबीर के दृढ़ता के साथ निर्गुण का प्रतिपादन करने से तथा रैदास के उससे न सहमत न होने के कारण, दोनों में कुछ मतभेद रहा हो, पर निर्गुण में भी प्रतीति होने के कारण कबीर की अनुभूति के प्रति भी इनका आदर रहा हो।

रैदास में कहीं कहीं सूर और तुलसी के समान भावपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। यथा, एक पद में वे कहते हैं—'माधव! जिस दुःख से छूटने के लिये मैंने तुम्हारी आराधना की वह दुःख अब भी दूर नहीं हुआ। पर तुम यह न समझो कि मैं तुम्हें छोड़ दूँगा। यदि तुमने मुझे संसार के मोह में बाँध रखा है तो मैंने भी तुम्हें अपने प्रेम से बाँध रखा है। मैं तो तुम्हारी आराधना करके बंधनमुक्त हो ही गया हूँ। (मेरा भवपाश अवश्य कटेगा), तुम अपने छूटने का उपाय करो, कैसे छूटोगे?'[2] एक पद में, जिसमें प्रसंगानुसार उस समय प्रचलित फारसी शब्दों की प्रधानता है, वे रहस्यवादी कवियों की भाँति सांसारिक राज्य के बंधनों और कष्टों से मुक्त होकर दुःखरहित नगर में वास करने का सुंदर वर्णन करते हैं। आधुनिक रहस्यवादी जहाँ ऐसे नगर में पहुँचने की कामना प्रकट करते हैं वहाँ रैदास उसके नागरिक बन चुके हैं[3]—'बेगम (बेगम = अशोक) पुर उस नगर का नाम है। वहाँ किसी प्रकार का भय वा दुःख नहीं है। वहाँ भाँति भाँति के कर नहीं देने पड़ते। वहाँ सदा आनंद रहता है। वहाँ एक की ही पातशाही सदा स्थिर रहती है।

[1] सतजुग सति त्रेता जगि, द्वापर पूजाचार। तीनो जुग तीनो दृढे, कलि केवल नाम अधार ॥ १ ॥ पारु कैसे पाइबो रे। मो सो कोऊ न कहै समुझाइ। जाते आवागमन बिलाइ। बहुविध धर्म निरूपियै करता दीसै सब लोइ। कवन कर्म ते छूटियै जिहि साधे सब सिधि होइ ॥ २ ॥ कर्म अकर्म बिचारियै संका सुनि बेद पुरान। संसा सद हिरदै बसै, कौन हिरै अभिमान ॥ ३ ॥ ...परम पुरुष गुरु भेटियै पूरब लिखत लिलाट। उनमन मन मन ही मिलै, छुटकत बजर कपाट ॥ ६ ॥ भक्ति युक्ति मति सति करी भ्रम बंधन काटि बिकार। सोई बसि रसि मन मिले गुन निर्गुन एक बिचार ॥ ७ ॥ अनिक यत्न निग्रह किए टारी न टरै भ्रम फाँस। प्रेम भगति नहीं ऊपजै ताते रविदास उदास ॥ ८ ॥—ग्रं० सा०, पृ० २०५।

[2] जो हम बाँधे मोह फाँस हम प्रेम बंधनि तुम बाँधे। अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥ वही, सोरठ, पृ० ५७६

[3] वही, गौडी, पृ० २०४।

वहाँ का अन्न जल भी सुंदर है। वहाँ इच्छानुसार सैर कर सकते हैं, कहीं कोई अटक नहीं है। मुझे ऐसा अच्छा वतन मिल गया है। जो मेरे शहर का निवासी है वही मेरा मित्र है।' इसमे उस समय के अस्थिर शासन, कठोर कानून, करो की बहुलता और उनसे प्रजा के कष्टो की भी स्पष्ट झलक मिलती है।

६. पीपा

ये गागरोनगढ़ के राजा प्रसिद्ध हैं। कहा गया है कि पहले इन्होंने बारह वर्ष तक देवी की भक्ति की, पर एक दिन देवी से प्रार्थना की कि मुझे माया का सुख नहीं चाहिए, मुझे मुक्ति दो। देवी ने असमर्थता प्रकट कर कहा कि काशी मे रामानंद रहते हैं, उन्हे गुरु बनाओ तो वे भक्ति का उपदेश करेंगे जिससे निश्चय तुम्हे मुक्ति मिलेगी। तब ये १०० सवार और ५०० पैदल साथ लेकर काशी मे रामानंद से दीक्षा लेने गए। मठ के द्वार पर पौरिया ने रोका कि यह रामानंद जी का स्थान है, यहाँ राजाओं का कोई काम नहीं, यहाँ रात दिन केवल राम नाम का सुमिरन होता है। पर ये अड़े रहे और तब रामानंद ने इनकी कड़ी परीक्षा लेकर इन्हे माला तिलक दिया और यह कहकर बिदा किया कि एक वर्ष पश्चात् मैं तुम्हारे देश आऊँगा। एक वर्ष बीतने पर, कबीर, रैदास आदि चालीस संतों के साथ रामानद पीपा के देश गए और दस दिन वहाँ रहकर पीपा के साथ मंडली द्वारका तक गई, जहाँ से मंडली तो फिर लौट आई, पर पीपा ने बहुत देशाटन किया। पीपा की एक रानी सीता भी भक्त हो गई थी।[1] इसके अतिरिक्त बहुत सी चमत्कारपूर्ण बातें इनके विषय मे कही गई है, जैसी प्रायः प्रसिद्ध भक्तो के चरित्र मे जोड़ दी जाती है। इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि ये एक सच्चे संत थे और इनकी ख्याति राजस्थान और गुजरात मे बहुत फैल गई थी। इनकी रानी सीता ने उसी भक्तिभाव से इनके साथ अनेक कष्ट सहकर संतचर्या का निर्वाह किया। इनके विषय मे कहा गया है कि पूरब मे कबीर, रैदास, दक्षिण मे नामदेव, उत्तर मे धन्ना और बाँधोगढ़ मे सेन ने जैसे भक्ति की मर्यादा रखी उसी प्रकार पीपा ने पश्चिम मे भक्ति का प्रचार किया।

इनके समय के विषय मे निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं। फर्कुहर ने इनका जन्म सं० १४८२ मे माना है तथा कनिंघम ने १४१७ और १४४२ के बीच इनका समय निर्धारित किया है। इन दोनों मतों पर विचार करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इनका जन्म वर्ष १४६५ और १४७५ वि० के बीच माना है।[2] जो ठीक जान पड़ता है।

[1] पी० प०।

[2] उ० भा० सं० प०, पृ० २३४।

पीपा के नाम से एक पद बहुत प्रसिद्ध है जिसमें वे कहते हैं कि 'यदि कलिकाल मे कबीर न होते तो लोकवेद और कलियुग मिलकर भक्ति को रसातल पहुँचा देते। पंडितों ने तरह तरह से सगुण भक्ति की बातें कह कहकर जगत् को भरमाया और कायारोग बढ़ाया। गुरुमुख से निर्गुण भक्ति का उपदेश न पाने से वक्ता और श्रोता दोनों भ्रम मे पड़े। इसमे हम जैसे पतित तो मार्गों की भूल भुलैया मे भटकते ही रह जाते। त्रिगुणातीत भगवद्भक्ति बिरला ही कोई पाता है। भक्ति का प्रताप रखने के लिये निज जन समझ उन्होंने स्वयं उपदेश दिया जिससे पीपा को कुछ मिल गया।' इससे प्रकट होता है कि पीपा के गुरु रामानंद नहीं, कबीर थे। यदि ऐसा है तो मानना पड़ेगा कि रामानंद के जो बारह या तेरह शिष्य प्रसिद्ध हैं वे सभी उनके शिष्य नहीं, उनमे प्रशिष्य भी होंगे। नाभादास ने तो शिष्यों के नाम गिनाकर कहा भी है कि 'औरौ शिष्य प्रशिष्य एक से एक उजागर', जिसका अर्थ हो सकता है कि गिनाए गए व्यक्तियों मे भी सभी शिष्य नहीं, उनमे प्रशिष्य भी हैं। अथवा यह भी संभव है कि रामानंद की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ शिष्य कबीर का अन्य शिष्यों पर बहुत प्रभाव था और वे उन्हें गुरुवत् मानते थे।

'ग्रंथ साहब' मे इनका एक पद है, जिसके अनुसार 'काया ही देवल, देव, धूप, दीप, नैवेद्य सब कुछ है। इसी के भीतर खोजने से नवनिधि मिल गई और कहीं आने जाने की आवश्यकता नहीं है। जो ब्रह्मांड मे है वही पिंड मे भी।'[१] इससे इनकी भक्ति स्पष्टतः कबीर की ही भाँति अंतर्मुखी भावभक्ति है।

७. धन्ना

नाभा और अनंतदास दोनों ने इन्हे भी रामानंद का शिष्य लिखा है। ये जाति के जाट थे, यह स्वयं इन्हीं के एक पद से स्पष्ट है।[२] ये एक परिश्रमी कृषक थे, पर इनका मन भक्ति मे रमा रहता था और संतों का सत्कार ये कष्ट सहकर भी किया करते थे। एक बार अन्न का अभाव हो जाने के कारण, बीज के गेहूँ भी संतों के सत्कार मे खर्च कर दिए, पर भक्ति के प्रभाव से बिना बीज के ही खेती फूली फली।

१ 'ग्रंथ साहब' राग धनाश्री, पृ० ६०८।
पीपा के नाम से अनेक अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें से कुछ का संकलन 'जनपदीय संत और उनकी वाणी' (मूमल प्रकाशन, जैसलमेर) में है। इसके सिवाय निरंजनी संप्रदाय के अनुयायियों में भी एक पीपा जी हुए है जिनका सं० १५६५ में आमेर में उत्पन्न होना तथा जाति का छीपी होना भी बतलाया गया है।

—दे० 'श्री म० ह० वा०,—सं०।

२ इहि विधि सुनि कै जाटरौ उठि भगती लागा।
मिले प्रतख्य गुसाइयाँ धन्ना बड़ भागा ॥—ग्रं० सा०, आसा, पृ० ४३०।

इस प्रकार के न जाने कितने चमत्कार संतो के सिर मढ़ दिए जाते हैं। परंतु इससे यह अनुमान अनुचित नहीं कि, संग्रहवृत्ति का त्याग कर संतसत्कार करने की भावना इनमे एक सच्चे संत के अनुरूप ही थी।

इनके समय आदि के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं। अपने उपर्युक्त पद मे इन्होंने कहा है कि नामदेव, छीपा, कबीर जुलाहा, सेन नाई और रैदास चमार का जीवन भक्ति के द्वारा सफल हो गया, उनके हृदय मे पारब्रह्म बस गया और भक्तों मे उनकी ख्याति हो गई। यह सुनकर धन्ना जाट भी भक्त हो गया और उसके भाग्य से उसे प्रत्यक्ष गुसाईं मिल गए।[1] इससे लगता है कि, इनके भक्ति ग्रहण करने के समय, सेन, कबीर, रैदास सभी गत हो चुके थे, उनकी केवल कहानी इन्होंने सुनी। इनके काशी आकर रामानंद से दीक्षा लेने का कहीं आभास नहीं मिलता। परंतु उक्त तीनों संतों के जीवनकाल मे ही, उनकी भक्ति की चर्चा दूर दूर तक फैल गई थी; यह संभव है कि दूर ही से धन्ना ने भी वह चर्चा सुनी हो और उनका मन भक्ति में प्रवृत्त हुआ हो। उक्त पद मे 'गुसाईं' से उनका तात्पर्य रामानंद से (मिले प्रतच्छ गुसाइयाँ धन्ना बड़ भागा) हो सकता है। कबीर, रैदास आदि संतों के साथ रामानंद के पीपा के देश जाने का उल्लेख ऊपर हुआ है। उसके अनुसार वे मथुरा मे अपने शिष्य अनंतानद के यहाँ होते हुए, काशी लौटे थे। संभव है, उसी समय धन्ना की भेंट उनसे हुई हो।

धन्ना के चार पद 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत हैं जिनकी भाषा और रचना साधारण है। एक पद मे इन्होने भगवान् (गोपाल) से अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रार्थना की है; शेष का विषय भगवान् मे दृढ़ विश्वास, भक्ति मे प्रवृत्ति तथा साधना की सफलता है। एक पद मे वे कहते हैं—जब तक हृदयनिवासी से मिलने की युक्ति नहीं ज्ञात थी तब तक यम के फंदे मे पड़े जगत् की ज्वाला मे जलते थे। काम और लोभ के वशीभूत हो मन परम पुरुष प्रभु को भूल गया था। गुण से प्रीति बढ़ी थी और जन्म मरण का ही पसारा फैला था। गुरु ने ज्ञान दिया तब ध्यान, प्रान और मन एक हो गए; प्रेमभक्ति प्राप्त हो गई और पूर्ण विश्रांति तथा मुक्ति मिल गई।[2] गुरु की कृपा से ज्ञान और प्रेमभक्ति

[1] वही।

[2] युगति जानि नहीं हृदय निवासी जलत जाल जम फंध परे। विषुफल संचि भरे मन ऐसे परम पुरुष प्रभु मन बिसरे ॥ ज्ञान प्रवेश गुरुहि धन दीया ध्यान मान मन एक भए। प्रेम भगति मानी सुख जान्या तृप्ति अघाने मुकति भए ॥—ग्रंथ साहब, राग आसा, पृ० ४२६।

प्राप्त होना, विषयों से मन का निवृत्त हो जाना और अंत मे, जीवन्मुक्ति मिल जाना सभी संतों का सामान्य विषय है।

(८) कमाल

कमाल कबीर के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इनके संबंध मे कबीर के नाम से यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि 'बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।'[१] इसके कारण कमाल को बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। पता नहीं इस उक्ति का कारण क्या था; अथवा यह कबीर की उक्ति है भी या नहीं। कहा जाता है कि कबीर की मृत्यु के बाद उनके भक्तों ने कमाल से उनके नाम पर पंथ चलाने को कहा, जिससे इनकार करने पर उन्होंने ही यह दोहा कहा। जो हो, यह तो सत्य है कि कमाल के बाद कबीर के वंश का कोई पता नहीं चलता। परंतु उक्त दोहे मे जो हरि का सुमिरन छोड़कर घर माल ले आने का आक्षेप उनपर है उससे जान पड़ता है कि वे कबीर के मार्ग और उपदेश पर नहीं चलते थे।

'संत गाथा' नाम की पुस्तक मे इनकी जो उक्तियाँ संकलित हैं उनकी भाषा में खड़ीबोली का रूप बहुत साफ दिखाई पड़ता है। उनके संबंध मे अभी और भी छानबीन करने की आवश्यकता है। परंतु उन उक्तियों में प्रपंच छोड़कर अंतः-करण को शुद्ध रखने, राजा रंक को समान समझने और भीतर बाहर एक ज्योति के प्रकाश से पूर्ण होने आदि का उल्लेख है, जिससे उनके विचार एक उच्च कोटि के संत के जान पड़ते हैं।

इनके जन्म एवं मृत्यु के संवतों के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं।

---

१ दूसरी पंक्ति है—हरि का सिमरन छाड़ि कै, घर ले आया माल ॥

—क० ग्रं० परिशिष्ट, सलोक १८५।

तृतीय अध्याय

नानक और उनके परवर्ती सिख संत

उपक्रम

कबीर और उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन संतों मे से कुछ के नाम से आज भी संप्रदाय वा पंथ चल रहे हैं, जैसे रामानदी संप्रदाय, कबीर पथ, रैदास पंथ आदि। परंतु कबीर आदि अथवा स्वयं स्वामी रामानंद ने, अपने पीछे अपने मत के प्रचार एवं उन्नति के उद्देश्य से, अपने जीवनकाल मे अपने किसी प्रधान शिष्य को उत्तराधिकारी बनाया हो अथवा किसी संप्रदाय का संघटन किया हो, इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता। यह बात नहीं कि वे लोक वा समाज के उद्धार वा उन्नति की ओर से उदासीन रहे; लोक के दुःख से दुःखी होना और यथाशक्ति उसे दूर करने का उपाय करना तो संतधर्म का एक मुख्य अंग था। परंतु अपने समय मे प्रचलित नाना पंथों मे फैले हुए पाषंड और पारस्परिक द्वेष कलह को देखकर संभवतः उन्होंने पंथस्थापना से विरत रहना ही अच्छा समझा। वे संतगुरु सेवा, हृदय एवं आचरण की शुद्धि, आत्मविचार, योग, चराचर जगत् की आंतरिक एकता की अनुभूति तथा सबके साथ समता के व्यवहार रूप व्यक्तिगत साधना के पथ को ही लोक के उद्धार तथा समस्त दुःखों से मुक्ति का सरल पथ समझते थे और अपनी 'रहनी' और 'कथनी' द्वारा इसी का उपदेश देते थे। जो और कुछ नहीं कर सकते थे ऐसे साधारण जनों के लिये संतसत्कार और नामस्मरण ही मुख्य उपाय थे। एक संत के परमात्मनिष्ठ, सरल एवं पवित्र जीवन का सहस्रों व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता था और इसमे संदेह नहीं कि इस प्रकार इन संतो के आध्यात्मिक प्रकाश की किरणों ने उस युग के लाखों करोड़ों व्यक्तियों के हृदयों को आलोकित किया। परंतु, आत्मोन्नति के इस व्यक्तिगत साधना, प्रधान उपाय से, साधारण जनता की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति होनेवाली न थी, सामान्य जन तो सदा किसी ऐसे संघटन और नेतृत्व की आड़ ढूँढते हैं जिससे उनकी लौकिक सामाजिक भावनाओं की तुष्टि हो सके। ऐसे एक सामान्य केंद्रीय संघटन वा नेतृत्व के अभाव मे अनेक की सृष्टि अनिवार्य है। फलतः, उन संतों के स्वयं कोई पंथ स्थापित न करने पर भी, उनके पीछे उनके शिष्य प्रशिष्य उनके नाम से अनेक पंथ और उपपंथ स्थापित कर उनमे विभक्त हो गए और कालांतर में उनके मतवादों की विभिन्नता मे सत्य का शुद्ध मार्ग लुप्त सा हो गया तथा उन

संतों के वास्तविक सिद्धांतों का ही नहीं, उनकी जीवनघटनाओं का भी पता लगाना कठिन हो गया।

उस समय किसी सामान्य सबल संघटन के अभाव का उपर्युक्त सैद्धांतिक कारण तो था ही, जान पड़ता है परिस्थितियाँ भी ऐसे संघटन के अनुकूल नहीं थीं। भारतीय समाज पर लोक-वेद-पथी रूढ़िप्रिय पंडितों और शरियतवादी मुल्लाओं का कठोर नियंत्रण था। धार्मिक मतभेदों के अतिरिक्त, सामाजिक और आर्थिक आधार पर भी लोगों मे ऊँच नीच का भारी भेदभाव व्याप्त था। संत लोग इस भेदभाव का सिद्धांत से ही नहीं, व्यवहार मे भी विरोध करते तथा, लोकवेद की उपेक्षा कर हिंदू, मुसलमान ब्राह्मण शूद्र सबको समान समझते थे। परंतु उनके मृदु उपायों से स्वार्थ और भेद पर आश्रित तत्कालीन समाज की नींव हिलनेवाली न थी। कबीर, रैदास, आदि संत समाज मे, हिंदू और मुसलमान दोनों की दृष्टि मे निम्न श्रेणी के थे, अतः अपने पवित्र जीवन तथा अपनी धार्मिक निष्पक्षता एव प्रभावमयी वाणी से लोगों के हृदयों को आकर्षित करके भी वे उनके सामाजिक घेरे के भीतर प्रवेश नहीं कर सके—अछूत ही बने रहे। रामानंद जी के विषय में यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि वे साधना, आचार विचार और खान पान मे जातिभेद और छुआछूत नहीं मानते थे, तथापि वे इसके कोई प्रबल आंदोलनकारी सामाजिक नेता न थे और अधिकतर एकांत साधना तथा उपदेश द्वारा ही लोगों को प्रभावित करते थे। यवन, शूद्रादि को अपनाने के कारण वे ब्राह्मणों और उनके प्रभावांतर्गत द्विजवर्ग के कोपभाजन भी हुए होंगे। ऐसी स्थिति मे सभी वर्गों के लोगों से खुलकर मिलने जुलने मे उनकी साधना के अतिरिक्त यह लौकिक बाधा भी थी। फलतः उच्चवर्गीय शिक्षित हिंदुओं या मुसलमानों मे उनका कोई ऐसा योग्य शिष्य भी न हो सका जो भेदभावरहित सामान्य समाज का संगठन कर उसका नेतृत्व कर सकता। जो भी हो, एक सामान्य नेतृत्व के अभाव का परिणाम हुआ वैष्णव भक्तिमार्ग मे भी नाना पंथों का प्रादुर्भाव।

सिख मत

रामानंद और कबीर के समय तक संतमत का प्रकाश भारत मे दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं मे फैल चुका था। पजाब मे नामदेव तो रामानद आदि से बहुत पहले ही दक्षिण से जाकर बसे थे, परंतु रामानंद और उनके समकालीन संतों मे न कोई उधर का था, और न उधर गया ही। रामानंद के बाद कबीर के जीवनकाल में ही प्रसिद्ध संत गुरु नानक हुए जो सिखों के आदि गुरु थे। इनके तथा उपर्युक्त संतों के मतों मे तात्विक समानता है, तथापि, बाह्य परिस्थितियों तथा उनके प्रति दृष्टिकोण मे भेद होने के कारण, इनके मत का बाह्य रूप कुछ भिन्न सा रहा और उसका विकास भी भिन्न प्रकार से हुआ। मुसलमानी शासन तो पंजाब मे

भी था, परंतु वहाँ हिंदू कर्मकांड, आचार विचार और वेद शास्त्र की वैसी प्रबलता न रह गई थी जैसी काशी केंद्र मे। मुसलमान पीर फकीरों का अवश्य अधिक प्रभाव था। गुरु नानक खत्री जाति मे उत्पन्न हुए थे, जिससे उनकी शिक्षा और संस्कार कबीर आदि से कुछ भिन्न प्रकार के थे। सभी जातियों के हिंदुओं के अतिरिक्त वे मुसलमानों से भी खूब मिलते जुलते थे और भारत के बाहर पश्चिम के इस्लामी देशों में भी उन्होंने भ्रमण किया था। इन बातों के साथ साथ उनके संतसुलभ स्वतंत्र विचार और विवेक ने भी उनके दृष्टिकोण को अधिक उदार एवं व्यावहारिक बनाया। उन्होंने संतमत के आदर्शों को सामाजिक जीवन के व्यवहारों मे भी उतारने का पूरा प्रयत्न किया और उसकी परंपरा आगे भी चलती रहे, इस उद्देश्य से स्वयं सिख मत की स्थापना भी की। इसके फलस्वरूप सिख मत एक प्रबल धार्मिक एवं सामाजिक संघटन के रूप मे बराबर उन्नति करता रहा और उसकी गुरुपरंपरा दस गुरुओं तक चली, यद्यपि पाँचवें गुरु के बाद से, सामयिक परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपनी चर्या बदल दी और केवल क्षमाशील संत ही न रहकर उन्होंने धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रिय रूप भी धारण किया। आगे प्रथम पाँच गुरुओं का क्रमशः परिचय दिया जाता है।

१. गुरु नानक

जीवनवृत्त—जैसा सभी धर्मों और पंथों मे प्रायः देखा जाता है, सिखधर्म के गुरु नानक के जीवन के संबंध मे भी, दिव्य कल्पनाएँ कर बहुत सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ जोड़ ली गई हैं। जैसे गुरु नानक का समुद्र के जलपर चलकर किसी हारूँपुर नामक टापू मे जाना, कश्मीर मे एक गड़रिए के गुरु को दुर्वचन कहने पर उसकी सब भेड़ों का मर जाना और फिर उनकी कृपा से जी उठना, गिरिमूल में लकड़ी मारने से पानी का सोता फूटना, काबुल मे एक मसजिद पर बैठकर उसे चारों ओर घुमाना, गोरखनाथी जोगियों को योग की करामातों मे मात देना, दिल्ली में एक मरे हुए हाथी को जिलाना, लंका द्वीप मे जाकर विभीषण को उपदेश और हनुमान को दर्शन देना, इत्यादि। परंतु गुरु नानक की सब रचनाएँ 'ग्रंथ साहब' में संग्रहीत होने के कारण, उनके उपदेशों और सिद्धांतों के प्रामाणिक ज्ञान का मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सुगम है, और उनके जीवन के संबंध मे भी, करामातों के अतिरिक्त, बहुत सी घटनाओं और जीवनकाल आदि के विषय मे प्रायः ऐकमत्य है।

गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ वि० मे वैशाख शुक्ल तृतीया को लाहोर के दक्षिण-पश्चिम लगभग तीस मील पर, राय भोई की तलवंडी नामक एक गाँव मे हुआ था। ये जाति के खत्री थे। इनके पिता का नाम कालूचंद और माता का तृप्ता था। इनकी बड़ी बहन नानकी के नाम पर इनका नाम 'नानक' रखा गया था। इनके गाँव तलवंडी के जमींदार राय भोई के भाई राय बुलार नामक एक

शांतिप्रिय मुसलमान थे और उनके समय में हिंदू और मुसलमान दोनों परस्पर मेल का व्यवहार रखते थे। इस कारण बचपन से ही नानक को मुसलमान सज्जनों की संगति सुलभ हुई।

बचपन मे इन्हे पंजाबी, हिंदी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया, और ये बड़े प्रतिभाशाली भी थे। परंतु इनका समय प्रायः एकांतवास, चिंतन और सत्संग मे बीतता था। लौकिक उन्नति की ओर इनका ध्यान नहीं था और घर के कामों मे भी मन नहीं लगता था। इनके माता पिता को ये बातें पसंद न थीं। उन्होंने इनके बहनोई जयराम (जिसे कोई इनका फूफा बतलाते हैं) की सहायता से इन्हें पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी के एक कर्मचारी के यहाँ मोदी-खाने मे नौकर रखा दिया, जहाँ ये कुछ समय तक काम करते रहे। गुरदासपुर के किसी मूला नामक व्यक्ति की कन्या सुलक्खनी देवी से इनका विवाह भी करा दिया गया, जिससे इनके श्रीचद और लक्ष्मीचद नामक दो पुत्र हुए। परंतु अंततः गृहस्थी मे इनका मन न रमा। कहते हैं, एक बार मोदीखाने में आटा तौलते समय तेरह तक तौलने के बाद ये अन्यमनस्क हो गए और फिर जितनी बार तौला, 'तेरा' 'तेरा' कहते रहे और इस प्रकार सारा आटा दे डाला। इससे इनकी शिकायत हुई और नौकरी छूट गई। उसके बाद परिवार को ससुराल मे छोड़कर ये भ्रमण, सत्संग और उपदेश में ही समय बिताने लगे।

भ्रमण और मतप्रचार—कहा जाता है, गुरु नानक ने अपने प्रांत पंजाब के अतिरिक्त, पश्चिमोत्तर भारत, कश्मीर, दिल्ली, हरद्वार, भूटाब (भूटंत देश), काशी, कामरूप, पुरी, सिंहल आदि दूर दूर के स्थानों तक, तो भ्रमण किया ही, देश के बाहर भी वे अफगानिस्तान (काबुल), अरब (मक्का, मदीना), रूम और हबश आदि देशो मे गए थे। तत्कालीन यात्रा संबधी कठिनाइयों को देखते हुए उनका इतनी अधिक यात्राएँ करना अत्यत आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, तथा, इन यात्राओं मे वर्णित कई काल्पनिक घटनाओं के कारण, कुछ स्थानों की यात्राओं के भी कल्पित होने का संदेह होने लगता है। परतु उस समय साधु संत प्रायः दूर दूर तक यात्रा किया करते थे और इसमे सदेह नहीं जान पड़ता कि गुरु नानक विशेष भ्रमणप्रिय थे। अतः उनका, कम से कम कश्मीर, दिल्ली, पश्चिमोत्तर भारत और उत्तरप्रदेश के एक आध स्थानों मे तथा अफगानिस्तान आदि कुछ विदेशों मे भी, यात्रा करना असभव नहीं कहा जा सकता।

[१] श्री गु० ना० प्रा० उत्तरार्ध, भाग ६—७।

पहले नानक ने, जैसा स्वाभाविक था, पंजाब के ही गाँवों मे भ्रमण करना आरंभ किया और, अनेक गॉवो मे प्रचार करने के बाद, वे कश्मीर गए। वहाँ से सिंधु के पचास कोस इधर एक पहाड़ पर गए जहाँ वली कंधारी नाम का एक फकीर रहता था। अपने रबाबी मरदाना को उन्होने यह कहकर उस फकीर के पास पानी लेने भेजा कि तुम भी मुसलमान हो, वह भी मुसलमान है, अतः वह तुम्हें पानी दे देगा। परंतु उसने पानी नहीं दिया, तब, कहते हैं। नानक ने पहाड़ के मूल मे छड़ी मारी जिससे पानी निकल आया और फकीर ने हार मानी। वहाँ रावलपिंडी के 'पंजा साहब' में गुरु के हाथों का चिह्न अब भी विद्यमान बताया जाता है।

फिर ये काबुल गए। वहाँ एक मुल्ला ने इनसे कहा कि तुम काफिर हो, यहाँ से भाग जाओ नहीं तो यवन क्रुद्ध होंगे। पर ये निर्भय होकर वहाँ की मसजिद के ऊपर चढ़कर बैठ गए और मसजिद चारों ओर घूमने लगी। तब वहाँ के हिंदू, मुसलमान दोनों ने इनकी पूजा की। नाम प्रचार करने तथा अपनी भक्ति का प्रभाव दिखाने के लिये ये बगदाद, रूम, हबस, मक्का और मदीना भी गए। काबे में ये मसजिद की ओर पैर करके लेट गए जिससे अरब लोग बिगड़ गए। तब इन्होंने कहा कि जिधर अल्लाह न हो उधर हमारा पैर कर दो परंतु जिस ओर इनका पैर घसीटकर कर दिया जाता उसी ओर मसजिद भी हो जाती। तब वहाँ के लोग बहुत प्रभावित हुए। वहाँ से लौटने के बाद ये दिल्ली, हरद्वार, काशी, पुरी और कामरूप गए। तीसरी बार की यात्रा मे रामेश्वर और लंका तक जा पहुँचे।

एक बार ये पठानों के किसी नगर एमनाबाद में गए जिसे बाबर ने लूटकर नष्ट कर दिया था। वहाँ के बचे हुए लोगों को समझाया बुझाया। बाबर से भी भेंट हुई, उसे इन्होंने उपदेश दिया और भारत मे उसका साम्राज्य स्थापित होने की भविष्य-वाणी की। फिर अपने ससुर नगर गुरदासपुर गए। गृहस्थी छोड़कर इधर उधर घूमने के कारण इनकी सास चंदो रानी तथा ससुर मूलचंद बड़े क्रुद्ध हुए, जिससे पत्नी और पुत्रों को इन्होंने अपने साथ ले लिया। एक श्रद्धालु धनी खत्री ने लाहोर के पास कर्तारपुर नाम का एक नया नगर बसाकर इन्हें भेंट कर दिया। वहीं परिवार को छोड़ एक बार फिर ये, मुलतान, स्यालकोट आदि स्थानों मे होते हुए कंधार गए। वहाँ से लौटकर फिर कर्तारपुर मे स्थायी रूप से बस गए।

यह नहीं कहा जा सकता कि ऊपर लिखित क्रम ही इनकी यात्रा का ठीक क्रम था। परंतु प्रायः इतने स्थानों में उनके यात्रा करने का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त यात्राओं में गुरु नानक के सदा साथ रहनेवाले दो व्यक्ति कहे जाते

हैं। एक तो मरदाना नाम का इनके गाँव का ही एक मुसलमान साथी था जो इनका रबाबी भी था। दूसरा कोई बाला बंधु नामक व्यक्ति था जिसने द्वितीय गुरु अंगद से नानक की सभी यात्राओं और उनके कार्यों का आँखों देखा वर्णन किया था। भ्रमण के समय नानक जहाँ जाते थे, भरसक वहाँ के दुःखी जनों का दुःख दूर करते और उन्हें सांत्वना देते थे तथा सत्यरूप राम, गोविंद या वाहिगुरु के नामस्मरण का उपदेश और प्रचार करते थे। जो लोग इनके मत को मान लेते थे वे सिख (शिष्य) कहलाते थे। भक्त और श्रद्धालु गृहस्थ जो दान भेंट देते थे उसे ये अस्वीकार न कर धर्मशाला और मंदिर बनवाने, कुएँ और तालाब खोदवाने तथा अतिथियों और संतों को भोजन कराने में, उसका सदुपयोग करते थे। सब शिष्यों को अपने साथ ही न रख-कर ये मुख्य मुख्य शिष्यों को अपने अपने गाँव घर में ही अथवा दान द्वारा बसाए गए किसी नवीन स्थान में रहकर, सिख मत का प्रचार करने की आज्ञा देते थे। इस प्रकार पंजाब में अनेक छोटे छोटे सिख केंद्र बन गए जहाँ से सिखधर्म का प्रचार सरलता और शीघ्रता के साथ हो सकता था। आगे चलकर जब गुरु नानक स्वयं एक स्थान पर बस गए तो वह स्थान सभी सिखों का प्रधान केंद्र बन गया।

नानक का व्यवहार, अपने विचारों पर दृढ़ रहते हुए, सभी के साथ प्रेम, नम्रता और समानता का होता था। जातपाँत का कोई भेद न कर ये सबको शिष्य बनाते थे और एक साथ रहनेवाले सभी सिख एक साथ बैठकर भोजन भी करते थे। हिंदू या मुसलमान किसी एक मत में नत्थी न कर लिए जायँ जिससे दूसरे के विरोधी समझे जायँ, इसलिये ये अपना वेश ऐसा मिला जुला हुआ रखते थे कि इन्हें देखकर यह पहचान करना कठिन होता था कि ये हिंदू हैं या मुसलमान तर्क वितर्क भी ये किसी से बहुत नहीं करते थे। इस कारण इनके संपर्क में आने-वाले इनके विरोधी भी शीघ्र ही इनके आगे झुक जाते थे।

अंतिम दिन—कर्तारपुर में रहते हुए, ये केवल भजन में ही समय नहीं बिताते थे। जितनी भूमि इनके पास थी उसमें अपने पास रहनेवाले सिखों को लगाकर परि-श्रम से खेती कराते थे। स्वयं भी एक किसान की तरह पूरा परिश्रम करते थे। जो अन्न उपजता था उससे भंडारा चलता था। इनके यहाँ जो आता था, भोजन अवश्य पाता था। इसमें आनेवालों की भीड़ बहुत अधिक बढ़ने लगी। जब ये देखते कि बहुत से लोग केवल बिना परिश्रम भोजन पाने और तमाशा देखने के लिये ही जुट गए हैं तो ये सबको और कठिन परिश्रम में लगा देते जिससे आलसी लोग स्वयं भाग जाते थे। इनके यहाँ नित्य नियमपूर्वक 'जपुजी' का पाठ, उपदेश, भजन और नामस्मरण हुआ करता था। यहाँ रहते हुए लहणा नामक एक शिष्य पर इनकी विशेष कृपा हुई। इन्होंने अनेक प्रकार से उसकी कठिन परीक्षा ली और वह सबमें खरा उतरा, जिससे इन्हों ने अपने पुत्रों की भी उपेक्षा कर उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाया

और उसे सब सिखों के गुरुपद पर प्रतिष्ठित किया। उस शिष्य का नाम इन्होंने 'अंगद' रख दिया। यही अंगद सिखों के द्वितीय गुरु हुए।

२. गुरु अंगद

पहले गुरु अंगद का नाम 'लहणा' था, गुरु नानक ने ही उसे बदलकर 'अंगद' रख दिया था। गुरु अंगद का जन्म ११ वैशाख, सं० १५६१ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम फेरू और माता का दयाकुँवरि था। पिता फीरोजपुर जिले के 'मत्ते दी सराय' नामक गाँव मे एक व्यापारी थे। गुरु अंगद की पत्नी का नाम खीबी था जिससे उनके दो पुत्र और एक पुत्री (दातू, दासू, अमरू) हुई। मुगलों के आक्रमण से इनका गाँव नष्ट हो गया, तब इनका पूरा परिवार अमृतसर जिले के खंडूर नामक गाँव मे आकर रहने लगा।

पहले ये देवी के भक्त थे, परंतु एक बार किसी सिख के मुख से 'असा दी वार' की पंक्तियों का गान सुनकर बहुत प्रभावित हुए और गुरु नानक का पता लगाने लगे। एक बार कई साथियों के साथ ज्वालादेवी के दर्शन को जा रहे थे। बीच मे अपने साथियों से अलग होकर ये कर्तारपुर आए और गुरु नानक से अपनी शरण मे लेने की प्रार्थना की। गुरु नानक की आज्ञा से ये घर लौट गए पर शीघ्र ही फिर कर्तारपुर आकर वहीं रहने लगे। ये गुरु के बड़े भक्त थे और कठिन से कठिन सेवा से भी मुँह नहीं मोड़ते थे। खेतों मे काम करना, घास छीलना, बोझ ढोना, दीवार उठाना आदि सभी परिश्रम के काम इनसे लिए जाते थे। गुरु नानक के अन्य शिष्य और पुत्र जो काम नहीं कर सकते थे उसे भी ये सहर्ष पूरा करते थे। इसी से नानक ने प्रसन्न होकर इन्हे अपना शिष्य और उत्तराधिकारी बनाया। गुरु पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ये गुरु की आज्ञा के अनुसार खंडूर मे आकर रहने लगे। गुरु की मृत्यु के बाद ये इतने दुःखी हुए कि सबसे अलग एकांत मे बैठकर खाना पीना छोड़कर उन्हीं का ध्यान किया करते थे।

खडूर मे ये प्रातः तीन घड़ी रात रहे उठते, स्नान करके ध्यान कीर्तन करते, 'असा दी वार' का गान सुनते, रोगियों को देखते, उपदेश देते, लोगों को भोजन कराते, कभी बच्चो का खेल देखते और फिर दरबार करते थे।

कहते हैं, जब बाबर का बेटा हुमायूँ शेरशाह से हारकर भाग रहा था तो गुरु अंगद की कीर्ति सुनकर वह उनसे मिलने के लिये भेंट लेकर सेवा मे उपस्थित हुआ, किंतु ध्यान मे रहने के कारण उनके न बोलने पर क्रुद्ध हो गया। जब ध्यान भंग हुआ तो उन्होंने शत्रु से हारकर भागने पर भी, एक संत पर क्रोध दिखाने के लिये उसे फटकारा, परंतु फिर उसे कुछ समय के बाद विजयी होने का आशीर्वाद दिया। उनका आशीर्वाद सत्य हुआ और विजय प्राप्त करने के बाद हुमायूँ ने उनका दर्शन करना चाहा, परंतु उस समय उनकी मृत्यु हो चुकी थी।

एक बार गोविंद नामक किसी व्यक्ति ने व्यास नदी के किनारे एक नया नगर बसाने मे गुरु अगद की सहायता चाही, तब गुरु ने अपने शिष्य अमरदास को भेजकर उसे उपयोगी परामर्श दिए। इससे प्रसन्न होकर गोविंद ने वहाँ गुरु के लिये एक महल बनवा दिया। इस नगर का नाम 'गोइंदवाल' हुआ और वहाँ उस महल मे गुरु की आज्ञा से अमरदास रहने लगे। अमरदास भी बड़े गुरुभक्त थे, जिससे प्रसन्न होकर गुरु अंगद ने उन्हीं को गुरुगद्दी पर बिठाया। गुरु अगद की मृत्यु चैत्र शुक्ल ३, सं० १६०६ को हुई।

गुरु नानक की रचनाओं को सर्वप्रथम गुरु अंगद ने ही संग्रह कराके लिखवाया। इसके लिये उन्होंने गुरुमुखी लिपि का आविष्कार किया, जिसमे देवनागरी वर्णमाला के सब अक्षर न लेकर केवल ३५ अक्षर रखे और कुछ अक्षरों के क्रम तथा रूप मे भी परिवर्तन किया। गुरुओं की जीवनी लिखाने का भी कार्य इन्होने पहले पहल आरभ किया। इनकी कुछ रचनाएँ भी 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत बताई जाती हैं।

३. गुरु अमरदास

अमरदास तीसरे सिख गुरु थे। इनका जन्म सं० १५३६ मे वैशाख शुक्ल १४ को हुआ था। इनके पिता तेजभान खत्री अमृतसर के पास के एक गाँव के निवासी थे और खेती तथा व्यापार करते थे। इनकी माता का नाम मनसादेवी था। इनके एक भतीजे का ब्याह गुरु अंगद की कन्या अमरू से हुआ था। पहले ये शालिग्राम के पूजक वैष्णव भक्त थे, परतु अमरू के मुख से गुरु नानक का एक पद सुनकर बहुत प्रभावित हुए और आग्रहपूर्वक उसे कई बार गवाकर सुना। फिर ये गुरु अंगद की सेवा मे चले गए और उनके शिष्य बनकर वहीं रहने लगे।

अपने गुरु अंगद की भाँति ये बड़े गुरु भक्त थे और सेवा मे किसी कष्ट से घबराते नहीं थे। गोइंदवाल मे ये पहर रात रहे उठते और नित्य व्यास नदी से जल ले जाकर खडूर मे गुरु को स्नान कराते तथा अन्य सेवाएँ करते थे। गुरु ने इनकी सेवा, निष्ठा और भक्ति से प्रसन्न होकर इन्हीं को तीसरे गुरु की गद्दी दी।

गुरु अमरदास बड़े विनम्र और सहनशील स्वभाव के थे। गुरु अंगद के पुत्र दातू ने खडूर पर पहले ही से अधिकार जमा लिया था। अमरदास को गद्दी मिलने से वह बहुत चिढ़ा और गोइंदवाल जा कर उन्हें बुरा भला कहा तथा ठोकर मारकर गिरा भी दिया, पर उन्होंने नम्रतापूर्वक उसके पैर पकड़कर यह कहते हुए कि 'कहीं आपके चरणों मे चोट तो नहीं लगी, उनसे क्षमा माँगी और गोइंदवाल छोड़कर अपने गाँव चले गए। जब दातू खडूर चला गया तो सिखों की प्रार्थना पर ये फिर गोइंदवाल आए।

एक बार कुछ ब्राह्मणों के यह परिवाद करने पर कि गुरु अमरदास के कारण हिंदू धर्म का अपमान हो रहा है, अकबर बादशाह ने इन्हें अपने यहाँ बुलवाया। गुरु वृद्ध होने के कारण स्वयं न जा सके, अतः उन्होंने अपने दामाद और शिष्य जेठा को भेज दिया। जेठा ने कुछ दिन अकबर के यहाँ रहकर अपनी बातचीत से अकबर का पूर्ण समाधान कर दिया। अकबर ने जेठा के द्वारा गुरु को हिंदुओं के समाधान के लिये हरद्वार की यात्रा का परामर्श दिया, जहाँ जाकर इन्होने सिख मत का प्रचार किया।

अपने दामाद शिष्य जेठा की भक्ति और योग्यता से गुरु अमरदास बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने उसका नाम रामदास रख दिया और सिख गुरुओं की सरल प्रथा के अनुसार, पाँच पैसे और नारियल भेंटकर विधिपूर्वक उसे गुरुगद्दी प्रदान की। सं० १६३१ की भाद्र पूर्णिमा को गुरु अमरदास का स्वर्गवास हो गया।

पूर्व गुरुओं की भाँति गुरु अमरदास ने भी गुरुचर्या का पूर्ण रूप से निर्वाह किया। ध्यान, चिंतन, भजन, भंडारा आदि उसी प्रकार चलते रहे। इन्होने सिखमत के प्रचार के लिये बहुत से केंद्र स्थापित किए और बड़ा सुव्यवस्थित प्रबंध किया। इन्होंने कुछ रचनाएँ भी कीं जो ग्रंथ साहब मे संगृहीत हैं।

४. गुरु रामदास—जैसा पहले कहा जा चुका है, इनका नाम पहले 'जेठा' था जिसे गुरु ने बदलकर 'रामदास' रखा था। इनका जन्म सं० १५९१ मे कार्तिक कृष्ण २ को, लाहौर नगर के एक खत्री परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम हरिदास और माता का दयाकुँवरि था। बचपन मे ये छोले (घुघनी) आदि बेचा करते थे, पर प्रायः उसे साधुओं को खिला दिया करते थे। गुरु अमरदास ने प्रसन्न होकर इन्हे अपनी कन्या व्याह दी, और अपना शिष्य बनाकर इन्हीं को गुरु गद्दी भी दी। अपनी कन्या (जेठा की पत्नी) की सेवाभक्ति से प्रसन्न होकर गुरु अमरदास ने उससे एक बार कोई वर माँगने को कहा, तब उसने यही वर माँग लिया था कि अब से गुरु गद्दी मेरे ही वंश मे रहे।

गोइंदवाल मे अपने ससुर-गुरु के साथ रहते हुए गुरु रामदास ने उनकी आज्ञा से 'संतोष सर' नामक एक तालाब और वहीं अपने रहने के लिये एक घर बनवाया और उसी के निकट एक और तालाब खुदवाया, जिसका नाम गुरु अमरदास की ही आज्ञा से आगे चलकर 'अमृतसर' रखा गया। सिख मत के प्रचार के लिये भी इन्होंने बहुत उद्योग किया। अपने सत्स्वभाव और कार्यों से इनकी बड़ी ख्याति फैल गई जिसे सुनकर नानक के पुत्र श्रीचंद जिन्होंने उदासी मत चलाया था, इनसे मिलने आए और इनके सत्कार और व्यवहार से बहुत प्रसन्न हुए।

इनके तीन पुत्र थे जिनमें सबसे छोटे का नाम अर्जुन था। अन्य दो पुत्र इनकी आज्ञा की उपेक्षा कर जाते थे, परंतु अर्जुन बड़े भक्त और आज्ञाकारी थे। इससे गुरु रामदास ने इन्हे ही पाँचवें गुरु का पद प्रदान किया। इस कारण उनका बड़ा पुत्र पृथीचंद इनसे बहुत जलता था।

गुरु रामदास की मृत्यु सं० १६३८ मे भाद्रपद शुक्ल ३ को हुई। इन्होंने भी पूर्व गुरुओं की भाँति कुछ रचनाएँ कीं जो 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत हैं।

५. गुरु अर्जुनदेव

गुरु अर्जुनदेव का जन्म सं० १६२० मे वैशाख कृष्ण ७ को हुआ था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इनके पिता गुरु रामदास थे जो गुरु अमरदास के दामाद थे। ये अपने माता पिता के साथ गोइंदवाल मे अपने नाना गुरु अमरदास के ही पास रहा करते थे और उनकी इनपर बड़ी प्रीति थी।

गुरुपद पर प्रतिष्ठित होने के बाद से अंत समय तक इन्हे अपने शत्रुओं का कोपभाजन होना पड़ा। इनका बड़ा भाई पृथीचंद, जो इनका बाल्यद्वेषी था, इनके गुरु होने से बहुत चिढ़ गया और बदला लेने पर उतारू हो गया। इन्होंने गुरुगद्दी को होनेवाली आय अपने दोनों भाइयों-पृथीचंद और महादेव को दे दी और गोइंदवाल छोड़कर अमृतसर चले आए तथा स्वयं केवल भक्तों से मिलनेवाली भेंट से ही काम चलाने लगे। पृथीचद फिर भी चुप न बैठ सका। वह बादशाह अकबर के एक कर्मचारी से मिलकर इन्हे किसी प्रकार दंड दिलाना चाहता था, परंतु सफल न हुआ। अकबर के मंत्री राजा बीरबल भी, धार्मिक मतभेद के कारण, इनसे शत्रुता रखते और इनसे बदला लेना चाहते थे, परंतु इन्हे कोई हानि पहुँचा सकने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। अत मे इनके भाई पृथीचंद और चंदूशाह नामक एक अन्य व्यक्ति के संमिलित षडयंत्र का इन्हें शिकार होना पड़ा।

चंदूशाह अकबर बादशाह का दीवान था। उसे अपनी कन्या के लिये कोई योग्य वर नहीं मिल रहा था। जब उसे सुझाया गया कि गुरु अर्जुनदेव का पुत्र हरगोविंद इस विवाह के लिये बहुत योग्य है तो उसने, कुछ अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते हुए, उसे अस्वीकार कर दिया। परंतु अंत मे विवश होकर उसने गुरु अर्जुनदेव से उक्त विवाह का प्रस्ताव किया। गुरु और उनके अनुयायियों को चंदूलाल के अपमानजनक कथन का पता लग गया था, अतः उन्होंने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इससे चंदूलाल उनका शत्रु हो गया और पृथीचंद के साथ मिलकर इनसे बदला लेने का उपाय करने लगा। अकबर के जीवित रहते तो वे दोनों इनका कुछ नहीं बिगाड़ सके, परंतु अकबर की मृत्यु के बाद, उन्होंने जहाँगीर के कान भरे। एक बार जब जहाँगीर पंजाब गया तो चंदूशाह ने उससे इनकी बड़ी चुगली की। फलतः ये बादशाह के सामने बुलवाए

गए और इनपर कुछ आरोप लगाकर इन्हें दो लाख रुपए जुर्माना देने तथा 'ग्रंथ साहब' मे से कुछ पंक्तियाँ निकाल देने को कहा गया। ये दोनों ही बातें अस्वीकार करने के कारण बादशाह इनसे क्रुद्ध हो गया और ये बंदी बना लिए गए। इन्हें नाना प्रकार की यंत्रणाएँ दी गईं, यहाँ तक कि जलती हुई लाल कड़ाही मे भी बैठाया गया जिससे इनके शरीर मे फफोले पड़ गए, परंतु इन्होंने धैर्यपूर्वक सब सहन कर लिया और अपनी टेक न छोड़ी। अंत मे, पाँच दिनों के बाद, इन्होंने अपने पाँच सिखों के साथ स्नान के लिये रावी नदी तक जाने की अनुमति माँगी और सशस्त्र सिपाहियों के पहरे मे जाने की इन्हें अनुमति मिल गई। रावी पर पहुँचकर इन्होंने स्नान करके 'जपुजी' का पाठ किया और, सब सिखों को अपने पुत्र हरगोविंद को गुरु मानने का आदेश देकर, वहीं सं० १६६३ मे ज्येष्ठ शुक्ल ४ के दिन शरीर त्याग दिया।

गुरु अर्जुन देव ने बहुत कम आयु पाई और उसमे भी वे सदा शत्रुओं से घिरे रहे। परंतु, उनके कार्यों की दृष्टि से, उनका जीवन अत्यत महत्वपूर्ण रहा। पहले तो गद्दी पर बैठते ही उन्होने उस अमृतसर तालाब को बँधवाकर तैयार कराया जिसे उनके नाना की आज्ञा से उनके पिता ने खुदवाया था। इस तालाब के बीच मे उन्होंने 'हर मंदर' नाम का एक मंदिर बनवाया। तरनतारन मे भी इसी प्रकार उन्होंने तालाब और मंदिर बनवाया। सिखों की शिक्षा के लिये भी अच्छा प्रबध किया और अनेक सिखों को, दूर देशो मे व्यापार तथा मतप्रचार के लिये भेजा।

परंतु गुरु अर्जुनदेव का सबसे विशिष्ट कार्य था 'ग्रंथ साहब' का निर्माण। इन्होने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की प्रामाणिक रचनाओं को ढूँढ़ ढूँढ़कर एकत्र कराया और साथ ही कुछ अन्य संतों की भी बानियों का चुन चुनकर ग्रह कराया। उन सबको इन्होंने स्वयं बैठकर लिखवाया, जो आज 'ग्रंथ साहब' के रूप में हमे उपलब्ध है। इन्होंने स्वयं भी रचनाएँ कीं जो उक्त ग्रंथ मे संकलित हुईं। यह ग्रंथ सं० १६६१ वि० मे तैयार हुआ।

सिख गुरुओं की रचनाएँ और 'ग्रंथ साहब'

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उपर्युक्त पाँचो गुरुओं की रचनाएँ 'ग्रंथ साहब' मे संगृहीत बताई जाती हैं। केवल सिख गुरुओं की ही नहीं, नामदेव, रैदास, कबीर आदि कुछ अन्य संतों की भी चुनी हुई बानियाँ इस ग्रंथ मे संगृहीत हैं। इन गुरुओं और संतों की रचनाओं के लिये विद्वानों ने 'ग्रथ साहब' को बहुत प्रामाणिक माना है। गुरुओं की बानियों मे किसी प्रकार का संशोधन वा परिवर्तन करना सिखों की दृष्टि से अत्यंत अनुचित है। 'ग्रंथ साहब' उनके लिये गुरु नानक के ही समान पूज्य है और उनके यहाँ उसका पाठ ज्यों के त्यों शुद्ध रूप मे करने की परिपाटी है। अशुद्ध पाठ करना दोष माना जाता

है। अतः यह विश्वास करना चाहिए कि सं० १६६१ के बाद इसके पाठों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। गुरु अर्जुनदेव ने स्वयं भी इसी भावना से प्रेरित होकर इसका संकलन कराया कि गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की रचनाएँ शुद्ध रूप में सुरक्षित रह सकें। अवश्य ही जहाँ तक हो सका, उन्होंने स्वयं परिश्रम करके इसे अधिक से अधिक प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत कराने का प्रयत्न किया। किंतु यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि इस ग्रंथ के निर्माण के पूर्व, लगभग एक सौ वर्ष तक पाठ शुद्धता के संबंध मे, इतनी सावधानी नहीं बरती जा सकी होगी। गुरु नानक की रचनाओं को, उनकी मृत्यु के छह वर्ष पूर्व, सं० १५८६ मे, सर्वप्रथम गुरु अंगद ने गुरुमुखी लिपि मे लिखाना आरंभ किया था, उसके पहले वे लोगों के कंठ मे ही विराजती थीं। गुरु अमरदास जी भी शुद्धता का ध्यान रखते थे। परंतु गुरु अर्जुनदेव के बड़े भाई पृथीचंद ने गुरु नानक के नाम से पदरचना आरंभ कर दिया था। इससे १६६१ से पूर्व की रचनाओं मे कुछ हेरफेर होना असंभव नहीं था। ऐसा अनुमान करने का एक आधार यह भी है कि, अत्यधिक सावधानी रखने पर भी, स्वयं 'ग्रंथ साहब' मे रचनाओं के संग्रहकर्ताओं या लेखकों की असावधानी से, कुछ भूलें यत्रतत्र दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ, कबीर के नाम से दिए गए 'सलोकों' के अंतर्गत, नामदेव, तिलोचन, रैदास और नानक के भी सलोक आ गए है।[१] इन सलोकों में रचयिता का नाम दिया गया होने से इन्हें पहचानना सरल है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इनका संकलन जान बूझकर कबीर के सलोकों मे किया गया। गानेवालों और लिपिकारों की असावधानी से, शब्दों के रूप और लिखने के ढंग मे भी, अवश्य थोड़ा बहुत परिवर्तन हो गया होगा। परंतु जहाँ तक गुरुओं के भावो और सिद्धांतों का प्रश्न है, ऐसे परिवर्तनों के कारण उन्हें समझने मे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

एक दूसरी कठिनाई सामान्य पाठकों के लिये गुरुओं की संपूर्ण रचनाओं की ठीक ठीक पहचान करने में उपस्थित होती है। 'ग्रंथ साहब' में गुरुओं की रचनाएँ क्रमशः भिन्न भिन्न 'महलों'[२] के अंतर्गत संगृहीत हैं। जैसे, प्रथम गुरु

१ संत क०, सलोक २१२, २१३, २२०, २४१, २४१।

२ 'महला' का अर्थ लेखक की समझ में 'मुहल्ला' है, क्योंकि 'महलों' के अंतर्गत 'घर' भी दिए गए है। संभवतः 'ग्रंथ साहब' को एक नगर मानकर उसका विभाजन मुहल्लों और घरों में किया गया। परंतु एक सिख ज्ञानी जी ने बताया कि ऐसा समझना भ्रम है। वास्तविक रहस्य यह है कि गुरु नानक भक्त थे और उन्होंने, अपने को स्त्री (महला=महिला) और परमात्मा को पति मानकर, भक्ति की और पद रचे। परंतु 'महला' शब्द का 'महिला' से यहाँ कोई संबंध नहीं जान पड़ता।

नानक की रचनाएँ महला १ में, द्वितीय गुरु अंगद की महला २ में, तृतीय गुरु अमरदास की महला ३ मे, चतुर्थ गुरु रामदास की महला ४ मे और पंचम गुरु अर्जुनदेव की महला ५ में संगृहीत कही जाती हैं। अब एक प्रश्न तो यह है कि जब पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने ही ग्रंथ को लिपिबद्ध कराया, उनके बाद उसमे कुछ हेर फेर नहीं किया गया, तो महला ५ के बाद फिर कोई महला उसमें नहीं मिलना चाहिए था, परंतु उसके बाद म० ६ भी मिलता है, जिसमे क्रमानुसार नवें गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ होनी चाहिए। इस महले की भी सब रचनाएँ अंत मे एकत्र न देकर अन्य महलों की भाँति बीच बीच मे रागानुसार बद्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि सं० १६६१ मे गुरु अर्जुनदेव द्वारा ग्रंथ के लिखाए जाने के बाद, गुरु तेगबहादुर अथवा गुरु गोविंदसिंह के समय मे, उसमें गुरु तेगबहादुर की भी रचनाएँ जोड़कर उसका पुनः संपादन किया गया![1] बीच के गुरुओं ने संभवतः कोई रचना नहीं की जो ग्रंथ मे लिखी जाती, परंतु उनके संबंध मे किसी अन्य की रचना भी नहीं दी गई है, जैसी कि अन्य गुरुओं के संबंध मे मिलती है।

दूसरा प्रश्न यह है कि, यदि उक्त महलों में से प्रत्येक में क्रमशः एक एक गुरु की रचनाएँ संगृहीत हैं तो पहले महले में गुरु नानक की, दूसरे में अंगद की, इसी क्रम से रचनाएँ मिलनी चाहिएँ। परंतु एक गुरु के महले मे दूसरे गुरु की रचनाएँ भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ, तीसरे गुरु अमरदास, चौथे गुरु रामदास, पाँचवें गुरु अर्जुनदेव और नवें गुरु तेगबहादुर के क्रमशः चौथे, पाँचवें और नवें महलों मे गुरु नानक के नाम की रचनाएँ मिलती हैं, जो महला १ मे ही होनी चाहिए —

सलोकु म० ३

> **नानक** जह जह मैं फिरथो, तह तह साँचा सोइ।
> जह देखा तह एकु है, गुरु मुखि परगट होइ॥

स० म० ४

> बड़ भागिया सोहागणी, जिना गुरुमुखि मिल्या हरि राइ।
> अंतर जोति परकासिया, **नानक** नामि समाइ॥ १॥

[1] कहा जाता है, यह पुनःसंपादन गुरु गोविंदसिंह की आज्ञा से भाई मनीसिंह ने किया। इसके पूर्व भी भाई गुरुदास और भाई बन्नो द्वारा ग्रंथ के दो संस्करण प्रस्तुत किए जा चुके थे।—उ० भा० सं० प० पृ० ३३३।

स० म० ५

गुरु मुखि हरिगुण गाइ सहज सुख सारई।
नानक नाम निधान रिदै डर हारई॥ ६॥

स० म० ६

गुरु गोविंद गायो नहीं, जनमु अकारथ कीन।
कहु नानक हरि भजि मना, जिहि विधि जल को मीन॥ १॥

इस असंगति के संबंध में यह कहा जाता है कि गुरु नानक के बाद के गुरु उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित करने के लिये, उन्हीं के नाम से पद आदि बना दिया करते थे, वस्तुतः जो रचनाएँ जिस गुरु के महले मे संगृहीत हैं वे उसी गुरु की हैं। यदि यह ठीक हो तब तो गुरुओं की रचनाएँ एक दूसरे से स्पष्टतः पृथक् हैं और उन्हें यह पहचानना कठिन नहीं हैं। परंतु ऐसा मानने के लिये कोई निश्चित आधार नहीं जान पड़ता, और न यह संभव ही प्रतीत होता है; क्योंकि एक तो, गुरु अर्जुनदेव के भाई पृथीचंद की भाँति, लोग अपने पद बनाकर नानक के नाम से न प्रसिद्ध करने लग जायँ और गुरु नानक की रचनाएँ लोगों को शुद्ध रूप मे सुलभ हों, इसी उद्देश्य से 'ग्रंथ साहब' इतने परिश्रम से लिखवाया गया था, फिर उसमें जान बूझकर नानक के नाम से अन्य की रचनाएँ क्यों संकलित की जातीं। दूसरे, यदि श्रद्धा के कारण अन्य गुरु गुरु नानक के नाम से रचना करते तो, वे गुरु नानक के समान या उनसे भी बढ़कर की गई अपनी ही स्तुति और प्रशंसा का समावेश 'ग्रंथ साहब' में न होने देते। महला ५ मे गुरु अर्जुनदेव की प्रशंसा में कहा गया है कि वे अयोनिसंभव हैं, उनमे और हरि मे कोई भेद नहीं है, वे प्रत्यक्ष हरि हैं।[1] यह अवश्य हो सकता था कि जैसे नामदेव त्रिलोचन आदि के 'सलोक' कबीर के सलोकों मे भूल से संकलित हो गए उसी प्रकार नानक के पद वा सलोक अन्य गुरुओं के महलों में भूल से ही आ गए हों। परंतु उपर्युक्त महलों (३, ४, ५, ६) मे एक दो नहीं सभी सलोक नानक के ही नाम के हैं, तब उसे भूल भी कैसे कह सकते हैं। जो भी हो, अन्य गुरु के महले में अन्य गुरु की रचनाओं का पाया जाना कुछ उलझन का कारण तो है ही।

इन महलों के संबंध मे एक और बात भी है जिससे दो बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं। एक तो यह कि ये महले विभिन्न गुरुओं के निमित्त ही अलग

[1] सवैए म० ५

सद जीवन अरजुन अमोल आयोनी संभौ॥ ५॥
धरति गगन नवखंड महि, जोति सरूपी रह्यो भरि।
भनि मथुरा कछु भेद नहि, गुरु अरजुन परतख्य हरि॥

अलग रखे गए हैं, भले ही एक गुरु के महले में अन्य गुरु के नाम की भी रचनाएँ पाई जायँ। दूसरे यह कि किसी एक महले मे उससे संबंधित गुरु की अपनी रचनाएँ ही नहीं दी गई हैं, अपितु उनके तथा अन्य गुरुओं के संबंध मे किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई प्रशंसात्मक रचनाएँ भी संकलित हैं। यथा, गुरु नानक से संबंधित महला १ मे, कोई 'कल' या 'कल्य' कवि उनका सुयश गाते हुए कहता है कि उन्होंने राजयोग का पथ मंडित किया, जो सतयुग मे वामन, त्रेता मे राम और द्वापर मे कृष्ण हुए वही कलियुग मे गुरु नानक, अंगद और अमरदास कहलाए।[1]

उपर्युक्त संदेह स्थलों के निर्देश का यह अभिप्राय नहीं कि इनके कारण ग्रंथ का विषय भी अगम्य है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन उलझनों का ध्यान रखकर ही 'ग्रंथ' का अध्ययन किया जाना चाहिए। विशेषतः, पहले के अतिरिक्त अन्य महलों की रचनाएँ अन्य गुरुओं की कही जाने पर भी, उनमे अन्य गुरुओं के नाम की रचनाएँ न मिलकर नानक के ही नाम की मिलने के कारण महलों के आधार पर विभिन्न गुरुओ की रचनाओं के भेदानुसंधान मे सावधानी बरतने की आवश्यकता है। परंतु, जहाँ तक नानक के विचारों और उनके सिख धर्म के रूप की जानकारी का प्रश्न है, उसे प्राप्त करने मे वैसे संदेह वा उलझन की कोई बात नहीं है, क्योंकि, अन्य गुरुओं की रचनाएँ नानक के नाम से होने पर भी, नानक की रचनाओं के साथ महला १ मे न मिलाकर उससे अलग रखी गई हैं।

ग्रंथ की लिपि और भाषा—'ग्रंथ साहब' की मूल लिपि गुरुमुखी है। जैसा पहले कहा जा चुका है, (द्रष्ट० पूर्व, पृ० ६५) सं० १५८६ मे पहले पहल गुरु अंगद ने गुरुमुखी लिपि का आविष्कार कर उसी मे गुरु नानक की रचनाएँ लिखवाईं। यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि उन्हे एक नई लिपि का आविष्कार करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई। क्या उस समय पंजाब मे नागरी लिपि का प्रचलन नहीं था, या

[1] सवैए म० १

कवि कल्य सुयशु गावै गुरु नानक राजयोगु जिन माणयो ॥ ६ ॥
सतयुगि तै माणयो छल्यो बलि बावन भायो।
त्रेतै तै माणयो राम रघुवंश कहायो।
द्वापरि कृष्ण मुरारि कंस किरतारथ कीयो।
उग्र सैण को राजु अभय भगतह जन दीयो।
कलियुगि प्रमाणु नानक गुरू अंगद अमर कहाइयो।
श्री गुरु राज अविचलु अटलु आदि पुरषि फुरमाइयो ॥ ७ ॥

उसे उन्होंने पसंद नहीं किया, अथवा वे गुरुवचनों के पाठकों की संख्या सिखों तक ही सीमित रखना चाहते थे? जो भी कारण हो, उसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि 'ग्रंथ साहब' का पठन पाठन और प्रचार अब तक अधिक नहीं हो सका।

'ग्रंथ' के समावलोकन से विदित होता है कि उसके समझने में भाषा की कठिनाई बहुत बाधक नहीं है। उसमें नामदेव, कबीर आदि की जो रचनाएँ संगृहीत हैं वे तो हिंदी की हैं ही, सिख गुरुओं की भी अधिकतर रचनाएँ हिंदी ही में हैं और, विशुद्ध पंजाबी के अतिरिक्त, जो रचनाएँ कुछ पंजाबी मिश्रित हैं वे भी हिंदी से अधिक दूर नहीं हैं। सच तो यह है कि हिंदी में जिस प्रकार केवल सूर और तुलसी के ही काव्यों का नहीं, मैथिल कोकिल विद्यापति की कूक का भी आस्वाद लिया जाता है और कबीर की 'अटपट बानी' तथा चंद का 'भट्ट भणंत' भी पढ़ा गुना जाता है, और इन सबमें, देश-काल-भेद से भाषा के रूप में पर्याप्त भेद होने पर भी, वह इन सबकी साहित्यिक एकात्मता में बाधक नहीं होता, उसी प्रकार सिख गुरुओं की रचनाओं का पंजाबी मिश्रित रूप भी उनके भावों को हृदयंगम करने में कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं करता। परंतु, यदि ऐसी कुछ रचनाओं को थोड़ी देर के लिये छोड़ भी दिया जाय तो भी, हिंदी की रचनाएँ इतनी पर्याप्त हैं कि उनसे गुरुओं के विचारों और भावों को भली भाँति समझा जा सकता है। संप्रति 'ग्रंथ साहब' के नागरी लिपि में भी कई मुद्रित संस्करण प्राप्त होने के कारण, लिपि की कठिनाई दूर हो गई है,[1] फिर भी अभी इसके अध्ययन की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, नहीं दिया गया है।

इस ग्रंथ में सिख गुरुओं तथा विभिन्न देश कालवर्ती समानमार्गी अन्य अनेक संतों की रचनाएँ तो हैं ही, कई ऐसे अन्य कवियों की भी, गुरुओं की प्रशस्ति में लिखी गई, रचनाएँ हैं जो स्वयं सिख या सिख मत में श्रद्धा रखनेवाले थे और जो या तो स्थायी रूप से गुरुओं की सेवा में रहते थे, अथवा संभवतः ग्रंथलेखन के समय गुरु अर्जुनदेव द्वारा आमंत्रित किए गए थे, अतः इसमें भाषा और साहित्य के अध्ययन की प्रचुर सामग्री है। अस्तु। विभिन्न महलों की भाषा पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से महलों के विभाजन संबंधी तथ्य पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, पहले पाँच महलों और नवें महले के भाषारूपों में पर्याप्त अंतर दिखाई पड़ता है जिससे, यद्यपि सभी महलों में नानक के नाम की रचनाएँ हैं तथापि, यह भ्रम नहीं हो सकता कि वे सब रचनाएँ नानक की ही हैं, और गुरुओं

[1] (१) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ। (२) भाई मोहन सिंह वैद्य, तरन तारन। (३) सर्वहिंद सिख मिशन, अमृतसर।—लें०।

के अनुसार महलों का विभाजन साधार प्रतीत होता है। नवें महले का एक पद निम्न-लिखित है—

कोऊ माई भूल्यो मन समुझावै।
वेद पुरान साध मग सुनि करि निमिस न हरि गुन गावै॥
दुर्लभ देह पाइ मानुष की बिरथा जनम सिरावै।
माया मोह महा संकट बन तास्यों रुचि उपजावै॥
अंतर बाहर सदा संग प्रभु तास्यौं नेह न लावै।
नानक मुकत ताहि तुम मानहु जिह घट राम समावै॥[1]

यह शुद्ध ब्रजभाषा का पद है और यद्यपि यह नानक के नाम से है तथापि महला क्रम के अनुसार गुरु तेगबहादुर कृत है। पाँचवें महले तक की रचनाओं से तुलना करने पर यह नानक कृत तो नहीं ही कहा जा सकता, अन्य महलों (२—५) से भी स्पष्टतः भिन्न प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे महलों का विभाजन गुरुओ के क्रम से किया गया ठीक जान पड़ता है।

ग्रंथ का प्रबंधन—'ग्रंथ साहब' का प्रबंधन एक विशेष ढंग और योजना के अनुसार किया गया है। यों ही जो रचनाएँ जिस क्रम से मिल गईं उन्हें उसी क्रम से लिख लेने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। सर्वप्रथम जपु 'नीशाणु' (जपुजी) है जिसका सिख धर्म मे प्रथम स्थान है। विशेष अवसरो पर इसका पाठ किया जाता है। इसमे ३८ छंद हैं और अंत मे एक सलोक है। जपु० के बाद भिन्न भिन्न रागों के कुछ विशिष्ट पद हैं। फिर ३१ विभिन्न रागों के अंतर्गत गेय पदों की एक बहुत बड़ी संख्या है। उसके बाद सलोक सहसकृती, गाथा, चौबोले, सलोक, सवैए आदि है। अंत में ग्रथ की 'मुंदावणी' (उपसंहार) है और उसके बाद 'रागमाला'। रागबद्ध पदों के अंतर्गत 'अष्टपदियाँ', 'सुखमनी', 'थित्ती', 'वार', 'बावन अक्खरी' आदि भी हैं। इन समस्त पदों, सलोकों आदि में बीच बीच मे अन्य संतों की रचनाएँ हैं। किसी संत की सब रचनाएँ एक ही स्थल पर न दी जाकर रागों के अनुसार बँटी हुई हैं। गुरुओं की रचनाएँ भी, जो महलों मे विभक्त हैं, अंकक्रम से न दी जाकर एक एक राग, छंद या प्रसंग में विभिन्न महलों की रचनाएँ दी गई हैं। छंदों के जो नाम दिए गए हैं वे छंदविधान के अनुसार न होकर यदृच्छा नाम प्रतीत होते हैं। सलोकु या श्लोक संस्कृत का अनुष्टुप् या अन्य कोई छंद नहीं, प्रत्युत हिंदी का दोहा है। 'सवैए' मे हिंदी का सवैया छंद नहीं, अन्यान्य

[1] ग्रं० सा०, गौड़ी, म० ६, पृ० १६३।

छंद हैं। 'सलोक सहसक्रती' विचित्र रचना है। इसके अंतर्गत दी गई रचनाओं में संस्कृत भाषा और छंद का अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है। यथा—

निहफलं तस्य जन्मस्य जावत ब्रह्म न बिंदते।
सागरं संसारस्य गुरुपरसादी तरहिगे॥
एक कृष्ण त सर्वदेवा देवदेवा त आत्मह्।
आत्मं श्री वासुदेवस्य जे कोइ जानसि भेव (:)॥
नानक ताको दासु है सोई निरंजन देव (:)॥

'सहसक्रती' का अर्थ स्पष्ट नहीं है, परंतु संस्कृत के अनुकरण से यह 'संस्कृत' का ही अपभ्रष्ट रूप जान पड़ता है। उक्त रचना महला १ की है, अतः नानक की ही है। यह संस्कृत का व्यंगात्मक अनुकरण नहीं हो सकती। जान पड़ता है, जिस प्रकार कबीर, रैदास आदि संस्कृत के प्रभाव से मुक्त थे उस प्रकार गुरु नानक नहीं। अन्यथा इस संस्कृताभास रचना का क्या कारण हो सकता है। संस्कृतज्ञान के अभाव मे अं, अः लगाकर संस्कृत बना लेने की प्रवृत्ति कुछ लोगों मे संभवतः पहले ही से चली आ रही थी, और बाद के भी एक आध संतों मे पाई जाती है।

नानक के वचन और सिद्धांत—'ग्रंथ साहब' मे नानक की रचनाएँ 'जपुजी' के छंदों के अतिरिक्त, सब रागबद्ध गेय पदों तथा सलोकों मे हैं जो म० १ के अतर्गत दी गई है। 'सबदों' और 'साखियों' की रचना संतों की पुरानी परिपाटी रही है जिसका अनुसरण गुरु नानक ने भी किया। परंतु उनकी रचनाओं में 'सबद' रागबद्ध पदों के रूप मे हैं और 'साखियाँ' 'सलोकु' के नाम से मिलती हैं।

नानक के वचनों में, रैदास की सरलता और पवित्रता के साथ अपना गुरु गांभीर्य भी है, पर कबीर की प्रखरता नहीं। नानक एक सच्चे भक्त और भक्ति के उपदेशक हैं, परंतु उनमे खंडन मंडन या व्यंग्य आक्षेप की प्रवृत्ति अत्यंत विरल है। उनकी भक्ति तत्वतः वही है जो कबीर की; उसकी साधना अनुभूति और अभिव्यक्ति उनकी अपनी है।

नानक के विचार से अहंकार का त्याग कर, विषयों से मुँह मोड़कर, सत्य और सदाचार को धारण करते हुए, अनन्य भाव से परमात्मा की शरण में जाने और उसकी भक्ति करने में ही, जीवन की सार्थकता है और उसी के द्वारा जन्म मरण एवं सकल दुःखों से मनुष्य की मुक्ति हो सकती है। नानक की भक्ति में नाम जप की प्रधानता है। परंतु उसमे योग और ज्ञान का भी समावेश है। इस भक्तियुक्ति को प्राप्त करने के लिये हरि के समान गुरु की भक्ति और सेवा करना तथा गुरु का उपदेश प्राप्त करना आवश्यक है। बिना उसके भक्ति नहीं आती। भक्तियोग की

साधना से विवेक और ज्ञान का उदय होता है, 'हौ मै' अर्थात् 'आपा' या अहंकार का नाश हो जाता है और जन्म मरण से छुटकारा मिल जाता है।

नानक अपने मन को अहंकर त्यागकर हरि गुरु की समान भाव से सेवा करने, रात दिन राम नाम जपने और गुरु से हरि रूपी धन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित करते हैं।[1] परमात्मा सब जीवों का प्रतिपालक है इसलिये वे उसपर पूरा भरोसा करते हैं। उन्हे न मरने की चिंता है, न जीने की आशा। इस प्रकार निष्काम और निश्चिंत होकर वे मन को राम नाम जपने की सलाह देते हैं। गुरुमुख से राम नाम का ज्ञान प्राप्त कर उनकी अंतर्ज्वाला बुझ गई है। गुरु के उपदेश से सुंदर अनहद शब्द प्राप्त होता है और अनहद वाणी की प्राप्ति होने पर 'हौ मै' का नाश हो जाता है तथा ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान महारस का पान करने से फिर किसी प्रकार की तृष्णा नहीं रह जाती। दुःख से सदा के लिये मुक्ति पाने के निमित्त मन वा अहंकार को मारना आवश्यक है।[2] वे असार और क्षणिक विषय-सुख के भोग मे मन लगाकर गुरु के उपदेश से अंतरकमल मे प्रकाशित होनेवाले हरिसाक्षात्कार रूप अमृत आनंद को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं।[3] वे बड़े दैन्य-भाव से कहते हैं—'कोई संस्कृत पढ़ता है, कोई पुराण पढ़ता है, कोई नाम जपता है और कोई ध्यान लगाता है, मैं तो केवल तेरा नाम छोड़कर कुछ भी नहीं जानता। हे हरि, न जाने मेरी कौन गति होगी। मैं मूर्ख अज्ञान तेरी शरण मे आया हूँ, तू कृपाकर मेरी लाज रख।[4] और अनन्य भाव से अपने को पूर्ण रूप से हरि

१ ···मनरे हौ मैं छोड़ि गुमानु। हरि गुरु सरवरि सेव तू पावहि दरगहि मानु॥ १॥
रामनाम जपि दिन सुराति गुरु मुखि हरि धनु जानि॥
ग्रं० सा०, श्री रागु, म० १, पृ० १८।

२ मरणै की चिंता नहीं जीवन की नहीं आस॥ तू सर्ब जिया प्रतिपालही लेखै सासि गिरासि॥ जियरे राम जपत मन मानु। अतरि लागी जलि बुझी पाया गुरमुखि ज्ञानु॥ १॥ ···अनहद शबद सुहावणे पाइयै गुरु वीचारि॥ २॥ अनहद वाणी पाइयै तह हौ मैं होइ बिनाशु।···मन बैरागी घरि बसै सच भय राता होइ। ज्ञान महारस भोगवै बाहुड़ि भूख न होइ। नानक इहु मन मारि मिलु, भी फिरि दुःख न होइ॥ ५॥—वही।

३ काया कामणि जे करी भोगे भोगणु हारु। तिसु सिउ ने हन कीजइ जो दीसै चल्लणहारु।···अतरि कंवलु प्रगासिया अमृत भरया अघाइ॥ नानक सतगुरु मीत करि सचु पावहि दरगिह जाइ॥ —वही।

४ कोई पढता सहसाकिरता कोई पढे पुराना। कोई नाम जपै जप माली लागै तिसै धियाना॥ अब ही कबही किछू न जाना तेरा एको नाम पिछाना॥ १॥ न जाणा हरे मेरी कौन गते॥ हम मूरख अज्ञान शरण प्रभु तेरी। करि किरपा राखहु मेरी लाज पते॥ १॥
—ग्रं० सा०, रागु रामकली, म० १, पृ० ७६३।

इच्छा पर छोड़ देते हैं--'तू जितना दे उतना ही खाऊँगा, मैं दूसरे के द्वार पर न जाऊँगा। मेरा जीव और पिंड सब तेरे ही अधीन है।'[1] हरि के चरणकमल के मकरंद पर उनका मन ऐसा लुब्ध है कि उसके लिये अनुदिन उनकी प्यास बढ़ती जाती है और उनसे कृपाजल की याचना करते हैं।[2]

परमात्मा का नाम और रूप--नानक यद्यपि परमात्मा को एक व्यक्ति के रूप में संबोधित कर उससे प्रार्थना और उसके गुणों का गान करते हैं तथापि उस परमात्मा का न कोई एक नाम है, न रूप। कबीर की भाँति वे परमात्मा को राम, सत्य, साहिब, प्रभु, गोविंद, हरि, साजन आदि अनेक नामों से संबोधित करते हैं। वह परमात्मा साकार एवं एकदेशीय नहीं, प्रत्युत निराकार, अनंत, अगम्य, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, नाम-कर्म-रहित होने पर भी सृष्टि का कर्ता तथा हृदयस्थ होने के कारण दूर होते हुए भी समीप है। एक पद में वे कहते हैं--तू समुद्र के समान अगाध अपार है और तू ही ज्ञाता और द्रष्टा है, मैं मछली तेरा अंत कैसे पाऊँ? जहाँ जहाँ देखा, सर्वत्र तेरी सत्ता है। तेरे बाहर, तुझसे अलग, मेरा अस्तित्व असंभव है। तू आपही दूर भी है, निकट भी। तू सबके भीतर समाया है। आप ही द्रष्टा, आप ही श्रोता, आप ही सृष्टि का कर्ता है।[3] वह कितना बड़ा है, उसका कितना विस्तार है, यह कोई नहीं जानता। वे कहते हैं--'मेरे साहिब, तू बड़ा गहिर गंभीर है। कोई नहीं जानता, तेरा कितना विस्तार है। सुनकर ही तुझे सब लोग बड़ा कहते है। जो तेरा बड़प्पन जानते हैं वे उसका वर्णन नहीं कर सकते। कहने के पहले कहनेवाले तुझी में समा जाते हैं।[4] वह साहब हुक्मी है, सर्वत्र उसी का हुक्म चल रहा है। वह हुक्मी निराकार है। उसके हुक्म का वर्णन नहीं किया

१ जेता देहि तेता हौ खाउ। बिआ दरि नाही कै दरि जाउ। नानकु एकु कहै अरदासि। जीउ पिंड सब तेरै पासि ॥—वही, श्री रागु, म० १, पृ० २२।

२ हरि चरण कमल मकरंद लोभित मनो अनदिनो मोहि आही पियासा। कृपा जल देहि नानक सारिंग कौ होइ जाते तेरे नाय वासा ॥—वही, धनाश्री, म० १, पृ० ११।

३ तू दरियाउ तू दाना बीना मैं मछुली कैसे अंतु लहा। जह जह देखा तह तह तू है तुझसे निकसी फूटि मरा ॥ १ ॥ तू देखै ही मुक्करि पाइ। तेरे कम्मि न तेरे नाइ ॥ २ ॥... आपे नेड़ै दूरि आप ही आपे मंझि मियानो। आपे वेखै सुणै आपही कुदरति करै जहाणो। जो तिसु भावै नानका हुकमु सोई परवाणो ॥ ४ ॥—वही, श्री रागु म० १, पृ० २२।

४ सुनि वडा आखै सभ कोइ। केवड वडा डीठा होइ ॥ कीमति पाइ न कहिआ जाइ। कहणै वाले तेरे रहे समाइ ॥ १ ॥ वडे मेरे साहिबा गहिर गंभीरा गुणी गहीरा। कोइ न जाणै तेरा केता केवड चीरा ॥ १ ॥—वही, आसा, म० १, पृ० ८।

जा सकता। हुक्म पर चलने से ही वह अपनाता है। संसार मे बड़ाई, उत्तमता, नीचता, सुख, दुःख सबका कारण हुक्म ही है। सब हुक्म के अधीन हैं. उसके बाहर कोई नहीं है। हुक्म को जान ले तो कोई 'हौ मैं' न कहे, अपने पराए का भेद मिट जाय।[१] उस हुक्मी परमात्मा का कोई बनानेवाला नहीं है, न तर्क और युक्तियों से उसकी स्थापना की जा सकती है। वह निरंजन स्वतंत्र सत्तावाला है। उसके गुणों को गाए और सुने और मन मे उसके प्रति प्रेम रखे, फिर तो सारा दुःख छूट जाता और सुख ही सुख मिलता है। नानक ने उसे जैसा देखा वैसा कहा नहीं, क्योंकि वह कहा जा ही नहीं सकता।[२]

एक पद मे उन्होने, भवखंडन परमात्मा को सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद बतलाते हुए, उसके विराट् विश्वरूप की आरती का बहुत सुंदर वर्णन किया है—हे भवखंडन! लोग दीपक, घंटी, पुष्प, धूपादि, से तेरी आरती करते हैं, यह कैसी विचित्र बात है! तू एक होकर भी सहस्र शिर, सहस्र नयन और सहस्र पदवाला है। तू स्वतः प्रकाशमान् है और तेरे ही प्रकाश से सब जगमगा रहे हैं। तेरी आरती के लिये आकाश का विशाल थाल है, सूर्य चंद्र उसमे दो दीपक जल रहे हैं, तारे मोती हैं, मलयानिल धूप है, पवन चँवर कर रहा है, पुष्प के लिये सकल वनराजियाँ फूल रही हैं, और अनहद शब्द की भेरी बज रही है। कैसी सुंदर तेरी आरती हो रही है यह!'[३]

भक्ति का स्वरूप—नानक की भक्ति भी कबीर की भाँति आतरिक्त भक्ति—भावभक्ति या प्रेमभक्ति है। परमात्मा को साजन, प्रियतम या पति और अपने को पत्नी मानकर विरहनिवेदन करना और घर बैठे उसके आने पर मिलन और सोहाग

[१] हुक्मी होव निराकार हुक्म न कहिया जाई। हुक्मी होव निजीय हुक्म मिलै वडियाई। हुक्मी उत्तम नीच हुक्म लिख सुख दुख पाइय।··· हुक्मै अंदरि सभको बाहरि हुक्म न कोइ। नानक हुक्मै जे बुझै तो हौ मै कहै न कोइ॥ २॥—वही, पृ० १।

[२] थाप्या न जाइ कीता न होइ। आपे आप निरंजन सोइ॥···गावियै सुणियै मन रखिये भाउ। दुख परिहरि सुख घरि लै जाउ॥···जे हौ जाणा आखानाही कहणा कथन न जाई।···
—वही।

[३] गगन मै थालु रवि चंद दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती। धूप मलआनलो पवन चवरो करै सगल बनराय फूलंत जोती॥ १॥ कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती। अनहत शब्द बाजंत भेरी॥ सहस तव नयन नन नयन हहि तोहि कौ सहस मूरति नना एक तोही। सहस पद विमल नन एक पद गंध बिन सहस तव गंध इव चलत मोही॥ २॥ सभ मै जोति जोति है सोइ। तिसहै चांनणि सभ महि चानणि होइ॥ ३॥
—वही, धनाश्री, म० १, पृ० ११।

का मोद मनाना संत कवियों की सामान्य परिपाटी रही है। कबीर ने एक पद में 'राजा राम भर्तार' के घर आने और उस 'अविनाशी पुरुष' से अपना ब्याह भी रचे जाने का वर्णन किया है।[1] नानक ने भी अनेक पदों में मिलन का वर्णन किया है। यथा—'हमारे घर साजन आए हैं', सखियो, मिलकर रसमंगल गाओ। मेरे अंतर में प्रेमरतन है, मेरा तन मन अमृत से भीग गया है। सुनो सखी, मनमोहन ने मुझे ऐसा मोह लिया है कि मेरा तन मन अमृत से भीग गया है।[2]

नानक की भक्ति में वेद कुरान के ज्ञान या बाह्य पूजा आचार की अथवा घर छोड़, वेश बदलकर, संन्यासी बनने की आवश्यकता नहीं है। इन सब बातों तथा मूर्तिपूजा, तिलक, माला आदि को वे भक्ति के बिना पाखंड समझते हैं। भक्ति के बिना इन उपायों से ब्रह्मज्ञान और मुक्ति नहीं मिलती। उनके विचार से, सत्य का संबल लेकर घर में ही संयमपूर्वक रहते हुए, भक्ति की साधना की जा सकती है। वे कहते हैं—'मुख को असत्य से दूषित करता है, फिर भी दिखाने के लिये, पुस्तक पढ़ता, संध्या करता, पत्थर पूजता और बकध्यान लगाता है? गले में माला डाल ललाट पर तिलक लगाकर पंडित बनता है? यदि तू ब्रह्म को जानता है तो फिर यह सब निश्चय ही फोकट कर्म है। बिना सतगुरु के उचित मार्ग नहीं मिल सकता।[3] और एक पद में कहते हैं—'पीठ पीछे एक पग पर क्या हो रहा है इसकी खबर नहीं, हाथ से नाक दबाकर तीनों लोक का दर्शन करते हैं। अरे ये जग को ठगने के लिये नाक पकड़कर दम साधते हैं और फिर (मुझे) कहते हैं कि इस खत्री ने धरम छोड़कर म्लेच्छ भाषा ग्रहण की है, अब सारी सृष्टि एक वर्ण हो जायगी, अब धर्म का लोप हो गया! अठारह पुराण शोधते हैं, वेद का अभ्यास करते हैं, पर बिना हरिनाम के मुक्ति नहीं हो सकती। कलि में एक राम नाम ही सार

[1] दुलहनी गावहु मंगलचार। हम घरि आए राजाराम भरतार॥ इत्यादि

(क० ग्रं०, पद १)

[2] हम घर साजन आए। साचै मेलि मिलाए॥ अनदिन मेल भया मनमान्या घर मंदिर सोहाए। पंच शब्द धुन अनहद वाजे हम घर साजन आए॥ १॥ ...सखी मिलहु रस मंगल गावहु हम घरि साजन आए॥ २॥ तन मन अमृत भिन्ना अंतर प्रेम रतन्ना। ...सुनहु सखी मन मोहा तन मन अमृत भिन्ना॥ ३॥

—ग्रं० सा०, सूही म० १, पृ० ६६७।

[3] पढ़ि पुस्तक संध्या बादं। सिल पूजसि बगुल समाधं॥ मुखि झूठ बिभूखन सारं। त्रैपाल तिहाल बिचारं॥ गलि माला तिलक लिलाटं। दुइ धोती बस्त्र कपाटं। जो जानसि ब्रहमं करमं। सभ फोकट निसचै करमं॥ कहु नानक निहचौ धिआवै। बिन सतगुर बाट न पावै॥ १॥

—वही, सलोक सहसकृती, म० १, पृ० ११०३।

है।[1] उधर मुल्ला से भी कहते हैं—'तू पाँच वक्त नमाज गुजारता और कुरान पढ़ता है, पर याद रख, इससे मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल सकता। तू कितना भी पढ़, मरना तो पड़ेगा ही। सच्चा काजी वही है जो आपा छोड़कर एक नाम का आधार ग्रहण करता है।[2] सारांश यह कि नानक के मत से असत्य 'भेख' और कर्म त्यागकर, सत्य का आधार लेकर, मन से (भेख से नहीं) वैरागी बनकर, घर में ही साधना करनी चाहिए जिससे सदा के लिये भूख मिटानेवाला ज्ञान महारस प्राप्त हो।[3] पर सत्य से प्रेम तो गुरुमुख भक्त को ही होता है, साकत को नहीं।[4]

व्यावहारिक रूप—गुरु नानक की भक्ति घर में केवल एकांत में बैठकर व्यक्तिगत साधना करने की चीज नहीं थी, उसका सामाजिक और व्यावहारिक रूप भी था। जैसा उनके जीवनवृत्त से प्रकट होता है, उन्होंने सिखों का संघटन किया और उसे स्थायी बनाने के लिये गुरुपरंपरा चलाई। सिखों के बीच किसी प्रकार का आपसी भेदभाव न था। सिखों का सामूहिक कीर्तन, भजन, भोजन आदि नानक की दैनिक चर्या के अंग थे जिनसे सिखों में पारस्परिक प्रेमभाव दृढ़ होता था। नानक की उक्तियों से स्पष्ट है कि भक्ति के लिये वैराग्य, असंग्रह और संतोष आवश्यक हैं, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि संसार से अलग रहना, इस्त्री और धन का त्याग करना और स्वयं निठल्ले रहकर दूसरों की कमाई पर ही मौज उड़ाना उचित है। उन्होंने स्वयं घर बार छोड़ा नहीं था। जीविकोपयोगी कार्यों में वे स्वयं परिश्रम करते और सिखों को भी लगाते थे। इस प्रकार सामूहिक जीवन बिताकर वे लोगों के निकट

१ कलि महि राम नामहि सारु। अखीत मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसारु॥ १॥ आंट सेती नाक पकड़हि सूझते तिनि लोअ। मगर पाछे कछु न सूझै एक पदुम अलोअ॥ २॥ खत्रीआ त धरम छोडीआ मलेछ भाखीआ गही। स्रसटि सभ इक बरन होई धरम की गति रही॥ ३॥ असट साज पुरान सोधहि करहि वेद अभिआसु। बिनु नाम हरि के मुकति नाहीं कहै नानक दासु॥ ४॥—धनासरी, म० १, घरु ३, पृ० ५८०।

२ मरणा मुल्ला मरणा। भी करतारहु डरणा॥ १॥ जे बहुतेरा पढिआ होवहि को रहै न मरियै पाई॥ ३॥ सोइ काजी जिन आप तजिया इक नाम किया आधारो। हैं भी होसी जाइ न जासी सच्चा सिरजणहारो॥ ३॥ पंज बखत नमाज गुजारहि पढ़हि कितेब कुराना। नानक आखै गोर सदेई रहिओ पीणा खाणा॥४॥—श्री रागु, म० १, पृ० २१।

३ मन बैरागी घरि बसै, सच भय राता होइ। ज्ञान महारस भोगवै, बाहुड़ि भूख न होइ॥
—वही, पृ० १८।

४ गुरुमुख कूड़ न भावई, सच्चि रते सत भाइ। साकत सच्चु न भावई, कूड़ै कूड़ी पाइ सच्चिरते गुरु मेलियै, सच्चे सच्चि समाइ॥—वही, पृ० १९।

संपर्क में रहते और उनका दुःख सुख समझते थे। भ्रमण में भी वे लोगों से मिलते जुलते, उनका दुःख सुख सुनते और यथाशक्ति सांत्वना सहायता देते थे। दुःख से घबराने को वे कायरता समझते और उसे परमात्मा का हुक्म मानकर धैर्यपूर्वक सहने तथा संसार की क्षणभंगुरता को देखकर परमात्मा की ही शरण में जाने का उपदेश देते थे। उनके एक पद में मुगलों और पठानों के युद्ध की चर्चा है जिसमें उन्होंने, मुगलों द्वारा पठानों का नगर उजाड़ दिए जाने पर, वहाँ की दुर्दशा का वर्णन करते हुए, कहा है कि 'जिसकी मौत आई वे मारे गए। कर्ता आप ही सब करता कराता है, किसको कहकर सुनाया जाय? दुख सुख उसी के हुक्म से होता है, तब किससे रोया जाय? हुक्मी का हुक्म मानने में ही भलाई है।'[१]

जैसा सभी संतों के लिये स्वाभाविक है, ऐसे दुःख के अवसरों का उपयोग नानक भी शरीर और संसार की असारता दिखाकर, लोगों को पाप और असत्यपूर्वक धनसंचय से विरत करके, धर्म और परमात्मा की ओर लगाने के लिये करते थे। एक अन्य पद में वे उक्त नगर के निवासियों को सांत्वना देते हुए कहते हैं—'नित्य नित्य गृहस्थी का संचय तो तब करे जब सदा यहाँ रहना हो। जीव तो किसी भी समय इस शरीर को छोड़कर चलता बनेगा, फिर रोनाधोना किसलिये? जो जाता है वह क्या कोई संपत्ति अपने साथ ले जाता है? यह सब विचारकर उस स्थायी धन का संचय करो। धर्म की भूमि में सत्य के बीज से खेती करो और उस व्यापारी को जानकर लाभ उठाओ। कर्म में होगा तो सतगुरु मिलेगा, उससे पूछकर नाम का कथन, श्रवण और व्यवहार करो।'[२]

अन्य गुरुओं की रचनाएँ

गुरु अंगद—महला क्रम के अनुसार गुरु अंगद की रचनाएँ 'ग्रंथ साहब' में म० २ के अंतर्गत होनी चाहिए, परंतु म० २ में नानक के नाम से कोई रचना

[१] कहा सुघर पर मंडप महला कहा सु बंक सराई। कहा सुसेज सुखाली कामणि जेहि वेखि नींद न पाई॥ इसु जर कारणि घणी विगूती इनि जर घणी खुआई। पापा बाझहु होवइ नाही मुइआ साथ न जाई।' 'मुगल पठाना भई लड़ाई रण महि तेग वगाई। ओनी तुपक ताणि चलाई ओनी हसति चिड़ाई। जिनकी चीरी दरगहि पाटी तिना मरणा भाई॥... आपे करे कराए करता किसनू आखि सुणाईऐ। दुख सुख तेरै भाणै होवै किसथै जाइ रूआईऐ। हुकमी हुकम चलाए विगसै नानक लिखिया पाईऐ॥

—आसा, म० १, पृ० ३१७।

[२] जीत जीन घर बांधियहि गहणा जे दंई। पिंड पवै जिउ चालसी जे जाणै कोई॥' 'जे चलणा ते चालिया कहु क्यों न लेहु? ना धन संचहु देखि कै बूझहु वीचारे॥ धरमु भूमि सतु बीज करि ऐसी किरस कमावहु ता वापारी जाणीअहु लाहा लै जावहु॥ करमु होइ सतगुरु मिलै बूझै वीचारा। नाम वखानै सुणै नाम नामे बिउहारा॥—आसा, म० १, घर ८, पृ० ३६८।

नहीं है। उसमे केवल दस छंद दिए हैं जिनका रचयिता संभवतः 'कल' या 'कल्य' नाम का कोई कवि है जिसने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ गुरु लहणा अर्थात् अंगद की प्रशंसा की है। यथा, गुरु अंगद की दृष्टि अमृत की धारा है, उनके दर्शन से क्षण भर मे ही अज्ञानतिमिर और कल्मष का नाश हो जाता है। जिसने उनकी सेवा की उसे उन्होंने भवसागर के पार उतार दिया। जगत् गुरु लहणा की कीर्ति सातों द्वीपों मे फैली हुई है।[१] वे राजा जनक के अवतार हैं। और संसार मे 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लिप्त रहते हैं। वे राजयोग के साधक हैं।[२]

संभवतः गुरु अंगद ने स्वयं कोई रचना नहीं की। यदि वे प्राप्त होतीं तो 'ग्रंथ साहब' मे उनका संकलन अवश्य हुआ होता। जहाँ तक उनकी साधना और सिद्धांतों का प्रश्न है, वे गुरु नानक के पक्के भक्त और पदानुगामी थे और नानक ने स्वयं उनकी भली भॉति परीक्षा लेकर उन्हे गुरु बनाया था। अतः उनके विचार नानक के ही विचार समझे जा सकते हैं।

गुरु अमरदास—गुरुओं की स्तुति मे कल्य, जालपा, मथुरा आदि कवियों की रचनाएँ तीसरे, चौथे और पॉचवें महले मे भी हैं, पर उनमे नानक के नाम की भी रचनाएँ हैं जो सिख परंपरा के अनुसार क्रमशः तीसरे, चौथे और पाँचवे गुरु की हैं। इन सभी रचनाओं मे नानक के ही विचारों का पोषण है। यथा म० ३ मे गुरु अमरदास कहते हैं—'हृदय में कपट रखकर अनेक भेष धारण कर भरमाने से हरि का महल नहीं मिल सकता। रे मन! तू घर मे ही रहकर उसमे लिप्त न होते हुए तटस्थ भाव से रह। सत्य और संयम के आचरण तथा सत्संगति एव गुरु के उपदेश से, मन को जीतकर, हरिनाम का ध्यान करने से तू घर मे ही मुक्ति पा सकता है।[३]

[१] जाकी दृष्टि अमृत धार कालुष खनि उतार तिमर अज्ञान जाहि दरश दुआर। ओइ जु सेवहि शब्द सारु गारवड़ी विषमकार ते नर भव उतारि किए निर भार। कहु कीरति कल सहार सप्त दीप मझार लहणा जगतगुरु परशि मुरारि॥ २॥
—सवैये, म० २, पृ० १२०६।

[२] तू ता राजा जानिक अवतार शब्द संसारि सारु रहहि जगत जल पदम बीचारि। गुरु जगत फिरण सीह अंगरौ राज योगु लहणा करै॥ (वही)।

[३] बहु भेष धरि भरमाइये मन हिरदै कपट कमाइ। हरि का महल न पावई भरि विष्टा माहि समाइ॥ १॥ मन रे गृह ही मांहि उदासु। सचु संजमु करणी सो करै गुरमुखि होइ परगासु॥ १॥ गुरु कै सबदि मन जीत्या गति मुकति घरै मह पाइ। हरि का नाम धियाइयै सत संगति मेल मिलाइ।। —श्री रागु, म० ३, पृ० २३।

गुरु रामदास—इनकी रचनाएँ एक बड़ी संख्या में 'ग्रंथ साहब' में, म० ४ के अंतर्गत, संगृहीत हैं, जिनमें पद, वारें और सलोक हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, म० ४ के अंतर्गत, कल्य[1] आदि अन्य कवियों की रचनाएँ भी हैं जिनमें विभिन्न गुरुओं की प्रशंसा की गई है। शेष रचनाएँ गुरु नानक के नाम की हैं, जो गुरु रामदास की होनी चाहिए। इनके पदों से गुरु और हरि के प्रति इनका अत्यंत दैन्यपूर्ण अनन्य भक्तिभाव प्रकट होता है।[2] इनका हरि-भक्ति-विषयक एक पद यहाँ उद्धृत है जिससे इनकी भाषा और भाव की सरलता का कुछ परिचय मिल सकता है :

सो पुरुष निरंजन हरि पुरुष निरंजन हरि अगमा अगम अपारा।
सभ ध्यावहिं सभ ध्यावहिं तुधजी हरि सच्चे सिरजणहारा॥
सभ जीअ तुमारे जी तूं जीया का दातारा।
हरि ध्यावहु संतहु जी सभ दूख विसारणहारा॥
हरि आपे ठाकुर हरि आपे सेवक जी क्या नानक जंत विचारा॥ १॥

तू घटि घटि अंतरि सर्व निरंतरि जी हरि एको पुरुष समाणा।
इक दाते इक भेखारी जी सभ तेरे चोज विडाणा॥
तू आपे दाता आपे भुगता जी हौ तुध विन अवर न जाणा।
तू पार ब्रह्म बे अंतु बे अंतु जी तेरे क्या गुण आखि वखाणा॥
जो सेवहि जो सेवहि तुधजी जन नानक तिन कुरबाणा॥ २॥

—आसा, म० ४, पृ० ३०६।

गुरु अर्जुनदेव—गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ 'बावन अखरी', 'बारहमासा' और फुटकर पदों के रूप में बहुत बड़ी संख्या में म० ५ के अंतर्गत संगृहीत हैं। इनकी रचनाओं में 'सुखमनी' बहुत प्रसिद्ध है। इनके पदों की भाषा इनके पूर्ववर्ती चारों गुरुओं की अपेक्षा अधिक स्वच्छ है और कई पदों में वर्णित भाव सहज ही कबीर के पदों का स्मरण कराते हैं। एक पद में वे कहते हैं—'रे मन! जिसका जी हरिभक्ति में रमा हुआ है वह उद्यम की चिंता क्यों करे। उस हरि ने पत्थर में भी

[1] कवि 'कल्य' ठकुर हरदास तने गुरु रामदास सर अभर भरे।

—सवैये म० ४, पृ० १२१४।

[2] हरि के जन सतिगुर सतपुरखा बिनउ करौं गुरु पासि।
हम कीरे किरम सतगुर सरणाई करि दया नाम परगासि॥

—गूजरी, म० ४, पृ० ४३३।

जंतु उत्पन्न किए और उनके लिये पहले ही से आहार का प्रबंध कर दिया है। इस संसार में कोई किसी का नहीं है। सबकी जीविका का प्रबंध करनेवाला भगवान् है। तू क्यों भय करता है? पक्षी अपने बच्चे को छोड़कर चारे की खोज में सौ कोस निकल जाता है, उस समय उन बच्चों को कौन खिलाता चुगाता है? जिसे सत्संगति प्राप्त होती है वह तर जाता है। गुरुकृपा से सूखा काठ भी हरा हो जाता है और उसे परम पद प्राप्त हो जाता है।[1] इनके पदों में 'अनहद बाजा बजने, 'सहज गुफा में ऊँचे आसन पर तारी लाने', 'अनभौ पुरुष के दर्शन से तृप्त होने' तथा 'ज्योति में ज्योति मिलने' आदि का भी वर्णन हुआ है।[2] निम्नलिखित पद में इंद्रियों के विषय-रस-मत्त होने के कारण मन के हरिविमुख होने और हरि-गुरु-कृपा से हरि-साक्षात्कार होने का रूपक वर्णन किया गया है:

इसु गृह महि कोई जागत रहै। साबत बस्तु वह अपनी लहै॥
सगल सहेली अपने रसमाती। गृह अपने की खबर न जाती॥
मूसनहार पंच बटपारे। सूने नगर परे ठगहारे॥
करि किरपा मोहि सारिंगपानि। संतन धूरि सर्व निधान॥
साबत पूँजी सतगुरु संगि। नानक जागै पारब्रह्म के रंगि॥[3]

———

[1] ग्रं० सा०, गूजरी, म० ५, पृ० ४३६, तुल० कबीर।

[2] वही, माँझ, म० ५, पृ० ८५।

[3] वही, गौड़ी, म० ५, पृ० १६०।

चतुर्थ अध्याय

वीरभान तथा लालदास

१.—वीरभान तथा साध संप्रदाय

कबीर के पूर्वकालीन संतों में अपने अथवा अपने साधना मार्ग के नाम पर कोई पंथ वा संप्रदाय चलाने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। कबीर तथा उनके समसामयिक रैदास आदि संतों ने भी स्वयं कोई पंथ नहीं चलाया, भले ही उनके अनुयायियों ने बाद में उनके नाम के पंथ चला दिए जो आज तक चल रहे हैं। परंतु गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित सिखमत की बात, इससे भिन्न है। जैसा हम इसके पहलेवाले अध्याय में देख चुके हैं, नानक ने. अपने अनुयायियों का एक व्यवस्थित संघटन बनाकर तथा अपने एक शिष्य को नियमपूर्वक अपनी गुरु गद्दी का उत्तराधिकारी बनाकर अपने पंथ का निर्माण स्वयं किया। उनके बाद कुछ ऐसे संप्रदाय भी बने जो, अपने प्रवर्तकों के नाम से विख्यात न होकर, अपने मतों के ही नाम से प्रसिद्ध हैं जैसे 'साध संप्रदाय,' 'निरंजनी संप्रदाय'। यहाँ 'साध संप्रदाय' के ही विषय में विचार किया जायगा।

साधमत के प्रवर्तक और उनका समय--कोई एक व्यक्ति असंदिग्ध रूप से साध मत का प्रवर्तक नहीं माना जाता, प्रत्युत उसके प्रवर्तकों में तीन व्यक्तियों के नाम बतलाए जाते हैं--ऊदादास या उदयदास, जोगीदास और वीरभान। साध संप्रदाय में यह विश्वास प्रचलित है कि साधमत का प्रचार वीरभान और जोगीदास नामक दो भाइयों ने किया। इनके पहले इनके ग्यारह पूर्वपुरुषों के नाम बतलाए जाते हैं जिससे पता चलता है कि इनके मूल पुरुष कोई 'रावत भूप' नामक व्यक्ति थे। वीरभान और जोगीदास को अवतारी पुरुषों के रूप में भी माना जाता है, और इनके पूर्व की अलौकिक संतानपरंपरा इस प्रकार बताई जाती है—महादेव पार्वती की संतान सतयुग में गोविंद परमेश्वर, उनकी संतान त्रेता में राम लक्ष्मण, उनके द्वापर में कृष्ण, बलभद्र और उनके कलियुग में वीरभान जोगीदास।

कतिपय भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने साधमत और उसके प्रवर्तकों के इतिहास का पता लगाने का बहुत प्रयत्न किया है, परंतु अभी तक निर्विवाद रूप से कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। इस समय साध संप्रदाय दो शाखाओं में विभक्त है। एक के अनुयायी मुख्यतः दिल्ली के आसपास रहते हैं और दूसरी के

मुख्यतः फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में। दिल्ली शाखा के साध अपने मत के प्रथम प्रचार का श्रेय बिजेर निवासी गोपालसिंह के पुत्र जोगीदास को देते हैं जिन्हें उनके संबंधी और शिष्य वीरभान से भी मत के प्रचार में सहायता मिली थी। जोगीदास सं० १७१५ में धौलपुर राज्य की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध लड़ते हुए घायल हो गए थे और घायल अवस्था में ही किसी साधु ने उन्हें एकांत स्थान में ले जाकर स्वस्थ किया तथा साधमत का उपदेश दिया था, जिसके अनुसार सं० १७२६ में उन्होंने उसका प्रचार किया।

फर्रुखाबाद के साध अपने मत का प्रथम प्रचारक बिजेसर निवासी वीरभान को मानते हैं जिन्हें सं० १६०० में उदयदास ने इस मत का उपदेश दिया था। ये उदयदास डा० फर्कुहर के मत से रैदास के शिष्य थे और इनका समय सं० १५५७-८७ तथा वीरभान का सं० १५८७-१६१७ था।

कुछ लोगों का यह भी कथन है कि इस मत का प्रचार सर्वप्रथम ऊदादास ने संभवतः सतरहवीं शती के चतुर्थ चरण में किया। वीरभान और जोगीदास दोनों ऊदादास के बड़े भाई गोपालसिंह के पुत्र थे। ऊदादास पहले एक व्यापारी के जहाज में नौकरी करते थे। उन्हीं दिनों किसी स्थान पर इन्हें एक साधु के दर्शन हुए, जिसके बाद घर पहुँचकर इन्होंने साधमत का प्रचार आरंभ किया। वीरभान और जोगीदास को भी उन्होंने अपना शिष्य बनाया और उन्हें क्रमशः राम और लक्ष्मण तथा वीरभान की पत्नी को सीता नाम दिया। औरंगजेब इनके धर्मप्रचार से चिढ़ता था और ये युद्ध में उसी के द्वारा मारे गए थे।

विद्वानों के मत—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, डा० फर्कुहर ने उदयदास को रैदास का शिष्य माना है और उदयदास के शिष्य वीरभान को साधमत का प्रवर्तक। परंतु श्री डब्ल्यू० एल० एलिसन साधमत का प्रथम प्रवर्तक जोगीदास को ही मानते हैं, और उनका आविर्भाव सं० १६०० में। उनके मत से आगे चलकर सं० १७१५ में वीरभान ने इस संप्रदाय की विशेष उन्नति की। साधसंप्रदाय के ग्रंथ 'निर्वान ग्यान' के आधार पर वे ऊदादास (वा उदयदास) को कोई व्यक्ति नहीं प्रत्युत, जोगीदास और वीरभान की उपाधि के रूप में, मानते हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'उत्तरी भारत की संतपरंपरा' नामक ग्रंथ में उक्त मतों की समीक्षा करते हुए, बतलाया है कि 'ऊदादास' का शुद्ध रूप 'उ-यदास' है जिसका अर्थ 'उदय का दास' अर्थात् परमात्मा, मूलतत्व वा आदि पुरुष का दास हो सकता है! 'निर्वान ग्यान' ग्रंथ में कहा गया है कि 'जो काशी में कबीर नाम से प्रकट हुए थे वे ही यहाँ बिजेसर में ऊदादास नाम से प्रसिद्ध हैं।' इससे सिद्ध है कि ऊदादास वा उदयदास वा उद्वदास कोई एक व्यक्ति अवश्य रहे होंगे जिन्होंने इस

संप्रदाय का प्रवर्तन किया होगा। निर्वान ग्यान मे जो 'ऊदादास' जोगीदास वा वीरभान की उपाधि के रूप मे कहा गया है उससे केवल यही सूचित होता है कि वह नानक एवं फरीद शब्दों की भाँति, उदयदास के प्रधान शिष्य वा उपशिष्य के लिये भी, प्रयुक्त होता रहा होगा। चतुर्वेदी जी का निष्कर्ष यह है—'वीरभान ने साध संप्रदाय को ऊदादास की प्रेरणा पाकर सं० १६०० के लगभग प्रवर्तित किया था और जोगीदास ने, प्रायः सवा सौ वर्षों के अनंतर उसे और भी सुव्यवस्थित रूप मे प्रचलित करने की चेष्टा की थी। वीरभान और जोगीदास को, संप्रदाय की परंपरा के अनुसार, सहोदर भाई मानने का कारण भी ऐसी स्थिति मे केवल यही हो सकता है कि दोनों का लक्ष्य प्रायः एक ही रहा। फिर भी, जैसा इस संप्रदाय के शेष इतिहास से लक्षित होता है, उक्त दोनों व्यक्तियों के अनुयायियों मे कुछ विभिन्नता भी आ गई और वीरभान की शाखावाले एक ओर यदि शांत स्वभाव के बने रह गए तो दूसरी ओर जोगीदास का नेतृत्व माननेवाले कभी कभी धर्मयुद्ध भी छेड़ते आए। तदनुसार वीरभान के अनुयायी आज तक केवल 'साध' ही कहे जाते हैं, किंतु जोगीदास का अनुसरण करनेवालों मे कुछ अपने को कभी कभी 'साधसत्तनामी' वा केवल 'सत्तनामी' भी कहा करते है।'[1]

इस प्रकार वर्तमान स्थिति मे यही माना जा सकता है कि साध संप्रदाय का प्रचार सं० १६०० के लगभग वीरभान ने किया और संवत् १७२६ मे या उसके लगभग जोगीदास ने उसे और सुव्यवस्थित एव उन्नत किया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह असंभव नहीं कि जोगीदास ने सं० १७१५ मे औरंगजेब की सेना से युद्ध किया हो और उसमे वे घायल हुए हों।[2] उदयदास को वीरभान का गुरु मानने मे

१ उ० भा० सं० प०, पृ० ३६७-६८।

२ इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि नामदेव के समय में ही उच्च नीच, हिंदू मुसलमान सबकी समानता घोषित करनेवाले निर्भय संतों को समय समय पर शासकों का कोपभाजन बनना पड़ता था। परंतु उनके अत्याचारों से बचने के लिये शस्त्रधारण करने अथवा अपने अनुयायियों का संघटन करने की ओर सिख गुरुओं से पहले किसी संत की प्रवृत्ति नहीं हुई। जब मुगल बादशाह जहाँगीर द्वारा बंदीगृह में गुरु अर्जुनदेव को दी गई यंत्रणा उनकी मृत्यु का कारण हुई तो, उनके बाद गुरु हरगोविंद ने आत्मरक्षा के लिये शस्त्र ग्रहण करना आवश्यक समझा। सं० १७१५ वह वर्ष था जब शाहजहाँ के चारों पुत्रों में सिंहासन के लिये घोर युद्ध हुआ था और अन्य भाइयों को मारकर औरंगजेब सिंहासन पर बैठा था। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह उदार प्रकृति का था और भारतीय धर्म दर्शन एवं साहित्य में उसकी बड़ी रुचि थी। हिंदू पंडितों और साधु संतों का वह आदर करता था अतः उनकी भी उसके प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक था। औरंगजेब में तो यों ही धार्मिक कट्टरता कम न थी, फिर उसके शत्रु दारा से सहानुभूति

कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती, और डा० फर्कुहर के मतानुसार उदयदास को रैदास का शिष्य मानने में भी कम से कम समय की दृष्टि से कोई बाधा नहीं है, क्योंकि सोलहवीं शती के चतुर्थ चरण में दोनों का एक साथ वर्तमान होना संभव है। (दे० पृ० ४८)। परंतु जैसा चतुर्वेदी जी का कथन है, उदयदास कबीर से ही अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं और संप्रदाय में वे कबीर के ही अवतार माने गए हैं। अतः इन्हें रैदास की अपेक्षा कबीर की शिष्यपरंपरा में मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

साध साहित्य—साध संप्रदाय के पाँच ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें से दो अर्थात् 'साध पंथ' और 'नसीहत की पुड़िया' प्रकाशित हैं और तीन अर्थात् 'निर्वान ग्यान', 'बानी' और 'आदि उपदेश' अप्रकाशित। प्रकाशित ग्रंथ तो आधुनिक रचनाएँ हैं, किंतु अप्रकाशित ग्रंथों में भी कौन सी रचनाएँ प्राचीन तथा संत वीरभान वा उदयदास की हैं, इसका निश्चित पता नहीं। सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'निर्वान ग्यान' है जो ढाई सौ पृष्ठों में, दोहे चौपाइयों में, रचा गया है। भाषा अरबी फारसी मिली हुई हिंदी है। इसकी भाषा के रूप से तथा इसमें जोगीदास का भी उल्लेख होने के कारण यह जोगीदास के समय की या उनके बाद की रचना जान पड़ती है। 'आदि उपदेश' गद्य ग्रंथ है जिसमें साधमत के आचारों और नियमों का विवरण है। 'बानी' नामक ग्रंथ में संत वीरभान की पद्य रचनाएँ कही जाती हैं। यह ग्रंथ जोगीदास रचित भी कहा गया है।[1]

रखना तो अक्षम्य अपराध था। अतः सिंहासन पर बैठने के बाद ही दारा का पक्षपाती होने के संदेह में उसने गुरु हरराय (सं० १७०१–१८) को और उनके बाद गुरु हरकृष्ण राय को बुला भेजा था। गुरु तेगबहादुर की तो संवत् १७३२ में उसी के अत्याचारों से बंदीगृह में ही मृत्यु हो गई। औरंगजेब का बंदी होने के पूर्व उन्होंने पंजाब से आसाम तक की यात्रा की थी। सं० १७२५ से १७३६ तक का समय वह समय था जब सिखों को सैनिक संघटन करके औरंगजेब से अपनी रक्षा के लिये निरंतर कटिबद्ध रहना पड़ता था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि दिल्ली के पूर्व में स्थित बिजेसर के निवासी जोगीदास को भी उन्हीं कारणों से साधों का भी सैनिक संघटन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो और इसमें उन्हें गुरु तेगबहादुर से प्रेरणा प्राप्त हुई हो।—ले०।

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० ३६६।

गार्सां द तासी ने कदाचित् इसी 'बानी' ग्रंथ का पूरा नाम, 'पोथी ज्ञान बानी साध सतनामी पंथ की' जैसा दिया है और बतलाया है कि इसकी एक प्रति किसी डब्ल्यू० एच० ट्रैंट साहब द्वारा लंदन की 'रायल एशियाटिक सोसायटी' को दी जा चुकी है।

—इ० हिंदु० सा० इ०, पृ० २८१।—सं०

साधमत—साधमत पर कबीर का प्रभाव विशेष दिखाई पड़ता है और उसमे कबीर को एक ईश्वरीय पुरुष के रूप मे माना गया है। जैसा पहले उल्लेख हो चुका है, वीरभान के गुरु ऊदादास (उदयदास) कबीर के ही दूसरे रूप वा अवतार माने गए है (दे० पृ० १२)। साध लोग एक, निराकार सर्वव्यापक परमात्मा के उपासक हैं, जो अत्यत दयालु और सृष्टि का कर्ता एव नियंता है। ऐसे परमात्मा के अतिरिक्त किसी देवता या मनुष्य के आगे नमन करना वे अनुचित समझते है। उनकी साधना मे परमात्मा के नाम के स्मरण, सतों की संगति तथा अत्यंत सरल एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने पर बहुत बहुत बल दिया गया है। मूर्तिपूजा तथा बाह्य वेश एव आडंबर इनके यहाँ अनुचित माने जाते हैं। ये केवल अपनी धर्मपोथी 'निर्वान ग्यान' की ही पूजा करते हैं।

जिस प्रकार इनकी आध्यात्मिक साधना सरल तथा बाह्य क्रियाकर्मों एवं आडंबरों से रहित है उसी प्रकार जीवन मे भी इनके यहाँ सरलता, पवित्रता एवं सत्यशीलता को बहुत महत्व दिया गया है। इनके ग्रंथ 'आदि उपदेश' मे सदाचरण सबंधी नियम संगृहीत हैं जिनमे हिंसा, लोभ, अंधविश्वास, मादक-द्रव्य-सेवन आदि तो त्याज्य बतलाए ही गए हैं, रंगीन वस्त्र धारण करना तथा मेहदी, पान एवं सुगंधित पदार्थों का सेवन भी निषिद्ध है। जीविका के लिये भिक्षा वा सेवावृत्ति अनुचित बतलाई गई है और कृषि, व्यापार तथा विभिन्न उद्योगों के द्वारा अपने परिश्रम से जीविकोपार्जन करते हुए, सरल गृहस्थ जीवन बिताने का आदेश दिया गया है।

२.--संत लालदास और लालपंथ

जन्म और प्रारंभिक जीवन—विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी मे एक प्रसिद्ध संत लालदास हुए, जिनके नाम से 'लालपंथ' चला, जिसके अनुयायी अलवर राज्य में और उसके आस पास पाए जाते हैं। संत लालदास का जन्म अलवर राज्य के ही एक गाँव मे सं० १५९५ मे हुआ था। इनके माता पिता मेव जाति के साधारण गृहस्थ थे। मेव लोग मुसलमान होते हैं, परंतु उनका रहन-सहन और उनके रीति रिवाज हिंदुओं के से होते हैं। ये लोग प्राचीन काल से लूटपाट आदि अपराधमूलक कर्म करते रहे हैं। इसी जाति मे जन्म लेकर इन्होंने अपनी बाल्यावस्था तो माता पिता के ही साथ व्यतीत की, परंतु बड़े होने पर ये एक लकड़हारे के रूप मे अपना जीवननिर्वाह करने लगे। अपने बचपन से ही इन्हे साधु संतों की संगति प्रिय थी और संतसगति का उनके कोमल मन पर ऐसा दृढ़ संस्कार पड़ गया कि उससे उनके जीवन का रूप ही बदल गया और वे लकड़हारा लालदास से संत लालदास हो गए।

संत जीवन और उपदेश—संत समागम के प्रभाव से इनका हृदय निर्मल और आचरण पवित्र हो गया और इनमे दया और परोपकार के भाव भर गए। अन्य संतों की भाँति ये भी हिंदू मुसलमान, ऊँच नीच सबको समान समझने लगे

और परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का भय इनके मन मे नहीं रह गया। इनकी कीर्ति दूर दूर तक फैलने लगी और गदन चिश्ती नामक एक फकीर के अनुरोध से ये लोगों को उपदेश भी देने लगे। अपने जन्म के गाँव धौलीधूप को छोड़कर ये अलवर से कुछ दूर एक गॉव मे जाकर रहने लगे और वहाँ अपना अवशिष्ट समय दीन दुखियों की सेवा मे बिताने लगे। परंतु अपनी जीविका के लिये ये भिक्षा वा दान का सहारा न लेकर अपना लकड़हारे का ही काम करते रहे। इनके जीवन और उपदेशों का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ने लगा और बहुत से लोग इनके शिष्य हो गए।

एक सर्वव्यापक निराकार परमात्मा की भक्ति तथा हिंदू मुसलमान, उच्च नीच सबकी समानता का उपदेश देनेवाले संतों पर तत्कालीन शासकों का कोप समय समय पर हुआ ही करता था। सो एक बार कुछ लोगों के यह शिकायत करने पर कि लालदास ईश्वर की प्रार्थना मे मुसलमानों की भाँति इस्लाम धर्म के नियमों का पालन नहीं करते, तिजारा के शासनाधिकारी ने इन्हे शिष्यों सहित उपस्थित होने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँचने पर इनकी परीक्षा लेने के लिये इन्हें मांस खाने को दिया गया, परंतु इन्होंने उसे खाना स्वीकार नहीं किया, जिसके कारण इन्हें कारागार का दंड दिया गया। इसी प्रकार एक बार कुछ लोगों ने इनके निवासस्थान के निकटवर्ती बहादुरपुर नामक स्थान के शासनाधिकारी के सामने इनपर एक मुगल की हत्या के संबंध मे दोषारोपण किया जिसे उसकी दुश्चरित्रता के कारण इन्होंने कभी डाँटा था और जिसका इनके एक शिष्य ने वध भी कर दिया था। अधिकारी की आज्ञा से ये अपने अनेक शिष्यों सहित उसके संमुख उपस्थित हुए और उसके द्वारा अपना परिचय पूछे जाने पर इन्होने उसके प्रश्न को मूर्खतापूर्ण बतलाया जिसके कारण इन लोगों को पाँच पाँच रुपए का अर्थदंड दिया गया, परंतु, इन्होंने दंड भरना अस्वीकार कर दिया। तब इन्हे विषैले कुएँ का पानी पिलाया गया, परंतु, कहते हैं कि उस पानी का कोई बुरा असर इन लोगों पर नहीं हुआ। कुएँ का पानी मीठा हो गया और वह कुआँ आज तक 'मीठा कुआँ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ये कई बार सताए गए, जिसके कारण इन्हे कई बार एक गॉव से दूसरे गाँव मे अपना निवासस्थान बदलना पड़ा।

परिवार—संत लालदास विवाहित थे और इनके दो संतानें थीं—एक पुत्र और एक पुत्री, जिनके नाम क्रमशः पहाड़ और स्वरूपा थे। इनके शेर खाँ और गौस खाँ नाम के दो भाई थे। ये सभी सच्चे हरिभक्त थे।

मृत्यु—संत लालदास की मृत्यु, १०८ वर्ष की अवस्था मे, संवत् १७०५ मे हुई। भरतपुर राज्य के नगला नामक गाँव को इनका समाधिस्थान होने के कारण लालदासी लोग, उसे बहुत पवित्र मानते हैं।

रचनाएँ—संत लालदास की रचनाओं का कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। एक हस्तलिखित संग्रह स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण शर्मा (जयपुर) के पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसका नाम 'लालदास की चेतावणी' है। इनकी भाषा बहुत सरल है और उसमे खड़ीबोली की प्रधानता दिखाई पड़ती है। फारसी के शब्दों का भी प्रयोग इन्होंने अपनी भाषा में किया है। संत का जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, इसका उपदेश इन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। जैसे—'भक्त को जीविका के लिये घर घर भिक्षा माँगना बड़े दुःख और लज्जा की बात है अतः उसे बादशाह से भी भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए' तथा 'साधु को भिक्षा या चाकरी के लिये दूसरों के घर कभी नहीं जाना चाहिए। अपने परिश्रम से जीविकोपार्जन करना चाहिए और हृदय मे अपने को केवल हरि का ही चाकर या दास समझना चाहिए':

लाल जो भगत भीख न माँगिए, माँगत आवे शरम।
घर घर टाँडत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥
लाल जी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाके खाय।
हिरदै हरि की चाकरी पर घर कभूँ न जाय॥

कबीर, दादू आदि संतों की भाँति लालदास भी एक, निराकार, सर्वव्यापक, सत्यस्वरूप हरि या राम की अनन्य भावभक्ति और सत्य आचरण तथा सरल ए पवित्र जीवन पर बहुत जोर देते हैं।

———

पंचम अध्याय

संत ददूदयाल और दादूपंथी संत

१. संत दादूदयाल

दादूदयाल का नाम कबीर और नानक जैसे महान् संतों की श्रेणी मे गण्य है। नानक की भाँति इन्होंने भी अपने जीवनकाल मे अपना एक संप्रदाय स्थापित किया जो पीछे 'दादूपंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अब तक वर्तमान है। निगुण-निरंजन-निराकार परमात्मा के उपासक संत सम्प्रदायों में 'दादूपंथ' की यह विशेषता है कि इसमे पुस्तकीय ज्ञान का तिरस्कार न कर पठन पाठन, शास्त्राध्ययन तथा लिखित रूप मे संतबानियों की रक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, जिसके फलस्वरूप आज हमे उनके ग्रंथसंग्रहों मे केवल दादू और उनके शिष्यों की ही नहीं अनेक अन्य प्रसिद्ध संतों की बानियाँ भी प्राप्त होती हैं।

जीवनवृत्त की सामग्री—दादूदयाल के जीवनवृत्त की सामग्री उनके शिष्य जनगोपाल लिखित 'जनमलीला परची' तथा एक प्रशिष्य राघोदास लिखित 'भक्त-माला' मे मिलती है। परंतु भक्तों द्वारा श्रद्धा से लिखी गई अन्य संतों की जीवनियों की भाँति इनमे भी शुद्ध ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। दादूदयाल का आधुनिक जीवनवृत्त पं० सुधाकर द्विवेदी, श्री क्षितिमोहन सेन तथा पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। परंतु अभी तक उनके जीवन के संबंध मे सभी बातें असंदिग्ध रूप से निश्चित नहीं हो सकी हैं।

जन्म और जाति—दादूदयाल का जन्म, सं० १६०१ में फाल्गुन शुक्ल ८, गुरुवार के दिन, हुआ था। उनके जन्मस्थान का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनका जन्मस्थान जौनपुर बतलाया है, परंतु ऐसा मानने के लिये पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है। पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी के मतानुसार इनका जन्म गुजरात प्रांत के अहमदाबाद मे हुआ था। इसके संबंध में भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। परंतु, राजस्थान के विभिन्न स्थानों से इनके जीवन का घनिष्ठ संपर्क होने के कारण तथा इनकी भाषा आदि की दृष्टि से भी इनका जन्मस्थान राजस्थान मे या उसके आस पास ही होना बहुत संभव जान पड़ता है, यद्यपि अहमदाबाद मे इनका जन्म होना भी असंभव नहीं कहा जा सकता।

संत दादूदयाल जाति के मुसलमान धुनिया माने जाते हैं और यहाँ तक कहा

जाता है कि इनका नाम दाऊद खाँ, इनके पिता का सुलेमान, स्त्री का हौवा और गुरु का नाम बुरहानुद्दीन था। जैसा श्री क्षितिमोहन सेन ने बतलाया है,[१] बंगाल के बाउल लोग भी इनका नाम दाऊद बतलाते हैं, जिससे इनका मुसलमान होना प्रकट होता है। कुछ लोगों का कहना है कि ये साबरमती नदी में शिशु रूप मे बहते हुए, लोदीराम नागर नामक एक ब्राह्मण को मिले थे जिसने इन्हे पाला पोसा था और कुछ तो इन्हें उक्त ब्राह्मण का औरस पुत्र ही मानते हैं। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनके एक दोहे का स्वकल्पित अर्थ लगाकर इन्हे मोची कह डाला है,[२] परंतु अधिकतर प्रमाण इनके धुनिया होने के ही पक्ष में हैं। इनके प्रसिद्ध शिष्य रज्जब ने इन्हें धुनियाँ ही लिखा है।[3]

प्रारंभिक जीवन और दीक्षा—दादू के शिष्य जनगोपाल ने 'जनम परची' में लिखा है कि 'बारह बरस बालपन में खोए, तब गुरु से भेंट हुई। तीस वर्ष के होने पर साँभर आए और बत्तीस वर्ष की अवस्था मे (इनके प्रथम पुत्र), गरीबदास का जन्म हुआ।[४] इस प्रकार सं० १६१३ मे इन्हे दीक्षा मिली, १६३१ मे ये साँभर गए और १६३३ मे इनके प्रथम पुत्र गरीबदास का जन्म हुआ। साँभर मे आने के पहले छह वर्ष तक ये पूर्व मे काशी, बिहार और बंगाल तक भ्रमण करते और इन प्रदेशों के संतों और योगियो से मिलते रहे। इस दृष्टि से इन्होंने अपनी यात्रा सं० १६२४-२५ मे आरंभ की होगी। उसके पहले इनके जीवन के विषय मे विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। संभवतः ये अपने घर पर रहकर अपना पैतृक उद्यम करते थे।

१ 'श्री युक्त दाऊद वदि दादू याँर नाम'— दादू, पृ० १७।

२ साँचा समरथ गुरु मिल्या, तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली, सब घृत मथि करि खाय॥
इसमें द्विवेदी जी ने 'मोट' का अर्थ 'मोट सीनेवाला' अर्थात् मोची लगाया हैं परंतु इसका सीधा अर्थ यह जान पडता है कि 'दादू सब घृत मथकर खाता है इससे मोटा और महाबली हो गया है।'—ले०।

3 'धुनि ग्रभे उत्पन्नो दादू योगेंद्रो महामुनि।
उत्तम जोग धारनम् तस्मात् क्यं न्याति कारणम्॥
—'सर्व्वंगी', साध महिमा कौ अंग।

४ बारह बरस बालपन खोए, गुरु भेंटे थे सनमुख होए।
साँभर आए समये तीसा, गरीबदास जनमे बत्तीसा॥
—उ० भा० सं० प०, पृ० ४१४ पर उद्धृत।

इनके साँभर आने के समय के विषय मे मतभेद है। पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार ये, साँभर में चौबीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् सं० १६२५ मे आए। अठारह वर्ष की अवस्था तक ये अपने जन्मस्थान अहमदाबाद में रहे और उसके बाद इन्होंने यात्रा आरंभ की।

अपने घर पर रहते हुए जब ये ११-१२ वर्ष के थे तभी इन्हें प्रथम बार अपने गुरु के दर्शन हुए थे। श्री क्षितिमोहन सेन की 'दादू' नामक पुस्तक मे उद्धृत एक दोहे से पता चलता है कि जब गुरु से इनकी भेंट हुई उस समय ये साँभर मे थे।[1] इसके अनुसार इनके साँभर आने का समय सं० १६१२ या १६१३ मानना पड़ेगा। परंतु, इनकी दीक्षा और देशाटन की बात को दृष्टि मे रखते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता।

इनके गुरुसाक्षात्कार के विषय में कहा जाता है कि इनकी ग्यारह वर्ष की अवस्था मे, एक साधु ने इनके मुँह मे अपनी पान की पीक डाल दी थी। उस समय ये अबोध थे, परंतु अठारह वर्ष के होने पर फिर दूसरी बार इन्हें उस साधु के दर्शन हुए, और तब उसके मार्मिक उपदेश से ये इतने प्रभावित हुए कि इन्होने उस साधु की शिष्यता स्वीकार कर ली।

ये साधु कौन थे, इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता। कुछ लोग उनका नाम बुड्ढन या वृद्धानंद बतलाते हैं। उनके कथनानुसार ये वृद्धानंद कबीर की शिष्यपरंपरा मे कबीर से पाँचवीं पीढ़ी मे कबीर, कमाल, जमाल, विमल, बुड्ढन) हुए थे, परंतु इसके विषय मे कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहब का निधनकाल संवत् १५०५, १५५२ अथवा १५७५ मानने की तीन मुख्य परंपराओं, तथा संत कमाल के कबीर साहेब का पुत्र एवं शिष्य होने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यदि 'कबीर साहब के अनंतर प्रत्येक शिष्य प्रशिष्य के समय का माध्यम पचीस वर्षों का मान लिया जाय तो इस विचार से उक्त तीनों मे से किसी भी मत का मेल बुड्ढनवाले अनुमान से नहीं खाता है। अतएव उक्त बुड्ढन को दादू का गुरु मान लेना असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।'[2] परंतु सभी श्रेष्ठ संतों की बानियों मे और दादू की रचनाओं में भी गुरु के विशिष्ट महत्व को देखते हुए इस बात मे संदेह नहीं जान पड़ता कि दादू के भी कोई गुरु अवश्य रहे होंगे और जैसा आगे बताया

[1] साँभर में सतगुरु मिला, दी पान की पीक।—'दादू', उपक्रमणिका, पृ० १६४।
[2] उ० भा० सं० पं०, पृ० ४१३।

जायगा, कबीर और दादू की विचारधाराओं में जो उल्लेखनीय समानता पाई जाती है उसके आधार पर कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि उनके गुरु जो रहे हों, उनकी साधना भी कबीर के ही समान रही होगी।

पंथ की स्थापना और संत जीवन—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छह वर्ष भ्रमण करने के बाद संभवतः १६३१ वि० में दादूदयाल साँभर आए और वहीं रहने लगे। उनकी कीर्ति दूर दूर तक फैलने लगी और उनके अनेक अनुयायी हो गए। इन अनुयायियों के साथ ये नियमित रूप से अध्यात्मगोष्ठी किया करते थे, जिसमें अनेक आध्यात्मिक विषयों पर विचार हुआ करता था। यहीं इन्होंने अपने 'ब्रह्म-संप्रदाय' का प्रारंभ किया, जो पीछे 'ब्रह्मसंप्रदाय' वा 'दादूपंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

संत मार्ग शास्त्राभ्यास और तर्क का नहीं, प्रत्युत सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति एवं सरल सदाचारमय जीवन का मार्ग है और दादूदयाल सच्चे अर्थों में इस मार्ग के बहुत उच्च कोटि के साधक थे। वे प्रकृति से ही बड़े मृदु और क्षमाशील थे, व्यंग, कटाक्ष अथवा खंडन मंडन की प्रवृत्ति से बहुत कुछ दूर रहते थे और अपनी बातें, दृष्टांतों द्वारा सरल ढंग से लोगों को समझाते थे, जिससे अच्छे अच्छे शास्त्रज्ञ और तर्कपटु लोग भी प्रभावित हो जाते थे। अतः इनके संप्रदाय की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई और इनकी कीर्तिवृद्धि के साथ इनके शिष्यों की संख्या भी बढ़ती गई।

अकबर के साथ धार्मिक चर्चा—छह वर्षों तक साँभर में रहने के बाद दादूदयाल आँबेर चले गए जो उन दिनों जयपुर राज्य की राजधानी था, और वहाँ चौदह वर्षों तक रहे। वहाँ रहते हुए उनकी चर्चा मुगल सम्राट् अकबर तक पहुँची, जो भारत के मुसलमान शासकों में अपनी धार्मिक सहिष्णुता और निष्पक्षता के लिये प्रसिद्ध है। धार्मिक चर्चा में उनकी बड़ी रुचि थी और वे सभी धर्मों की उत्तम बातों के सारसंग्रही थे। इसी कारण अपने दरबार में वे सभी धर्मों के आचार्यों को धर्मचर्चा के लिये निमंत्रित किया करते थे। दादू जैसे संत की कीर्ति सुनकर उन्होंने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की और सीकरी में सं० १६४३ में दोनों की भेंट हुई, जहाँ चालीस दिनों तक दोनों साथ रहकर धार्मिक विषयों पर आपस में विचार विनिमय करते रहे। अकबर पर इस सत्संग का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

मृत्यु—आँबेर से दादूदयाल फिर एक बार भ्रमण के लिये निकले और राजस्थान के द्यौसा, मारवाड़, बीकानेर आदि विभिन्न स्थानों में गए। मृत्यु से कुछ समय पहले ये नराने की एक गुफा में जाकर रहने लगे थे, जहाँ सं० १६६० में ज्येष्ठ कृष्ण ८ को इनकी मृत्यु हो गई। नराने में ही दादूपंथ का मठ है और यहाँ प्रतिवर्ष, फाल्गुन शुक्ल पक्ष में चतुर्थी से पूर्णिमा तक, मेला लगा करता है।

परिवार—संत जीवन के आदर्श के अनुसार दादूदयाल जी एक स्वोद्यमी और संतोषी गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते थे। इनकी पत्नी का नाम हौवा बताया गया है, और यह कहा गया है कि जब ये साँभर मे थे तब सं० १६३३ में इनके प्रथम पुत्र गरीबदास उत्पन्न हुए थे। कहा जाता है कि गरीबदास के बाद इनके तीन संतानें और हुई—एक पुत्र और दो पुत्रियाँ, जिनके नाम क्रमशः मिस्कीदास, नानीबाई और माताबाई थे।

शिष्य—दादूदयाल के अनेक शिष्य थे और उनमे से कुछ उनके जीवन-काल मे ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इनके शिष्यो की संख्या बावन बताई जाती है, जिनकी सूची राघोदास के 'भक्तमाल' मे दी गई है।[1] परंतु इस सूची में उल्लिखित प्रत्येक शिष्य का प्रामाणिक परिचय प्राप्त नहीं है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह सूची दादूदयाल के केवल शिष्यों की ही है अथवा इसमें उनके प्रशिष्यों के भी नाम आए हैं। राघोदास का नाम तो 'भक्तमाल' के रचयिता के रूप में भी इस सूची मे आया कहा जा सकता है, परंतु, यदि हरदास से तात्पर्य हरिदास निरंजनी से है, तो वे दादूदयाल के शिष्य नहीं, संभवतः उनके शिष्य प्रागदास के शिष्य रहे होंगे तथा प्रहलाददास दादू के शिष्य बड़े सुंदरदास के शिष्य थे।

दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों मे इनके नाम लिए जा सकते हैं—गरीबदास, रज्जब जी, सुंदरदास, जगजीवन, वाजिद जी, बजना, जनगोपाल, संतदास और जगन्नाथ।

[1] प्रथम ग्रीब मसकीन बाई द्वै सुंदरदासा।
रज्जब दयालदास मोहन च्यारूँ प्रकासा।
जगजीवन जगनाथ तीन गोपाल बषानूँ।
गरीबजन दूजन घडसी जैमल द्वै जानूं।
सादा तेजानंद पुनि प्रमानंद बनवारि द्वै।
साधूजन हरदास हूँ कपिल चतुर्भुज पार ह्वै ॥ ३६१ ।
चमदास द्वै चरण प्राग द्वै चैन प्रहलादा।
बषनौं जग्गोलाल माखू टीला अरु चांदा।
हिंगोलगिर हरिस्यंघ निरांडूण जसौ संकर।
झाभू बॉभू संतदास टीकूँ स्यामहिंवर।
माधव सुदास नागर निजाम जन राघो वर्णि कहंत।
दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत ॥ ३६२ ॥

—रा० दा० भ० मा०, पृ० १८३।

रचनाएँ--दादूदयाल की रचनाओं के दो संग्रह उनके शिष्यों ने प्रस्तुत किए थे। एक संग्रह 'हरडे बानी' नाम से प्रसिद्ध है जिसे उनके शिष्य संतदास और जगन्नाथ ने, बिना अंग या विषय आदि का विभाजन किए ही, संगृहीत किया था। दूसरा 'अंगवधू' नामक संग्रह उनके प्रसिद्ध शिष्य रज्जब जी ने प्रस्तुत किया था, जिसमे उन्होंने रचनाओं का वर्गीकरण करके उन्हे भिन्न भिन्न सैंतीस अंगों के अंतर्गत रखा था। दादूदयाल की बानियों के पॉच संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं—(१) म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित एवं नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित, (२) डा० राय दलजंग सिंह कृत, जयपुर से प्रकाशित (३) राय साहब पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी कृत, अजमेर से प्रकाशित, (४) 'वेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से प्रकाशित और (५) 'श्री मंगलदास स्वामी' द्वारा संपादित होकर जयपुर से प्रकाशित[१]। इनमे सबसे अधिक प्रामाणिक संग्रह पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी का कहा जा सकता है। इसमे सैंतीस अंगों के अंतर्गत २६५२ साखियाँ तथा सत्ताईस रागों के अंतर्गत ४४५ पद दिए गए हैं।

भाषा और भावाभिव्यक्ति—दादू की साखियों और पदों की भाषा का रूप प्रायः वही है जो 'कबीर ग्रंथावली' मे कबीर की भाषा का, परंतु दादू की भाषा कबीर की अपेक्षा कुछ सरल है। उसमें यत्र तत्र कुछ राजस्थानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक है और 'सुणिये', 'जिम्या', 'च्यंतामणि', 'रोवणां' जैसे शब्दों मे राजस्थानी उच्चारण का प्रभाव तो स्पष्ट ही है,[२] परंतु उसका ढॉचा खड़ीबोली और ब्रजमिश्रित हिंदी का ही है जिसमे कहीं कहीं 'मोर,' 'तोर' जैसे अवधी के रूप (जैसे 'दरसन बिना बहुत दिन बीते सुंदर प्रीतम मोर' तथा 'कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर' मे) भी पाए जाते हैं। परंतु, जैसा कबीर की भाषा के विषय मे कहा गया है,[३] उसी प्रकार दादू की भाषा के विषय मे भी यह सत्य है कि भाषा का उक्त मिश्रित रूप उसकी कृत्रिमता या खिचड़ीपन का सूचक नहीं है। वह काव्य की रूढ़ और शिष्ट प्रयुक्त भाषा भी नहीं है, परंतु बोलचाल मे प्रयुक्त सामान्य हिंदी भाषा का स्वाभाविक रूप है जिसका प्रयोग अपनी रचनाओं में प्रायः संत लोग ही किया करते थे। आधुनिक हिंदी की विकासशृंखला मे वह एक आवश्यक कड़ी है। उसमे खड़ीबोली का रूप बहुत स्पष्ट हो गया है। जैसे—

[१] इसका एक छठा संस्करण काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अभी सं० २०२३ में प्रकाशित हुआ है।—सं०।

[२] 'स्रवणौं सबद बाजता सुणिये, जिम्या मीठा लागै।'
'च्यंतामणि हिरदै वसै, तौ सकल पदारथ हाथि।'
'तालावेली रोवणां दादू है दीदार।'

[३] क० सा० अ०, पृ० १००।

सो दिन कबहूँ आवेगा। दादूड़ा पिव पावेगा।
क्यूँ ही अपणै अंगि लगावेगा। तब सब दुःख मेरा जावेगा॥ १॥
× × ×
दे अपना दरस दिखावेगा। तब दादू मंगल गावेगा॥ ४॥

अथवा

ता घर काज सबै फिरी आया आपै आप लखाया।
खोलि कपाट महल के दीन्हें थिर अस्थान दिखाया॥

दादूदयाल ने कबीर की भाँति एक आध फारसी और पंजाबी के पद भी कहे हैं जिससे उनका भाषाज्ञान प्रकट होता है। यथा—

फारसी

मनी मुर्दा हिर्स फानी नफ्स रा पैमाल।
बदी रा बर तर्फ करदां नाँव नेकी ख्याल॥
जिंदगानी मुर्दः बाशद कुंज कादिर कार।
तालिबाँ रा हक्क हासिल पास बानी यार॥
इत्यादि—राग माली गौडी, १२।

पंजाबी

आव वे सजणाँ आव, सिर परि धरि पाँव जानी मैंडा जिंद असाडे।
तू राव दा राव, वे सजणाँ आव।
इत्थाँ उत्थाँ जित्थाँ कित्थाँ हौ जीवाँ तो नालि वे।
मीयाँ मैंडा आव असाड़े, इत्यादि,—राग कनड़ो ५।

सब मिलाकर, दादू की भाषा स्पष्ट, भावों को व्यक्त करने मे समर्थ एवं प्रसादपूर्ण है।

मत और सिद्धांत—जैसा हम नामदेव, कबीर, नानक आदि संतों के विषय मे देख चुके हैं, संत साधना का प्रधान लक्ष्य परम आत्मा वा परमतत्व की अनुभूति होना है और उस अनुभूति को प्राप्त करने के लिये वे अपने तन, मन एवं आचरण को शुद्ध बनाते और एक विशेष प्रकार की उपासनापद्धति अपनाते हैं। अनुभूति उनका लक्ष्य और आचरण उसका साधन होने के कारण शास्त्रीय वादविवाद और तर्क द्वारा व्यवस्थित रूप में अपने मत की स्थापना की ओर संतों की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। उनकी वाणियों का मूलतत्व जीवन का सुधार तथा परमात्मा की भक्ति एवं साक्षात्कार ही होता है, अतः वे दार्शनिक विवाद मे न पड़कर आचरण और अनुभूति पर ही सारा ध्यान एकाग्र करते हैं। अतः दादूदयाल की रचनाओं मे भी उनके दार्शनिक सिद्धांतों और विचारों का व्यवस्थित वर्णन पाने की चेष्टा व्यर्थ है। यह

नहीं कि उनका कोई दार्शनिक सिद्धांत है ही नहीं, परंतु उन्होंने उसके प्रतिपादन का प्रयत्न नहीं किया है। वस्तुतः सभी संतों का यह मत है कि जन्ममरण संसार के सब दुःखों का मूल है, उससे छूटने का उपाय एक निराकार, भेदरहित, सर्वव्यापक, विश्व-कर्ता, दयामय, परमसत्यरूप, परमात्मा की भक्ति है और उस भक्ति की सिद्धि का उपाय अपने तन मन और आचरण को पवित्र बनाना तथा गुरु की बताई विधि से परमात्मा की उपासना करना है। साधना सफल होने पर कर्म के बंधन कट जाते हैं, साधक को परमतत्व या परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है और वह जीवन्मुक्त होकर परम आनंद का अनुभव करता है। जब तक यह शरीर धारण करता है तब तक संसार मे उसके समस्त कार्य और व्यवहार होते रहते हैं, परंतु उसकी जीवनदृष्टि आमूल परिवर्तित हो जाती है। संपूर्ण चराचर जगत् में एक ही आत्मा वा परमतत्व की सत्ता का अनुभव करने के कारण उसका अपने पराए का भेदभाव मिट जाता है और वह सबमें समदृष्टि रखता है। जब तक वह साधारण मनुष्यों की भाँति औरों को पराया समझता है तब तक वह औरों की सुख सुविधा की उपेक्षा करके, यहाँ तक कि उन्हें नष्ट करके भी, अपनी सुख सुविधा का संग्रह करता है। इसी फेर मे उसका मन सदा नाना प्रकार की कुटिल कल्पनाएँ करता रहता और दुनिया से बैर मोल लेता है और इसी कारण वह, शक्ति और संपत्ति अर्जित करके भी, सच्ची शांति और विश्राम नहीं पाता। परंतु परम तत्व के साक्षात्कार से भेदबुद्धि नष्ट हो जाने के पश्चात्, वह केवल अपने सुखसंग्रह की चिंता छोड़ दूसरों के सुख दुःख को भी अपना ही सुख दुःख समझने लगता है।

सार रूप में कहें तो संत, हरि या परमात्मा की भक्ति करते हुए, अपने 'अहं' या 'आपा' को नष्ट कर डालता अर्थात् उसी में विलीन कर देता है, अतः उसके विकार नष्ट हो जाते हैं और वह किसी को अपना बैरी नहीं समझता। वस्तुतः संतमत का यही सार है, और जिस प्रकार कबीर कहते हैं कि—

> निर्वैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
> विषया सूँ न्यारा रहै, संतन का अंग एह ॥[1]

उसी प्रकार दादूदयाल भी कहते हैं —

> आपा मेटै हरि भजे, तन मन तजे विकार।
> निरवैरी सब जीव सौं, दादू का मत सार ॥[2]

[1] क० ग्रं०, साखी १, अंग २६।

[2] 'दादूदयाल की वाणी', साखी १, दया निरवैरता को अंग (सभा संस्करण), पृ० २७१।

अपने एक पद में उन्होंने इन्हीं बातों का कुछ विस्तार से भी वर्णन किया है। वे कहते हैं--'हमारा पंथ पक्षरहित है, अर्थात् दो विरोधी पक्षों मे से किसी एक पक्ष को माननेवाला नहीं है। वह भेदरहित एवं पूर्ण है। हम उसके विषय में किसी से वादविवाद नहीं करते। संसार मे रहते हुए भी विषयों मे लिप्त नहीं होते; सबमें समदृष्टि रखते हैं; अपने मन मे ही (सत्यासत्य का) विचार करते हैं; न किसी को अपना वैरी समझते हैं और न किसी से मोह ममता रखते हैं। सबमें एक ही पूर्ण एवं व्यापक सत्ता का अनुभव करते हैं और केवल सृष्टि के कर्ता परमात्मा को ही अपना संगी मानते हैं। मन से विकारों को दूर करके केवल पूर्ण ब्रह्म से प्रेम करते हैं जिससे मन मे अपार आनंद होता है। इसी पंथ पर चलकर हम भवसागर के पार हो सकते हैं'।[1]

दादू के दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति संबंधी विचार तत्वतः कबीर से भिन्न नहीं हैं और, जैसा हम आगे देखेंगे, उन्होंने स्वयं अपने को कबीर के ही पंथ का अनुयायी कहा भी है। परंतु कबीर की भाँति ये सगुण निर्गुण के खंडन मे प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

साधना का रूप—दादू के विचारों और उनकी साधना पर कबीर का बहुत अधिक प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है। एक स्थल पर उन्होंने कबीर के उपास्य को ही स्पष्ट रूप से अपना एकमात्र उपास्य स्वीकार किया है और कहा है कि 'जो कबीर का कंत था उसी वर को मैं भी वरण करूँगा और मन, वचन एवं कर्म से किसी अन्य को नहीं अपनाऊँगा'—

जो था कंत कबीर का, सोई वर वरिहूँ।
मनसा वाचा कर्मणा मैं और न करिहूँ ॥[2]

कबीर के उपास्य एक अखंड निराकार सर्वव्यापक अंतर्यामी राम हैं जो निर्गुण सगुण दोनों से परे हैं और जिन्हें केशव, माधव, हरि, गोविंद, नारायण, ब्रह्म, अल्लाह, रहीम—किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। प्रेमभक्ति वा भावभक्ति के द्वारा अपने हृदय मे ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से नामस्मरण करना उसके साक्षात्कार का प्रथम उपाय है, जिससे परमात्मा के प्रति विरह उत्पन्न होता और प्रेमभक्ति परिपुष्ट होती है और, अंत में जीव अपना आपा खोकर परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करता है।

[1] दा० द० वा०, रागगौड़ी ६३, पृ० ३३०-१ ('सभा' संस्करण, सं० २०२३)।
[2] वही, पीव पिछाणण को अंग, सा० ६, पृ० २१७।

दादू भी एक राम के नाम को ही सत्य मानते हैं जिसका उपदेश उन्हें सतगुरु से प्राप्त हुआ :

'एकै अषिर पीव का, सोई सति करि जाणि।
रामनाम सतगुरु कह्या, सो दादू परवाणि॥'[1]

उनके राम कबीर के राम की भाँति ही दशरथपुत्र राम नहीं, प्रत्युत 'आतमराम' हैं :

'दादू कै दूजा नहीं, एकै आतमराम॥[2]

इसी आतमराम को उन्होंने ब्रह्म भी कहा है :

'ब्रह्म भगति जब ऊपजै, तब माया भगति बिलाई।' दादू के राम और अल्लाह, अलख, इलाही, रहीम, करीम, मोहन, केशव—सब एक ही हैं :

एकै अलह राम है, समरथ साईं सोइ।
मैदे के पकवान सम, खाता होइ सो होइ॥

× × ×

बाबा दूजा नाहीं कोई।
एक, अनेक नाउं तुम्हारे, मो पै और न होई॥
अलख इलाही एक तूँ, तूँ ही राम रहीम।
तूँ ही मालिक मोहना, केसो नाउं करीम॥

वे उस राम के निर्गुण वा सगुण स्वरूप के संबंध मे किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहते, वह जैसा है उसी रूप मे उसे ग्रहण कर उसके 'सुमिरण' मे मन लगाते हैं, क्योंकि उसका स्वरूप जैसा भी हो, वह एक, अद्वितीय है, उसके सदृश केवल वही है और उसके 'सुमिरण' से ही सुख होता है :

दादू नृगुण सगुण द्वै रहै, जैसा है तैसा लीन।
हरि सुमिरण ल्यौ लाइए, का जाणौं का कीन॥
राम सरीखा राम है, सुमिरण ही सुख होइ।

सुमिरण के द्वारा सहज ही विषय वासना का नाश हो जाता है और कर्म के पाश कट जाते हैं :

सहजैं ही सब होइगा, गुण इंद्री का नास।
दादू राम संभालतां, कटे करम के पास॥[3]

[1] सुमिरण कौ अंग (सा० २, पृ० १४) २ गुरुदेव जी कौ अँग (सा० १३१, पृ० १४)।
[3] वही, (सा० ११, पृ० १७)।

यह 'सुमिरण' वह परम जाप है जिसमे हाथ में माला लेकर जपने की आवश्यकता नहीं, मन में ही साँस साँस में जप किया जाता है और उससे एक दिन सहज में ही परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है :

मन पवना सुरति सों, दादू पावै स्वाद।
सुमिरण माँहैं सुख घणा, छाँड़ि देहु बकवाद ॥[१]
सतगुरु माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथौं निस दिन जपै, परम जाप यों होइ ॥[२]
साँसै साँस राँभालता, एक दिन मिलिहै आइ।
सुमिरण पैंडा सहज का, सतगुरु दिया बताइ ॥[३]

प्रेमभक्ति और विरह—'सुमिरण' का यह 'पैंडा' या मार्ग प्रेमभक्ति का मार्ग है, जिसका विरह एक प्रधान अंग है। गुरु के उपदेश के अनुसार नामस्मरण करने से परमात्मा के प्रति विरह उत्पन्न होता है जिसमे साधक अपने को एकदम भूल जाता है। विरह की अग्नि मे उसका आपा या अहंकार भस्म हो जाता है और उसे परमात्मा के साथ एक कर देनेवाली प्रेमभक्ति सिद्ध हो जाती है। अतः सच्चा 'सुमिरण' वही है जिसमे 'आपा' भूल जाय :

साधू सुमिरण सो कह्या, जिहि सुमिरण आपा भूलि।

आपा भूल जाने पर उसे केवल एक 'आतमराभ' की अनुभूति होने लगती है—

दादू कै दूजा नहीं, एकै आतमराम
सतगुरु सिर पर साधु सब, प्रेमभगति विश्राम ॥[४]

बिना अहंकार का नाश हुए प्रेमभक्ति सिद्ध नहीं होती, और बिना विरह की तीव्र अनुभूति के अहंकार का नाश नहीं होता, इसीसे दादू कहते हैं :

'प्रीति न उपजै विरह बिनु, प्रेमभगति क्यों होइ।

दादू ने अपने अनेक पदों मे परमात्मा को पति मानकर उसके प्रति अपने विरहभाव का निवेदन, एक व्याकुल विरहिणी के रूप में किया है। यथा :

[१] सुमिरण कौ अंग (सा० ६५, पृ० २२)।
[२] गुरुदेव कौ अंग (सा० ६८, पृ० ८)।
[३] सुमिरण कौ अंग (सा० ६, पृ० १६)।
[४] गुरदेव कौ अंग (सा० १३२, पृ० १४)।

अजहूँ न निकसै प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतम मोर॥

× × × ×

कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू ऐसे आतुर बिरहणि जैसे चंद चकोर॥[1]

प्रेमभक्ति और बाह्य व्यवहार—प्रेमभक्ति मे लोकवेद की मर्यादा के लिये परंपरागत सामाजिक एवं शास्त्रीय रूढ़ियों, विधियों एवं व्यवहारों के पालन तथा निर्वाह के लिये, कोई स्थान नहीं है, क्योंकि लोकवेद का मार्ग भेद एवं द्वैतमूलक है और द्वैत बुद्धि रहते हुए अहंकार का नाश नहीं हो सकता। लोकवेद का मार्ग छोड़ना सहज नहीं है, परंतु विरह की तीव्र अनुभूति होने पर वह सहज ही छूट जाता है :

जहँ विरहा तहँ और क्या, सुधि बुधि नाठे ज्ञान।
लोकवेद मारग तजे, दादू एकै ध्यान॥

संतों के मत से, जब तक मनुष्य लोकवेद के मार्ग से चिपका रहेगा तब तक उसकी भेदबुद्धि, अपने पराए उच्च नीच आदि का भाव, नष्ट नहीं होगा और समदृष्टि प्राप्त नहीं होगी। जब वह भेदमूलक लोकवेद का मार्ग छोड़कर, विरह की अनुभूति एवं प्रेमभक्ति की साधना द्वारा परमात्मा राम वा परमतत्व का साक्षात्कार कर लेता है तब उसे सबमे एक ही आत्मा को देखने की अंतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। हिंदू और तुरुक के भी पारस्परिक भेद और विरोध के मिथ्यात्व तथा उनकी मौलिक एकता की वास्तविकता की सिद्धि भी दादू के लिये किसी तर्क के द्वारा नहीं, प्रत्युत उसी राम के साक्षात्कार द्वारा होती है जिस तक पहुँचकर सब भेद नष्ट हो जाते हैं, द्वैत का भ्रम दूर हो जाता है। वे कहते हैं :

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिंदू तुरक भेद कछु नहीं देखौं दरसन तोरा॥[2]

इस प्रकार दादू के मत से संतमार्ग अर्थात् प्रेमभक्ति के सफल साधक के सभी बाह्य लोकव्यवहार इसी अभेद एकता वा समता के भाव से ओतप्रोत रहते हैं।

(२) परवर्ती दादूपंथी संत

१. रज्जब जी

जन्म और कुल—रज्जब जी का पूरा नाम पहले रज्जब अली खाँ था।

[1] राग गौडी (पद ५)।

[2] राग गौडी—पद ६२, पृ० ३३०।

ये पठान थे और इनका जन्म साँगानेर मे सं० १६२४ मे हुआ था। कहा जाता है, इनका कुल पहले हिंदू कलाल जाति का था जिसका उद्यम मद्य बेचना था। यह असंभव नहीं है, परंतु इसके पक्ष में कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और दादूपंथ तथा रज्जब के अनुयायियों मे इनके पठान होने की ही प्रसिद्धि है। इनके पिता जयपुर राज्य की सेवा में एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त थे। कुल की मर्यादा तथा पिता के पद के अनुरूप ही इन्हे सैनिक शिक्षा के साथ साथ पढ़ने लिखने की भी शिक्षा दी गई थी।

दीक्षा—युवावस्था प्राप्त होने पर रज्जब अली खाँ दादूदयाल के शिष्य हो गए, जो इन्हे 'रज्जब जी' नाम से पुकारने लगे और इसी नाम से ये प्रसिद्ध हो गए। वैसे बचपन से ही इनकी प्रवृत्ति धर्म और सत्संग की ओर थी, परंतु दादूदयाल से इनका गुरु-शिष्य-संबंध एक आकस्मिक और कुछ विचित्र ढंग से हुआ।

सं० १६४४ में जब इनकी अवस्था बीस वर्ष की हुई तो आँबेर के एक पठान कुल में इनका विवाह संबंध निश्चित हुआ। इन्होंने विवाह के लिये बारात लेकर आँबेर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में दादूदयाल जी का स्थान पड़ता था, जहाँ वे कुछ संतों एवं अपने शिष्यों सहित विराजमान थे। उनके स्थान के पास बारात पहुँचने पर रज्जब जी घोड़े से उतरकर दूल्हे के वेश मे ही दादूदयाल के दर्शनार्थ उनके संमुख जा उपस्थित हुए। उस समय दादू जी ध्यान मे थे। कुछ देर बाद ध्यान टूटने पर जब उनकी दृष्टि रज्जब जी पर पड़ी तो ये उनके प्रभाव से ऐसे अभिभूत हो गए कि उन्हें और किसी बात की सुधि न रही। उसी समय दादूदयाल ने निम्नलिखित दोहा कहा जिससे इनके मन मे संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया :

> कीया था कुछ काज कौ, सेवा सुमिरण साज।
> दादू भूल्या बंदगी, सर्‌या न एकौ काज॥

उसके पश्चात् रज्जब जी ने दूल्हे के सब वस्त्र उतार दिए और दादूदयाल जी ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया और वे वहीं रहने लगे। उन्हें दूल्हे के वेश मे गुरु के दर्शन हुए और भक्ति प्राप्त हुई थी, अतः दादू जी ने उन्हें सदा दूल्हे के वेश मे ही रहने की आज्ञा दी जिसका उन्होंने आजीवन पालन किया।

गुरु के प्रति श्रद्धा—रज्जब जी की अपने गुरु दादूदयाल के प्रति अपार श्रद्धा थी, जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं मे भी अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है। ये निरंतर उन्हीं की सेवा मे रहते और उनके उपदेशों को ध्यान से सुनते तथा उनपर मनन करते थे। गुरु का वियोग उन्हें क्षणमात्र के लिये भी सहन नहीं होता था। और इस कारण ये बराबर उन्हीं के साथ उनकी मृत्यु के समय (सं० १६६०) तक रहे। उनकी मृत्यु पर इन्हें अत्यधिक शोक हुआ जिसे इन्होंने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था :

दीनदयाल दिनो दुख दीनन दादू सी संपति हाथ सों लीनी।
रोस अतीतन सों जु कियो हरि रोजी जु रंकन की जग छीनी॥

गुरु के प्रति इनका श्रद्धाभाव एकांगी नहीं था, स्वयं गुरु भी इनपर अत्यधिक कृपा और प्रीति रखते थे। उनकी कृपा एवं सत्संग के फलस्वरूप इनके ज्ञान एवं अनुभव मे बहुत शीघ्रता से वृद्धि हुई। कुछ ही काल में ये पदों की रचना में भी निपुण हो गए और संतसमाज मे इनका बड़ा यश फैल गया।

व्यक्तित्व और स्वभाव—रज्जब जी शरीर से सुंदर और हृष्ट पुष्ट तथा स्वभाव से मृदु एवं निरभिमान थे। इनकी कीर्ति का कारण केवल इनपर गुरु की विशेष कृपा ही नहीं, स्वयं इनकी योग्यता, और प्रतिभा भी थी। इनके संपर्क मे आनेवाले सभी लोग इनकी योग्यता, मधुर स्वभाव और व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाते थे और इनके गुरु पर भी इनका कम प्रभाव नहीं था। यही कारण है कि दादूदयाल के शिष्यों मे इन्हे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ। दादूदयाल के जीवनकाल मे ही इनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि अनेक व्यक्ति इनके शिष्य बन गए।

इनके विषय मे प्रसिद्ध है कि एक बार ये अपने गुरुभाई बषना जी के यहाँ मिलने गए। शरीर से सुंदर थे ही, चालीस वर्ष की अवस्था और दूल्हे का वेष। बषना जी की पत्नी देखकर बहुत प्रभावित हुईं और दोनों (रज्जबजी और बषना जी) के एक ही गुरु के शिष्य होने पर भी, उन्हे संपन्न और सुखी समझ तथा अपने पति की दीन दशा देखकर उन्होंने दुःख और क्षोभ प्रकट किया। इसपर बषना जी ने कुछ विनोद के ढंग से पत्नी से कहा—'इनकी संपदा तो गुरु की कृपा से प्राप्त हुई है, परंतु हम लोगों की विपत्ति तो आपके ही चरणों का प्रताप है।'[1] रज्जब जी ने यह सुनकर केवल उस विनोद का ही रस नहीं लिया, बषना जी का दारिद्रय भी उसी दिन से दूर हो गया। इनके ऐसे उदार स्वभाव के कारण इनके गुरुभाई तथा शिष्य इनके प्रति अत्यंत श्रद्धा रखते थे।

रचनाएँ- रज्जब जी उच्च कोटि के संत होने के साथ साथ बड़े प्रतिभावान् भी थे और गुरु की सेवा मे आने के कुछ ही वर्षों बाद विविध छंदों मे अच्छी रचना करने लगे थे। इन्हें केवल अपनी रचना करने मे ही आनंद नहीं आता था अपितु, अन्य संतों की बानियों का अध्ययन करने मे भी, इनकी विशेष रुचि थी और ये उनका संग्रह भी किया करते थे। इनकी तीन कृतियाँ

[1] रज्जब को या संपदा, गुरु दादू दीनी आप।
बषना की या आपदा, थाँ चरणाँ रो परताप॥
—उ० भा० सं० (पृ० ४३५)।

प्रसिद्ध हैं—'अंगवधू', 'सब्बंगी' और 'वाणी'। इनमे इनकी निज की रचनाओं के अतिरिक्त इनके गुरु दादूदयाल तथा अन्य अनेक संतों की चुनी हुई बानियाँ भी संमिलित हैं।

'अंगवधू' नामक कृति मे, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, दादूदयाल की रचनाओं का संग्रह है। 'सब्बंगी' (सर्वांगी), जो अभी अप्रकाशित है, इनका दूसरा ग्रंथ है जिसमें इनकी और दादूदयाल की रचनाओं के अतिरिक्त नामदेव, कबीर, रैदास, पीपा और नानक आदि प्रसिद्ध संतों की बानियाँ भी संकलित हैं। रज्जब जी की वाणी मे स्वयं रज्जब जी की रचनाएँ संगृहीत हैं। इन्होंने साखी, पद, सवैया, अरिल्ल, छप्पय आदि विविध छंदों मे रचनाएँ की हैं। संतों मे संभवतः इनके गुरुभाई सुंदरदास को छोड़कर अन्य किसी की बानियों मे छंदों की इतनी विविधता नहीं पाई जाती। साधना तथा विचारों मे तो ये स्वभावतः अपने गुरु दादूदयाल के ही पक्के अनुयायी थे, परंतु अपनी उक्तियों मे दृष्टांतों के प्रयोग के लिये ये विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अपने 'सब्बंगी' ग्रंथ में अपने पंथ के बाहर के भी प्रसिद्ध संतों की रचनाओं का संग्रह कर उन्हे रखने की परंपरा संभवतः इन्हीं से प्रारंभ हुई, जिसके बाद सिख संप्रदाय और निरंजनी संप्रदाय के ग्रंथों मे भी हमे अनेक संतों की रचनाएँ संगृहीत मिलती हैं; और इनकी इस उदार दृष्टि के ही फलस्वरूप संतों के साहित्यिक अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमे उपलब्ध होती है।

मृत्यु—रज्जब जी ने १२२ वर्ष की दीर्घ आयु पाई और उनकी मृत्यु सं० १७४६ वि० मे हुई। साँगानेर मे इनकी प्रधान गद्दी है जहाँ इनके स्मारक के रूप मे इनकी कुछ वस्तुएँ भी रखी हुई हैं।[1]

२. सुंदरदास

जन्म और माता पिता—दादूदयाल के शिष्यों मे सुंदरदास नाम के दो व्यक्ति थे, एक बड़े सुंदरदास के नाम से प्रसिद्ध हुए और दूसरे छोटे सुंदरदास के। इनमे छोटे सुंदरदास ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म, जयपुर राज्य के द्यौसा नगर मे, चैत्र शुक्ल ९, संवत् १६५३ को एक खंडेलवाल वैश्य परिवार मे हुआ था इनके पिता का नाम परमानंद और माता का सती था।

[1] रज्जब जी के नाम पर चलाया गया पंथ आजकल 'रज्जबावत' कहलाकर प्रसिद्ध है और इनकी उपलब्ध वाणियों का एक नवीन अच्छा संस्करण 'रज्जब वाणी' शीर्षक से डा० बृजलाल वर्मा द्वारा संपादित होकर उपमा प्रकाशन, कानपुर से १९६३ ई० में प्रकाशित हो चुका है।—सं०

दीक्षा—कहा जाता है, दादूदयाल जी एक बार जब सं० १६५२ में द्यौसा गए थे तो वहाँ उक्त वैश्य परमानंद जी को पुत्रलाभ होने का आशीर्वाद दिया था। तदनुसार सं० १६५३ में उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। जब दादूदयाल दूसरी बार सं० १६५८ या १६५९ में द्यौसा गए तो उपर्युक्त वैश्य दंपति ने अपने उस पुत्र को जो उस समय छह वर्ष का हो चुका था, उनकी सेवा मे उपस्थित किया और उनसे उसे अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। तब दादू जी ने प्रसन्न मन से उसे दीक्षा देकर शिष्य रूप में अपनाया। यही शिष्य सुंदरदास थे जो आगे चलकर रज्जब जी से भी अधिक प्रसिद्ध हुए।

विद्याध्ययन और योगाभ्यास—दादूदयाल के प्रिय शिष्य होने के नाते सुंदरदास जी को उनके गुरुभाई गुरु की मृत्यु के बाद भी बहुत मानते थे। उन्होंने उनकी पूरी देखभाल की। रज्जब जी की इनपर विशेष कृपा रहती थी और उनकी तथा जगजीवन जी की सहायता से इन्होंने दादूदयाल की बानियों का भली भाँति अध्ययन किया। इन्हें होनहार और प्रतिभावान् देखकर वे इन्हे विद्याध्ययन के लिये काशी ले गए। वहाँ इन्होंने सं० १६६३ से १६८२ तक रहकर शास्त्रों का, विशेषकर दर्शन और साहित्य का, अध्ययन किया। काशी में ये असीघाट पर रहते थे।

काशी मे विद्याध्ययन कर चुकने के पश्चात् ये फतहपुर चले आए और वहीं अपने कुछ अन्य गुरुभाइयों के साथ एक गुफा मे रहकर बारह वर्ष तक योगाभ्यास किया। योगाभ्यास काल में अपने गुरु दादूदयाल की बानियों का अध्ययन मनन करते और कभी कभी स्वयं भी रचनाएँ किया करते थे।

देशाटन—अध्ययन और योगाभ्यास प्रिय होने पर भी सुंदरदास एक ही स्थान मे बैठकर समय बितानेवाले व्यक्ति न थे। फतहपुर मे रहते हुए ये अनेक प्रांतों और नगरों मे भ्रमण के लिये गए और वहाँ के साधु महात्माओं के सत्संग से लाभ उठाया। राजस्थान में तो ये रहते ही थे, उसके अतिरिक्त दिल्ली, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, मालवा और मध्यप्रदेश मे भी उन्होंने भ्रमण किया। ये जिन स्थानों मे जाते थे वहाँ अन्य संतों की भाँति केवल साधु मंडली सत्संग और उपदेश तक ही अपनी दृष्टि को सीमित नहीं रखते थे, अपितु उन स्थानों के निवासियों के आचार व्यवहार, भाषा, वेशभूषा आदि की विशेषताओं का भी निरीक्षण करते थे। अपने देशाटन के अनुभवों का वर्णन इन्होंने अपने सवैयों में किया है और उनमे विभिन्न स्थानों की रीतियों और आचारों के विषय में व्यंग्य और विनोदपूर्ण उक्तियाँ कहीं।

सत्संग—सुंदरदास जी अपने गुरु दादूदयाल जी के साथ एक वर्ष के ही लगभग रह सके थे। गुरु की मृत्यु के समय इनकी अवस्था केवल ७ वर्ष २॥ मास की ही थी, अतः उस एक वर्ष में भी उनके आशीर्वाद और व्यक्तित्व के संस्कार के

अतिरिक्त उनसे कुछ विशेष ज्ञान ग्रहण करना इनके लिये संभव नहीं था। इनके ज्ञान का उन्मेष और विकास गुरुभाइयों के ही संपर्क में रहकर हुआ। विशेषतः रज्जब जी और जगजीवन जी ने ही इनके अभिभावक का उत्तरदायित्व सँभाला, और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उन्होंने ही इनकी शिक्षा का भी प्रबंध किया। रज्जब जी दादू के सबसे योग्य एवं प्रधान शिष्य थे और सुंदरदास पर उनकी विशेष प्रीति भी थी, अतः ये स्वभावतः सबसे अधिक श्रद्धा उन्हीं के प्रति रखते थे। उनके सत्संग का लाभ ये आजीवन उठाते रहे। रज्जब जी और जगजीवन जी के अतिरिक्त संतदास, बषना, प्रागदास, नारायणदास आदि अन्य गुरुभाइयों के साथ भी इनका घनिष्ठ संपर्क रहा।

अपने देशभ्रमण के समय में सुंदरदास ने कितने ही अन्य संत महात्माओं तथा कवियों एवं विद्वानों से भेंट की होगी और उनमें से कुछ के सत्संग का इन्हें अवसर मिला होगा। उनमे सबसे मुख्य व्यक्ति गोस्वामी तुलसीदास जी थे। सुंदरदास सं १६६३ से १६८२ तक असीघाट पर ही रहे थे जहाँ तुलसीदास जी भी रहते थे, अतः १७ वर्षों तक ये गोस्वामी जी के (मृ० १६८० वि०) निकट संपर्क मे रहे होंगे गोस्वामी जी की मृत्यु के समय ये २७ वर्ष के युवा थे।

सुंदरदास ने अपने जीवनकाल मे जहाँगीर (शासनकाल सं० १६६२ ८४) शाहजहाँ (शा० का०, सं० १६८४–१७१५) तथा आधे से अधिक औरंगजेब (शा० का०, सं० १७१५-६४) का भी शासनकाल देखा। वह युग ऐसा था जिसमे भारत के उन प्रदेशों मे जिनमे सुंदरदास ने भ्रमण किया था, धर्म, साहित्य एवं शासन के क्षेत्र मे भी भारतीय इतिहास की अनेक स्मरणीय विभूतियाँ विद्यमान थीं। पंजाब में उस काल मे पाँच सिख गुरु हुए—गुरु हरगोविंद, हर राय, हरकृष्ण राय, तेगबहादुर तथा गुरु गोविंदसिंह। गुरु गोविंदसिंह स्वयं हिंदी के अच्छे कवि थे और कवियों का आदर करते थे। दक्षिण मे हिंदी कवियों को प्रश्रय देनेवाले छत्रपति महाराज शिवाजी थे जिनके सभाकवि भूषण थे। बीकानेर में 'भाषाभूषण' के रचयिता विद्याव्यसनी नरेश जसवंतसिंह (राज्यकाल सं० १६९५–१७३२) हुए। अकबर के मंत्री और सेनापति एवं तुलसीदास जी के मित्रकवि 'रहीम' (सं १६१०-८३) तथा महाकवि केशवदास, सेनापति, बिहारी एवं मतिराम जैसे प्रसिद्ध कवि भी उसी युग मे हुए। संत मलूकदास (सं० १६३१–१७३६) तथा 'अर्धकथानक' के रचयिता जैन कवि बनारसीदास (संत १६४३ से १६६८ तक वर्तमान) का भी वही समय था। इन सबके साथ सुंदरदास के मिलने वा परिचित होने के संबंध मे विवरण वा प्रमाण प्राप्त नहीं हैं, परंतु ये स्वयं एक अच्छे विद्वान् और कवि थे, अतः यह असंभव नहीं कि उक्त व्यक्तियों मे से अनेक के साथ इनका संपर्क रहा हो और उनसे ये प्रभावित भी हुए हों।

मृत्यु—जैसा पहले कहा जा चुका है, सुंदरदास जी की रज्जब जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे उनसे मिलने के लिये प्रायः साँगानेर जाया करते थे। अंतिम बार वे उनसे मिलने के लिये सं० १७४६ वि० मे गए, परंतु उसके पहले ही उनकी मृत्यु हो गई थी। इससे सुंदरदास जी को अत्यधिक शोक हुआ और उसी वर्ष साँगानेर मे ही कार्तिक शुक्ल ८ को उनकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ—यद्यपि सभी संतों ने अपनी बानियाँ हिंदी मे ही कहीं, तथापि पुस्तकीय ज्ञान एवं साहित्यशिक्षा की उपेक्षा के कारण उनकी रचनाओं मे शास्त्रीय रूप वा विचारक्रम का प्रायः अभाव ही पाया जाता है। परंतु सुंदरदास जी इसके अपवाद हैं। इन्होंने उन्नीस वर्षों तक काशी मे रहकर साहित्य, दर्शन आदि का अच्छा अध्ययन किया था और तत्कालीन कवियों से भी उनका संपर्क था, अतः उनकी रचनाओं मे हम उस समय के हिंदी के किसी भी श्रेष्ठ कवि के समान साहित्यिक विशेषताएँ तथा उनके दार्शनिक विचारों मे भी उनके अर्जित शास्त्रज्ञान का निदर्शन पाते हैं।

सुंदरदास जी ने सब मिलाकर कोई ४२ ग्रंथ रचे, जो दो भागों में सुंदर ग्रंथावली के रूप मे स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे दो ग्रंथ अन्य की अपेक्षा अधिक बड़े और प्रसिद्ध हैं—'ज्ञानसमुद्र' और 'सुंदरविलास'। 'सुंदरविलास' मुख्यतः कवित्त और सवैयों मे लिखा है। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है। पद्य, छंदशास्त्र के नियमों के अनुसार, रचे गए हैं, अलंकारों की भी योजना की गई है और विषयों की विविधता भी पाई जाती है। सुंदरदास अन्य संतों की भाँति केवल एक संत के रूप मे साखियाँ वा बानियाँ नहीं कहा करते थे, प्रत्युत एक शिक्षित कवि की भाँति काव्य के नियमों एवं परिपाटियों का ध्यान रखकर रचनाएँ करते थे। तुक, छंद और अर्थ से रहित कविता करने को वे अनुचित समझते थे :

तुक भंग छंद भंग अरथ मिलै न कछु।
सुंदर कहत ऐसी बानी नाहिं कहिए।

विभिन्न प्रदेशों की रीतियों एवं आचारों के संबंध मे उन्होंने विनोदपूर्ण व्यंग किए हैं। जैसे, पूर्वदेश के संबंध मे कहा है :

'ब्राह्मन छत्रिय वैसरु सूदर चारउ वर्न के मच्छ बघारत।' और दक्षिण के विषय में :

राँधत प्याज बिगारत नाज न आवत लाज करैं सब भच्छन।

इनके 'ज्ञानसमुद्र' की रचना भादों सुदी एकादशी, गुरुवार को, सं० १७१० में समाप्त हुई थी :

संवत् सतरह सै गए, बरस दसोत्तार और।
भाद्व सुदि एकादसी, गुरुवासर सिरमौर॥
ता दिन संपूरन भयो, ज्ञानसमुद्र सुग्रंथ।
सुंदर अवगाहन करै, लहै मुक्ति को पंथ॥

संतों की साधनापद्धति पर एक विशिष्ट संत के विचार जानने के लिये यह ग्रंथ बहुत महत्वपूर्ण है। यह गुरु शिष्य के संवाद से प्रारंभ होता है। शिष्य के प्रश्न के उत्तर मे गुरु कहते हैं—'चिदानंद घन ब्रह्म तू स्वयं है, देहसंयोग से जीव का पृथक् भ्रम होता है। जगत् मिथ्या, तथा जन्म मरण स्वप्न है।' शिष्य के यह प्रश्न करने पर कि 'चिदानंद ब्रह्म को भ्रम कैसे हुआ, प्रत्यक्ष संसार को मिथ्या (अनछतो) कैसे मानूँ तथा जन्म मरण के अनादि प्रवाह को स्वप्न कैसे समझूँ ?', गुरु उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्म तो एक रस है, वस्तुतः भ्रम ही को भ्रम हुआ। जब तक निद्रा है तब तक जन्म और मरण सत्य जान पड़ते हैं, जागने पर वे स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं।' पुनः शिष्य के पूछने पर कि 'भ्रम को भ्रम कैसे हुआ, कौन सोता और जागता है ?', गुरु उत्तर देते हैं—'शिष्य, तू कहाँ तक पूछेगा ? मैंने तो उत्तर दे दिया, परंतु जब तक बुद्धि शुद्ध नहीं है तब तक कुछ समझ मे नहीं आएगा। बुद्धि शुद्ध करने के तीन उपाय हैं—भक्तियोग, हठयोग और सांख्ययोग।' इसके पश्चात् वे इन तीनों का उपदेश शिष्य को करते हैं। भक्ति के विषय में वे कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म का निज रूप है और सगुण उसका संत के रूप मे अवतार। निर्गुण की भक्ति मन से की जाती है और सगुण की मन और तन दोनों से।[1] भक्ति के तीन प्रकार हैं—नवधा, प्रेमलक्षणा और परा। पहली कनिष्ठा है दूसरी मध्या और तीसरी उत्तमा। पराभक्ति मे पहुँचकर भक्त परमात्मा से मिल जाता है, कभी पृथक् नहीं होता, परंतु उसका सेवक-सेव्य भाव बना रहता है। उसकी स्थिति इस प्रकार होती है जैसे जल के बीच में रखा हुआ जलपिंड। दोनों को एक ही कहना चाहिए, पर सेवक सेव्य भाव से दोनों मे पृथकता भी रहती है।[2]

१ द्वै रूप ब्रह्म के जानैं। निर्गुन अरु सगुन पिछानै॥
निर्गुन निज रूप विचारा। पुनि सगुन संत अवतारा॥
निर्गुन की भक्ति सु मन सौं। संतन की मन अरु तन सौं।'—पृ० १६।

२ सेवक सेव्य मिल्यो रस पीवत भिन्न नहीं अरु भिन्न सदा ही।
ज्यों जल बीच धर्यो जलपिंड सुपिंडरु नीर जुदे कछु नाहीं॥—पृ० २८।

इसके आगे हठयोग के अंतर्गत योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है जिसमे प्राणायाम के अंतर्गत इड़ादि नाड़ियो, षट्चक्रों, दस प्रकार के पवनों, आठ प्रकार के कुंभकों, दस मुद्राओं और तीन बंधों का तथा दस प्रकार की अनहद ध्वनियों के श्रवण एवं ज्योतिदर्शन का भी विवरण है। ध्यान मे शून्यध्यान को सबसे उत्कृष्ट कहा गया है। शून्याकार ब्रह्म का ध्यान करके तदाकार होने पर अखंड समाधि लग जाती है जिसे योगनिद्रा भी कहते हैं। उसमे साध्य और साधक इस प्रकार एकाकार हो जाते हैं जैसे पानी मे नमक मिलकर एक हो जाता है।[1]

इसी प्रकार अंत में सांख्य योग के अंतर्गत आत्म अनात्म, दोनों के संयोग से सृष्टि, पचीस तत्व, तीन गुण, तीन प्रकार की देह (स्थूल, सूक्ष्म, कारण), चार अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त, तुरीय) इत्यादि वर्णित हैं। अंत मे तुर्यातीत अवस्था का भी वर्णन है, जिसमे ब्रह्म का तात्विक रूप में साक्षात्कार हो जाता है, सब प्रकार के भेद और विभाग नष्ट हो जाते हैं तथा पूर्ण अद्वैत का अनुभव होता है।[2] इस अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव ही किया जा सकता है, शब्दों में इसका वर्णन नहीं हो सकता।

'ज्ञानसमुद्र' मे दिए गए संत-साधना-पद्धति के व्यवस्थित वर्णन मे, संतो की बानियों में मिलनेवाली हठयोग एवं दर्शन संबंधी अनेक गुत्थियों का हल एक ही जगह मिल जाता है।

३. गरीबदास

जैसा पहले कहा जा चुका है, जब दादूदयाल साँभर मे थे उस समय सं० १६३३ मे उनके प्रथम पुत्र का जन्म हुआ था, जिसका नाम गरीबदास था। आगे चलकर गरीबदास उच्च कोटि के संत हुए। ये एक अच्छे कवि थे तथा संगीत एवं वीणावादन मे भी निपुण थे। दादू की मृत्यु के बाद यही उनकी गद्दी के अधिकारी हुए, परंतु बहुत उदार और सीधे होने के कारण, उसका प्रबंध सँभाल नहीं सके और उन्होंने गद्दी त्याग दी।

सेव्य कौं जाइ कै दास ऐसे मिलै येक सौं होइ पै येक द्वै ना मिले ॥
आपनो भाव दासत्व छाँडै नहीं। सा पराभक्ति है भाग्य पावै कहीं।—पृ० २६।

[1] इम नीर महिं परि जाइ लवनं एक येकहि जानिये।
वछु भिन्न भाव रहै न कोउ सा समाधि बषानिये ॥ ८६ ॥—पृ० ५५।

[2] जो कुछ सुनिए देखिए, बुद्धि विचारै जाहि।
सो सब वाग विलास है, भ्रम करि जानहु ताहि ॥
यह अत्यंताभाव है, यह है तुरियातीत।
यह अनुभव साक्षात है, यह निश्चय अद्वीत।—पृ० ७९।

गरीबदास की बहुत सी रचनाएँ बताई जाती हैं परंतु उनकी 'अनभै प्रबोध', 'पद', 'साखी' और 'चौबोले' ये चार ही रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो 'गरीबदास जी की बाणी' नामक संग्रह मे प्रकाशित हो चुकी हैं'।[१]

गरीबदास जी की मृत्यु सं० १६९३ मे नराने में हुई, जहाँ 'गरीब सागर' नाम का एक तालाब इनके नाम से बना हुआ है।

४. बषना, वाजिद और भीषजन

बषना जी और वाज्दि दादू के ये दोनों शिष्य मुसलमान थे। बषना जी का उल्लेख रज्जब जी के प्रसंग मे पहले हो चुका है। ये जाति के मीरासी थे। इनकी बानियो का एक संग्रह 'बषना जी की वाणी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।[२] इनकी रचनाएँ सुंदर होती थीं और इन्हें संगीत का भी अच्छा ज्ञान था।

वाजिद जी पठान थे। अपनी युवावस्था में इन्होंने एक गर्भिणी हरिणी की हत्या कर दी थी जिसका इन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ और ये जाकर दादूदयाल के शिष्य हो गए। इनके पंद्रह ग्रंथ बतलाए जाते हैं, परंतु विशेष रूप से ये अपने अरिल्लों के लिये प्रसिद्ध हैं। 'पंचामृत' नामक एक ग्रंथ मे इनके १३५ अरिल्ल प्रकाशित हो चुके हैं।[3]

भीषजन दादू के प्रसिद्ध शिष्य संतदास के शिष्य थे। ये जाति के ब्राह्मण थे और इनका निवासस्थान फतहपुर था। इनकी रचना 'भीषजन की बावनी' भी उपर्युक्त 'पंचामृत' ग्रंथ मे प्रकाशित हो चुकी है।

५. मोहनदास दफ्तरी तथा कतिपय अन्य दादू शिष्य

संत दादूदयाल के उन प्रसिद्ध शिष्यों में जिनकी उपलब्ध रचनाएँ अब तक प्रकाश मे आ चुकी हैं स्वामी मोहनदास दफ्तरी, मसकीनदास, दूजनदास, जनगोपाल, प्रागदास एवं टीलाजी के भी नाम लिए जा सकते हैं। इनकी कुछ रचनाओ का एक संग्रह जयपुर से, 'संत साहित्य सुमन माला' वाले 'पंचम सुमन'[४] के रूप मे अभी कुछ दिन हुए प्रकाशित हुआ है। इनमे से संत जनगोपाल की एक रचना, जो 'दादू जनमलीला परची' नाम से प्रसिद्ध है, इसके पहले इस 'सुमन माला' का ही 'चतुर्थ सुमन'[५] कहलाकर छप चुकी थी।

[१] प्रकाशक, 'श्री स्वामी लक्ष्मीराम ट्रास्ट', जयपुर।

[२] वही।

[3] वही।

[४] वही।

[५] वही।

मोहनदास दफ्तरी संत दादूदयाल के प्रसिद्ध ५२ शिष्यों मे गिने जाते हैं और इन्हीं के लिये कहा जाता है कि अपने गुरुदेव के साथ सदा रहने के कारण ये उन सारी दादू बानियो को बराबर लिखित रूप देते गए थे जो उनके मुख से समय समय पर निकलती गई थी। ये कदाचित् इसी कारण, 'दफ्तरी' कहलाकर भी प्रसिद्ध थे और इनके द्वारा संगृहीत पंक्तियों को ही पीछे 'अंगबद्ध' भी किया गया। ये उन दिनों दादू के शिष्य हुए थे जब संत दादूदयाल साँभर में निवास करते थे और उनका देहांत हो जाने पर ही इन्होंने अपना शरीर भी छोड़ा था। इनकी चर्चा कई दादूपंथी कवियों ने अपनी अपनी रचनाओं के अंतर्गत बड़ी श्रद्धा के साथ की है और इनकी अपनी बानियों का एक संग्रह 'मारोठ' के दादूद्वारे मे सुरक्षित है। इन उपलब्ध रचनाओं मे से जो यहाँ प्रकाशित हैं 'ब्रह्मलीला नाम का एक लघु ग्रंथ है जिसमे ४३ साखियाँ हैं और इनके अतिरिक्त, ३६ पद भी आए हैं जिन्हें क्रमशः रागगौड़ी, माली, गौड़ी, कल्याण, कान्हड़ौ, काफी, केदारा, मारू एवं रामगिरी नामक शीर्षकों मे दिया गया है। इन्होंने 'ब्रह्मलीला' में दृष्टांतों का प्रयोग अच्छा किया है। इनके पदों मे से १३वाँ इस प्रकार है :

मैं नाही तूही करतारा, तूं सत एक उपावनहारा ॥ टेक ॥
आदि अंत अस्थिर हम नाहीं, अब अवियामी करत मन माँही ॥ १ ॥
वारि बुदबुदा यहु तन काचा, गुरु उपदेश कह्यो हरि साचा ॥ २ ॥
अविचल अविहड नाँव तुम्हारा, मोहन और स्वप्न व्यवहारा ॥ ३ ॥

मसकीनदास के लिये प्रसिद्ध है कि ये संत दादूदयाल जी के औरस पुत्र एवं गरीबदास जी के छोटे भाई थे। ये नरानेवाली आचार्य की गद्दी पर परंपरानुसार गरीबदास जी के पश्चात् सं० १६६३ मे आसीन भी हुए थे और सं० १७०५ की वैशाख बदी ८ को, ब्रह्मलीन हो गए। परंतु 'संतगुण सागर' नामक ग्रंथ के आधार पर, जिसके रचयिता दादू के शिष्य माधोदास जी कहे जाते हैं, यह भी बतलाया जाता है कि वास्तव में ये दादू जी की अपनी संतान न होकर किसी भक्त दधीच ब्राह्मण दामोदर जी के पुत्र थे और उनके यहाँ इन्होंने, दादू जी की अनुकंपा से जन्म लिया था। इनके अग्रज उपर्युक्त संत गरीबदास जी तथा इनकी दो छोटी बहनों के लिये भी ठीक यही बात कही जाती है। इनका जन्म सं० १६३४ में हुआ था, और इनकी चर्चा करते समय, इन्हें उक्त 'संत गुणसागर' ग्रंथ मे 'आत्रेय रूप' भी कहा गया है, जिससे इनके विषय मे, उसके निर्माणकर्ता का संभवतः प्रसिद्ध गुरु दत्तात्रेय के समान, श्रद्धाभाव प्रकट करना भी सूचित होता है। इनके केवल १२ पद प्रकाशित हुए हैं जो रचनाकला की दृष्टि से साधा-

रण होने पर भी, उनकी गंभीर साधना की अभिव्यक्ति के विचार से उच्च कोटि के समझे जा सकते हैं।[1]

संत बूजनदास जी की गणना भी दादूदयाल जी के प्रमुख ५२ शिष्यों में की जाती है। और इनके जीवनकाल के विषय में, सं० १६४० से लेकर सं० १६८० तक का अनुमान किया गया है तथा इनकी परंपरा का 'ईडवे' नामक स्थान में प्रचलित होना भी बतलाया गया है। इनके व्यक्तिगत जीवन का हमें यथेष्ट परिचय उपलब्ध नहीं है, किंतु इनकी प्रकाशित रचानाओं द्वारा स्पष्ट है कि इन्हें अपने गुरु के प्रति एकांत निष्ठा रही। इन रचनाओं की मूल प्रति का आधार नराणेवाले संग्रह में सुरक्षित तथा 'राणीला' से आई पुस्तक बतलाई गई है और ये यहाँ २७ पृष्ठों में प्रकाशित हैं। इनके आरंभ में ३६ साखियाँ आती हैं जो विविध अंगों में विभक्त हैं तथा इनके अनंतर ६ सवैए दिए गए हैं। तत्पश्चात् क्रमशः 'ग्रंथ चौपाई बावनी', 'ग्रंथ पंद्रह तिथि' और 'उपदेश चौपाई चितावली' आते हैं तथा फिर अंत में ३५ पद भी दिए गए पाए जाते हैं। इनमें से अंतिम प्रकार की रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये अपने उत्कृष्ट होने से अनेक प्रसिद्ध रचनाओं की बराबरी में भी ठहर सकती हैं। इनकी भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता है, भाषा में प्रवाह है तथा इनकी उक्तियों में ऐसी मार्मिकता भी है जो बिना प्रभाव डाले नहीं रहती। इनका एक छोटा सा पद (३५) इस प्रकार है :

आरती उर अंतर कीजै, तन मन प्राण चरन चित दीजै ॥ टेक ॥
ऊपर की यहु लोक दिषाई, अंतर ध्यान करो ल्यौ लाई।
बाहर दीसै जगत पसारो, अभि अंतर निर्गुण निज धारो ॥ १ ॥
अंतर गति आरति कर लीजै मन मनसा हरि अर्पण कीजै ॥
यूँ आरती करि साध समाना, जन बूजन भजि परम नियाना ॥ २ ॥

इनके ऐसे पदों में से चौथा एक 'विणजारिया' संज्ञक भी है जो उस काल की एक विशिष्ट रचनाशैली का अनुगमन करता है।

जनगोपाल जी अपनी रचना 'दादू जनम लीला परची' के कारण विशेष प्रसिद्ध हैं जिसकी चर्चा अन्यत्र भी की गई है। ये मूलतः सीकरी के निवासी थे और संभवतः अपनी ३०-३५ साल की अवस्था में, दादू जी के शिष्य हुए थे। इनकी चर्चा कई दादूपंथी लेखकों ने की है। इनकी बतलाई जानेवाली ११ रचनाओं में से कुछ को एक ही साथ जोड़कर कभी कभी इनकी संख्या केवल

[1] दे० पृ० २०-२३।

७ ही ठहरा दी जाती है। इनमे से 'दादू जन्मलीला परची' के प्रकाशित हो जाने का उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है। इनके 'मोहविवेक' नामक एक अन्य लघुग्रंथ का प्रकाशन भी हो चुका था[1] और शेष मे से कई को जयपुर-वाले उपर्युक्त संग्रह-के अंतर्गत प्रकाशित किया गया जान पड़ता है। जनगोपाल जी की शिष्यपरंपरा जयपुरवाले क्षेत्र के राहोरी नामक स्थान में चली, जिसके साधुओ को 'राहोरी कोटडावाले' नामक विशिष्ट संज्ञा भी दी जाती है[2]। जन-गोपाल जी के 'बारहमासे' मे विरहिणी का चित्रण बड़े सुंदर ढंग से किया गया है तथा इनकी 'चितावणी', इनके कवित्त एवं सवैए और इनके साषी एवं 'आरती' कहलानेवाले पद्य भी, साधारणतः अच्छी कोटि की रचनाओं मे अपना स्थान ग्रहण कर सकते हैं। इनके प्रकाशित पदों की संख्या ६७ है जो राग इमीर कल्याण, शुद्ध कल्याण, कनरो नाइकी, दरबारी कनरो, काफी, केदारो, रामकली, आसावरी, जौनपुरी, सारंग, मलार, नट नारायण, सोरठा, गुंड, बसंत, भैरू, बिलावल, जैतश्री, धनाश्री जैसे विभिन्न रागों के अनुसार, दिए गए मिलते हैं। इनके भी पदों के वर्ण्य विषय स्वभावतः वे ही हैं जो अन्य सभी निर्गुणवादी संतों की रचनाओं मे पाए जाते हैं, किंतु उनमे से कुछ के द्वारा प्रकट किए गए भाव तथा उनकी व्यंजना का ढंग साधारणतः सगुणवादी कवियों से भिन्न नहीं प्रतीत होते। उन्हे पढ़ते समय हमे ऐसा लगता है जैसे भक्त सूरदास सदृश किसी कवि की पंक्तियों का रसास्वादन किया जा रहा है। नीचे दिए पद मे तो सूर की किसी विरहिणी गोपी की उक्ति ही ध्वनित होती है :

चंद जरत कीधौं मोहि जरावतु ?
शीतल सिंधु सुधा कत वरषत, रवि के रूप ह्वै हम जु डरावतु ॥टेक॥
जे कोउ करत संग कैसो हू, सो तो वही तैसो फल पावतु।
तजि विष विषय रुद्र तामस में, संगति को गुण तब ही जनावतु ॥ १ ॥
चंदन को गुण लियो भुवंगम, विष सम चंदन देह दहावतु।
जन गोपाल दयाल मिले बिनु, सब सुष दुष भरि मोहि न भावतु ॥२॥

संत दादूदयाल जी के प्रमुख ५२ शिष्यों की तालिका के देखने से पता चलता है कि उनमें प्रागदास नाम के दो संत हो गए हैं जिनमे से एक तो 'नराणे' में रहा करते थे और दूसरे का निवासस्थान 'डीडवाणा' था। इन दूसरे को प्रायः 'प्रागदास

[1] यह लघुग्रंथ आगरावाले हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ से प्रकाशित 'भारतीय साहित्य' के किसी अंक में निकल चुका है।—सं०।
[2] सं० सा० सु० मा० (पं० सु०), 'परिचय', पृ० ६।

विहाणी' भी कहा जाता रहा। इनके सदा गृहस्थाश्रम में ही रहकर अपनी साधना करते रहने का पता चलता है और इन्हीं की रचनाएँ इधर प्रकाश मे भी आई हैं। इनके दस शिष्य बतलाए जाते हैं। इनका देहावसान सं० १६८८ की कार्तिक बदी ८ को होना भी कहा गया है। इनकी रचनाओं में केवल ६१ साखियों तथा २३ पद उपलब्ध हैं जिनमें से अंतिम दो को 'आरती' की संज्ञा दी गई भी पाई जाती है। ये अपनी दो साखियों मे इस प्रकार कहते हैं :

प्रागदास नीझर झरै, तब लग पीवत जाई।
ना वो रहे न तूँ थकै, ऐसे हेत लगाई ॥ ५३ ॥
अविनासी अंग देषकर, नैनो रहे समाइ।
प्रागदास ज्यूँ ज्यूँ पिवै, प्यासा होता जाई ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार इनका एक पद भी इस रूप मे दिया जा सकता है :

हरिजन हरि तज अनत न जाई चरणकँवल में रहे लुभाई ॥टेक॥
प्रेम प्रीति करि नीके राषै, राम रसायन रसना चाषै ॥ १ ॥
तन मन दे अंतर नही राषै, बारंबार सुधारस चाषै ॥ २ ॥
आपा मेटि रहे ल्यौ लाई, प्रागदास सो सेवग भाई ॥ ३ ॥

संत टीबा जी भी, संत दादूदयाल जी के उक्त ५२ शिष्यों मे से ही एक थे, और ये आजन्म उनकी सेवा में निरत रहे। ये उनके एक प्रमुख अनन्य भक्त रहे तथा इस बात का परिचय इन्होंने अपनी उपलब्ध बानियों तक में, यत्र तत्र दिया है। इनके यहाँ पर ५६ पद एवं २ साषियाँ प्रकाशित हैं जिनमे से प्रथम के अतर्गत इन्होंने कहीं कहीं पर ब्राह्मणो को फटकार भी बतलाई है, जैसे

पंडित अपणे घर जा भाई।
हम तुम बात कहण की नाँही, काहे करत लड़ाई ॥ टेक ॥
हम गरीब परमेसुर सुमिरै, तुम ब्रह्मा के नातो।
अहं विकार बुराई राते, हम तुम जाति न पाँती ॥ १ ॥
सुमिरण करैं सहज में बैठें, तहाँ आप द्वंद उठावें।
भ्रम कर्म की बात चलावै, निर्मल नाँव न भावे ॥ २ ॥
जप तप संजम एक नाम में, जो सेवै सो पावै।
गुरु दादू कृपा करि दीन्हो, टीबो बंदो गावै ॥ ३ ॥

षष्ठ अध्याय

कुछ अन्य संत एवं संप्रदाय

१. जंभनाथ का 'विश्नोई संप्रदाय

संत कवि जंभनाथ का जन्म जोधपुर राज्य के नागोर इलाके के पीपासर (अथवा पयासर) नामक ग्राम में सोमवार, भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, सं० १५०८ को, राजपूत परमार लोहित के गृह मे हुआ था। इनकी माता का नाम हाँसा देवी था। बाल्यावस्था मे इनके माता पिता प्रेम के कारण इन्हें 'जंभो' नाम से बुलाते थे। कालांतर मे, जंभनाथ के साथ ही साथ, इनका जंभो जी नाम भी प्रचलित हो गया। इनके नाम के संबंध मे एक और मत है। श्री एच० ए० रोज का कथन है कि चौंतीस वर्ष की अवस्था तक इन्होंने एक भी शब्द उच्चरित नहीं किया और, विविध चमत्कारिक एव अचंभों से पूर्ण कृत्यो के प्रदर्शन करने के कारण जनता ने इन्हें 'जंभ जी' कहना प्रारंभ किया।[1] सिद्धि प्राप्त हो जाने के अनंतर ये 'मुनींद्र जंभ ऋषि' के नाम से विख्यात हुए।

जंभनाथ अपने माता पिता की एकमात्र संतान थे। इनकी शिक्षा दीक्षा के संबंध मे कोई विवरण नहीं मिलता है। जनश्रुति है कि जंभनाथ के चौंतीसवें वर्ष में पदार्पण करने पर, इनके माता पिता को इनके गूँगेपन पर विशेष चिंता हुई, अस्तु, नागौर की देवी के मंदिर मे बारह दीप जलाकर वे अपने पुत्र के हेतु वाणीवरदान की याचना करने लगे। यह देखकर जंभनाथ ने दीपक बुझा दिए और वहाँ पर उपस्थित जनता को ब्रह्मविषयक उपदेश देने लगे। जंभनाथ के विवाह, परिवार, आजीविका तथा मित्रों आदि के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है। किंवदंती है कि ये आजीवन ब्रह्मचारी का पवित्र निष्कलंक तथा वासनाहीन जीवन व्यतीत करते रहे। कहते हैं, बचपन में जब ये गाएँ चराया करते थे, इन्होंने राव दूदा जी (सं० १४६७-१५७२) को एक लकड़ी देकर उन्हें सफल बनाया था। यह भी प्रसिद्ध है कि किसी 'बाबा गोरखनाथ' ने इन्हें दीक्षा प्रदान की थी तथा ये 'कतरियासर' मे जाकर अपने गुरुभाई सिद्ध जसनाथ से भी मिले थे। ये स्वभावतः बड़े विनयशील, नम्र तथा उदार चेता थे। सेवाभाव में सदैव दत्तचित्त रहा करते थे। जाति पाँति और कुल में

[1] ए ग्ला० ट्रा० का०, भाग २, पृ० ११०।

इनकी आस्था कभी नहीं रही। जंभनाथ संतों की भाँति भ्रमणशील थे। प्रसिद्ध है कि राजस्थान के बाहर जाकर अन्य प्रदेशों मे भी इन्होंने अपने उपदेशों का प्रसार और प्रचार किया। अनुमान किया जाता है कि उत्तरप्रदेश के मुरादाबाद, बरेली और बिजनौर तक यात्रा करके इन्होने अपने आदर्शों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था।

जंभनाथ अच्छे कवि थे। परंतु दुर्भाग्य से अभी तक इनकी कोई पुस्तक नहीं मिली है। कतिपय संग्रहों मे इनकी स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं। इन रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था और अभिव्यंजना की सराहनीय शक्ति थी। इनकी काव्यभाषा अवधी थी, जिसमे खड़ीबोली का विकासमान रूप उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ यहाँ पर कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

गगन हमारा बाजा बाजे, मूल मंतर फल हाथी।
संसै का बल गुरुमुख तोड़ा, पाँच पुरुष मेरे साथी॥
जुगति हमारी छत्र सिंघासन, महासक्ति में बाँसे।
जंभनाथ वह पुरुष विलच्छन, जिन मंदिर रचा अकासे॥

इस उद्धरण मे खड़ीबोली का विकासशील रूप दर्शनीय है।

जंभनाथ ने अपने आदर्शों या मत के प्रचारार्थ 'विश्नुई संप्रदाय' की स्थापना की। अपने जीवनकाल मे इन्होंने चार प्रमुख शिष्यों को मान्यता प्रदान की। इनके नाम हैं हावली, पावजी, लोहा पागल, दत्तनाथ तथा मालदेव। नाम से ये शिष्य नाथपंथी प्रतीत होते हैं। संभव है, 'विश्नुई संप्रदाय', नाथपंथ के आदर्शों से किसी अंश तक प्रभावित रहा हो। पंडित परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि इनकी उपलब्ध रचनाओं मे भी हमे वस्तुतः देहभेद, योगाभ्यास, कायासिद्धि जैसे विषय अधिकतर मिलते हैं। फिर भी उन सबके देखने से यही प्रतीत होता है कि ये संतमत के अनुयायी थे, किंतु नाथपंथ का भी प्रभाव इनपर विशेष रूप से पड़ चुका था[१]

जंभनाथ की रचनाओं में ओंकार जप, निरंजन की उपासना, अजपाजप, गगनमंडल, पंचपुरुष, सतगुरु महिमा, सोहंजप, अमृतपान से जरा-मरण मुक्ति अनन्य भक्ति आदि का बारंबार उल्लेख हुआ है। हिंदी के अन्य संतों की रचनाओं मे भी सिद्धांत प्रतिपादन तथा साधना उपदेश के प्रसंग में यही शब्दावली सहस्रों बार

[१] उ० भा० सं० प०, पृ० ३७१।

उल्लिखित हुई है। संत जंभनाथ ने अजपाजप और निरंजन की उपासना का विशेष रूप से उपदेश दिया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय होंगी :

(१) अजपा जपो रे अवधू, अजपा जपो।
पूजो देव निरंजन थान, गगन मंडल में जोति लखाऊँ।
देवधरो वा ध्यान।
मोहन बंधन मन परबोधन, शिक्षा से ज्ञान विचारं।
पंच सादल कर एक सो राखवा, तो यों उतखा भव पारं॥

(२) ओं सबद सोहं आप, अतर जपे अजपा जाप।
सत्त सबद ले लंघे घाट, फिर न आवे जोनी याद।
परे विश्नु अम्रित रस पीवे, जरा न व्यापे जुग जुग जीवे॥
ओं विश्नु, सोहं विश्नु, तत्त सरूपी तारक विश्नु॥

(३) वही अपार सरूप तू, लहरी इंद्र धनेस।
मित्र वरुन और अरजमा, अदिति पुत्र दिनेस।
तू सरवग्य अनादि अज, रविसम करत प्रकास।
एक पाद में सकल जग, निसदिन करत निवास।
इस अपार संसार, में, किस विधि उतरूँ पार।
अनन्य भगत मैं आपका, निश्चल लेहु उबार॥

इन पंक्तियों में 'ओ३म' शब्द के जप का प्रभाव और महत्व, गगन मंडल मे निरंजन का स्थान तथा उसके विविध रूपों का वर्णन हुआ है। संक्षेप में इन्हीं सिद्धांतों और विचारों को जनता मे जंभनाथ ने प्रचारित किया था।

प्रसिद्ध है कि जंभनाथ ने स० १५८० वि० के लगभग तालवा (बीकानेर) मे समाधि लेकर अपनी जीवनलीला समाप्त की, किंतु इनके अनुयायी इस घटना को सं० १५९३ की अगहन कृष्णा ९ को लालासर गाँव के निकट होना बतलाते हैं। इनकी समाधि का स्थान 'संभराथल' नाम से अभिहित किया जाता है और यही स्थल इनकी साधना का भी स्थान समझा जाता है। यहाँ पर एक वार्षिक मेला भी होता है जिस अवसर पर सैकड़ों मन सामग्री की आहुति दी जाया करती है। इनके संप्रदाय के २९ नियमों[1] में 'हवन' को विशेष महत्व दिया गया भी मिलता है जिसे प्रति अमावस्या को संपादित किया जाता है। उसके अनुसार 'अहिंसा' को भी परम कर्तव्य माना गया है जिसके फलस्वरूप इनके यहाँ कोई

[1] संप्रदाय का 'विश्नोई' नाम भी साधारणतः, बीस और नव (२०+९=२९) के अनुसार ही, रखा गया समझा जाता है।—सं०।

'खेजड़े' वा शमी वृक्ष की हरी डाल तक नहीं काट सकता। कहते हैं, इस संप्रदाय के अनुयायियों मे से कई ने राजस्थान एवं पंजाब में, अहिंसा व्रत के उपलक्ष में, अपना बलिदान तक कर दिया है। कुछ राज्यों के अंतर्गत इन लोगों के प्रयत्नों द्वारा राजाज्ञा प्रचलित कराकर हिरण के शिकार को, स्पष्ट शब्दों मे, निषिद्ध करार दिया गया है। इस संप्रदाय का विशेष प्रचार राजस्थान के अतिरिक्त, पंजाब एवं उत्तर प्रदेश में भी है तथा इनके प्रमुख ७ तीर्थों में मुकाम, तालाव पीपासर, जांगलू, रोटू, लालसर व समराथल के नाम लिए जाते हैं और कभी कभी इनके साथ रामडाखू तथा जांगली की साथरी जैसे दो और नाम भी जोड़ दिए जाते हैं।

२. निरंजनी संप्रदाय

निरंजनी संप्रदाय का भी मूल स्रोत नाथपंथ है। साधना के क्षेत्र में यह संप्रदाय नाथपंथ एवं संतमत की मध्यवर्ती लड़ी या कड़ी कहा गया है।[1] यह एक प्राचीन धार्मिक परंपरा है जिसका प्रभाव उड़ीसा प्रांत में किसी न किसी रूप मे आज तक वर्तमान है। आचार्य क्षितिमोहन सेन का कथन है कि सर्वप्रथम इस मत का प्रचार उड़ीसा से ही प्रारंभ हुआ था[2], तदनंतर यह संप्रदाय, अपने जनप्रिय और सच्चे आदर्शों के कारण पूर्व की ओर भी प्रसारित हुआ। विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी के मध्य मे स्थापित सिलहट के कुछ पंथ निरंजनी संप्रदाय से अनुप्राणित हैं।

निरंजनी संप्रदाय का इतिहास पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं है। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी का मत है कि इस संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन थे, जो ब्रह्म के निर्गुण रूप के उपासक थे।[3] स्वामी निरंजन की जीवनी और सिद्धांतों की स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त नहीं है। पंडित परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'यदि इन निरानंद निरंजन भगवान् का जीवनकाल कहीं विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के पूर्व एवं भक्तों के विभिन्न संप्रदायों के युग में सिद्ध किया जा सके और इनकी रचनाओं तथा साधना पद्धति का पूरा पता चल सके, तो निरंजनी संप्रदाय को नाथपंथियों एवं संतों के बीच की एक लड़ी कहना भी कदाचित् संभव हो सकेगा...।'[4] निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक और संस्थापन के इतिहास का उल्लेख करते हुए दादूपंथी राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में लिखा है कि निरंजनी संप्रदाय

[1] इट (निरंजन स्कूल़) इज ए वे, मिडवे बिट्वीन द नाथ स्कूल ऐंड निर्गुन स्कूल (प्रीफेस, पेज २-३, निर्गुन स्कूल आव हिंदी पोएट्री बाइ डा० पी० डी० बड़थ्वाल)।

[2] मिडीवल मिस्टीसिज्म, बाई के० एम० सेन, पृ० ७०।

[3] 'कबीर', हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२।

[4] उ० भा० सं० प०, पृ०, ३६१।

के प्रवर्तक जगन थे। इसका विवरण और उल्लेख 'निरंजनी पंथ बरनन' शीर्षक के अंतर्गत किया गया है।[1]

राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' मे लिखा है कि यथा सगुणोपासना का प्रचार एवं प्रसार करनेवालों मे 'महंत चक्कवै' अर्थात् मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, रामानुजाचार्य तथा निंबार्क का महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसी प्रकार अगुन, अरूप, एवं अकल निरंजन ब्रह्म की उपासना का प्रचार करनेवालों में कबीरदास, नानक, दादू और जगन उल्लेखनीय हैं। इन चारों साधकों की विचारधारा का संबंध निरंजन से है :

सगुन रूप गुन नाम ध्यान उन विविध बतायौ ॥
इन इक अगुन अरूप अकल जग सकल जितायौ ॥
नूर तेज भरपूरि ज्योति तहाँ बुद्धि समाई।
निराकार पद अमिल, अमित आतमा लगाई ॥
निरलेप निरंजन भजन को संप्रदाइ थापी सुघट ॥
वै चारि महंत ज्यूँ चतुर व्यूह, त्यूँ चतुर महंत नृगुणी प्रकट ॥ ३४१ ॥
नानक सूरज रूप, भूप सारे परकासे ॥
मधवादास कबीर ऊसर सूसर बरषासे ॥
दादू चंद सरूप, अमी करि सबको पोषै ॥
विरन निरंजनी मनौ त्रिषा हरिजीव संतोषै ॥
ये चारि महंत चहूँ चक्कवै, चारि पंथ निर्गुन थपे ॥
नानक, कबीर, दादू जगन राघो परमातम जपे ॥ ३४२ ॥
रामानुज की पधित चली लक्ष्मी सूँ आई ॥
विष्णु स्वामी की पधित सुतौ संकर तै गाई ॥
मध्वाचार्य पधित, ग्यान ब्रह्मा सु विचारा ॥
नीवादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा ॥
च्यारि संपदा की पधित अवतारन सूँ ह्वै चली।
इन च्यारि महंत नृगुनीन की पधित निरंजन सूँ मिली ॥ ३४३ ॥

इस विवरण से यह भी प्रकट होता है कि निरंजनी संप्रदाय के प्रचारकों की संख्या एक दर्जन थी। इनके नाम निम्नलिखित हैं :

[1] वही, पृ० ४६२

१. लपट्यौ जगनाथदास	७. जगजीवन
२. स्यामदास	८. तुरसीदास
३. कान्हडदास	९. आनंदास
४. ध्यानदास	१०. पूरणदास
५. षेमदास	११. मोहनदास
६. नाथ	१२. हरिदास

इन उपर्युक्त साधकों का कोई विशेष परिचय राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' मे नहीं दिया है। फिर भी इनके निवासस्थान और विशेषताओं का उल्लेख अवश्य कर दिया है। राघोदास ने लिखा है कि हरिदास डीडवाणा के निवासी थे और उनकी करनी कथनी दोनों ही बड़ी उच्च थी। निर्मल वाणी से निराकार की उपासना करने के कारण वे 'निरंजनी' कहलाए। जगनाथदास थरोली के निवासी थे और संयमशील तथा नामस्मरण में निरत रहते थे। स्यामदास दत्तवास के रहनेवाले और उच्च स्थिति तक गति रखनेवाले साधक थे जिनके रोम रोम से टंकार की ध्वनि निकलती थी। कान्हडदास चाडस के रहनेवाले थे। ये बड़े त्यागी और संयमशील थे। कलाल कुल में उत्पन्न होकर भी माया मोह से दूर रहनेवाले थे। ध्यानदास का स्थान झारि था और शांत रस के उच्च कोटि के कवि थे। षेमदास का निवासस्थान सिवहाड में था। ये समदृष्टिवान् और सत्संगप्रेमी थे। नाथ टोडा मे निवास करते थे तथा सदा निरंजन के प्रेमसागर मे लीन रहते थे। जगजीवन बड़े सच्चरित्र और त्यागी थे। तुरसीदास सेरपुर के निवासी और ब्रह्मजिज्ञासु, सयंमशील तथा उच्च कोटि के योगी थे। आनंदास लिवाली मे रहते थे। ये बड़े विरक्त और इंद्रियसंयमी थे। पूरणदास मंभोर के निवासी, कबीर को अपना गुरु माननेवाले और ब्रह्म, ब्रह्मांड तथा पिंड के रहस्य को जाननेवाले थे। मोहनदास देवपुर के रहनेवाले और कबीर के समान आत्माभिव्यंजन करने मे कुशल थे।

इन साधकों मे सबसे प्रथम नाम है 'लपट्यौ जगनाथदास' का। इनके नाम का बहुत कुछ साम्य 'जगन' से है जिनका उल्लेख पूर्व प्रसंग मे हो चुका है। हो सकता है, 'लपट्यो जगनाथदास' ही निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक हों परंतु इस संबंध मे अधिक प्रमाण नहीं मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हरिदास जी, जिनका उल्लेख राघोदास ने बारहवें और अंतिम स्थान पर किया है, निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक थे। इनकी महत्ता और श्रेष्ठता का उल्लेख संत कवि सुंदरदास ने भी किया है।[1]

[1] सुं० ग्रं०, पृ० ३८५।

'सुंदर ग्रंथावली' की भूमिका में स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने हरिदास के संबंध मे लिखा है : 'ये हरिदास जी प्रथम प्रागदास के शिष्य हुए, फिर दादू के। फिर कबीर और गोरखपंथ में हो गए, फिर अपना निराला पंथ चलाया'।[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि हरिदास जी दादूपंथी प्रागदास के शिष्य थे, जिनका निधन कार्तिक कृष्ण ८, बुधवार, संवत् १६८८ को डीडवारा में हुआ तथा उनसे हरिदास निरंजनी ने, जेठ मास सं० १६५६ मे दीक्षा ली।[2] परंतु 'हरि पुरुष जी की वाणी' में हरिदास निरंजनी का साकेतवासकाल फाल्गुन सुदी ६, सं० १७०० वि० माना गया है। इसके अनुसार हरिदास का समय विक्रम की १७ वीं शताब्दी निर्धारित होता है। इधर, कुछ नवीन सामग्रियों के क्रमशः प्रकाश में आते जाने के कारण, संत हरिदास के आविर्भावकाल का कुछ पहले निश्चित होना भी अनुमान किया जाने लगा है और कई लेखक अब इस बात को असंभव नहीं समझते कि इनका जन्म सं० १५१२ रहा हो और मृत्यु सं० १६०० मे हुई हो। हरिराम जी की लिखी 'हरिदास जी की परचई' के अनुसार इन्होंने सं० १५१२ मे ही अवतार धारण किया था। सं० १५५६ की वसंत पंचमी के दिन इन्हे, स्वयं हरि ने गुरु गोरखनाथ का रूप धारण करके, ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी थी तथा सं० १६०० की फागुन सुदी ६ को इन्होने शरीरत्याग किया। इन हरिराम जी का आविर्भाव काल १८वीं शताब्दी का अंतिम चरण समझा जाता है और, इनसे कुछ परवर्ती लेखकों की रचनाओं से भी हमारी प्रवृत्ति यह मान लेने की ही ओर होने लगती है कि ये कदाचित् विक्रमी १६वीं शताब्दी के अंत तक ही वर्तमान थे। कुछ लोग इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार भी करना चाहते हैं कि एक की जगह दो हरिदासों का होना स्वीकार कर लिया जाय, किंतु यह भी सरल नहीं है। वास्तव में सत हरिदास निरंजनी के जीवनकाल का निश्चित रूप से निर्धारित किया जाना अन्य कतिपय कारणों से भी, अभी संभव नहीं दीखता किंतु यों साधारणतः देखने पर ये कुछ पुराने से ही लगते हैं।[3]

हरिदास निरंजनी की जीवनी

'हरिदास जी की परिचई' से उनकी जीवनी की रेखाएँ बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती हैं। ग्रंथकार की दृष्टि चरितनायक के चमत्कारों और अद्भुतों चरित्र पर अधिक

[1] वही, प्रथम खंड, पृ० ९२।
[2] उ० भा० सं० प०, पृ० ४६४।
[3] श्री म० ह० वा०, प्रस्तावना तथा भूमिका।

रही है। इस ग्रंथ में लेखक ने चरितनायक की जन्मतिथि, जाति, जन्मस्थान, बाल्यावस्था, शिक्षा, विवाहित जीवन, वेशभूषा आदि प्रसंगों पर अपने विचारों को नहीं प्रकट किया है।

'परिचई' लेखक के अनुसार हरिदास जी डीडवाणा के निवासी थे। जैसे,

प्रथम डीडपुर प्रकटे आई। वृषचमाल गृह भक्ति रहाई।[1]

और उपर्युक्त उद्धरण में इन्हें वृषचमाल परिवार मे उत्पन्न लिखा गया है। 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में इन्हें क्षत्रिय जाति के साँखला गोत्र में उत्पन्न माना गया है। 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में इनका पूर्वनाम हरिसिंह बताया गया है। गोरखनाथ हरिदास जी के गुरु थे। 'परिचई' मे स्पष्ट रूप से ग्रंथकार ने इस संबंध में लिखा है कि 'गोरष ग्यान गह्यौ मन भायौ[2]'। पुरोहित हरिनारायण जी ने 'सुंदर-ग्रंथावली' की भूमिका मे लिखा है : हरिदास जी प्रथम प्रागदास के शिष्य हुए, फिर दादू के, फिर कबीर के और गोरखपंथ मे हो गए[3]। परंतु 'परिचई' में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। 'परिचई' लेखक का मत अधिक प्रामाणिक है। 'श्रीहरिपुरुष की वाणी' में उल्लेख है कि ४५ वर्ष की अवस्था तक हरिदास जी ने गार्हस्थ जीवन व्यतीत किया था। परिचई लेखक का ध्यान संभवतः इधर नहीं गया। हरिदास जी भ्रमणशील व्यक्ति थे। ये डूँगर, डीडपुर, नागपुर, अजमेर, नाथद्वाडा, नैडे, तोडा, अंबेर, जयपुर, सिघौरा आदि स्थानों का भ्रमण कर आए थे। हरिदास जी का महाप्रस्थानकाल 'परिचई' में निम्नलिखित शब्दों में दिया हुआ है :

संवत सौलै सै जु सई का। रूति बसंत अनंद लई का।
फागुन सुदि षष्टमी जामा। जन हरिदास हरि माँहि समाँना ॥[4]

'श्री हरिपुरुष की वाणी' मे हरिदास के शिष्यों का भी उल्लेख मिलता है।

हरिदास की परंपरा मे एक दर्जन शिष्य तथा अनेक प्रशिष्य हुए। शिष्यों की सूची निम्नलिखित है :

१. स्वामी हरिदास	५. सीतलदास
२. नारायणदास	६. लक्ष्मणदास
३. हरीराम	७. गंगादास
४. रूपदास	८. नरसिंहदास

१. प० सा०, चतुर्थ परिच्छेद।
२. वही।
३. सुं० ग्रं०, पृ० ६२।
४. प० सा०, चतुर्थ परिच्छेद।

९. बलरामदास
१०. मनाछाराम
११. किसनदास
१२. आशाराम
१३. पीतांबरदास

मारवाड़ में इनके कई एक मठ और गद्दियाँ हैं। डीडवाणा में प्रमुख मठ है जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है।

हरिदास के नाम पर कई एक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी के मत से हरिदास निरंजनी ने ९ ग्रंथों की रचना की थी :

१. अष्टपदी जोग ग्रंथ
२. ब्रह्मस्तुति
३. हरिदास ग्रंथमाला
४. हंसप्रबोध ग्रंथ
५. निरपख मूल ग्रंथ
६. राजगुड
७. पूजा जोग ग्रंथ
८. समाधि जोग ग्रंथ
९. संग्राम जोग ग्रंथ[1]

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को हरिदास निरंजनी के दो और ग्रंथ मिले। ये हैं उनके साखी और पदों के संग्रह। चतुर्वेदी जी का मत है कि 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में ये सभी रचनाएँ संगृहीत हैं।[2]

हरिदास निरंजनी के अनंतर निरंजनी सप्रदाय के प्रसिद्ध साधकों और कुशल कवियों में निपटनिरंजन स्वामी का नाम आता है। 'सरोज' रचयिता शिवसिंह के मत से ये गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। इनका जन्मसंवत् १६५० वि० है। सेंगर जी के अनुसार ये महान् सिद्ध और 'शात सरसी' तथा 'निरंजन संग्रह' नामक ग्रंथों के रचयिता थे।[3] डा० रामकुमार वर्मा के मत से इनका जन्म सं० १५९६ वि० है।[4] कहा जाता है, ये गौड़ ब्राह्मण और दौलताबाद के निवासी थे।[5] ये अधिकतर काशी में रहते थे और निर्भीक, स्पष्टवादी तथा अक्खड़ थे। इनकी काव्यशक्ति और काव्यविषय से परिचय कराने के लिये यहाँ पर कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

१ यो० प्र०, पृ० ३६
२ उ० भा० सं० प०, पृ० ४३७
३ शि० सि० सं०, पृ० ४३८
४ हिं० सा इ० ७ पृ० ७१८
५ स० मा०, पृ० २६१-३

पवन का बतावे तोल, सूरज का करे हिंडोल
पिरथी करे मोल, ऐसा कौन नर है।
पत्थर का काते सूत, बाझ का पढ़ावे पूत
घट का बुलावे भूत, वाको कौन घर है।
ध्रू को चलावे राह, बिजली संग करे वियाह,
सागर का ले आवे थाह सबको जाका डर है।
कौन दिन कौन रात, कौन वाको तात मात।
निपट निरंजन कहै बात, जो बतावे गुरु है।[1]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि निपट निरंजन न केवल उच्च कोटि के विचारक थे वरन् वे अच्छे कवि भी थे। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। भाषा, काव्य और अभिव्यक्ति का रूप उनके व्यक्तित्व के अनुकूल ही बड़ा सरल और सुंदर था।

निपटनिरंजन स्वामी के अनंतर भगवानदास निरंजनी का उल्लेख होता है। ये वारवल विहटा क्षेत्रवाह के निवासी और अर्जुनदास के शिष्य थे। ये संवत् १७२२ के लगभग जीवित और वर्तमान थे। इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथ हैं :

१. अमृतधारा ग्रंथ (र०का० सं० १७४३)
२. कार्तिक-माहात्म्य कथा।
३. गीता-माहात्म्य-कथा
४. जैमिनी अश्वमेध र० का० स० १७४१
५. अध्यात्म रामायण (पद्यानुवाद)
६. वैराग्यवृंद (भर्तृहरि शतक) र० का० सं० १७३०
७. पंचीकरण मनोरथ मंजरी
८. प्रेमपदार्थ

पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि इन्होंने भर्तृहरि शतक का पद्यानुवाद भी किया था।[2] इनके ग्रंथ 'अमृतधारा' का रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ३, संवत् १७२८ तथा 'गीतामाहात्म्य' का रचनाकाल सं० १७४० है। इनकी रचनाओं का प्रमुख विषय दार्शनिक है और इन्होंने विविध छंदों के प्रयोग किए हैं।

तुलसीदास निरंजनी, इस संप्रदाय के सबसे बड़े साधक, विचारक और कवि थे। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में तुरसीदास बड़े विद्वान् थे। इन्होंने अपनी साखियों के विभिन्न प्रकरणों मे ज्ञान, भक्ति और योग का विस्तृत तथा सुगठित

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० ४६७ ४६८।
[2] वही, पृ० ४६८।

वर्णन किया है। ये निरंजनपंथ के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक, आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजनपंथ के लिये तुरसीदास ने वही काम किया जो दादूपंथ के लिये सुंदरदास ने। राघोदास ने इनकी वाणियों के विषय मे कहा है 'तुरसी जु वाणी नीकी ल्याए हैं।'[1] इसी प्रकार राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में तुरसीदास की बड़ी प्रशंसा की है।

तुरसीदास का निवासस्थान शेरपुर था। डा० बड़थ्वाल के अनुसार ये गोस्वामी तुलसीदास जी के ही समकालीन थे। नागरीप्रचारिणी सभा की खोज मे तुरसीदास की वाणी की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख हुआ है जिसमे एक 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी संमिलित है। 'इतिहास समुच्चय' के अंत मे लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि० सं० १७४५ (१६८८ ई०) मे ऊधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य किसी तुरसीदास ने की थी। यदि यह प्रति तुरसी ही के हाथ की लिखी है, और ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसका तुरसी का लिखा होना अप्रमाणित हो, तो हमे तुरसी का समय मिल जाता है।...उनका संवत् १७४५ वि० मे 'महाभारत' के एक अंश की प्रतिलिपि करना असंभव नहीं। इस प्रकार ये तुरसी, प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटे, किंतु समसामयिक ठहरते हैं।'[2]

तुरसीदास बड़े समर्थ विचारक तथा कवि थे। उन्होंने विस्तृत रचना की है। डा० बड़थ्वाल के ज्ञान और संग्रह मे आई हुई इनकी विपुल वाणियों का विस्तार इस प्रकार है :

१. साखी ४२०२
२. पद ४६१
३. लघु रचनाएँ ४
४. श्लोक और शब्दों का संग्रह

छोटे ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है :

(क) ग्रंथ चौअक्षरी
(ख) करणी सारजोग
(ग) साध सुलच्छिन ग्रंथ तथा
(घ) ग्रंथ तत्व गुणभेद[3]

मिश्रबंधु के अनुसार तुरसीदास ने सात ग्रंथों की रचना की थी :

[1] यो० प्र० पृ० ३८।
[2] वही, पृ०, ३८,३६।
[3] वही, पृ० ३७।

१. नयनाभक्ति
२. अष्टांगयोग
३. वेदांत ग्रंथ
४. चौअत्तरी
५. करनी सार जोग ग्रंथ
६. साधुसुलक्षण
७. तत्वगुन भेद ग्रंथ

निर्गुणियों की भाँति निरंजनी कवियों ने भी राम नाम की साधना का उपदेश दिया है। निरंजनियों के ब्रह्म कबीर के राम से साम्य रखते हैं। निम्नलिखित उद्धरण से संत तुरसीदास की ब्रह्मविषयक धारणा स्पष्ट हो जाती है :

संतो सो है राम हमारा रे।
नाद बिवरजित विंद बिवरजित, नहि तस वार न पारा रे॥
सकल वियापी सब ते न्यारा, सबका सिरजन हारा रे।
सब दुष षंडन सब भव भंजन, तेज पुंज निरकारा रे॥
सब सुष सागर सब सुषदाता, सकल सरोवनि सारा रे।
सब गुन रहित अकुल अविनासी, तरुन बिरध नहि बारा रे॥
ब्रह्मा विष्णु, महादेव नारद, सबही करहि विचारा रे।
पार न पावै अगम बतावै, नावै लेह एक तारा रे॥
आवै न जाय मरे नहि जनमै, अविगति अलष अपारा रे।
जन तुलसी जैसा राम हमारा, ताहि सुमरै बारूबारा रे॥[1]

तुरसीदास का मत है कि वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म के आधार पर है। संन्यासी या योगी इन सबसे ऊपर है :

करमन्हि ब्राह्मण करमन्हि क्षत्रिय, करमहि वैस सूद्र फुनि कियं।
तुरसी ये कर्मी के नांव, निहकर्मी के नांव न गांव॥[2]

तुरसीदास ने भी कबीर तथा अन्य संतो की भाँति वाह्याचारों की निंदा की है। उदाहरणार्थ :

कन्या क्वारी गुडियन संग, तावत षेलै करि करि रंग।
तुरसी जावत् पतिहि न पावै, पति पावै तव तिनहि बहावै॥[3]

अर्थात् साधना की प्रारंभिक अवस्था मे जप, माला, तिलकादि भले ही शोभा दें पर सिद्धावस्था में नहीं शोभते हैं। तुरसीदास का मत है कि यथा संसार में सर्वत्र ब्रह्म रम रहा है वैसे ही मूर्ति में भी उसका वास है। अतः तुरसी उदार हृदय से कहते हैं :

१ तु० दा० नि०, पृ० १५।
२ वही, पृ० १६।
३ वही, पृ० १७।

मूर्ति में अमूरति बसै, अमल आतमाराम।
तुरसी भरम बिसारि कै, ताही को लै नाम ॥[१]

तुरसीदास भी प्रेमाभक्ति के उपदेशक हैं। वे कहते हैं :

तुरसी गए पिसन फिरि नाए। जिमि पक तरवर पात न साए।
अति गति तन मन सुधि थिरभया। प्रेमभक्ति सूँ पावन भया ॥[२]

कबीर की भाँति तुरसीदास भी कोरे ज्ञान को निःसार मानते हैं। ज्ञान वही है जो ब्रह्म के रंग मे अनुरंजित हो :

कहा विविध व्याकरण पढ़े रे, का पढ़े वेद पुरान।
तन मन कौ मल ना मिटे, बिना भजे भगवान ॥[३]

तुरसीदास ने बड़े सुंदर तर्कों के आधार पर निर्गुन ब्रह्मोपासना का उपदेश दिया है :

निरगुन सरगुन रूप द्वै, बरने वेदन माँहि।
तुरसी निरगुन मूर है, सरगुन डारी आँहि ॥
सबही तरवर तृपति होय, करत मूल जब पोष।
तुरसी यू निरगुन भजत, सरगुन हूँ होय संतोष ॥[४]

तुरसीदास ने भी अन्य सतो के समान अंतस्साधना को अधिक महत्व प्रदान किया है :

तुरसी यह मंदिर यह देहरा, यह तन मोहि सुधाम।
याही माँझि विराजती, अमल आतमाराम।
जोय जु दीपक ज्ञान को, अनहद घंट बजाय।
आनंद सूँ करो आरती, उलटि अभि अंतर आय।[५]

निरंजनी संप्रदाय के कवियों और साधकों मे तुरसीदास के अनंतर सेवादास[६]

[१] वही, पृ० १७।
[२] वही, पृ० १६।
[३] वही, पृ० २६।
[४] वही, पृ० २८।
[५] वही, पृ० २६।
[६] इनके पोता शिष्य रूपदास ने इनके जन्मकाल के विषय में लिखा है :
सोलह सौ सत्तारणवे चैत सुदी नौमी दिन। तादिन वाजे वाजिये, प्रगटे सेवाजन ॥
—दे० श्री म० हा० पा० बा०, पृ० १०३, उत्तरखंड।—सं०।

का नाम बड़े समादर से लिया जाता है। इनकी रचनाएँ भी तुरसीदास की भाँति विपुल एवं अनेक विषयों का स्पर्श करनेवाली थीं। इन्होंने निरंजनी संप्रदाय के चिंतन और साधनात्मक पक्ष को बड़ा बल दिया। 'सेवादास की परिचई' मे इनके चमत्कारों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। जन्मस्थान, जन्मकाल आदि विषयों पर कवि मौन है। 'परिचई' से हमे जो कुछ सूचना मिलती है, वह यह है कि सेवादास भ्रमणशील, उदार, मनस्वी, परोपकारी और श्रेष्ठ भक्त थे। इनका देहावसानकाल का 'परचई' मे निम्नलिखित शब्दों मे उल्लेख है :

संवत सतरासै अठाणवै। वदी परीवा जेष्ठ मास।
जनसेवा सुलझि सिधाइया। किया ब्रह्म में वास ॥[1]

सेवादास ने तुरसी के सदृश विस्तृत रचना की। डा० बड़थ्वाल के संग्रह मे आई हुई रचनाओं मे निम्नलिखित हैं :

(१) ३५६१ साखी
(२) ४०२ पद
(३) ३६६ कुंडलियाँ
(४) १० लघु ग्रंथ
(५) ४४ रेखता
(६) २० कवित्त तथा
(७) ४ सवैए।[2]

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट मे सेवादास की निम्नलिखित पुस्तकों की सूचना दी गई है :

१. आत्मज्ञान	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
२. किवत	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
३. कुंडलिया	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
४. गुरु मंत्र जोग ग्रंथ	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
५. गुरमहिमा जोग ग्रंथ	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
६. चंद्राइण	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
७. चितावणी जोग ग्रंथ	लिपिकाल सं० १८५५ वि०
८. तत निर्णय	लिपिकाल सं० १८५५ वि०

[1] प० सा०।
[2] यो० प्र०, पृ० ४०।

९. तिथि जोग ग्रंथ,, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१०. नॉव महमा जोग ग्रंथ, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
११. परब्रह्म की बारहमासी, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१२. बावनी जोगग्रंथ, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१३. परमार्थ रमैनी
१४. वंदना जोग ग्रंथ, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१५. सयतवार जोग ग्रंथ, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१६. पद, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१७. रेखता, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१८. साखी, लिपिकाल सं० १८५५ वि०
१९. सवइया, लिपिकाल स० १८५५ वि०
२०. सेवादास की वानी, लिपिकाल सं० १८५५ वि०

इन साखी, पदों, कुंडलियों, कवित्तों और सवैयों से उच्च कोटि की अनुभूति और ज्ञान की बहुलता का आभास मिलता है। सेवादास उच्च कोटि के कवि थे। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। एक ही विषय पर कवि ने अनेक प्रकार के छंदों की रचना की है, फिर भी उनमे नवीनता बनी हुई है। इससे कवि के काव्य-रचना-कौशल और सामर्थ्य का ज्ञान होता है।

सेवादास के अनंतर मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी अच्छे साधक और कवि थे। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में ये तीनों बड़े अच्छे कवि थे और अध्यात्ममार्ग मे उनकी बड़ी पहुँच थी। तीनों महंत थे—मोहनदास देवपुरा के, कान्हड़ चाटसू के और खेमदास शिवहड़ी के।[१] कान्हड़दास इतने बड़े संत थे कि राघोदास उन्हे अंशावतार समझते थे। राघोदास के कथनानुसार कान्हड़दास इद्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके थे। वे केवल भिक्षा मे मिले अन्न ही का भोजन करते थे। यद्यपि उनको बड़ी सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त थी, तथापि उन्होंने अपने लिये एक मढ़ी तक न बनवाई। वे अतिभजनीक थे और राघोदास का कहना है कि उन्होंने अपनी 'संगति के सब ही निसतारे' थे (पृ० १४०)। ये तीनों—मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी निश्चय ही राघोदास (वि० सं० १७७०-१८१८ ई०) से पहले हुए हैं।[२]

इधर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ऐसा अनुमान किया गया है कि मोहनदास के जीवनकाल की सीमा विक्रम की १६वीं शती के उत्तरार्ध एवं उसकी १७वीं के पूर्वार्धवाली अवधि के भीतर किसी समय ठहराई जा सकती है। इनके

[१] यो० प्र०, पृ० ३९।
[२] वही, पृ० ४०।

अनंतर प्रचलित किसी परंपरा का डीडवाणे में पाया जाना भी बतलाया गया है और कहा गया है कि किसी भाट की बही में इनके देहांत का सं० १६०६ में होना लिखा मिलता है। इनकी रचनाओं में अभी तक इनकी लगभग १००० साखियों, ६० चांद्रायणों, ८ रेखतों, ५ सबदों एवं ५ आरतियों का पता चल सका है।[1] इसी प्रकार षेमजी अथवा षेमदास के विषय मे कहा जाता है कि ये वास्तव में षेमदास 'हजूरी' रहे होंगे, जिन्हें इस विशेषण के साथ संबोधित करने के कारण, एक अन्य षेमदास को 'छोटे' या 'खाटरे' कहा जाता है। इनका प्रमुख क्षेत्र सिवाड़ था, किंतु ये बराबर संत हरिदास जी के सांनिध्य मे ही रहा करते थे और उनके ५२ शिष्यों मे भी थे। अपने उन गुरुदेव की समाधि के पास इनका 'झरोखा' बना हुआ है। कहते हैं, संप्रदाय के साधुओं में से सबसे अधिक संख्या इन्हींवाली परंपरा के लोगों की पाई जाती है तथा इनकी ही छठी पीढ़ी में प्रसिद्ध महाराज अमरपुरुष जी हुए जिनके द्वारा निरंजनी मत का विशेष प्रचार हुआ। उक्त भाट की बही मे इनके स्वर्गारोहण का संवत् १६१२ की जेठ सुदी ६ को होना भी लिखा पाया जाता है, किंतु इनकी रचनाओं में केवल चितावणी, विरागलछी एवं एक पद ही मिलते हैं।[2] संत हरिदास जी के अन्य ऐसे शिष्यों जगजीवनदास, नरीदास, कल्याणदास तथा पींपाजी वा पीपादास के भी नाम लिए जा सकते हैं। इनमे से जगजीवनदास-वाले थांवे की परंपरा आज भी 'जगजीवण पंथ' के नाम से प्रचलित है। इनकी उपलब्ध रचनाओं मे से २ लघुग्रंथ चितावणी तथा प्रेमनामा नामों से प्रसिद्ध है जिनमे से प्रथम के अंतर्गत ४० साषियाँ मिलती हैं तथा दूसरे मे ५६ साषियाँ और लगभग ६० पद पाए जाते हैं।[3] नरीदास ने अपना आवास सीकर जिले के किसी फतेहपुर नामक स्थान मे किया था जहाँपर इस समय इनकी समाधि मे वर्तमान है। इनकी भी परंपरा प्रचलित है किंतु इनकी रचनाओं का जो संग्रह फतेहपुर मिलता है वह अपूर्ण बतलाया जाता है। इनके प्रायः १२०० पद मिलते हैं जो १६ भागों में विभक्त कहे जाते हैं और जिनमें से अंतिम रागमारू है। किंतु इनकी कोई साषियाँ नहीं मिलतीं।[4] पीपाजी वा पींपादास के विषय मे जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध है कि इनका जन्म सं० १५६५ में आमेर नगर के किसी 'छीपा' दरजी के घर हुआ था। इनके पिता का नाम सेवाराम तथा इनकी माता का नाम भाना (भानुमति) बतलाए गए हैं और इनका अपना पूर्वनाम परमानंद कहा गया है। ये

१ दे० श्री म० ह० दा० वा० (उत्तर खंड), पृ० ६१।
२ वही, पृ० ६६।
३ वही, पृ० २६-७।
४ वही, पृ० ७५।

साधना के पश्चात् नागोर में रहने लगे थे जहाँ छीपावाड़ी मुहल्ले में इनका स्थल बना हुआ है। इनकी रचनाओं मे से भी केवल चितावणी, कतिपय फुटकल साखियाँ तथा १० पद अभी तक मिल सके हैं।[1] इनकी संगृहीत रचनाओं में से कुछ को हम संत कबीर के समकालीन प्रसिद्ध भक्त पीपा जी द्वारा रचित कहलाकर उपलब्ध बानियों के अंतर्गत भी प्रायः ठीक एक ही रूपों में पाते हैं जिस कारण ऐसी कृतियों के वास्तविक रचयिता का पता लगाना एक महत्वपूर्ण शोध कार्य का विषय बन सकता है। उदाहरण के लिये इनका 'कायागढ खोजता मैं नौ निधि पाई' से आरंभ होनेवाला पद[2] 'गुरु ग्रंथ साहब' के अंतर्गत संगृहीत भक्त पीपा जी वाले राग धनासरी के पद से मिलता जुलता है[3] तथा, इसी प्रकार, इनका 'मन रे कहा भूल्यो मतिहीना' से आरंभ होनेवाला पद भी[4] उन्हीं के नाम से बतलाए जानेवाले और अन्यत्र[5] प्रकाशित पद से समानता रखता है। इनकी उक्त 'चितावणी' वा 'चिंतामणि योग'[6] नामक रचना भी भक्त पीपाजी द्वारा रचित कही जानेवाली उस कृति से भिन्न नहीं जान पड़ती जो अन्यत्र प्रकाशित है[7]। उपर्युक्त कल्याणदास के संबंध में अधिक विदित नहीं है और न इनकी कोई परंपरा ही आज तक प्रचलित है। इनकी रचनाओं वाले दो हस्तलेखों मे से एक का लेखनकाल १८३० दिया गया है तथा दूसरे का १८२६ है जिनके आधार पर इनकी साखियों की संख्या ६२०, लघु ग्रंथों की १० तथा पदों की २१२ बतलाई गई है[8], किंतु इनसे यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि ये केवल इतनी ही रही होंगी। ध्यानदास जी के लिये कहा जाता है कि ये भी 'संत हरिदास जी के शिष्यों वा समकालीन साथियों में ही थे' और इनके स्थान का 'सामोद' होना तथा इनका किसी रामदास के साथ भिक्षा-वृत्ति के आधार पर जीवनयापन करना भी बतलाया गया है। इनके केवल दो लघुग्रंथ 'गुणमाया संवाद' एवं 'गुणादिबोध' नामों से उपलब्ध हैं और १०० से

[1] वही, पृ० ७६।
[2] श्री म० ह० दा० वा० (उत्तरखंड) के पृ० ८४ पर उधृत।
[3] गु० ग्रं० सा० रागधनासरी रागु पद १।
[4] श्री म० ह० दा० वा०, (उत्तरखंड) के पृ० ८५ पर उधृत।
[5] ज० सं० वा०, पृ० ७३।
[6] श्री म० ह० दा० वा० (उत्तरखंड) पृ० ८१४ पर उधृत।
[7] सं० वा० (पत्रिका) आरा, वर्ष ६, अंक ७ और ६।
[8] म० ह० दा० वा (उत्तर खण्ड) पृ० ८८-६।

अधिक चांद्रायण एवं पद तथा साषियाँ भी मिली हैं। इसी प्रकार एक अन्य ऐसे ही निरंजनी संत प्रेमदास जी की भी केवल एक 'सिद्ध वंदना' नामक रचना मिली है[1] जिसके अंतर्गत अनेक नाथ सिद्धों को नमस्कार किया गया है। इनके जीवनकाल के विषय मे भी अनुमान किया गया है कि वह १६वीं शती के अंतिम चरण या १७वीं के पूर्वार्ध मे कभी रहा होगा।[2]

मनोहरदास निरंजनी ने 'षट्प्रश्नोत्तरी', 'शत प्रश्नोत्तरी', 'सप्तभूमिका,' 'ज्ञान-मंजरी', 'ज्ञान वचन चूर्णिका' तथा 'वेदांत परिभाषा' आदि ग्रंथों की रचना की है। 'ज्ञान मंजरी' की रचना संवत् १७१६ मे हुई, जैसा निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है :

संवत् सत्रह सै माही वर्ष सोरहे माही।
वैशाख मासे शुक्ल पक्ष तिथि पूनो है ताही॥[3]

वेदांत परिभाषा की रचना भी इसी समय के आस पास सं० १७१७ मे हुई।[4] वेदांत परिभाषा 'पद्यानुवाद' ग्रंथ है और ज्ञान मंजरी भी पद्य मे ही है, किंतु शेष चार को हम गद्यपद्यात्मक भी कह सकते हैं। इन मनोहरदास की प्राप्त रचनाओं को प्रौढ़ दार्शनिक वा वेदांत विषयक ग्रंथ कहा जाता है। इनका निधन १८वीं शती मे हुआ होगा। निरंजनी संप्रदाय के इन सब कवियों ने अपनी अपनी सत्यानुभूति को बड़े स्वाभाविक और सौंदर्यसंपन्न गीतों में अभिव्यंजित किया है। इनकी बानियाँ इस बात की पोषक हैं कि ये साधना की चरम सीमा पर पहुँचकर आत्मदर्शन कर चुके थे। इनके गीत चित्ताकर्षक और प्रभावशाली हैं।

निरंजनी संप्रदाय के कवियों ने गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद तथा कबीरदास आदि संतों के प्रति बड़ी आस्था प्रकट की है। इन सबमे से गोरखनाथ के प्रति इन्होंने बड़ी श्रद्धा प्रदर्शित की है। इनके मत से गोरखनाथ की गति मति सुर-नर-मुनियो की पहुँच से परे थी। माया 'भरम' की उपेक्षा करके, गगनमंडल मे प्रवेश कर सदैव महारसपान मे संलग्न रहते थे।[5] कबीर साहब की दृढ़ मति, निर्भीकता, समदृष्टि और स्पष्टवादिता ने इन्हें अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। इन निरंजनी कवियो ने, कबीर के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए, कहा है कि कबीर

[1] वही, पृ० ४७।
[2] वही, पृ० १४४।
[3] यो० प्र०, पृ० ४२।
[4] वही, पृ० ४२।
[5] श्री ह० पु० वा०, पद १२, पृ० ३०५।

राम के रंग मे पूर्णतया अनुरंजित, सभी वर्णों से उच्च, इंद्रियजित्, निःशंक और करनी कथनी में सामंजस्य रखनेवाले थे।[1] कबीर ने इनकी दृष्टि में संसार में पद्मपत्रमिवाम्भसः जीवन व्यतीत किया और हरि में सर्वथा-तथा सर्वदा पगे रहनेवाले थे।[2] इस प्रकार इन संतों के अतिरिक्त नाभादास, रैदास, पीपा आदि संतों की भी इन्होंने बड़ी प्रशंसा की है :

नाथ निरंजन देखि अंति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचंद सहज सिधि नवनिधि पाई॥
नाभैदास कबीर राम भजतां रस पीया।
पीयै जन रैदास बड़े छकि लाहा लीया॥
अनभै वस्त्र विचारिकै जन हरिदास लागा तिहीं।
राम विमुख दुबध्या करैं, ते निरवल पहुँचे नहीं॥[3]

उलटा मार्ग

संत हरिदास तथा निरंजनी संप्रदाय के अन्य कवियों ने उलटी रीति या उलटे मार्ग का अनुसरण और पालन करने का बहुत उपदेश दिया है। इसका मुख्य सिद्धांत है बहिर्मुखी क्रियाओं, साधनाओं और वृत्तियों को अंतर्मुखी कर लेना। दूसरे शब्दों मे अंतस्साधना का प्रचार और उपदेश इन कवियों ने किया है। कछुए की भाँति साधक को अपनी बहिर्मुखी प्रतिभा और वृत्ति को अंतर्मुखी करके उसी अंतस् मे रम जाना चाहिए। इन कवियों ने निरंतर यही उपदेश दिया है कि सत्य के शोधक को उलटे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए अथवा उलटी नदी बहाना चाहिए। सेवादास ने भी कहा है कि

सहजि सहजि सब जाहिगा गुण यंद्री बाणि।
तू उलटा गोता मारि करि अंतरि अलख विछाडि॥[4]

इसीलिये हरिदास ने भी उलटी नदी बहाने का आग्रह किया है।[5] निरंजनी साधकों की 'उलटी रीति वा उलटामार्ग' का आधार है निर्गुणियों का योगमार्ग। डा० बड़थ्वाल का कथन है कि निर्गुणियों की समस्त साधनापद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिंगला के मध्य स्थित सुषुम्णा को जागरित

[1] वही, पद ८, पृ० ३०२, ३०४।
[2] वही, साखी १७, पृ० १८३।
[3] श्री ह० पु० वा०, पृ० ३१४।
[4] यो० प्र० पृ० ४३।
[5] उलटी नदी चलाएगे, वही, पृ० ४२।

कर अनाहत नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा वंक नालि के द्वारा शून्य मंडल में अमृत का पान करना। जो सायं की डोरी[४] उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण मे प्रेम और योग का पूर्ण समन्वय है। साधक को उसमे अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी अभ्यास का भी विधान है, जो 'गोरखपद्धति' तथा 'गीता' वाली भ्रूमध्य दृष्टि के सदृश है। इस साधनापद्धति पर, जिसमे सुरति अर्थात् अंतर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास निश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है, निरंजनियों ने बार बार जोर दिया है।[१]

ब्रह्म

निरंजनियों का ब्रह्म निर्गुणियों के राम से बहुत साम्य रखता है। संत हरिदास ब्रह्मविषयक अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है; वह सदा एकरस बना हुआ वर्तमान रहता है। वह आकाश की भाँति अनंत और सर्वव्यापी है। जैसे जलती हुई लकड़ी से अग्नि को टुकड़े टुकड़े कर देने पर पृथक् नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार ब्रह्म को संसार से पृथक् नहीं किया जा सकता है। उस परमतत्व की रूपरेखा नहीं है। वह निरंतर और सर्वत्र विद्यमान रहनेवाला है। वह अगम्य और निराकार है। वह नित्य और अचल है। वह सभी सुखों का सागर है। वह घट घट में रमनेवाला है। वह अविनाशी और अनिर्वचनीय है।[२] वह न अवतारों में बँधता है और न रूप ग्रहण करता है।[३] तुरसीदास निरंजनी अपने मन की बात निम्नलिखित शब्दों में कहते हैं :

तुरसी निर्गुन ब्रह्म सूँ, मो मन मानत सोय।
सरगुन सूँ रुचि ना परै, कोटि करौ किन कोय ॥[४]

यह निर्गुण ब्रह्म तिल में तेल या पुष्प में सुगंध की भाँति सर्वत्र विद्यमान है।

तुरसी ज्यू पुहुपन में सुवासना, तिल में तेल प्रमानि।
ऐसे नष सष तन नही, व्यापक आत्मा जानि ॥[५]

१ यो० प्र०, पृ० ४३-४४।
२ उ० भा० सं० प०, पृ० ४७२।
३ श्री ह० पु० वा०, पृ० २८८।
४ तु० दा० नि०, पृ० ५६।
५ वही, पृ० ५३।

ब्रह्म देवालयों और मंदिरों की सीमा से परे सर्वत्र व्याप्त है। हरिदास जी इस भाव पर जोर देते हुए कहते हैं :

नहिं देवल स्यूं वैरता, नहिं देवल स्यौ प्रीति।
क्रितम तजि गोविंद भजौ, यह साधा की रीति ॥[1]

३. संत सींगा जी की परंपरा

संत सींगा जी का जन्म, वैशाख सुदो ११, गुरुवार, सं० १५७६ को, मध्यभारत की रियासत बडवानी के खजूरगॉव या खजूरी[2] (दयालपुरा) में, ग्वाल जाति के भीमागौली की पत्नी गौरबाई के गर्भ से, हुआ। जब सींगा जी पॉच छह वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुए तो इनके पिता अपनी समस्त चल सपत्ति और तीन सौ भैंसों को लेकर खजूरी से निमाड़ जिले के हरसूद नामक ग्राम को चले गए और वहीं बस गए। हरसूद ग्राम मे रहकर इनके पिता ने अपने पुत्र पुत्रियों का विवाह आदि संस्कार संपन्न किया। हरसूद मे रहते हुए ही सींगा जी संवत् १५९८ मे २१ वर्ष की अवस्था में रावसाहब लखमसिंग (भामगढ, निमाड) के यहॉ चिट्ठीपत्री पहुँचाने के काम में, एक रुपया मासिक वेतन पर नौकर हो गए। कालांतर मे नौकरी से जब अवकाश ग्रहण किया उस समय इनका वेतन साढे तीन रुपया मासिक था। कहा जाता है, इनकी ईमानदारी और सच्चाई के कारण रावसाहब इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे तथा इन्हे वे पॉंचों हथियार बॉधकर और घोड़ी पर सवार होकर चलने की छूट भी दे दिया करते थे।

बाल्यावस्था से ही सींगा जी संसार से विरक्त रहा करते थे। एक बार हरसूद से भामगढ मार्ग पर ये घोड़ी पर सवार अपनी ड्यूटी पर जा रहे थे। मार्ग मे भैसॉंवा ग्राम के महाराज ब्रह्मगीर के शिष्य मनरंगीर भजन गा रहे थे :

समुझि ले ओरे मना भाई, अंत न होय कोई अपणा।
यही माया के 'फंदे में, तर आन भुलाणा ॥

भजन की उपर्युक्त पंक्तियों ने सींगा जी के मर्म को आहत कर दिया। 'अंत न कोई अपणा' शब्दों ने संसार की निःसारता प्रत्यक्ष रूप से उनके हृदय में अंकित कर दिया। ये उसी समय घोड़ी से उतर पड़े और इन्होंने मनरंगीर के चरणों में गिरकर आत्मसमर्पण कर दिया और अपना आध्यात्मिक पथप्रदर्शक स्वीकार कर

[1] यो० प्र०, पृ० ४७।
[2] यह स्थान, आजकल की व्यवस्था के अनुसार, मध्य प्रदेश राज्य के पूर्वी निमाड़ क्षेत्र के अंतर्गत, वर्तमान कहला सकता है।—सं०

लिया तदनंतर भामगढ़ आकर इन्होंने राज्य की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पिपल्या के जंगलों की ओर चले गए। पिपल्या के जंगलों के एकात वातावरण में रहकर इन्होंने निर्गुण ब्रह्म की साधना बड़ी तत्परता और एकाग्रता के साथ की। यहीं रहकर इन्होंने योग की साधना करते हुए अनहद के नाद से संबंधित प्रायः आठ सौ भजनों की रचना की।

सींगा जी परम साधक और उच्च कोटि के विचारक थे। इनके पदों और भजनों से स्पष्ट हो जाता है कि ये अंतस्साधना को ही सच्ची साधना समझते थे। परमतत्व को कहीं बाहर खोजने के लिये मंदिर, मसजिद और तीर्थों मे जाने की आवश्यकता नहीं है। उसके दर्शन गंगा, यमुना और त्रिवेणी आदि सरिताओं मे स्नान करने से नहीं होते है वरन् वह तो हृदय मे ही विद्यमान है। जब वस्तु घर में ही विद्यमान है तो उसे बाहर खोजने में कौन श्रेय है। ब्रह्म निर्गुण रूप में निराकार होकर हमारे हृदय मे विद्यमान है :

जल विच कमल, कमल विच कलियाँ, जहँ वासुदेव अविनाशी।
घट में गंगा, घट में जमुना, नहीं द्वारिका काशी॥
घर वस्तू बाहर क्यों ढूंढो, बन बन फिरा उदासी।
कहै जन सिंगा, सुनो भाई साधो: अमर पुए के बासी॥

सींगा जी की निर्गुण ब्रह्मविषयक धारणा संत कबीर के निराकार, निर्विकार, अव्यय और अनादि ब्रह्मविषयक कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखती है। संत सींगा का निर्गुण ब्रह्म रूपरेखा, कुल, गोत्र आदि से परे है :

रूप नाहीं देखा नहीं, नाहीं है कुलगोत रे।
बिन देहीं को साहब मेरा, झिलमिल देखूं जोत रे॥

सींगा की विनय भावना और आत्महीनता बड़ी प्रभावशाली और मार्मिक है। उनके कथनों और उनकी उक्तियों मे अप्रस्तुत योजना बड़ी यथार्थ और स्वाभाविक है। एक पद मे वे कहते हैं कि ज्ञान का प्रकाश मिलने के पूर्व मैं तो जानता था कि वह (ब्रह्म) दूर है, परंतु वह कितना निकट है। तुम्हारा हाथ मेरी पीठ पर है। इसीलिये तेरी सी रहनी रहकर मुझे अत्यधिक सामर्थ्य और शक्ति मिल गई है। तुम सोना हो और मैं गहना हूँ। मुझमे माया और सांसारिकता का टाँका लगा है। तुम निराकार निर्विकार हो फिर भी विविध प्रकार के शब्द उत्पन्न करते हो और मैं देहधारी होकर सांसारिक भाषा मे बोलता हूँ। तुम दरियाव और मैं मछली हूँ। मेरे जीवन के आधार तुम्हीं हो। तुम्हारा विश्वास ही हमारे जीवन का आधार है। जिस दिन यह शरीर पंचतत्व को प्राप्त होगा

उसी दिन मैं तुझमे समाहित हो जाऊँगा।[1] तुम वृक्ष हो तो मैं वह लतिका हूँ जो तुम्हारे चरणों (मूल) मे लगटा हूँ :

मैं तो जाणूं साँई दूर है, तुझे पाया नेडा।
रहणी रही सामरथ भई, मुझे पलना तेरा॥ टेक॥
तुम सोना हम गहणा, मुझे लागा टाँका।
तुमतो वोलो, हम देह धरि बोले कैरँग भाखा॥ १॥
तुम दरियाव हम मीन है, विश्वास का रहणा।
देह गली मिट्टी भई, तेरा तुही में समाणा॥ ३॥
तुम तो वृक्ष हम वेलड़ी, मूल से लगटाना।
करसिंगा पहचाण ले पहचाण ठिकाणा॥ ५॥[1]

सत सींगा के रूपक बड़े सुंदर हैं। हरिनाम की खेती का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है, श्वास प्रश्वास रूपी दो बैल हैं। उनमे सुरति की रस्सी लगा लो। तदनंतर अनन्य प्रेम की लबी लकड़ी ग्रहण करके उसमे ज्ञान की नोकदार काँटी बैठा लो। फिर उन दोनों बैलों को लेकर हरिनाम की खेती करते रहो :

वास श्वास दो बैल हैं, सूर्ति रास लगाव।
प्रेम बिरहाणो कर धरो, ज्ञान आर लगाव॥[2]

इसी प्रकार वे अनुभव के विषय मे कहते हैं :

चौ दिशा से नाला आया, तव दरियाव कहाया रे।
गंगा जल की मोटी महिमा, देसन देस बिकाया रे॥[3]

संत सींगा जी के काव्य का वर्ण्य विषय आत्मानुभूति की अभिव्यंजना से ओत प्रोत है। उनके काव्य मे माधुर्य इतना अधिक है कि साधारण से साधारण पाठक या श्रोता का मन अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। एक गीत मे वे कहते हैं : मेरे स्वामी की अटारी पर दो दीपक जगमग प्रकाश कर रहे हैं। वहाँ पर अखंड स्मृति का पहरा है। अपने झुके हुए मस्तक का फल लेकर मैं उसके द्वार

[1] तुलना कीजिए कबीर की निम्नलिखित साखी से :

पानी ही थे हिम भया हिम ह्वै गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया अब कछु कहा न जाय॥

[2] मं० सिं०।

[3] वही, पृ० ४१।

[4] वही, पृ० २७।

पर चढ़ाने जाता हूँ। पर भीतर से कोई कह देता है, 'ठहरो'। अब 'ठहरो' सुनते सुनते बड़ा विलंब हो गया है। तुम्हारी आज्ञा की अपेक्षा तुम्हारा रोकना ही अधिक कोमल और मधुर प्रतीत होता है। इन पंक्तियों से कवि की माधुर्य भावना प्रतिबिंबित होती है। सींगा जी के ये पद और गीत बड़े ही हृदयग्राही हैं।

रचनाएँ

सींगा जी द्वारा विरचित पदों की संख्या ८०० बताई जाती है। किंतु वे सभी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इनकी काव्यभाषा निमाड़ी है। पता चलता है कि इन्होंने ११ रचनाओं का निर्माण किया था जिनके नाम क्रमशः (१) सिंगाजी का दृढ़ उपदेश, (२) सिंगाजी का आत्मध्यान, (३) सिंगाजी का दोष बोध, (४) सिंगाजी का नरद, (५) सिंगाजी का शरद, (६) सिंगाजी की देश की वाणी, (७) सिंगाजी की वाणावली, (८) सिंगाजी का सातवार, (६) सिंगाजी की पंद्रह तिथि, (१०) सिंगाजी की बारहमासी तथा (११) सिंगाजी के भजन जैसे दिए जाते हैं और इनमें से अंतिम अर्थात् ११वीं के अंतर्गत इनके 'समाधि के भजन' एवं 'निर्गुण मार्ग के भजन' पाए जाते हैं। कुछ दिन पूर्व इनके काव्य का केवल एक छोटा सा संग्रह 'संत सिंगा जी' शीर्षक से सींगाजी साहित्य शोधक मंडल, खंडवा से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रथ के प्रारंभ मे सींगाजी की जीवनी और परिचय का भी उल्लेख हुआ है। परंतु इस समय तक इनके जीवनवृत्तांत का परिचय देनेवाली 'सिंघाजी महाराज की परचुरी' प्रकाशित हो चुकी है जिसे इनके शिष्य खेमादास ने निर्मित की थी तथा इनकी उक्त सारी रचनाएँ भी प्रकाश मे आ चुकी हैं (दे० डा० रमेशचंद्र गंगराडे रचित 'निमाड़ के संत कवि सिंगाजी' शीर्षक पुस्तक के अंतिम ११७ पृष्ठ)।

सींगाजी निमाड़ी प्रदेश मे बड़े लोकप्रिय और पूज्य हैं। निमाड़ प्रदेश की जनता आज भी सींगाजी के भजनों और पदों का गान बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ करती है। निमाड़ प्रदेश की जनता मे प्रचलित है:

सिंगा बड़ा अवलिया पीर।
जिसको सुमिर राव अमीर॥

तथा

म्हारा सिर पर सिंगा जबरा'।
गुरु मैं सदा करत हूँ मुजरा॥

सींगाजी ने किसी पंथ या संप्रदाय की स्थापना नहीं की, परंतु सत्यानुभूति एवं माधुर्य से पूर्ण उनके गीत एवं पद निमाड़ प्रदेश की जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव स्थापित किए हुए हैं। सींगाजी पर श्रद्धा और भक्ति रखनेवालों की संख्या हजारों मे हैं। निमाड प्रदेश की जनता आज भो सींगाजी की समाधि पर श्रद्धांजलि

अर्पित करके उनके यश और कीर्ति को अमर बनाए हुए हैं। सींगाजी की समाधि के स्थान का चिह्न किंकड़ी नदी के तट पर विद्यमान है। आश्विन मास मे प्रतिवर्ष उनकी समाधि पर बड़ा भारी मेला लगता है। सींगाजी ने श्रावण शुक्ल ६, सं० १६१६ को किंकण नदी के तट पर समाधि ली। इस प्रकार उन्होंने लगभग ४० वर्षों तक पवित्र और निष्कलंक जीवन व्यतीत किया।

संत सींगाजी की ही भाँति मनरंगीर जी के एक अन्य शिष्य जगन्नाथ गीर भी थे जिनकी केवल एकाध फुटकल रचनाएँ ही मिलती हैं। संत सींगाजी के किसी शिष्य वा प्रशिष्य खेमदास, धनजी दास एवं दनुदास की भी केवल कुछ रचनाएँ ही उपलब्ध हैं, व्यक्तिगत परिचय नहीं मिलता। ब्रह्मगिरि जी के शिष्य जैसे मनरंगीर जी थे उसी प्रकार उनके एक दूसरे शिष्य का नाम देवगिर था। इन देवगिर के प्रशिष्य रामदास जी वा 'स्वामी रामजी बावा' के लिये कहा जाता है कि ये लोखी घूँघरी ग्राम (ग्वालियर राज्य) के किसी गूजर वंश मे जन्मे थे। इन्होने देवगिर जी के शिष्य रघोजी से दीक्षा ली थी और इनका आविर्भावकाल संभवतः १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध रहा। राम जी बावा के एकमात्र शिष्य अमरदास हुए और इनके पुत्र परसा रामजी हुए। इन रामजी बावावाली शाखा प्रत्यक्षतः सींगाजी की परंपरा से भिन्न प्रतीत होती है, किंतु फिर भी इसके अनुयायी अपने को 'सिंगापंथी' ही कहा करते हैं। जहाँ तक इस पंथ के द्वारा रचे गए साहित्य की बात है, यह कम नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मगीर जी से लेकर प्रायः सभो संतों की कुछ न कुछ बानियाँ बिखरी दशा मे पड़ी हैं जिनका प्रकाश मे लाया जाना अत्यंत आवश्यक है और यह कार्य अभी तक केवल आरंभ मात्र ही हुआ है।[1]

४. बावरी साहिबा एवं बावरी पंथ

बावरी पंथ का निर्गुणी संतों द्वारा संस्थापित विभिन्न पंथों एवं संप्रदायो मे विशेष महत्व है। इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि इसका विचारक्षेत्र बड़ा है। द्वितीय कारण यह कि इस पंथ ने ऐसे बड़े बड़े संतों को उत्पन्न किया है जिन्होंने अपनी प्रतिभासंपन्न लेखनी से जनकल्याणकारी महत्वपूर्ण विचारों को जन्म दिया है। विद्वानों का मत है कि इस पंथ की परंपरा संतपरंपरा की आधे दर्जन बड़ी और महत्वपूर्ण परंपराओं मे से एक है जिसका प्रभाव दिल्ली, उत्तरप्रदेश के प्रमुख जनपदों और पूर्वी जिलों में व्यापक रूप से प्रचारित है। इस पंथ के अंतर्गत ऐसे अनेक संत कवि हुए जिन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करके नए पंथ को स्थापित

[1] दे. सं. सि. प. अ.।

किया। इतना प्रबुद्ध एवं सक्रिय होने पर भी इस पंथ के इतिहास की सुनिश्चित रेखाएँ नहीं निर्धारित की जा सकती हैं। इस पंथ का जन्म संभवतः उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जिले में हुआ, परंतु आश्चर्य है कि इसकी स्पष्ट रूपरेखा दिल्ली में अंकित हुई। इस पंथ को महत्वपूर्ण स्थान और ख्याति प्रदान करने का श्रेय बावरी साहिबा, यारी साहब, बूला साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि को है। बावरी साहिबा योग्य नारी थीं जिनके व्यक्तित्व ने संप्रदाय की शक्ति, आध्यात्मिक बल एवं लोकप्रियता को बढ़ाने मे सहायता दी। यारी साहब ने पंथ को सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप दिया। पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'उक्त पाँच प्रवर्तकों के अनंतर आगेवाले इसके छठे प्रधान व्यक्ति यारी साहब हुए जिन्होंने इसे सर्वप्रथम सुव्यस्थित रूप देने का प्रयत्न किया और कुछ लोग इसी कारण इस परंपरा का नाम कभी कभी यारी साहब की परंपरा ही रखना अधिक उचित समझते हैं।[1] बूला साहब और गुलाल साहब ने पूर्वी जिलों मे इस पंथ का व्यापक प्रचार किया। इसके कारण पंथ का प्रचार और प्रसार जनता में बड़ा अच्छा हुआ। इस संबंध में संतों मे एक दोहा प्रचलित है :

यारी बारी प्रेम की, गाछी बूलादास।
जन गुलाल परगट भयो, राम नाम खुशवास॥

इस पंथ के आदि प्रवर्तक गाजीपुर जिले के पटना ग्राम के निवासी रामानंद थे जिनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था[2]। इनके अनंतर आनेवाले कतिपय शिष्य प्रशिष्यों का भी मूलस्थान उक्त पटना ही बतलाया जाता है और कहते हैं कि, यहीं से इस पंथ का प्रचार क्रमशः दिल्ली तक भी हो गया। दिल्ली में इस पंथ का केंद्र या गद्दी संभवतः आज भी स्थित है। इनके एक प्रशिष्य बीरू साहब के शिष्य यारी साहब के नाम से विख्यात हुए जिन्होंने वहाँ इसका विशेष प्रचार किया। दुर्भाग्य है कि इन साधकों की जीवनी, विचारधारा, जीवन-दर्शन तथा मत सब कुछ मानव स्मृति से विलग होकर आज रहस्य मात्र बन गया है। इन कवियों की अधिकांश रचनाएँ नष्ट होकर विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गई हैं।

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० ४७५।

[2] कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध स्वामी रामानंद से अभिन्न थे और इनके अनंतर, इसके प्रवर्तकों में (बावरी साहिबा के पूर्व) क्रमशः अनंतानंद, कृष्णदास पयहारी, योगानंद, मयानंद एवं दयानंद के नाम लिए जाते हैं तथा इसके प्रमाण में एकाध रचनाएँ भी उद्धृत की जाती है।—सं०

पंथ की परंपरा में कदाचित् मयानंद के अनंतर बावरीसाहिबा अवतरित हुईं। किंवदंती है कि ये उच्च कुल की महिला थीं। सत्यानुभूति और ब्रह्म की साधना मे इन्हे यत्र तत्र बहुत भटकना पड़ा। अन्ततोगत्वा अपने गुरु के पवित्र उपदेशों से प्रभावित होकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। बावरी साहिबा सम्राट् अकबर की समसामयिक थीं। उनका समय सवत् १५९९-१६६२ के लगभग माना जाना चाहिए। इस समय मीराबाई, मलूकदास, संत मथुरादास, संत दादूदयाल, संत सुंदरदास, गोस्वामी तुलसीदास तथा आचार्य केशवदास जैसे हिंदी के उच्च कोटि के कवि काव्यसर्जन कर रहे थे। बावरी साहिबा के पवित्र और निष्कलंक जीवन ने अनेकानेक संतों और धार्मिक वृत्तिवाले लोगों को अपनी ओर अकर्षित कर लिया। खेद है कि बावरी साहिबा की साधना, व्यक्तिगत जीवनी और काव्य के विषय मे हमे किसी भी सूत्र से कोई सूचना नहीं प्राप्त होती है। उनके अनुयायी बावरी साहिबा का वास्तविक नाम भी आज भूल चुके हैं। परंतु उनके काव्य के जो दो एक उदाहरण हमें उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे उच्च कोटि की साधिका और कवयित्री थीं। एक सवैया मे उन्होंने कहा है :

> बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरो।
> भाँवरी जानहि संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी।
> साँवरो सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनत लखावरी।
> खाँवरी सौह तेहारी प्रभु, गति रावरो देखि भई मति बावरी ॥

प्रस्तुत उद्धरण की अंतिम पंक्ति विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कवयित्री कहती है कि हे प्रभु, तुम्हारी शपथ खाकर सत्य कहती हूँ कि तुम्हारी 'गति' विधि देखकर मैं सचमुच बावरी हो गई हूँ। इस सवैया से स्पष्ट है कि बावरी कवयित्री का उपनाम था। इस उद्धरण से उनकी लगन तथा भावुकता भी प्रकट होती है।

बीरू साहब बावरी साहिबा के गुरुमुख शिष्य थे। इनका जन्म किसी उच्च कुल मे हुआ था। बावरी साहिबा की मृत्यु के अनंतर ये दिल्लीवाली गद्दी पर बैठे और सांप्रदायिक आदर्शों का खूब प्रचार किया। इनकी कविता में पाए जानेवाले शब्द 'दहल', आयल, बाभल, करबों, लागिलो इस बात के द्योतक हैं कि ये पूर्वी प्रांतों मे से किसी के निवासी थे। इनकी वेशभूषा धोती और अँगरखा भी इस बात के पोषक हैं कि इनका जन्मस्थान पूर्वी क्षेत्र ही रहा है। चित्र में इनके हाथ मे सितार भी दिखाया गया है। निश्चय ही ये सगीतप्रेमी थे। खेद है कि इनकी जीवनी और व्यक्तित्व के सबंध में कोई सूचना नहीं प्राप्त होती है। बीरू साहब का व्यक्तित्व बावरी पंथ में बड़ा महत्वपूर्ण है; फिर भी इनका व्यक्तित्व रहस्यमय बनकर रह गया है। इनके प्रमुख शिष्य यारी साहब थे।

यारी साहब, बीरू साहब के दीक्षाप्राप्त शिष्य थे। इनके ग्रंथ 'रत्नावली' का संपादन करते हुए संपादक ने इनका आविर्भाव काल सं० १७२५ और १७८० के मध्य माना है। किसी अन्य विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में यह समय मान लेना ही ठीक है। संभव है कि यारी साहब का जन्म सं० १७४० के ही लगभग हुआ हो। इनकी गद्दी की परंपरा दिल्ली मे आज भी विद्यमान है। ये किसी शाही परिवार मे उत्पन्न हुए थे और कहा जाता है कि इनका नाम यार मुहम्मद था। वैभव, ऐश्वर्य और धनधान्य के उपभोग से हटकर इनकी चित्तवृत्ति ब्रह्मानुभूति की ओर आकर्षित हो गई। तब से ये अच्छे गुरु की खोज मे भटकने लगे। सौभाग्य से इन्हे बीरू साहब जैसा समर्थ गुरु मिल गया। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है, और इनकी रचनाओं से भी पता चलता है कि इनका सत्संग पहले सूफी पीरों के साथ भी अवश्य हुआ होगा और उनके उपदेशों से तृप्त न होकर ही अंत मे इन्होंने बीरू साहब से भी दीक्षा ग्रहण की होगी। सूफियों की भक्ति, तन्मयता और एकाग्रता किसी भी व्यक्ति को प्रभावित कर सकती है। सूफियों की प्रेमसाधना और विरहानुभूति का रूप बड़ा हृदयग्राही होता है। इन परिस्थितियों से यारी साहब अवश्य प्रभावित हुए, यह उनका काव्य स्वतः प्रमाणित करता है। यारी की गद्दी दिल्ली मे वर्तमान है। इनके पाँच प्रमुख शिष्य हुए। इनके नाम इस प्रकार हैं। केशवदास, सूफीशाह शेखनसाह और हस्त मुहम्मद तथा बूला साहब। प्रथम चारों ने इनके मतों का प्रचार दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश में किया और बूला साहब ने अपने प्रचार का क्षेत्र भुरकुड़ा (गाजीपुर) को बनाया। गाजीपुर मे बूला की गद्दी आज भी वर्तमान है। यारी साहब की रचना 'रत्नावली' का प्रकाशन प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस से हुआ है।

केशवदास जाति के बनिया और कदाचित् भरकुडा के निकटवर्ती किसी स्थान के ही निवासी थे। ये उच्च कोटि के भावुक और समर्थ कवि थे। इनकी एक रचना 'अमीघूट' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। संपादक 'अमीघूट' ने इनका परिचय देते हुए कहा है, 'परमभक्त केशवदास जी के जीवन का हाल कुछ मालूम नहीं होता सिवाय इसके कि वह जाति के बनिया, यारी साहिब के चेले और बूला साहिब के गुरुभाई थे जिनकी परंपरा मे गुलाल साहिब, भीखा साहिब और पलटू साहिब सरीखे साध और संत प्रकट हुए। इस हिसाब से उनके जीवन का समय दर्मियानी विक्रमी संवत् १७५० और १८२५ ठहरते हैं।'[1] अंतःसाक्ष्य प्रमाणों के आधार पर भी यारी साहब इनके गुरु निर्धारित होते हैं :

[1] भूमिका 'अमीघूट', प्रकाशक बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

व्यापक पूरन दसौ दिसि, परगट पहिचानो हो।
केसो यारी गुरु मिले, आतम रति मानी हो ॥[१]

केशवदास यारी साहब के समान ही उच्च कोटि के भावुक और परम साधक थे। इनके काव्य मे आत्मबल और गंभीरता की स्पष्ट छाप है।

शाहफकीर केशवदास के समकालीन और अच्छे साधक थे। इनकी रचनाएँ शाह फकीर उपनाम के साथ मिलती हैं। ये अच्छे कवि थे। इनकी काव्यभाषा फारसी मिश्रित और प्रवाहयुक्त है। शाहफकीर सूफी दर्शन के सिद्धांतों से बहुत प्रभावित थे।

यारी साहब के पाँचवें शिष्य बूला साहब गाजीपुर के भुरकुडा ग्राम के निवासी थे। ये कुर्मी परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म सं० १६८६ मे हुआ। ७० वर्ष की लंबी और पवित्र आयु व्यतीत करके सं० १७६६ मे ये दिवंगत हुए। इनकी कुटी 'रामवन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी कुटी के पास इनकी समाधि बनी है। इनकी शिक्षा और अध्ययन के संबंध मे कोई सूचना नहीं प्राप्त होती है पर इनकी रचनाएँ इस बात का प्रमाण देती हैं कि इनका ज्ञान बड़ा व्यापक और गंभीर था। ये उच्च कोटि के साधक थे। बुल्ला साहब की रचनाओं का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस से बुल्ला साहब का शब्दसागर नाम से प्रकाशित हुआ है। बूला ने यारी, नानक, सेन, कबीर, पीपा, रैदास कान्हडदास तथा केशवदास के प्रति अपनी रचनाओं में बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। बाल्यावस्था से ही ये ईश्वर की अनुभूति के लिये व्यग्र रहा करते थे। पहले इनका नाम बुलाकी-राम था। ये किसी जमींदार के यहाँ हल चलाने का काम करते थे। इनके आध्यात्मिक जगत् की ओर अग्रसर होने के संबंध में तीन चार कथाएँ प्रचलित हैं। कुक्स महोदय का मत है कि भुरकुडा के जमींदार मर्दनसिंह मालगुजारी न दे सकने के कारण सूबेदार द्वारा गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिए गए। वहाँ ये कैद हो गए। उन्हीं का स्वामिभक्त नौकर यारी साहब के यहाँ श्रद्धावश आता जाता था। यारी साहब ने जमींदार की रिहाई का आशीर्वाद दिया। मनोरथ सफल हो जाने पर दोनों ने यारी साहब का पंथ चलाया।[२] भरकुडा में एक भिन्न जनश्रुति प्रचलित है। धानापुर (जिला बनारस) के निवासी मर्दनसिंह क्षत्रिय जमींदार थे। काशीनरेश महाराज बलवंत सिंह के समय में ये उसी प्रांत के चकलेदार थे। बूला के शिष्य गुलाल साहब से प्रभावित होकर ये

[२] वही, पृ० ७।
[१] ट्रा० का., भा. २, पृ. ४६, ४७।

उन्हीं के शिष्य हो गए।[1] एक और जनश्रुति है कि बुलाकीराम एक बार अपने मालिक के साथ किसी मुकदमे की पैरवी करने के लिये दिल्ली गए। यहाँ उन्हें कुछ समय ठहरना पड़ा। अवकाश पाते ही ये यारीसाहब का सत्संग करने लगे और उनसे प्रभावित होकर उन्हीं से दीक्षा ग्रहण कर ली और मालिक का साथ छोड़कर सत्यानुभूति के लिये साधना और भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते हुए ये कालांतर में जिला बाराबंकी के सरदहा गाँव जा पहुँचे। यहाँ पर इन्होने बालक जगजीवन को दीक्षा और उपदेश देकर साधना के पंथ पर अग्रसर किया। तदनंतर भ्रमण करते हुए भुरकुड़ा आए। इस प्रकार बूलासाहब के संबंध मे कुछ और जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।[2] इनमें से तीसरी जनश्रुति कुछ विश्वसनीय प्रतीत होती है।

बूला साहब के महाप्रस्थान के अनंतर उनके शिष्य (एवं पूर्व मालिक) गुलाल साहब के नाम से उत्तराधिकारी प्रसिद्ध हुए। गुलाल साहब जाति के क्षत्रिय थे। ये तालुका बंसहरि, परगना शादियाबाद, तहसील व जिला गाजीपुर के जमींदार थे। एक पद मे इन्होंने स्वतः अपना निवासस्थान बंसहरि लिखा है :

गगन मगन धुनि गाजे हो, देखि अधर अकास।
जन गुलाल बंसहरिया हो, तहँ करहि निवास ॥[3]

गुलाल साहब बड़े उदार और भावुक व्यक्ति थे। अपने नौकर की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर ये उसके शिष्य हो गए थे। यह घटना धर्मसाधना के इतिहास में अद्वितीय नहीं तो अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के साथ साथ गुलाल साहब की महत्ता और औदार्य की द्योतक है। इन्होने अपनी रचनाओं मे बड़ी श्रद्धा के साथ अपने पूर्ववर्ती संतों और भक्तों का उल्लेख किया है। इनकी काव्यभाषा भोजपुरी है, जिसमें मुहावरों का भला प्रयोग हुआ है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस से 'गुलाल साहब की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'महात्माओं की बानी' में भी इनके अनेक पदों का संग्रह हुआ है। 'राम सहस्रनाम' और 'ज्ञान गुष्टि' नाम से इनकी दो और रचनाएँ हैं। गुलाल साहब ने अपने केंद्र भुरकुड़ा में ही गुरु से प्राप्त आदर्शों का प्रचार किया। सं० १७६६ में बूला के साकेतवास कर जाने के अनंतर ये भुरकुडा की गद्दी पर बैठे। इनका देहावसान सं० १८१७ मे हुआ। गुलाल साहब के दो प्रधान शिष्य हुए जिनके नाम थे भीखा साहब और हरलाल साहब। इनमें से भीखा को अपेक्षाकृत सिद्धि और प्रसिद्धि दोनों अधिक प्राप्त हुई।

[1] म. बा., पृ० ७।
[2] उ. भा. सं. प., पृ. ४८१-२।
[3] गु. सा. बानी, पृ. ३१।

भीखा साहब का वास्तविक नाम भीखानंद चौबे था। इनका जन्म जिला आजमगढ़ के परगना मुहम्मदाबाद में स्थित खानपुर बोहना गाँव मे हुआ था। साधुओं का सत्संग इन्हें बाल्यावस्था मे आठ वर्ष की आयु से ही प्रिय था। इन्हें विरक्ति की ओर बड़ी तीव्रता से अग्रसर होता हुआ देखकर माता पिता ने इनके बारहवें वर्ष में इनका विवाह करके गृहस्थी के चक्र में डाल देना चाहा। परंतु जिस दिन तिलक होना था उसी दिन ये घर छोड़कर भ्रमण और सत्यानुभूति के लिये बाहर निकल पड़े। भ्रमण करते हुए ये काशी पहुँचे। वहाँ पर शास्त्र अध्ययन की ओर रुचि जाग्रत हुई। किंतु शीघ्र ही उनकी चित्तवृत्ति उधर से भी हट गई और अपनी जन्मभूमि की ओर लौट पड़े। लौटते समय जब गाजीपुर के सैदपुर भीतरी परगने के अमुआरा गाँव मे पहुँचे तो एक मंदिर में किसी के द्वारा गुलाल साहब द्वारा रचित ध्रुपद का गान सुनकर, अत्यंत प्रभावित हुए और गानेवाले से रचयिता गुलाल साहब का पता पूछकर भुरकुडा जा पहुँचे और दीक्षा ग्रहण की। आत्मपरिचय का उल्लेख करते हुए भीखा साहब ने लिखा है :

जनम अस्थान खानपुर बुहना, सेवत चरन भिखानंद चौबे ॥ ४ ॥[1]
बीते बारह बरस उपजी राम नाम सों प्रीति।
निपट लागी चटपटी मानो, चारिउ पन गए बीति ॥ १ ॥
नहि खान पान सोहात तेहि छिन, बहुत तन दुर्बल हुआ।
घर ग्राम लाग्यो विषम धन, मानो सकल हारो है जुवा ॥ २ ॥

× × × ×

सतसंग खोजी चित्त सो जहँ बसत अलख अलेख है।
कृपा करि कब मिलाहिंगे दहुँ कहाँ कौन भेष है ॥ ४ ॥
कोउ कहेउ साधू है बहु बनारस, भक्ति बीज सदा रह्यो।
तहँ सास्त्रमत को ज्ञान है, गुरु भेद का नहि कह्यो ॥ ५ ॥

× × × ×

चल्यो बिरह जगाम छिन बिन उठत मन अनुराग।
दहुँ कौन दिन अरु घरी पल कब खुलैगो मम भाग ॥ ७ ॥

× × × ×

इक ध्रुपद बहुत विचित्र सूनत योग पूछेउ है कहाँ।
नियरे भुरकुडा ग्राम जाके, शब्द आये हैं तहाँ ॥ ६ ॥

[1] भी० सा० बा०, पृ० ६।

भीखा साहब की शिष्यपरंपरा मे कई उच्च कोटि के साधक हुए। उनके प्रमुख शिष्य चतुर्भुज साहब प्रधान या केंद्रीय गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। इनका जन्मस्थान बनारस जिले का 'कावर' ग्राम था। ये उच्च कोटि के विचारक और भावुक प्राणी थे। भीखा के न रहने पर सं० १८४६ मे भुरकुडा की गद्दी पर बैठे। इनका देहावसान सं० १८७५ मे हुआ। इनकी रचनाओं का कोई सुव्यवस्थित प्रकाशन नहीं हो पाया। यत्र तत्र विभिन्न संग्रहों मे इनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। चतुर्भुज साहब के अनंतर इनके शिष्य नरसिंह साहब इनकी गद्दी पर सं० १८७६ में बैठे। सं० १९०६ मे इनका देहावसान हो गया। नरसिंह साहब जाति के क्षत्रिय और गाजीपुर जिले के शेखनपुर गाँव के निवासी थे। नरसिंह साहब के अनंतर उनके शिष्य कुमार साहब भुरकुडा की गद्दी पर सं० १९०७ मे बैठे। सं० १९३६ मे इनका देहांत हो गया। ये क्षत्रिय कुमार थे और बलिया जिले के तालिमपुर मे इनका निवासस्थान था। सं० १९३७ वि० में कुमार साहब के शिष्य रामहित साहब भुरकुडा की गद्दी पर बैठे। ये भी कुमार साहब के समान क्षत्रिय बालक थे औ गेल्हुवा (जिला बलिया) के निवासी थे। इनका देहांत सं० १९४९ में हुआ। इनके स्थान पर जैनारायण साहब सं० १९५० मे गद्दी पर बैठे। ये भी राजपूत क्षत्रिय थे। इनका देहांत सं० १९८१ मे हुआ। इनके स्थान पर महंत रामबरनदास गद्दी पर बैठे। महंत जी ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह है 'महात्माओं की बानी' ग्रंथ का प्रकाशन करना। इस ग्रंथ मे न केवल बावरी पंथ के कवियों का संकलन किया गया है वरन् अन्य संप्रदायों के कवियों का संकलन भी बड़ी लगन और उदारता के साथ किया गया है।

हरलाल साहब

हरलाल साहब, भीखा साहब के गुरुभाई थे। इन्होंने अपने निवासस्थान चीट बड़ागाँव (जिला बलिया) मे अपने संप्रदाय की गद्दी स्थापित की। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी इन्होंने उच्च कोटि की साधना की, और बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी गद्दी के मुख्य स्थान को 'रामशाला' कहते हैं। हरलाल साहब द्वारा संस्थापित परंपरा में जितना ध्यान शुद्ध सात्विक जीवन की ओर दिया गया है उतना ग्रंथनिर्माण की ओर नहीं। इसीलिये इस शाखा में एक से एक उच्च कोटि के साधक हुए, परंतु इन्होंने ग्रंथरचना की ओर ध्यान नहीं दिया। इस शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं देवकीनंदन साहब। ये महंत तेजधारी राम के पुत्र थे। इनका जन्मकाल लगभग सं० १८६० है। पिता का देहांत हो जाने पर ये सं० १८८७ में गद्दी पर बैठे। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं: (१) शब्द, (२) चतुरमासा, (३) कुंडलियाँ तथा स्फुट पदों के विविध संग्रह।

इनका देहावसान सं० १६१३ मे हुआ। इस शाखा मे कुछ और कवि हुए जिनमे अजबदास, गरीबदास, विरंच गोसॉई, जनकुवा, मकरंदास और जगन्नाथ उल्लेखनीय है। इस शाखा के महंतों के नाम क्रमशः गजराज साहब, जीवन साहब, तेजधारी साहब, देवकीनंदन साहब, बनमाली साहब, ब्रजमोहन साहब तथा राजाराम साहब हैं।

पलटू साहब

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि भीखा के दो प्रमुख शिष्य थे गोविंद साहब तथा चतुर्भुज साहब। गोविंद साहब ने भीखा साहब की आज्ञा से फैजाबाद जिले के अहिरौली में पृथक् संप्रदाय और गद्दी स्थापित की। गोविंद साहब जाति के ब्राह्मण थे और भीखा द्वारा दीक्षित होने के पूर्व जानकीदास नामक किसी साधु से मंत्र ले चुके थे। परंतु पूर्ण शांति न मिलने के कारण ये जगन्नाथ पुरी चले गए। पुरी की यात्रा मे भीखा से इनकी भेंट हुई और अपना गुरु स्वीकार कर लिया। पलटू इन्हीं गोविद साहब के शिष्य थे। अपने गुरु की तुलना मे ये अधिक प्रसिद्ध हुए। इनका जन्मस्थान है नागपुर जलालपुर (जिला फैजाबाद)। ये जाति के काँदू बनिया थे। इनके आदर्शों का प्रचारकेंद्र अयोध्या है। ये नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे। अनुमान है कि इनका समय सं० १८२७ के लगभग है। इनका मरणकाल अज्ञात है। इन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र तत्र अपना परिचय देने का प्रयत्न किया है :

विरक्तों की श्रेणी में मिल जाने का उल्लेख

> सहर जलालपुर मूँड़ मुँडाइनि अवध तोरिनि करधनियाँ।
> पलटूदास सतगुरु बलिहारी, पाइनि भक्ति अमनियाँ॥

रविक्ति का कारण

> (१) टोप टोप रस आनि मक्खी मधु लाइया।
> इक लै गया निकारि सबै दुख पाइया।
> मोको भा वैराग आहि को निरखि के।
> अरे हाँ, पलटू माया बुरी बलाय, तजा मैं परखि कै॥[1]
>
> (२) चारि बरन को मेटि के भक्ति चलाया मूल।
> गुरु गोविंद के बाग में, पलटू फूला फूल॥[2]

१ प० सा० बा०, भाग २, पृ० ८५।

२ वही, भाग ३, पृ० ११४।

वैराग्य धारण कर लेने पर प्रसिद्धि

गिरहस्थी में जब रहे, पेट को रहे हैरान।
पेट को रहे हैरान, तलदिया से मिले अहारा।
साग मिल्यो बिनु लोन, वही तब ऐसी धारा।
आए हरि की सरन, बहुत सुख तब से पाई।
लुचुई चारो जून, खांड़ औ खोवा खाई।
लड्डू पेड़ा बहुत सेतं, कोउ खाता नाहीं।
जलेबी चीनो कंद भरा है घर के माँहीं।
पलटू हरि की सरन में हाजिर सब पकवान।
गिरहस्थी में जब रहे, पेट को रहे हैरान ॥[1]

संमान

लै लै भेंट अमीर नाम का तेज विराजा।
सब कोउ रगरे नाक, आइके परजा राजा।
सकलदार मैं नहीं, नीच फिर जाति हमारी।
गोड़ धोय पट् करम, बरन पीवै लै चारी।
बिन लसकर बिन फौज, मुलुक में फिरी दोहाई।
जनम हिता सत नाम, आपु मैं सरस बड़ाई।
सत्त नाम के लिहे से, पलटू भया गंभीर।
हाथ जोरि आगे मिले, लै लै भेंट अमीर।[2]

प्रसिद्धि और ख्याति का विस्तार और प्रतिक्रिया

ऐसी भक्ति चलावै, मची नाम की कीच।
मची नाम की कीच, बूढ़ा और बाला गावै।
परदे में जो रहे शब्द, सुनि रोवत आवै॥
भक्ति करै निरधार, रहे निरगुन सो न्यारा।
आवै देय लुटाय आपुना करै अहारा॥
मन सबको हरि लेय सभन को राखै राजी।
तीन देख ना सकै बैरागी पंडित काजी॥
पलटू इक बनिया रहै अवध के बीच।
ऐसी भक्ति चलावै, मची नाम की कीच॥[3]

[1] वही, भाग १, पृ० १०८।
[2] वही, भाग १, पृ० ६।
[3] प० सा० बा०, भाग १, पृ० २७।

वैमनस्य और उसका प्रभाव

सब बैरागी बटुरिकै पलटुहि किया अजात।
पलटुहि किया अजात प्रभुता देखि न जाई।
बनिया कालिहक भक्त, प्रगट भा सब दुतियाई॥
हम सब बड़े महंत, ताहि को कोउ ना जानै।
बनिया करै पखंड ताहि को सब कोउ मानै॥
ऐसी ईर्षा जाति कोउ ना आवै ना खाई।
बनिया ढोल बजाय के, रसोई दिया लुटाई॥
मालपुवा चारिउ बरन, बाँधि लेत कुछ खात।
सब बैरागी बटुरिकै, पलटुहि किया अजात॥[1]

अंत में

अवध पुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू सूते जाइ॥[2]

पलटू साहब के संबंध मे उपलब्ध इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उनका देहावसान दुर्भावना और परसंतापियों के वैमनस्य एवं प्रतिशोध के कारण हुआ। अयोध्या से चार मील की दूरी पर, जहाँ इन्होंने अपना शरीर छोड़ा था, आज भी इनकी समाधि बनी हुई है। यह स्थान 'पलटू साहब का अखाड़ा' नाम से प्रसिद्ध है। पलटू साहब उच्च कोटि के संत, साधक और कवि थे। कबीर की भाँति ये स्पष्टवादी और निर्भीक आलोचक थे।

पलटू साहब की कविता सरल, स्पष्ट, ओजपूर्ण और प्रभावशाली है। इनकी रचनाओं मे मुहावरों का प्रयोग बड़ी स्वाभाविक रीति से हुआ है। भाषा पर इनका असाधारण अधिकार था। शब्दों का चयन करने में ये बड़े कुशल थे इसीलिये इनकी भाषा मे प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है। पलटू ने विपुल साहित्य की रचना की। साखी, सवैया, कुंडलिया, अरिल्ला और झूलना छंदों के माध्यम से पलटू ने अपने भावों की अभिव्यक्ति की। इनके एक हजार पदों का संग्रह बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। इनके नाम पर एक और ग्रंथ प्रसिद्ध है जिसका शीर्षक है 'आत्मकर्म'। इनका पंथ 'पलटू पंथ' के नाम से प्रचलित हुआ। ये 'दूसरे कबीर' नाम से भी विख्यात हैं।

[1] वही, ११४।
[2] वही, जीवनचरित, पृ० २।

बावरी पंथ का साहित्य

बावरीपंथ की दो शाखाएँ पूर्वी शाखा और पश्चिमी शाखा नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वी शाखा के अनुयायियों ने पश्चिमी शाखा के कवियों की तुलना में अधिक साहित्य की रचना की है। पूर्वी शाखा के कवियों का प्रचुर साहित्य प्रकाशित हो चुका है फिर भी उसका बहुत सा अंश आज भी अप्रकाशित है।

यारी साहब की 'रत्नावली', केशवदास का 'अंमीघूट' तथा बावरी साहिबा, बीरू साहब, शाहफकीर, बूलासाहब, गुलाल साहब, जगजीवन साहब, भीखा साहब, पलटू साहब तथा दूलन साहब की स्फुट रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। चतुर्भुजदास, देवकीनंदन साहब आदि की रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

पंथ की विशेषताएँ

बावरी पंथ, कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि द्वारा चलाए गए बड़े बड़े धार्मिक संप्रदायों की भाँति एक बड़ा भारी पंथ है जिसका उत्तरी भारत की जनता पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा और जिसके उच्चादर्शों ने सहस्रों धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफलता पाई। बावरी पंथ ने हिंदी के विकास और अभ्युत्थान में विशेष महत्वपूर्ण योगदान दिया। पंथ में आविर्भूत हुए कवियों की संख्या काफी बड़ी है। इन कवियों ने सहस्रों छंदों की रचना और अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। इस पंथ की स्थापना उस समय हुई जब कबीरपंथ, नानकपंथ तथा साध संप्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और इन मतों का प्रभाव अपने अपने क्षेत्रों में क्रमशः बढ़ता जा रहा था। पंजाब, दिल्ली तथा राजस्थान आदि क्षेत्रों में धार्मिक आंदोलनों के द्वारा जनता में पर्याप्त जागृति फैल चुकी थी। इन परिस्थितियों में भी बावरी पंथ का जनता में समुचित आदर और स्वागत हुआ। इस पंथ के महंतों ने व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप देने में विशेष ध्यान दिया। उन्होंने पंथ के प्रचार को उतनी प्रधानता नहीं दी।

पंथ में ब्रह्म का स्वरूप

बावरी पंथ में ब्रह्म के जिस रूप का उपदेश शिष्य और अनुयायी भक्तों को दिया जाता है, वह ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अगम और अगोचर है। वह संसार के कण कण में व्याप्त है, फिर भी संसार से पूर्णतया परे है। सृष्टि उसी की इच्छा और आदेश से संचालित होती है। वह प्रकाशस्वरूप, अगोचर और अगम है। यारी साहब के शब्दों में ब्रह्म का वर्णन पठनीय है :

सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी ॥ १ ॥
जि फिर रूह सोई अनहद बानी है ॥ २ ॥
अगम को गम्म नाहीं झलक पिसानी है ॥ ३ ॥
कहै यारी आपा चीन्है सोई ब्रह्म ज्ञानी है ॥ ४ ॥[1]

वह ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है। प्रत्येक वस्तु मे उसकी शक्ति सन्निहित है। जैसे, आभूषणों के रूप और आकार भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही स्वर्ण के बने होते हैं, उसी प्रकार एक ही तत्व से समस्त संसार निर्मित है :

गहने के गढ़े तें सोने भी जातु है,
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोनो है।
भीतर भी सोनो और बाहर भी सोन दीसै,
सोनो तो अचल अंत गहनो को मीच है॥
सोनो को तो जानि लीजै गहनो बरबाद कीजे,
यारी एक सोना तामें ऊँच कवन नीच है॥[2]

इस अवतरण की अंतिम दो पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। कवि का संदेश है कि संसार का त्याग करके संसार के निर्माता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जब एक ही तत्व सर्वत्र रमा हुआ है तो फिर कौन कुलीन और कौन अंत्यज। सभी एक ही ब्रह्म की कृतियाँ हैं। यारी साहब का मत है कि मनुष्य अपने स्वरूप को आत्मा मे न देखकर व्यर्थ ही जंगलों मे भटकता है, तीर्थों मे धक्के खाता है और नदियों के गंदे जल से शरीर का प्रक्षालन करता है।[3] संत बूला के मत से ब्रह्म निर्मल, सकल जगत् मे विद्यमान रहनेवाला, अनंत और अनादि है :

प्रभु निराधार अधार उज्जल, बिनु सकल विराजई।
अनंत रूप सरूप तेरो, मो पे बरनि न जाई ॥ १ ॥
बाँधि पवनहि साधि गगनहि, गरज गरज सुनावई।
तहँ हंस मुनि जन चूगते मनि, रस परसि परसि अघावई ॥[4]

संत केशवदास की ब्रह्मविषयक धारणा बड़ी स्पष्ट और प्रभावशाली है। वे कहते हैं :

१ सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १३५।
२ वही, पृ० १३६-३७।
३ वही, पृ० १३७।
४ वही, पृ० १५६।

काया छाया ते प्रभु न्यारा,
धरनि अकास के बाहर पाया ॥१॥
अगम अपार निरंतर वासी,
हलै न टालै अगम अविनासी ॥२॥
वाकहं अद्भुत रूप न रेखा,
अगम पुरुप प्रभु शब्द अलेखा ॥३॥
निज जन जाय तहाँ प्रभु देखा,
आदि न अंत नाहिं कछु भेखा ॥४॥
मिलि अगंम सुख सहज समाया,
या विधि केसो विसरी काया ॥५॥[1]

संत कवि गुलाल का मत है कि ब्रह्म चतुर्थ पद से पृथक्, न्यारा और परे है। वह अविनाशी, अनादि, अनंत, अद्भुत, अपार, सदा सर्वत्र रमनेवाला है :

अवधू निर्मल ज्ञान विचारो।
ब्रह्म सरूप अखंडित पूरन, चौथे पद सों न्यारो ॥ १ ॥
ना वह उपजै ना वह विनसै, ना धरमै चौरासी।
है सतगुरु सतपुरुष अकेला, अजर अमर अविनासी ॥ २ ॥
ना वाके बाप नहीं वाके माता, वाके मोह न माया।
ना वाके जोग भोग वाके नाही, ना कहु जाय न आया ॥ ३ ॥
अद्भुत रूप अपार विराजै, सदा रहै भरपूरा ॥
कहै गुलाल सोइ जन जानै, जाहि मिलै गुरु सूरा ॥ ४ ॥[2]

भीखा साहब, बावरी परंपरा के अन्य सभी कवियों से मतसाम्य रखते हैं। वे कहते हैं 'निर्गुन में गुन क्यों कर कहियत, व्यापकता समुदाय[3]' अर्थात् जो ब्रह्म निर्गुण है, गुणातीत है, उसमें गुणों का आरोपण उचित नहीं है। वह सर्वत्र व्यापक है, निस्सीम है। एक ही ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है :

खुद एक भुम्मि आहि, वासन अनेक ताहि,
रचना विचित्र रंग, गढ़ेउ कुम्हार है।
नाम एक सोन आस, गहना है द्वैत भास,
कहूँ खरा खोट रूप, हेमहि अधार है ॥

१ अमीघूट, पृ० ६।
२ सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १८६।
३ स० बा० सं०, भाग २, पृ० १६३-४।

फेन बुदबुद अरु लहरि तरंग बहु,
एक जल जानि लीजै, मीठा कहूँ खार है।
आतमा त्यो एक जात भीखा कहै याहि मते,
ठग सरकार के बटोहो सरकार के॥[१]

(५) मलूकदास तथा मलूक पंथ

मलूकदास की जीवनी से संबंधित प्रामाणिक ग्रंथ 'परिचयी' के आधार पर मलूकदास का जन्मकाल सं० १६३१ तथा मृत्युकाल सं० १७३९ माना जाता है। उन्होंने १७८ वर्षों का पवित्र और निष्कलंक जीवन व्यतीत किया। मलूकदास का आविर्भाव उस समय हुआ जब भारतवर्ष में अकबर के रूप में मुगल साम्राज्य का दीपक हिंदुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था और औरंगजेब के राज्यकाल के २६वें वर्ष में उनका महाप्रस्थानकाल है। उन्होंने अपने जीवनकाल में चार मुगल बादशाहों का राजत्वकाल देखा था अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब। 'परिचयी' के लेखक कवि सथुरादास ने इन चारों मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति का रोचक एवं सूक्ष्म वर्णन किया है। औरंगजेब की कटुता एवं धार्मिक संकीर्णता का कवि ने सविस्तार वर्णन किया है। कवि ने जजिया के घातक प्रभाव, मथुरा, गोकुल, काशी (विश्वनाथ जी), द्वारिका, रणछोर, बद्रीनाथ, जगन्नाथ, नगरकोट, तथा अन्य मंदिरों के ध्वंस का प्रभावशाली वर्णन किया है। सथुरादास ने गुरु तेगबहादुर के वध का भी वर्णन किया है। इस प्रकार मलूकदास का आविर्भाव, विकास, उत्थान और साधना बड़े ही संकटकाल मे हुई। इस प्रकार देश की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थियों ने कवि के जीवनदर्शन पर गंभीर प्रभाव डाला और इन सबसे प्रेरित होकर उसने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया और मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, वाह्याचार, जाति, वर्ग आदि की कटु आलोचना की।

परिचयीलेखक सथुरादास के मतानुसार मलूकदास का जन्म वैशाख कृष्ण ५, संवत् १६३१ वि० को, कड़ा (जिला इलाहाबाद) में हुआ था। इनके पिता का नाम सुंदरदास खत्री था। 'परिचयी' में मलूकदास की बाल्यावस्था का वर्णन बहुत संक्षेप में हुआ है। संसार से विरक्ति का जो बीज मलूकदास के हृदय में आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित हुआ, उसका बीजारोपण उनकी बाल्यावस्था मे ही हो चुका था। औदार्य, दया, धर्म आदि जो दैवी गुण उनमें बाद मे विकसित हुए उनका प्रारंभ शैशवावस्था मे ही हो चुका था। वे बाल्यावस्था से ही बड़े दानी और दयावान थे। पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर सुंदरदास ने अपने पुत्र

[१] वही, पृ० १९६।

मलूकदास को ग्राम पाठशाला भेजा परंतु वहाँ वे अधिक समय तक न रह सके। मलूकदास के दीक्षागुरु के संबंध मे हिंदी के इतिहासकारों मे बड़ा मतभेद है। कुछ उन्हें कील का शिष्य मानते हैं और कुछ विद्वान् द्राविड़ विट्ठल को उनका गुरु बताते हैं। मथुरादास के मत से मलूकदास के गुरु देवनाथ के पुत्र पुरुषोत्तम थे। इस संबंध मे अंतस्साक्ष्य भी विद्यमान है। 'सुखसागर' मे मलूकदास ने लिखा है :

दछिन ते प्रकटी भगति द्रवाराड के देस।
×　　×　　×
गोकुल गाँउ विदित भये प्रकटे विठलनाथ।
भावनाथ तिनते भये देवनाथ सुत तास॥
तेनते परसोतम तह सिप मलूकादास।

मलूकदास के विवाह, पत्नी और एक कन्या संतान का भी उल्लेख 'परिचयी' मे हुआ है। मलूकदास जीवन पर्यंत अपने पैतृक व्यवसाय के द्वारा गृहस्थी का परिपालन करते रहे। मलूकदास पर्यटनशील साधक थे। उन्होंने जगन्नाथ, कालपी, दिल्ली तथा अन्य स्थानों की पैदल यात्रा की थी। मलूकदास सेवाभावना के कारण अन्य संतों से पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं। दीन हीनो की सेवा करना उनका धर्म था। वे परोपकार मे सदैव रत रहते थे। वैशाख कृष्ण चतुर्दशी, बुधवार संवत् १७३६ को उनका देहावसान हुआ। परिचयीकार के शब्दों मे :

संवत् सत्रहसौ उन्तालिस बुद्धवार तिथि आय।
चतुर्दशी वैशाख वदी सिंह लगन बिताय॥
समाधान सबको किया नाना रूप दिखाय।
गुरू मलूक निज धाम को चले निसान बजाय॥

रचनाएँ

मलूकदास के प्रामाणिक ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है :

१. ज्ञानबोध
२. रतनखान
३. भक्त बच्छावली
४. भक्ति विवेक
५. ज्ञान परोछि
६. बारह खड़ी
७. रामअवतार लीला
८. ब्रजलीला
९. ध्रुव चरित
१०. विभय विभूति
११. सुखसागर
१२. विविध शब्द संग्रह, पद संग्रह तथा पदावली।

इन ग्रंथों का विषयानुसार विभाजन चार प्रकार से हो सकता है। 'ज्ञानबोध', 'ज्ञानपरोछि', 'विभय विभूति' तथा 'रतन खान' ग्रंथ ज्ञान, योग तथा आध्यात्मिक

रचनाओं के अंतर्गत आते हैं। इन ग्रंथों में कवि ने योग, ज्ञान, निर्गुण भक्ति, वैराग्य, जैसे अन्यान्य गहन विषयों पर प्रकाश डाला है। द्वितीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने कथानकों के आधार पर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। कवि लिखित 'भक्ति विवेक' और 'सुखसागर' इसी प्रकार की रचनाएँ है। इन ग्रंथों में कथाओं के आधार पर सिद्धांतों का निरूपण किया गया है। तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमे अवतारों और चरित्रों के वर्णन किए गए हैं। 'राम अवतार लीला', 'ब्रजलीला', 'ध्रुवचरित' मे श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा भक्त ध्रुव के चरित्रों का वर्णन हुआ है। चतुर्थ कोटि की रचनाएँ स्फुट रचनाओं के अंतर्गत आती हैं। 'भक्त वच्छावली', 'बारह खड़ी' तथा स्फुट पद एवं शब्द इसी शीर्षक के अंतर्गत आते हैं। इन रचनाओं मे कवि की उपदेशात्मक प्रवृत्ति झलकती है। जनता कवि की इन्हीं रचनाओं से परिचित है।

मलूकदास के समस्त ग्रंथों में 'ज्ञानबोध' सबसे महत्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना पाँच परिच्छेदों मे हुई है। प्रथम 'विश्राम' मे निर्गुण ब्रह्म की मानसी या अंतस्साधना एवं भक्ति का वर्णन हुआ है। द्वितीय 'विश्राम' मे भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य का वर्णन हुआ है। तृतीय 'विश्राम' में निवृत्ति, प्रवृत्ति, मन, आत्मा का वर्णन हुआ है। चतुर्थ 'विश्राम' मे ज्ञान अज्ञान की सप्त भूमिकाएँ वर्णित हुई हैं और पंचम 'विश्राम' मे विराट् रूप का वर्णन किया है। 'रतनखान' मे परिच्छेदों का विभाजन दशरत्नों के रूप मे हुआ है। ये दशरत्न निम्नलिखित हैं :

प्रथम रत्न	वैराग्य	षष्ठ रत्न	आत्ममनन
द्वितीय रत्न	मिथ्या जग	सप्तम रत्न	बुद्धिनिरूपण
तृतीय रत्न	निष्काम जीवन मुक्ति	अष्टम रत्न	आत्मपूजा
चतुर्थ रत्न	मन लय	नवम रत्न	आत्मरूप
पंचम रत्न	उपशमन	दशम रत्न	शाति

'भक्ति विवेक' बड़ा रोचक और सरस ग्रंथ है। काशीनृप की कथा, पंडित तथा नाग की कथा, अज तथा सिंह की कथा, नृप तथा बढ़ई की कथा, युधिष्ठिर की कथा, हंस की कथा, सिंह तथा शृगाल की कथा और नृपकन्या तथा हाथी की कथा आदि कथाओं के द्वारा कवि ने यह प्रमाणित किया है कि जीवन की सार्थकता ब्रह्मोपासना, माया का त्याग, इंद्रियों का शमन तथा मन का दमन है। ये कथाएँ हमारे जीवन से संबंध रखनेवाली हैं। कवि द्वारा लिखित राम अवतार लीला, ब्रजलीला, ध्रुवलीला की रचना उस समय हुई जब कवि साधना के क्षेत्र मे सगुण ब्रह्म की आराधना मे तत्पर था।

आध्यात्मिक विचार

आध्यात्मिक विचारधारा और दार्शनिक चिंतन मे मलूकदास बड़े मौलिक

हैं। मलूकदास का ब्रह्म निर्गुण और गुणातीत है। वही एक ब्रह्म सबका निर्माता है, उसकी महिमा का आदि अंत नहीं है। वही एक ब्रह्म समस्त सृष्टि का पालक और संहारक है। वह भेदभाव आदि भावनाओं से परे और ऊपर है।[1]

मलूकदास के मत से एक ही ब्रह्म संसार के अणु अणु मे रमा है। द्वितीय ब्रह्म की कल्पना वही कर सकता है जो अज्ञानी है। द्वैत मे आस्था रखनेवाला मनुष्य उसी प्रकार अज्ञानी है यथा अज्ञान और मूर्खता के कारण अपने पिता की अवहेलना करके मनुष्य किसी दूसरे को अपना पिता मान बैठे।[2] एक ही ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र प्रसारित है—चाहे वह मंदिर हो या मस्जिद। उसकी सत्ता अनंत है।[3] मलूकदास के मत से अवतार सारहीन आलंबन हैं जिनको ग्रहण करके भवसागर नहीं पार किया जा सकता।[4]

अवधू याही करो विचार।
दस अवतार कहाँ ते आए, किन रे गढ़े करतार।
केहि उपदेश भये तुम जोगी केहि विधि आतम आए।
थोथे बाँट बांधि के भोई येहि विधि जावन पाए।
ऋद्धि सिद्धि में बूड़ि मरोगे पकड़ो खेन हारा॥
अगल बगल का पैड़ा पकड़ा दिन दिन चढ़ता भारा।
कहत मलूक सुनो रे भोदूँ अविगत मूल विसारा॥[5]

मलूकदास का अविगत ब्रह्म समस्त शक्तियों द्वारा वंदित है। वह अनंत शक्ति से का पालन पोषण करते हैं।[6] वह सर्वव्यापी एवं सब घटवासी है, यथा दुग्ध मे घृत, पृथ्वी में पानी और दर्पण मे प्रतिबिंब रहता है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र रहता है :

१ सर्वव्यापी एक कुहारा। जाकी महिमा अ.र न पारा॥
हिंदू तुरुक का एकै करता। एकै ब्रह्म सबन का भरता।—'शब्दसंग्रह'।
२ एक जगत का एकै करता। दोसर ब्रह्म कहाँ से रहता।
दुइ का होय तो दूसर मानै। पार ब्रह्म का एकै जानै।।—'ज्ञानबोध'।
३ मंदिर मसजित एक बसत है तामें भाव न दूजा।—'शब्दसंग्रह'।
४ 'मलूकदास की बानी', पृ० १५।६।
५ जाकहँ सुमिरहि सब नरेसा। जाकहँ सुमिरहि सारद सेसा॥
जाकहँ सुमिरहि सिद्ध चौरासी। जाकहँ सुमिरहि ऋषि सन्यासी॥
जाकहँ सुमिरहि सर्व धर्मधारी। जाकहँ सुमिरहि दिग्गज चारी॥
जाकहँ सुमिरहि धरनी अकासा। जाकहँ सुमिरहि अनल बतासा॥—'भक्ति विवेक'।
६ सोई जगत पति पालन हारा।
सोई उतपति करन संहारा।—'ज्ञानबोध'।

राम नाम दोउ बसै सरीरा। जैसे घृत रहे मध्य छीरा।
जैसे रहै तिल में तेला। तैसे राम सकल घट खेला॥
जैसे सुमन माँ रहै खुसबोई। तैसे राम सकल घट पोई।
जैसे धरती के बिच पानी। तैसे राम सकल घट जानी॥
जैसे दरपन में परछाहीं। तैसे राम सकल घट माही।

—'भक्ति विवेक'।

ब्रह्म और संसार एक दूसरे से किसी प्रकार पृथक् नहीं है। यथा आभूषण बन जाने पर भी सोना ही रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म की स्थिति है :

जग हरि में हरि है जग माहीं। कहन सुनन को बहु विधि आही।
कंचन आदि अंतहूँ कंचन। भूखन भ्रम मधि हू कंचन॥

—'ज्ञानबोध'।

आत्मा—मलूकदास के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म स्वरूप है।[1] आत्मा पूर्ण प्रकाशवान है उसका एक रूप है, परंतु माया के प्रभाव से उसका दिव्य रूप नहीं दिखाई देता है।[2] आत्मा बंधनों और वासनाओं से परे है।[3] आत्मा अविनाशी है।[4] आत्मा मुक्तिस्वरूपा है। वह अव्यय और अनंत है।[5] देह नष्ट होती है पर आत्मा अमर है।[6] आत्मा समस्त जीवों में परिव्याप्त है। यथा जल, घृत दर्पण से एक ही मुख के प्रतिबिंब पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं उसी प्रकार संसार मे सर्वत्र एक ही आत्मा के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं :

तैसेहि एक आतम रूपा थावर जंगम विविध सरूपा।
मनमे जलमे घृत में औ दर्पन के माहि
एकै मुख बहु रूप सोइ भासै ताकी छाँहि॥

१ जेही देखी आतमा तेते सालिगराम रतनखान।
सोई आतमा है परब्रह्म। सो परमेसर है निःभ्रम॥
सोई है परमातम जान। यामे कछु संदेह न मान।—रतनखान।

२ एक रूप है आतमा परिपूरन प्रकास।
सो आतम नाहीं लसै माया के अभ्यास॥—रतनखान।

३ 'आतम में नहि बंधन मुक्ति'।—रतनखान।

४ 'देह नसै नहि आतम नसै'।—रतनखान।

५ 'सोई सुध आतमा ते है। मुकति सरूप अक्रध अव्यय हैं।—रतनखान।

६ 'नहि आतम जनमे मरै। काहू काल न बूडै तरै।
जैसे घन मठ नासते नहि नासै आकास।
तैसे देहन के नसे नहि कछु ताको आस॥—रतनखान।

ऐसे बुद्धि अनेक में भासे आतम एक।
तैसे तैसे लखि परा कीन्हे भला विवेक।[1]

जिस प्रकार बादलों से आच्छादित रहने के कारण आकाश मलीन प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा मनुष्य के दुर्गुणों और वासनाओं के प्रभाव से मलीन प्रतीत होती है।[2] यथा अग्नि के संसर्ग से दग्ध होकर लोहा लाल और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है, तथा आत्मा के संसर्ग से इंद्रियाँ भी उसी के समान दीखती हैं।[3]

साधनापक्ष—'ज्ञान बोध', 'ज्ञान परोछि' तथा 'भक्तिविवेक आदि ग्रंथों में कवि ने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य साधना का उपदेश दिया है। कवि के अनुसार ज्ञान, भक्ति और वैराग्य एक ही लक्ष्यप्राप्ति के विविध उपाय हैं :

'ये त्रय है त्रय रूप अद्वितीय परब्रह्म के।
प्रेम अनंद सरूप सत वैराग्य ज्ञान॥
तीनौ ही सुख मूल हैं कहिए कहा समूल।
रहैं आपस में गोह जेउ बीज बृच्छ फल फूल॥
बीज सबन को सबन है तरु वैराग्य अनूप।
भगति फूल रस ज्ञान मे है रस प्रेम सरूप॥
बीज परत सुद्ध खेत में उगै अंकुर निर्वेद।
सो बाढै सतरांग ते मिटै दुरासा खेद॥
जब निपजे वैराग्य दृढ़ भगति फूल तब होइ।
तत्व ज्ञान फल पाये ताहि न मिटाये कोइ॥
ज्ञान नीर सों सेवियै जब तरुवर वैराग।
तब उपजै फल फूल में रस हरिपद अनुराग॥[4]

मलूकदास ने योगसाधना का उपदेश दिया है। 'ज्ञानबोध' ग्रंथ में योग को ब्रह्मप्राप्ति का अद्वितीय साधन माना गया है। 'ज्ञानबोध' में योग के विभिन्न अंगों

१ 'रतनखान'।
२ 'जैसे बादल के संगते दीखै मलिन अकास।
तैसे सुद्ध जो आतमा गुण प्रकृत अवास॥—रतनखान।
३ 'जैसे अगिनि संग मिलि लोहा।
अगिन समान तपन होइ सोहा॥
तैसे आतमा के पा संग।
दीखै इंद्री आतम रंग॥—'रतनखान'।
४ 'ज्ञान बोध', द्वितीय विश्राम।

का सविस्तार वर्णन हुआ है। कवि के योग संबंधी ज्ञान का आधार महर्षि पतंजलि विरचित योगसूत्र है, जैसा निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :

इन आठों को रूप कह्यौ पातंजलि विस्तार।
अब बरनौ संक्षेप ते सो पुनि करौ बिचार॥[1]

मलूकदासी संप्रदाय मे अष्टांगयोग को साधना में प्रमुख स्थान दिया गया है।

मलूकदासी संप्रदाय :

इस संप्रदाय के प्रवर्तक संत कवि मलूकदास थे। सफल साधक एवं उत्कृष्ट समाजसुधारक के अतिरिक्त मलूकदास के व्यक्तित्व का एक और रूप है, और वह है उनका कवि का रूप। मलूकदास का काव्यादर्श निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट हो जाता है :

अदम कवित्त का जिसकी कविताई करूँ
याद करूँ उसको जिन पैदा मुझे किया है॥
गर्भवास पाला, आतम मैं नहिं जाला,
तिसको मै विसारूँ तो मै किसकी आस जियाहूँ॥[2]

स्पष्ट है कि मलूकदास ने अपने काव्य की रचना जनता को प्रबुद्ध और जाग्रत करने के हेतु की थी। मलूकदास के काव्य का विषय आध्यात्मिक और सामाजिक दोनो है। अपने विषयप्रतिपादन के लिये उन्होने कथाओं की अभिव्यक्ति की है। मलूकदास के साहित्य को तीन विभागो मे विभाजित कर सकते हैं : (१) चारित्रिक ग्रंथ, (२) कथानक ग्रंथ, (३) स्फुट रचनाएँ। शृंगार एवं शांत रसों की मलूकदास के साहित्य में प्रधानता है। मलूकदास की विरहानुभूति बड़ी प्रभावशाली और मार्मिक है। मलूकदास की प्रतिभासंपन्न लेखनी से निर्गुण, ब्रह्म, ज्ञान, भक्ति, प्रेमसत्संग, योग, मूर्ति उपासना, वाह्याचार, अनहदनाद, आदि विषयों की अभिव्यंजना हुई है। इसके अतिरिक्त हमारे कवि ने कुछ नीति संबंधी कविता की भी रचना की है। मलूकदास के भाव एवं विचार विश्वकल्याण के रंग में अनुरंजित थे। भावुकता एवं कल्पनोत्कर्ष मे नैकट्य का संबंध है। फलतः कवि के साहित्य में कल्पनाओं के विस्तार तथा प्रसार के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। मलूकदास की कल्पनाओं का उत्कर्ष केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् उसका साहित्यगत महत्व भी है।

मलूकदास की काव्यभाषा अवधी है। 'ज्ञानबोध', 'रतनखान', 'ज्ञानपरोछि'

[1] वही।
[2] सं० द०, पृ० २१९।

आदि ग्रंथों की रचना अवधी भाषा में हुई है। कृष्णचरित् से संबंधित ग्रंथों की भाषा व्रजभाषा है। कवि ने स्थान स्थान पर संस्कृत, फारसी, तथा अन्य बोलियों के शब्दों का प्रयोग किया है। मलूकदास के काव्य में फारसी शब्दों के प्रयोग तीन प्रकार से उपलब्ध हैं। प्रथम वे रचनाएँ हैं जिनमें अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग ६० प्रतिशत हुआ है। उदाहरणार्थ :

है हजूर नहि दूर हमा जा भरपूर।
जाहिर जहान जाका जहूर पुरनूर॥
वेसवूत वेनमून वेचगून ओस्त।
हमा औरत हमा अजोस्त जान जानाँ दोस्त॥[1]

द्वितीय कोटि की वे रचनाएँ हैं जिनमें ५० प्रतिशत फारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है।[2] तृतीय कोटि की वे रचनाएँ हैं जिनमें फारसी के शब्दों का प्रयोग अल्प मात्रा में हुआ है।[3] मलूकदास के काव्य में खड़ीबोली का विकासशील और सुष्ठु रूप उपलब्ध होता है। प्रस्तुत उद्धरण से कथन का समर्थन होता है :

दीन दयाल सुनी जबते तबते हिय में कछु सो बसी है ऐ।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं तेरे हित की पटखेच कसी है॥
तेरोई एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरो हँसी नहीं तेरी हँसी है।

कबीर की स्फुट रचनाओं में खड़ीबोली का और भी अधिक विकासशील रूप मिलता है।

मलूकदासी पंथ का जन्म कब हुआ था, यह निश्चित नहीं। 'परिचयी' में इसका कोई उल्लेख नहीं है। परंतु परिचयी में मलूकदास द्वारा शिष्य बनाए जाने का वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है। सर्वप्रथम शिष्य बनाने का उल्लेख मलूकदास के जगन्नाथ जी की यात्रा से लौटने पर होता है। मलूकदास ने ७० वर्ष की अवस्था में जगन्नाथ जी की यात्रा की थी। अतः यह निश्चय होता है कि मलूकदासी संप्रदाय का जन्म संवत् १७०७ के लगभग हुआ। मलूकदास के जीवनकाल में इस सप्रदाय के उच्चादर्शों ने जनता को अत्यधिक अपनी ओर आकर्षित किया। फलतः हिंदू और मुसलमान दोनों ही इस संप्रदाय के अतर्गत दीक्षित हुए। मलूकदास के अनंतर रामसनेही महंत हुए। महंत गंगाप्रसाद (आठवें महंत) के समय में संप्रदाय की

१ 'म० दा० बा०', पृ० २०।
२ वही, पृ० ४।
३ वही, पृ० १५।

बड़ी उन्नति हुई। गंगाप्रसाद के अनंतर नंदसुमेरदास महंत हुए। इनका जीवनकाल बहुत अल्प रहा। इनके पश्चात् गद्दी पर अयोध्याप्रसाद हुए। इनके समय में संप्रदाय की गद्दियों में खूब प्रचार और धन संग्रहीत हुआ। इन्हीं के समय मे मलूकदास के ग्रंथों का पुनर्लेखन हुआ। मलूकदासी संप्रदाय के शिष्य गृहस्थ और साधु दोनों प्रकार के लोग हैं। अंत्यज, कुलीन, बालक, वृद्ध, हिंदू मुसलमान सभी को इस संप्रदाय के उच्चादर्शों ने समान रूप से अपनी ओर आकर्षित किया। मलूकदास ने अपने जीवनकाल मे कितने शिष्य बनाए, यह ठीक प्रकार से नहीं कहा जा सकता है। परंतु 'परिचयी' में दयालदास, सुंदामादास, उदयराम, केशवदास, हृदयराम, गरीबदास, हाथीराम, रामदास, मोहनदास, पूरनदास, लालनदास आदि प्रमुख शिष्यों का वर्णन है। मलूकदासी संप्रदाय में गुरु की प्रतिष्ठा को अत्यधिक मान दिया गया है।

मलूकदासी संप्रदाय में दीक्षोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। यह समारोह शिष्यों की उपस्थिति मे संपन्न होता है। दीक्षार्थी बाल बनवाकर स्नान करके गुरु के पास जाता है। गुरु, उसे परमतत्व का बोध करने के लिये, गुप्त रूप से मंत्र सुनाता है। मंत्र पूर्ण होने पर गुरु के चरणों मे शिष्य आत्मसमर्पण करता है और सामर्थ्यानुसार दीन हीनों तथा संप्रदाय के प्रचार के लिये श्रद्धापूर्वक धन अर्पित करता है। इस अवसर पर अर्धरात्रि तक कीर्तन और जागरण होता है।

रामसनेही इस संप्रदाय के सर्वप्रथम महंत थे। रामसनेही के अनतर कृष्णसनेही, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजविहारीदास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद, नंदसुमेरुदास, अयोध्याप्रसाद, कृष्णप्रसाद, ब्रजलाल महंत हुए। वर्तमान समय मे हनुमानप्रसाद महंत हैं।

(६) बाबालाल तथा बाबालाली संप्रदाय

बाबालाल नामक चार साधकों का आविर्भाव पंजाब प्रात मे हुआ। इन चारों का परिचयात्मक विवरण देते हुए श्री एच० ए० रोज ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ए ग्लासरी' मे लिखा है कि इन चारों मे से प्रथम पिंडदादान खाँ के निवासी थे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनके स्पर्श मात्र से शुष्क वृक्ष भी हरे भरे हो उठते थे। इस विशेषता के कारण इनके भक्त इन्हें 'टहनीवाला' कहते थे। दूसरे संत बाबा पश्चिमी प्रांत के मेरा या थेरा नगर के निवासी थे। तृतीय सत बाबालाल का निवासस्थान निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है, परंतु उनका एक मठ गुरुदासपुर मे स्थित है। इन तीनों संतों के अतिरिक्त एक और संत कवि बाबालाल हुए हैं जो इन सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली थे। श्री रोज के मतानुसार इन्हीं चतुर्थ संत बाबालाल और शाहजादा दाराशिकोह का संपर्क और धार्मिक संलाप हुआ था।[1]

[1] ए ग्ला० ट्रा० का०, भा० २, पृ० ३१।

आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय के मतानुसार दारा शिकोह के संपर्क मे आनेवाले संत कवि बाबालाल मालवा प्रदेश के एक खत्री परिवार में आविर्भूत हुए। इनका आविर्भावकाल सं० १६४७ (अथवा सन् १५६० ई०) माना जाता है।[1] ये बाल्यावस्था से ही बड़े भक्त और संसार से विरक्त थे। दुःखी और दीन व्यक्तियों की सेवा करने मे इनके चित्त को बड़ी शांति मिलती थी। अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा शांत करने के लिये एक बार ये अपने जन्मस्थान मालवा से लाहौर की ओर गए। यहीं पर उनकी भेंट चेतन बाबा या चैतन्य स्वामी से हो गई। इनसे बाबालाल अत्यधिक प्रभावित हुए और इन्हीं से दीक्षा ग्रहण की।

बाबालाली संप्रदाय में विश्वास एवं आस्था रखनेवालों के अनुसार संत बाबालाल का जन्म माघ शुक्ल द्वितीय, संवत् १४१२ को हुआ और देहावसान कार्तिक शुक्ल १० संवत् १७१२ वि० को हुआ। इस प्रकार इनका जीवनकाल ३०० वर्षों तक चलने का प्रमाण मिलता है। संप्रदाय के अनुयायियों के अनुसार इनका जन्मस्थान पंजाब प्रांतार्गत कुसूर या कुशपुर नामक ग्राम था। इस संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि बाबालाल जी के दीक्षागुरु चैतन्य स्वामी ही थे। संप्रदाय के अनुयायी यह भी स्वीकार करते हैं कि बाबालाल की भेंट और मिलन इतिहासप्रसिद्ध दारा से हुआ था।

संत बाबालाल के पिता का नाम भोलानाथ और माता का नाम कृष्णादेवी था। प्रसिद्ध है कि आठ वर्ष की अवस्था में ही बाबालाल ने धर्मशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों का अध्ययन कर लिया था। दस वर्ष की अवस्था में इनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया फलतः ये सत्य और सद्गुरु की खोज में भ्रमणार्थ निकल पड़े। चेतन बाबा या चैतन्य स्वामी से इनकी भेंट ऐरावती नदी के निकटवर्ती ग्राम शहदरा में हुई। चेतन बाबा और बाबालाल के विषय मे अनेक चमत्कारपूर्ण वार्ताएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चेतन स्वामी की आज्ञा पाकर ये अपने २२ प्रमुख शिष्यों को लेकर पंजाब, काबुल, पेशावर, गजनी, कंधार, देहली, सूरत आदि स्थानों मे भ्रमण करते हुए सत्य और धर्म के उच्चादर्शों का प्रचार करते फिरे।

दाराशिकोह और बाबालाल के मिलन का उल्लेख कई एक लेखकों ने किया है जिनमे प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं एच० ए० रोज, एच० एच० विल्सन तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन। रोज महोदय के दृष्टिकोण का उल्लेख पीछे हो चुका

[1] मि० मि०, पृ० १४०

है। विल्सन महोदय का मत है कि सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल के २१वें वर्ष (सन् १६४६ अथवा सं० १७०६) मे जाफर खाँ के बाग में दाराशिकोह और बाबालाल की भेंट हुई। इस भेंट मे दोनों के वार्तालाप को दाराशिकोह के दो लेखकों (यदुदास क्षत्रिय तथा मीरमुंशी रामचंद्र ब्राह्मण) ने लिपिबद्ध किया था।[1] दोनों इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों का प्रश्नोत्तर के रूप मे वार्तालाप 'असरारे मार्फत' में संगृहीत है। 'नादिरुन्निकात' नामक ग्रंथ में भी इनके विचारों का संग्रह हुआ है।

बाबालाल की रचना नाम से कुछ दोहे, साखी और पद प्रकाशित हुए हैं, यद्यपि संत बाबालाल की प्रामाणिक रचनाओं का कोई संग्रह अभी तक नहीं प्रकाशित हुआ है।

संत बाबालाल की विचारधारा और सिद्धांत वेदांत और सूफी मत से प्रभावित हैं। वे विशुद्ध एकेश्वरवादी थे। इनके मत से ब्रह्म एक अपूर्व आनंद-सागर है जिसका प्रत्येक जीव एक बिंदु के समान है। अहं भावना जीव और ब्रह्म मे भेद अथवा वियोग का कारण है यह अहं माया का पर्याय है। बाबालाल बड़े उच्च कोटि के विचारक थे। दारा के प्रश्न (जीवात्मा और परमात्मा मे क्या अंतर है[1]) के उत्तर में जो शब्द उनके मुख से उच्चरित हुए वे उनके गहन चिंतन के द्योतक हैं। उत्तर रूप मे उन्होंने कहा दोनों मे कोई अंतर नहीं है। शारीरिक बंधनों के कारण जीवात्मा सुख दुःख का अनुभव करता है। गंगा का जल प्रत्येक दशा मे पवित्र है चाहे वह गंगा में बहता रहे और चाहे किसी बर्तन में पृथक् कर लिया जाय। इतना होने पर भी दोनों मे अंतर है। पात्र या बर्तन में पृथक् किया हुआ जल शराब की एक बूँद गिरते ही दूषित हो जाता है, परंतु सरिता में वह शराब की बूँद कोई अस्तित्व नहीं रखती। जीवात्मा इंद्रियों की वासनाओं और माया के संपर्क से प्रभावित हो जाता है। संत बाबालाल के मत से प्रकृति एवं सृष्टि का संबंध तरंग और समुद्र के संबंध की भाँति है। दोनों एक ही हैं परंतु प्रकृति से सृष्टि का विकास कारणों की अपेक्षा रखता है।

संत बाबालाल की साधना बड़ी प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी है। निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है :

जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत। धरे मौन, भावे गावे गीत।
निसदिन उन्मन रहित खुसार। शब्द सुरत जुड़ए को तार॥
न गृह गहे न बन को जाय। लाल दयालु सुख आतम पाय॥

[1] रि० से० हिं०, पृ० ३५०।

आशा विषय विकार की, बध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में, भरमत बारंबार॥
जिह की आशा कछु नहीं, आतम राखे शून्य।
तिहँ को नहि कछु भर्मणा लागे पाप न पून्य॥
देहा भीतर श्वास है श्वासे भीतर जीव।
जीवे भीतर वासना किस बिधि पाइये पीव॥
हिंदू तो हरिहर कहे, मुस्सलमान खुदाय।
साँचा सद्गुरु जे मिले, दुविधा रहे ना काय॥
जाके अंतर वासना, बाहर धरे ध्यान।
तिहँ को गोविंद ना मिले, अंत होत है हान॥

बाबालाल ने साधना मे शम, दम, दया, चित्तशुद्धि, परोपकार, सहजभाव, सत्यदृष्टि और सत्यप्रियता को अधिक उपयोगी माना है। साधना घर में रहते हुए भी संभव है। साधना के लिये शरीर को कष्ट देने और तप करने की आवश्यकता नहीं है। वासना और आशाएँ जीव को माया मे बाँधे हुए हैं, और आवागमन के फेरे उन्हे कष्ट देते हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, व्रतादि को इन्होने निस्सार बताया है। साधना का सार है ईश्वरीय प्रेम और परोपकार।

बाबालाल के अनुयायी सीमा, बड़ौदा, गुरुदासपुर, आदि स्थानों मे पाए जाते हैं। बड़ौदा मे इनका एक मठ है जिसे 'बाबालाल का शैल' कहते हैं। इनका प्रधान स्थान है गुरुदासपुर का श्रीध्यानपुर गाँव। यहीं पर इनके मठ और मंदिर हैं जहाँ प्रति वर्ष वैशाख की दशमी एवं विजयादशमी के दिन मेला लगता है।

बाबालाल की कविता उनके व्यक्तित्व के अनुसार ही सरल और प्रभावशाली है। बड़े सरल शब्दों मे उन्होंने गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण तथ्यो की अभिव्यंजना की है। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। निम्नलिखित पंक्तियो से उनकी कवित्वशक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है:

देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जीवै भीतर वासना, किस विधि पाइये पीव॥

तथा

हिंदू तो हरिहर कहे, मुस्सलमान खुदाय।
साँचा सद्गुरु जे मिले, दुविधा रहे न काय॥

इन पंक्तियो मे भावाभिव्यंजना, भाषा का प्रवाह और अभिव्यंजना शक्ति दर्शनीय है।

सप्तम अध्याय

फुटकर संत एवं संतपरंपराएँ

१. संत साँईदास

संत साँईदास का जन्मस्थान 'वछोकी' नाम का कोई स्थान बतलाया जाता है जो कहीं पंजाब प्रांत में अवस्थित है। ये सं० १५२५ की माघ कृष्ण १३, बृहस्पतिवार को पुष्य नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम 'मल्लिराय' था। ये स्वयं पहले 'हेमराज' कहलाते थे। ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे, किंतु कभी कभी इनका भास्कर वंश का भी होना ठहराया जाता है। इनकी 'गुर परनाली' जो 'गुसाँई गुरुबानी' ग्रंथ के लगभग अंत में दी गई मिलती है उसके अनुसार ये स्वामी रामानंद के शिष्य अनंतानंद के शिष्य परमानंद के शिष्य मुकुंददास के शिष्य थे[1]। इनकी 'गुसाँई परंपरा' का इस रूप में भी पंजाब प्रांत में वर्तमान होना कहा जाता है। 'गुसाँई गुरुवानी' नामक संग्रह के अंतर्गत, इनकी अपनी रचनाओं के अतिरिक्त, अन्य कुछ लोगों की भी कृतियाँ संगृहीत कर ली गई हैं जिनमें एक इनकी 'जीवनी' भी है। इससे पता चलता है कि साँईदास ने गार्हस्थ्य जीवन भी व्यतीत किया था। इनके पाँच पुत्र नरहरदास, अरविंदास, विष्णुदास, सुषानंद एवं रामानंद थे। इसके सिवाय इसमें यह भी लिखा पाया जाता है कि इनसे मिलने के लिये गुरुनानक देव इनके यहाँ गए थे। इनकी रचना 'रतनज्ञानि' के आधार पर इनके मत का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है तथा इसके द्वारा इनकी रचनाशैली आदि का भी कुछ पता लगाया जा सकता है। इनका कहना है कि परमपद प्राप्त करने का उपाय साधु संतों का 'उत्तमदर्शन' लाभ करना है, 'जोग जुगल' एवं ज्ञान के द्वारा सहज समाधि का होना संभव है, नामजप का करनेवाला ही 'ज्ञानिरतन' की पहचान कर सकता है और अनहद का अनुभव करने पर जब आनंद होता है तभी 'जीवितमुआ' (जीवन्मुक्त) की भी दशा प्राप्त होती है। इनके अनुसार :

> जिनके मन उपिजी परितीत। निर्मल होवे ताका चीत॥
> भावे वेद पढ़े गुनि गावे। भावे मनि मंडलि होय आवे॥

[1] द्रष्टव्य—'राघवानंदि के रामानंदि, रामानंदि के शिष्य अनंतानदि, अनंतानंदि के शिष पर्मानंदि, पर्मानंदि के शिष मुकंददास, मुकंददास के शिष्य सांईदास।—पृ० ७८७।

भावे उदिर भरि भरि षावे। भावें सूषम भोजिन पावे॥
भावे कपिड़े अंगि हढ़ावे। भावें नागा बनि उठि धावे॥
इत्यादि, पृ० २४।

तथा 'आतम मनि बुद्ध एकु है, यामें भेदनि कोय।
सांईदास जो मानै तो मान लेह कहे होत नहीं दोय॥—पृ० २७।

इन्होंने परमतत्व का परिचय देते हुए भी बतलाया है :

जलि थल भीतिर रह्या समाई। अविगति गत कछु लपी न जाई।
पसुपंपी में ताह निवासा। अस्थावर जंगम महँ वासा॥
जो दीसे सो ताह सरूपा। गहिर गंभीर जो सदा अनूपा॥
अनंति रूप कछु वरनि न जाई। जिनको जानो होति सहाई॥
विना सहाय कहा कछु होई। साँईदास जपु हरि हरि सोई॥
—पृ० ३५।

इन्होंने उसके लिये अनेक सगुणपरक नामों के भी प्रयोग किए हैं, किंतु केवल इसी कारण इन्हे विशुद्ध सगुणोपासक भक्तों की श्रेणी मे रखना उचित न होगा।

२. संत जसनाथ एवं जसनाथी संप्रदाय

जसनाथी वा सिद्ध सप्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध जसनाथ का जन्म सं० १५३६ की कार्तिक शुक्ल ११ जाणी जाट हमीर जी के घर हुआ था। कहते हैं कि ये उनके औरस पुत्र नहीं थे, प्रत्युत ये उन्हें ८५ वर्ष की अवस्था मे, 'डाबला' स्थान पर बालरूप मे मिल गए थे। हमीर जी बीकानेर राज्य के 'कतरियासर' के अधिपति थे जिन्होंने इन्हे पोष्य पुत्र के रूप मे पाला पोसा और इनका नाम 'जसवंत' रख दिया। जब ये बारह वर्ष के हुए थे इन्हे ऊँटनियों को चराते समय गुरु गोरखनाथ मिल गए जिन्होंने इनके कान मे 'सत्यशब्द' फूँक दिया। इन्होंने तदनंतर वहीं पर अपने हाथ की छड़ी जमीन मे गाड़ दी और वहीं बैठकर 'साधना' करने लगे। वह स्थान 'गोरखमालिया' नाम से प्रसिद्ध हो गया। सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् इन्होंने फिर औरों को उपदेश देना भी आरंभ कर दिया और सं० १५५७ मे इनकी भेंट जांभोजी से हुई जिनसे इनका वार्तालाप भी हुआ। जिस समय ये केवल १० वर्ष के थे तभी इनकी सगाई 'कालड़दे' के साथ हुई थी, किंतु विवाह न हो सका, यद्यपि उन्होंने इन्हे सदा पतिवत् ही स्वीकार किया। इसलिये, जब ये अंत मे सं० १५६३ की आश्विन शुक्ल ७ को समाधिस्थ हुए उसी समय, वे भी समाधि में लीन हो गई और 'महासती' नाम से प्रसिद्ध हुईं। सिद्ध जसनाथ का देहावसान केवल २४ वर्ष की ही अवस्था मे हुआ था, किंतु तभी तक इनके कई शिष्य भी हो गए थे। इनके ऐसे शिष्यो मे 'हारोजी' विशेष प्रसिद्ध हुए तथा इनके प्रशिष्यों में भी

हाँसोजी एवं रुस्तमजी के नाम श्रद्धा के साथ लिए जाते हैं। जसनाथ जी की उपलब्ध रचनाओं मे 'सिभूंधड़ा' तथा 'कोंड़ाँ' प्रकाशित हो चुकी हैं, किंतु इन्हे कभी कभी इनके किन्हीं शिष्य प्रशिष्यों की कृति भी कहा जाता है।

सिद्ध जसनाथ जी के नाम पर जो संप्रदाय चला उसके प्रमुख स्थलों मे 'कतरियासर', 'वयलू', 'लिखमादेसर', 'छाजूसर' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं जहाँ पर मेले लगा करते हैं तथा लोकगीतों एवं लोकनृत्यों का प्रदर्शन भी होता है। इसका प्रचार राजस्थान प्रांत के अतिरिक्त, कच्छ, भुज्ज, पंजाब, हरियाणा तथा मालवा आदि प्रदेशों मे अधिक है जहाँ पर लोकसाहित्य को लोकप्रियता भी कम उपलब्ध नहीं है। परंतु इसका अधिकांश पीछे निर्मित हुआ है जिस कारण मूल सांप्रदायिक सिद्धात एवं साधना की दृष्टि से, उसे यथेष्ट महत्व नहीं दिया जा सकता। इसको सांप्रदायिक सिद्धांत विशेषकर नाथमत द्वारा प्रभावित जान पड़ता है जिससे हमें यह भी विदित होता है कि ऐसा सभवतः उन दिनों उस मत के राजस्थान की ओर अधिक प्रचलित होने के कारण हुआ होगा जहाँ के ऐसे अन्य संप्रदायों मे 'विश्नोई' और 'निरंजनी' भी थे। फिर भी सिद्ध जसनाथ के 'जोग' का लक्षण यही प्रतीत होता है कि अपने शरीर की पुस्तक पर मनरूपी लेखनी से भगवान् के गुण लिखे जायँ, अमृत जैसे मधुर शब्द बोले जायँ और गुरूपदेश के अनुसार सदा चलने का प्रयत्न किया जाए:

'मनकर लेखण तनकर पोथी, हरगुण लिखो पिराणी।
अमी चवै मुख इमरित बोलो, हालो गुर फरमाणी॥'[1]

तथा

'हम दरवेश निरंजन जोगी, जुग जुगरा अगवाणी।
जासूं जैसा तासूं तैसा, और न बोला वाणी॥'[2]

जिसके द्वारा यह भी पता चल जाता है कि इनके अनुयायियों का सर्वसाधारण के साथ पारस्परिक व्यवहार का आदर्श भी क्या था।

३. संत कमाली

संत कमाल की ही भाँति 'त कमाली का भी संत कबीर की संतान होना बतलाया जाता है और इसे उनकी शिष्या भी ठहराया जाता है। डा० एफ० ई० की ने इसे वस्तुतः शेख तकी की पुत्री कहा है जिसे संत कबीर ने, मृत्यु के आठ दिनों पीछे, कब्र से निकालकर जिलाया तथा अपनी पोष्य पुत्री के रूप मे पाला

१ सि० च०, पृ० ६७।
२ वही, पृ० ६६।

पोसा था[1] और तदनंतर यह किसी पंडित वैरागी को ब्याह भी दी गई थी जैसा अनुश्रुतियों के अनुसार प्रचलित चला आता है। दादूपंथी राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' के अंतर्गत इनका नाम संत कबीर के नौ शिष्यों में लिया है[2] और इनको वहाँ पर संत कमाल के अनंतर दूसरा ही स्थान प्रदान करके इसके विषय मे एक पृथक् पद्य की रचना भी कर डाली है। उन्होंने अपनी उक्त रचना के 'छपै' (सं० १८३) मे संत कमाल को, स्पष्ट शब्दों मे, 'कबीरसुत' कहा है तथा उनको, अपने पिता के समाज में कुछ दिनों तक रहने, 'सतवादी सतसूर' होने, भजन से कभी न हारने, शुकसनकादि जैसे नियमपूर्वक 'निरगुण' का गान करने, 'मन बच क्रम' के अनुसार, 'मगन' बने रहने, अपनी 'रहणि' के आधार पर, उस दशातक पहुँच जाने जहाँ 'काल' की गति न हो तथा, इस प्रकार, अद्भुत कला प्रदर्शित करनेवाला बतलाया है। परंतु उसी ग्रंथ के छपै (सं० ३५४) के अंतर्गत संत कमाली का परिचय देते हुए केवल इतना ही कहा है कि संत कबीर की कृपा से कमाली के हृदय मे प्रेमाभक्ति का उदय हुआ जिसमे सदा 'लैलीन' रहती हुई यह शील की अपार अवधि तक पहुँच गई। इन्होंने क्षमा, दया एवं सत्कार को सब कुछ माना तथा संसार को 'झूठ' समझकर उसके प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। यह पहले, कदाचित् गुरु गोरखनाथ के पंथ की अनुगामिनी रहीं जिस कारण यह कभी अलख जगाती हुई, संभवतः संत कबीर की परीक्षा लेने के उद्देश्य से उनके पास कोई 'पत्र' भराने के लिये आईं, किंतु उन्होंने, इसके बदले मे, इन्हे कोई 'बर' प्रदान कर दिया जिसके फलस्वरूप यह प्रेमी भक्तिन बन गईं। वास्तव मे राघोदास के उक्त छप्पय की पंक्तियों द्वारा निर्दिष्ट प्रसंग उतना स्पष्ट नहीं होता, किंतु यहाँ पर यह सत कबीर की पुत्री भी नहीं जान पड़तीं। जैसे —

कबीर कृपा तें ऊपजी, भक्ति कमाली प्रेम पर ॥
सदा रही लैलीन, सील की अवधि अपारा।
छमा दया सतकार, झूठ जान्यों संसारा ॥
श्री गोरख मन भई, कमाली पारिख लीजै।
अलख जगायो आइ हमारौ पत्र भरीजै ॥
राघौ डार्‌यौ येक वर, उमंगि पत्र परियौ सु घर।
कबीर कृपा तें ऊपजी, भक्ति कमाली प्रेम पर ॥३५४॥ (पृ० १७८)

फिर भी संत कमाली के संबंध मे एक प्रसिद्धि इस रूप मे भी सुनी जाती है कि संत कबीर ने अपनी इस पुत्री का विवाह मुल्तान मे कर दिया था जहाँ

[1] क० ऐ० हि० फा०, पृ० ६६।
[2] भ० मा० रा० दा० ('छपै' ३५३, पृ० १७८)।

इनकी रची समझी जानेवाली काफियाँ भी 'बहुत संख्या में' मिलती हैं।[1] किंतु इसके लिये कोई स्पष्ट आधार नहीं बतलाया जाता। इनके संत कबीर की पुत्री होने का उल्लेख रेवरेंड वेस्टकाट ने भी किया है तथा उन्होंने इसका विवाह एक ऐसे पंडित के साथ किए जाने के विषय मे लिखा है जो, पहले प्यासा होने पर भी, इसके हाथ का छुआ जल पीने के कारण पूरा पछताया था। किंतु संत कबीर द्वारा समाधान पाकर फिर अपनी भूल मान भी गया था। कबीरपंथी पंडित श्री ब्रह्मलीन मुनि ने, अपने ग्रंथ 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' के अंतर्गत, इस प्रसंग का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ किया है तथा उन्होंने यह भी कहा है कि उन दिनों कमाली काशीनरेश द्वारा दिए गए किसी छोटे से आश्रम मे रहा करती थी और यह भक्ति आदि आत्मकल्याण संबंधी साधनों मे सदा निरत भी रहती थी।[1] उक्त पंडित जी को यहाँ 'सर्वाजीत' नाम दिया गया भी जान पड़ता है जिन्होंने संत कबीर द्वारा पराजित हो जाने के अनंतर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। संत कमाली के संत कबीर की औरस पुत्री, पोष्य पुत्री अथवा केवल शिष्या मात्र होने अथवा न होने का अंतिम निर्णय करने मे इसके जीवनकाल विषयक स्पष्ट धारणा का बन जाना तथा उसका किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर आधारित होना सहायक बन सकता था किंतु अभी तक उपलब्ध सामग्रियों के बल पर इसकी कोई संभावना नहीं दीख पड़ती। इतना अवश्य है कि अभी तक जो कुछ रचनाएँ इनके नाम से पाई जाती है उसमें से कुछ मे इनके द्वारा अपने को 'कबीर की लड़की' कहा जाना स्पष्ट दीख पड़ता है। इस प्रकार की कतिपय बानियों का राजस्थान प्रांत के अंतर्गत बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर आदि के गाँवों मे प्रचलित होना समझा जाता है और इनमे से कम से कम तीन को जैसलमेर से प्रकाशित 'जनपदीय संत और उनकी वाणी' में भी स्थान दिया गया है। इस पुस्तक के आरंभ मे कुछ संतों का एक पुराना सामूहिक चित्र भी प्रकाशित है जिसमे सत कमाली, संत कबीर के निकट बैठी हुई दिखलाई गई है। इस चित्रवाले अन्य सतों मे पीपा, सेन, रैदास के अतिरिक्त संत नामदेव तथा कोई एक औघड़ भी एक साथ चुपचाप बैठे हुए हैं। उसमे पाए जाने-वाले तीन पदों मे से कुछ पंक्तियाँ, उदाहरणस्वरूप इस प्रकार दी जा सकती हैं :

साधो हमसे बदत हमारी।
मेरी बीण अर मैं ही बजाऊँ, दूजो न वजावणहारी।
हमई ग्वाल हमही गोपी, हमई है गिरधारी।
क्रिसन कंस सवई हमहैं, हमहैं अनहद विहारी।

[1] पं० प्रां० हिं० सा० इ०, पृ० ६० ।

चंदा भी हम हैं सूरज भी हम हैं, हम हैं दस अवतारी।
आदि भी हम हैं अंत भी हम हैं हमसे कोई अन न्यारी।
काम क्रोध मद लोभ मोह में, सबही भभूत हमारी।
ये सब मुझमें मैं नहीं इनमें, जानत कोई संत सुरारी।

× × ×

सायब कबीर मोय समझावै, समझावै समझ बिचारी।
कहत कमाली कमाल हमेसा थक गए वेद विचारी॥१॥
रामके नाम की छाप निरवाण है, और के नाम की छाप झूठी।

+ + +

कैवै कमाली कबीर की लड़की, देखतों देखतों लंक लूंटो॥२॥
कासी जी सूं चल्यो बिरामण, चार वेद पढ़ आयो जी।
आय कवीर घर पाणी पीयो पी पाणी पिसतायो जी।

+ + +

धन धन कैवै कबीर की कमाली, भूल्यांनै राह दिखाई जी।
इत्यादि॥३२॥[1]

४. हीरादासी परंपरा

इस नामवाली सतपरंपरा के प्रवर्तक संत हीरादास कहे जाते हैं जिनकी गणना निर्वाण साहब की शिष्यपरपरा मे की जाती है। निर्वाण साहब के किसी गुरु आदि का पता नहीं, किंतु वे सूरत के रहनेवाले थे और उनका सबंध, कदाचित् संत कबीर के अनुयायियों से भी रह चुका था। संत हीरादास का जीवनकाल सं० १५५१ से लेकर सं० १६३६ तक समझा जाता है और इनका निवासस्थान भी सूरत ही बतलाया जाता है। इनके लिये यह भी प्रसिद्ध है कि ये उक्त निर्वाणदास के उत्तराधिकारी गद्दीधारियो मे से थे तथा इन्होंने किसी 'खिन्नी' नामक वेश्या का उद्धार किया था। इनकी बानियों मे से भी बहुत कम उपलब्ध हैं। इन्होंने अपनी एक रचना मे निम्न रूप से उपदेश दिया है :

[1] पृ० ६२३ (ज० सं० वा०)।

'तेरी वाली उमरियाँ रे, दीवाना क्यों गफलत में राचेरी ॥टेक॥
सच्चा हीरा तेरे हाथ न आवे, पाया तोहे काँचेरी ॥'[1] इत्यादि

फिर उसी गद्दी के महंतों में किसी समर्थदास का भी नाम लिया जाता है जो अपने जन्मस्थान सिद्धपुर (उत्तर गुजरात) से आए थे और जिनका जीवनकाल भी सं० १५५१ से सं० १६२१ तक ही था। इनका मूल नाम 'बंकाजी' कहा जाता है। किंतु पता नहीं, उनका संबंध उस रूप मे कभी संत कबीर के साथ भी रहा वा नहीं जिनके शिष्यों मे एक नाम 'बंकेजी' का भी प्रसिद्ध है। इनकी रचनाएँ 'वैराग्य अंग', 'उपदेश अंग' जैसे विभिन्न भागों मे विभाजित कही जाती हैं, किंतु अभी तक वे पूरी की पूरी प्राप्त नहीं हो सकी हैं। इनमे से एक इस प्रकार है :

'अलख में प्रीत लगाव पियारे।
तोहे यहाँ से एक दिन जावना है ॥'[2] इत्यादि।

इनके एक उत्तराधिकारी माधवदास का जीवनकाल सं० १६०२–५३ तक रहा जिनके ५०० पद एवं ५८१ कुंडलियों का उपलब्ध होना कहा गया है। इनका एक पद इस रूप मे मिलता है :

भ्रमर कलिया में लिपटायो ॥ टेक ॥
जल बिच छीप छीप बिच मोती, स्वाति जाके मुक्ता में समायो।
वृक्ष भूमि में, बीज वृक्ष में, वृक्ष जाके पुनि बीज छुपायो ॥
चकमक में आग, मेंहदी में लाली, तेल कसे तिल में सिरजायो।
तुही हो मुझमें, मैं हूँ तुझमें, दोनों में माधवदास दरसायो ॥[3]

इन संत माधवदास के भी एक शिष्य प्यारेदास हुए जिन्होंने इनकी गद्दी सँभाली तथा जिनका जन्म संवत् १६२६ बतलाया जाता है। इनको मूलतः कहीं काशी की ओर का होना कहा गया है। इनकी भी रचनाएँ फुटकल रूपों में ही मिलती हैं जिनके उदाहरण में एक नीचे दी जाती है :

'खोजत खोजत हारी साजन तेरो देश कहाँ ॥ टेक ॥
साजन तोहे खोजत निकलत आय पड़ी दूर देश।
आजहूँ तेरा पता न पाया, जल गयो जोवन वेश।
काला केश विलाय गये ही, सिर पर आय सफेदी।
नवरंग चीर फीके हो गये, उड़ गई लाल मेंहदी।

१ 'संतवाणी' (मासिक पत्रिका), 'संत साहित्य परिषद्', आरा (वर्ष ३, अंक ६), पृ० ५।
२ वही, पृ० ६।
३ वही, पृ० ६-७।

अब तो बुढ़ापा आयो भयावन, काँपन लागे शरीर।
नयन नासिका नीर वहत है, देही में डूब गई पीर।
पल पल पियु जी नाम पुकारे, साद सुनो हो गुसाँई।
प्यारेदास जन करत वोनतो, कहाँ हो माधव सांई॥"[1]

५. शेख फरीद

सिक्खों के प्रसिद्ध धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथसाहब' के अंतर्गत जो अनेक रचनाएँ शेख फरीद के नाम से संगृहीत की गई हैं उनके रचयिता के विषय में बहुत कुछ मतभेद चला आता है और कुछ लोग जहाँ उसे शेख फरीद 'गंज ए शकर' समझते हैं वहाँ दूसरे उसे कोई ऐसा पुरुष मानते हैं जो उनके अनंतर हुए थे तथा जिन्हे 'फरीद सानी', 'ब्रह्मकला' आदि नामों द्वारा अभिहित करने की परपरा भी चली आ रही है। इनमें से शेख फरीद 'गंज ए शकर' का जीवनकाल सं० १२३० से सं० १३२२ तक है तथा उनके उत्तराधिकारियों की परंपरा शेख बदरुद्दीन से चली थी और इनकी १२वीं पीढ़ी में किसी शेख इब्राहिम वा 'शेख फरीद सानी' का भी होना बतलाया जाता है जिसके साथ, प्रसिद्ध है कि गुरुनानक की भेंट हुई होगी। परंतु जहाँ तक उनके विषय मे लिखे गए परिचयों एवं उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर कहा जा सकता है, उन्होंने (अर्थात् गंज ए शकर ने) अधिकतर मुल्तानी मे ही लिखा था तथा उनके वैसे 'सलोकों' के अधिक संख्या मे निर्मित करने का कोई प्रसंग भी नहीं आता जिन्हें 'गुरु ग्रथसाहब' मे स्थान दिया गया है। एक लेखक ने इन 'सलोकों' का भाषावैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें से केवल कुछ ही ऐसे हैं जिनके साथ 'गंज ए शकर' का कोई संबंध जोड़ा जा सकता है और शेष के लिये यही कहा जा सकता है कि उनके रचयिता कोई दूसरे शेख फरीद होंगे जिनका गुरु नानकदेव का समकालीन होना अथवा जिनके साथ उनका कभी मिल सकना तक भी सिद्ध किया जा सकता है। अतएव, यह भी संभव है कि ये दूसरे शेख फरीद ही इन 'सलोकों' के वास्तविक निर्माता हो तथा इन्होंने ही अपने उक्त आचार्य 'गंज ए शकर' की भी कुछ बानियों को अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए, उनकी रचना कर डाली हो।[2] इन शेख फरीद के विषय मे डा० मेकालिफ ने यह अनुमान किया है कि 'खोलासातुत्तवारीख' के अनुसार ये सं० १६०६ मे मरे थे जिस समय तक, इनके गद्दी पर बैठे ४० वर्ष बीत चुके थे। 'गुरु ग्रंथसाहब' के अंतर्गत

[1] वही, पृ० ७।
[2] दि० ला० ऐ० टा० शे० फ०, पृ० १२२।

संगृहीत इन १३० सलोको मे से कम से कम ११३वें, ११६वें, १२०वे, आदि में शेख फरीद का नाम नहीं आता तथा ३२वें और ५२वें आदि मे स्पष्ट 'नानक' शब्द भी मिलता है जिसके अनुसार कुछ लोगों का अनुमान है कि इनके 'सलोकों' की वास्तविक संख्या ११३ ही हो सकती है। फिर भी इनके आधार पर हम उनकी विचारधारा का न्यूनाधिक परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इनका कहना है कि 'आत्मा (जिंद) वधू है एवं काल (मरण) वर स्वरूप है जो उसका पाणिग्रहण करके उसे लेता चला जायगा। पता नहीं वह जाते समय किसे दौड़कर अपने गले लगाएगी ?' 'अय फरीद जब खालिक खलक के भीतर मौजूद है और उसी में यह सब कुछ अंतर्हित है तो फिर किसको मंद और नीच समझा जाय।' इसी प्रकार 'मैंने पहले समझा था कि अकेले मैं ही दुख में पड़ा हूँ, किंतु अब सभी को दुःख मे ही पड़ा देख रहा हूँ। जब मैंने ऊँचाई पर चढ़कर दृष्टिपात किया तो मुझे ऐसा लगा कि वास्तव मे सभी के घर लगभग एक ही समान आग लगी है।'

६. संत भीषन जी

संत कवि भीषन जी की जीवनी के संबंध मे बहुत कम प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में दो भीषन का उल्लेख मिलता है। इनमे से प्रथम वे हैं जिनकी रचनाएँ 'ग्रंथसाहब' में संकलित हैं और द्वितीय सूफी संत और विचारक थे। लेखकों ने इन दोनों के चरित्र और व्यक्तित्व को एक दूसरे से ऐसा मिला दिया है कि उन्हें पृथक् करना असंभव हो गया है।

संत भीषन जी का जन्म एवं निवासस्थान लखनऊ का निकटस्थ काकोरी ग्राम था। इतिहासकार बदायूनी ने भी उन्हें लखनऊ सरकार के काकोरी नगर का ही निवासी माना है।[१] पं० परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि इन्हें वर्तमान उत्तरप्रदेश के ही किसी भाग का निवासी मानना उचित जान पड़ता है।[२] भीषन जी के काव्य का विषय और भावभूमि को देखकर और रैदास, कमाल, धन्ना के काव्यविषय से साम्य देखकर चतुर्वेदी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। परीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भीषन उत्तर प्रदेश के ही निवासी थे और, इसीलिये इतिहासकार मेकालिफ एवं बदायूनी के कथन सत्य प्रतीत होते हैं कि ये काकोरी के निवासी थे। संत भीषन का समय ठीक प्रकार से नहीं ज्ञात है। बदायूनी का मत है कि उनका स्वर्गवास हि० सन् ६२१ या सन् १५७३–७४ संवत् (१६३०–३१) में हुआ। भीषन जी की रचनाएँ सिखों के 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत हैं अतः

१ दि सि० रे०, भाग ६, पृ०, ४१४६।
२ उ० भा० सं० पं०, पृ० ३८४।

यह निश्चय है, इनका समय अथवा उत्कर्षकाल विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाना चाहिए।

भीषन साहब की बाल्यावस्था का न तो कोई विवरण मिलता है, न उनकी शिक्षा दीक्षा का ही। बदायूनी के मत से ये गृहस्थाश्रम मे रहकर साधना मे तत्पर रहते थे और इन्हे कई संताने उत्पन्न हुई जो ज्ञान, विद्या और विवेक से संपन्न थीं। भीषन जी स्वतः बड़े विद्वान् तथा धर्मशास्त्र के महान् पंडित थे। उनका पवित्र आचरण अनुकरणीय और आदर्श था। भीषन जी बड़े दयालु और लोकसेवक भी थे।

भीषन साहब के दो पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित गुरु 'ग्रंथसाहब' मे सगृहीत हैं। ये पद अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किए जाते है :

१. नैनहु नीरु बहै तनु खीना भये केस दुधवानी।
रूंधा कंठु सबदु नहि उचरै अब किआ करहि परानी॥
राम राइ होहिं वैद बनवारी अपने संतह लेहु उबारी॥१॥
माथे पीर सरीर जलनि है करक करेजे माही।
ऐसी वेदन उपजि खरी भई वाका अउखधु नांहीं॥२॥
हरिका नामु अमृत जलु निरमलु इहु अउखधु जगि सारा।
गुरु परसादि कहै जनु भीखनु पावउ मोख दुवारा॥३॥

२. ऐसा नामु रतन निरमोलक पुनि पदारथ पाइआ।
अनिक जतन करि हिरदै राखिआ रतनु न छपै छपाइआ॥
हरिगुन कहते कहनु न जाई जैसे गुंगे की मिठि आई।
रसना रमत सुनत सुखु स्रवना चित चेते सुखु होई॥
कहु भीखन दुइ नैन संतोषे जह देखा तह साई॥[1]

इन उभयपदों मे राम और रामनाम की महिमा का गान किया गया है। प्रथम पद मे कवि ने कहा है कि वृद्धावस्था मे जब शरीर शिथिल हो जाता है, नेत्रों से जल बहने लगता है और बाल दुग्धवत् श्वेत हो जाते हैं, कंठ अवरुद्ध हो जाता है और शब्दों का उच्चारण करना भी कठिन हो जाता है, उस समय हे राम राय, यदि तुम्ही वैद्य बनकर पहुँचो तो भक्तों के कष्ट दूर हो सकते हैं। जब मस्तक मे पीड़ा उत्पन्न हो जाती है और शरीर दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से दग्ध एवं संतप्त हो उठता है, और जब कलेजा (मर्म) मे व्यथा समुत्पन्न हो जाती है तो, हरिनाम के अतिरिक्त इन कष्टों से मुक्ति पाने के लिये कोई औषधि भी नहीं है।

[1] श्री गु० ग्रं० सा० (सि० मि० अ०)।

यह हरिनाम, अमृतजल सतगुरु के प्रसाद से ही, प्राप्त होता है। द्वितीय पद में कवि ने राम नाम की महत्ता और शक्तिमत्ता का वर्णन किया है।

इन दोनों पदों के वर्ण्य विषय से स्पष्ट है कि भीषन साहब की राम और राम-नाम मे अत्यधिक आस्था थी। कबीर, दादू, नानक, मलूकदास आदि की भाँति इनके हृदय में भी राम और नाम के प्रति अगाध प्रेम था। यदि भीषन की अन्य और रचनाएँ भी प्राप्त हो सकतीं तो उनके व्यक्तित्व और साधना के विषय मे अधिक प्रकाश पड़ता। इन पदों के रचयिता भीषन जी, सूफी नहीं थे यह वर्ण्य विषय स्वयं प्रकट कर देता है। मेकालिफ महोदय के मत से साम्य रखते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'मेकालिफ साहब का कहना है कि जिस किसी ने भी 'आदिग्रंथ' मे संगृहीत पदों को लिखा होगा, वह एक धार्मिक पुरुष अवश्य रहा होगा और, शेख फरीद सानी की ही भाँति, उस समय की सुधार संबंधी बातों से प्रभावित भी रहा होगा। ऐसा अनुमान कर लेना संभव है कि वह भीषन कबीर का ही अनुयायी रहा होगा।'[1] उपर्युक्त दोनों विद्वानों के अभिमत और अनुमान सत्य हैं।

भीषन जी के दोनों पदों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये काव्य-प्रतिभा-संपन्न समर्थ कवि थे। इनके वर्णन भावपूर्ण हैं और अभिव्यंजना शैली प्रभावशाली है। इनकी काव्यभाषा हिंदी थी। मुहावरेदार भाषा लिखने में ये कुशल थे।

---

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० ३८४।

अष्टम अध्याय

कबीर पंथ एवं अन्य पंथ तथा संतों की साहित्यिक परंपरा

१—कबीर पंथ

(क) काशीशाखा—कबीरपंथ की काशीवाली शाखा के प्रवर्तक सुरतगोपाल थे जिन्हें 'अनुरागसागर' में 'अंध अचेत' कहा गया है। वेस्टकाट महोदय के मतानुसार इस शाखा के प्रवर्तक श्यामदास थे और सुरतगोपाल का नाम गुरुपरंपरा मे चतुर्थ स्थान पर आता है। वेस्टकाट महोदय द्वारा उल्लिखित प्रवर्तक श्यामदास का विशेष परिचय नहीं उपलब्ध है। वेस्टकाट महोदय के अनुसार ये सन् १५५९ (या सं० १६१६) मे गद्दी पर बैठे और, ३५ वर्षों तक सिद्धांतों का प्रचार कर लेने के अनंतर, सन् १५९४ (या सं० १६५१) में सामाधिस्थ हुए। वेस्टकाट महोदय की सूचना का आधार अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय नहीं है। उनकी सूचनाओं का आधार है वाराणसी का कोई वैरागी, जिसका कबीरपंथ से कोई प्रत्यक्ष संबंध भी नहीं था। कबीरपंथी ग्रंथों एवं सूत्रों के अनुसार काशी या कबीरचौरावाली शाखा के सर्वप्रथम प्रवर्तक थे सुरतगोपाल। इसके अनुसार वर्तमान गुरु रामविलासदास हैं।[1] निश्चय ही कबीरपंथी ग्रंथ और सूत्रों द्वारा दी गई सूचना अधिक विश्वसनीय और प्रमाणिक है।

कहा जाता है कि सुरतगोपाल जाति के ब्राह्मण और 'अमरसुख निधान' ग्रंथ के रचयिता थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार यह ग्रंथ सुरतगोपाल की रचना नहीं है।[2] सुरतगोपाल की समाधि का श्री जगन्नाथपुरी में स्थित होना बताया

[1]
१. कबीर	८. सुखदास	१५. शरणदास
२. सुरतगोपाल	९. हुलासदास	१६. पूरनदास
३. ज्ञानदास	१०. माधोदास	१७. निर्मलदास
४. श्यामदास	११. कोकिलदास	१८. रंगीदास
५. लालदास	१२. रामदास	१९. गुरुप्रसाद
६. हरिदास	१३. महादास	२०. प्रेमदास
७. सीतलदास	१४. हरिदास	२१. रामविलासदास

—गुरुमाहात्म्य, पृ० १-२।

[2] उ० भा० सं० प०, पृ० २६५-२६६।

जाता है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कोई और सूचना नहीं उपलब्ध होती है। सुरतगोपाल से सातवीं पीढ़ी के गुरु सुखदास के समय मे कबीरचौरा शाखा का अच्छा संगठन हुआ। इनकी समाधि 'नीरू टीले' में आज भी बनी हुई है। सुरतगोपाल के अनंतर चौदहवें महंत शरणदास के समय से कबीरचौरा में गुरुओं की समाधियों का निर्माण होने लगा। इसी समय से कबीरचौरा कबीरपंथ का मुख्य केंद्र बन गया। शरणदास बड़े योग्य और अनुभवी व्यक्ति थे। इनके जीवनकाल में पंथ का अच्छा संगठन और प्रचार हुआ। शरणदास के शिष्य रामरहसदास (सं० १७८२–१८६६) ने, 'बीजक' के आधार पर, 'पंचग्रंथी' नामक रचना तैयार की थी। ये बड़े मननशील संत थे। 'कबीरबाग' (जि० गया) इनका निवासस्थान था।

'कबीरचौरा' वाराणसी नगर में स्थित है। 'कबीरचौरा' मे एक मंदिर बना हुआ है जहाँ पर कबीरदास अपने सिद्धांतों का उपदेश दिया करते थे। 'कबीरचौरा' के दक्षिण ओर 'नीरूटीला' है। कहा जाता है, इसी स्थान पर कबीर के माता पिता नीमा और नीरू का मकान था। कबीरचौरा से प्रायः एक कोस की दूरी पर लहरतारा है, जहाँ पर शिशु कबीर पड़े हुए नीमा को मिले थे। और इसी प्रकार, मगहर (जि० बस्ती) मे कबीर की समाधि भी वर्तमान है। इन सभी स्थानो पर समय समय पर उत्सव मनाने के लिये मेले लगते है और सांप्रदायिक कार्यक्रम कार्यान्वित होते रहते हैं।

(ख) छत्तीसगढ़ी शाखा—कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ शाखा, 'धर्मदासी' शाखा नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक कबीर के प्रमुख शिष्य धर्मदास थे। इस शाखा का मुख्य केंद्र मध्यप्रदेश मे है। इस शाखा के अनुयायियों की संख्या कबीरचौरावाली शाखा से कहीं अधिक है। छत्तीसगढ़ी शाखा की अनेक उपशाखाएँ भी वर्तमान हैं। इस शाखा की स्थापना संभवतः धर्मदास के जन्मस्थान बाधवगढ मे हुई थी।

धर्मदास का प्रामाणिक जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं है। किंवदंती एवं अंतस्साक्ष्य के आधार पर हमे केवल यही ज्ञात है कि धर्मदास कबीर के शिष्य और समकालीन थे। कबीर साहब ने एक बार बांधवगढ़ जाकर धर्मदास का आतिथ्य ग्रहण किया और, अनेक प्रसंगों को लेकर, उन्हें उपदेश दिया। धर्मदास कसौधन बनिया थे। ये बांधवढ़ के निवासी एवं भ्रमणशील व्यक्ति थे। इनका पहले का नाम जुड़ावन था। इनकी पत्नी का नाम आमीना और पुत्रों के नाम नारायणदास एवं चूड़ामणि थे। चूड़ामणि धर्मदास के अनंतर छत्तीसगढ़ की गद्दी पर बैठे। कहा जाता है, नारायणदास पहले कबीर के विरोधी थे, परंतु कालातर वे भी कबीर के भक्त

बन गए थे। कबीर साहब का साक्षात्कार धर्मदास को सर्वप्रथम मथुरा वृंदावन मे हुआ था और तदनंतर इनके हृदय में कबीर के प्रति बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई तथा काशी मे जाकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

धर्मदास के नाम पर अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं से कुछ अंश लेकर 'धनी धर्मदास जी की शब्दावली', शीर्षक से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। छत्तीसगढ़ी शाखा के गुरुओं अथवा परंपरा की सूची देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस गद्दी पर धर्मदास को लेकर १५ गुरु हो चुके हैं। इनकी सूची निम्नलिखित है:

१. धर्मदास	६. केवलनाम	११. प्रकटनाम
२. चूड़ामनिनाम	७. अमोलनाम	१२. धीरजनाम
३. सुदर्शननाम	८. सुरतरामसनेही	१३. उग्रनाम
४. कुलपतिनाम	९. हक्कनाम	१४. दयानाम
५. प्रमोधनाम बालापीर	१०. पाकनाम	१५. काशीदास

पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान एवं कथन है कि 'इस शाखा द्वारा मान्य गुरु परंपरा...देखने से पता चलता है कि उन्हे लेकर आज तक १५ गुरु हो चुके हैं। अब, यदि कबीरचौरावाले गुरुओं की भाँति ही इनकी भी गद्दी के समय का माध्यम २५ वर्ष मान लिया जाए तो, धर्मदास के गद्दी पर सर्वप्रथम बैठने का काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के कहीं द्वितीय चरण मे जाकर पडेगा और इस हिसाब से उनका कबीर साहब का गुरुमुख शिष्य होना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकेगा।'[1] यह अधिक युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। कारण यह है कि विभिन्न गुरुओं की गद्दी के समय का माध्यम २५ वर्ष अधिक है। दूसरी बात यह है कि गुरु-परंपरा की सूची भी बहुत निश्चयपूर्वक प्रामाणिक नहीं कही जा सकती है। धर्मदास की रचनाओं तथा अन्य बाह्य आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मदास ने कबीर से ही गुरुमुख दीक्षा ग्रहण की थी।

कबीरपंथी ग्रंथों मे लिखा है कि कबीरदास ने धर्मदास को, कबीरपंथ का प्रचार करने के लिये, छत्तीसगढ़ी शाखा की स्थापना करने का आदेश देते हुए आशीर्वाद दिया कि भविष्य मे तुम्हारे पीछे ४२ वंश या पीढ़ियो तक इस शाखा द्वारा आदर्शों और सिद्धांतों का प्रचार होता रहेगा। धर्मदास की इस परंपरा मे अष्टम गुरु सुरतसनेहीनाम तक इस शाखा का कार्य सुव्यवस्थित ढंग से संचालित रहा।

[1] उ० भा० सं० प०, पृ० २६६।

किंतु नवम् गुरु हक्कनाम के समय मे पारस्परिक ईर्ष्या और कलह प्रारभ हो गया। हक्कनाम, सुरतसनेहीनाम के औरस पुत्र न होकर, दासीपुत्र माने जाते थे। इसीलिये हटकेसर जैसे मठों के कबीरपंथियों ने छत्तीसगढ़ी से अपना संबंध विच्छेद करके पृथक् सत्ता स्थापित कर ली। इसके अनंतर ग्यारहवें गुरु प्रकटनाम के निधन पर गद्दी के उत्तराधिकार का प्रश्न मुकदमेबाजी के रूप में परिणत हो गया। अंत मे बंबई हाईकोर्ट ने धीरजनाम को बारहवाँ गुरु उद्घोषित किया। तेरहवें गुरु उग्रनाम हुए जो धीरजनाम के विरुद्ध उक्त मुकदमे मे असफल हो गए। सं० १६८४ मे चौदहवें गुरु दयानाम का देहावसान हो गया। इनके अनंतर कबीरसाहब के आशीर्वाद वाक्यांश '४२ वंश' की विभिन्न व्याख्याएँ होने लगी। इस प्रसंग मे निम्नलिखित दोहे,

> नीति सखायी सत्य की, बचन वंश परकाश।
> बचन भानु सो वंश है, प्रकट कहा अविनाश॥[1]

को पृष्ठभूमि मे रखकर उसकी भूमिका मे कहा गया कि कबीर के वंशवाले उनके वे सभी शिष्य हैं जो उनके शब्दों वा वचनों को श्रद्धापूर्वक माननेवाले हैं। अतः दयानाम के अनंतर आविर्भूत गुरु 'नादवश' परंपरा के अंतर्गत आते हैं। इसी आशय के आधार पर, दयानाम के अनंतर एक उपशाखा नादवंश या गादीयवश नाम से स्थापित है जो मध्यप्रदेश के रामपुर जिले मे अब भी वर्तमान है।

नादवंश का प्रारंभ होने से पूर्व आविर्भूत गुरुओं मे पंचम गुरु प्रबोधनाथ तथा अष्टम गुरु सुरतसनेहीनाम बड़े योग्य गुरु हुए। इन दोनों के समय मे कबीरपंथी आदर्शों और साहित्य का बड़ा प्रचार हुआ। सुरतसनेहीनाम का समय छत्तीसगढ़ी शाखा के लिये स्वर्णयुग माना जाता है।

उपशाखाएँ—धर्मदास के निधन के अनंतर उनके ज्येष्ठ पुत्र नारायणदास राघवगढ़ की गद्दी पर बैठे और उनके दूसरे पुत्र चूड़ामणि ने कूडरमल स्थान मे पृथक् गद्दी स्थापित की। यहीं से प्रमोधनाम के समय मे मांडला की प्रसिद्धि हुई। मांडला मे प्रमोधनाम एवं अमोलनाम की गद्दियाँ आज भी बनी हुई हैं। कवर्धा मे हक्कनाम के समय के गुरुओं की समाधियाँ बनी हैं। धर्मदासी शाखा का वर्तमान केंद्र है धामखेड़ा। हाटकेसर के महंत का इस शाखा से अब कोई संबंध नहीं है। मध्यप्रदेश का एक छोटा सा स्थान वमनी है जहाँ पर धीरजनाम गुरु के वंशवाले अब भी परंपरा चला रहे हैं।

[1] क० पं० श०, भूमिका, पृ० २।

(ग) धनौतीशाखा (बिहार)—कबीरपथ की काशीशाखा एवं छत्तीसगढ़ी शाखा के अनंतर धनौतीशाखा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका संगठन कबीरचौरा शाखा के अंतर्गत ही माना जाता है। धनौती (बिहार) की यह शाखा 'भगताही' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक भगवान गोसाई थे। अनुमान है कि भगवान गोसाई जाति के अहीर और पिशौराबाद (बुंदेलखंड) के निवासी थे। कबीरपथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'कबीर और कबीरपंथ' मे उल्लेख आया है कि भगवान गोसाँई कबीरदास के भ्रमणकाल मे सदैव उनके साहचर्य मे रहते थे और समय समय पर उच्चारित उपदेशों, प्रवचनों और बानियों को लिख लिया करते थे। संभवतः पहले ये निंबार्क संप्रदाय मे दीक्षा ग्रहण कर चुके थे, किंतु कबीरसाहब के व्यक्तित्व और आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित होकर, कालांतर मे कबीरपंथ में आ गए। इस प्रकार भगवान गोसाँई ने कबीर साहब के छह सौ वचन, साखियों और शब्दों के रूप मे सगृहीत किया। महर्षि शिवव्रतलाल का कथन है कि भगवान गोसाईं का यही संग्रह वर्तमान 'बीजक' का मूल रूप है और धर्मराज ने अपनी ओर से इसके पीछे अन्य पद्यों को जोड़ दिया है।[1] अपने इस संग्रह को लेकर भगवान गोसाँई कबीर साहब के साथ धर्मदास के यहाँ बाँधवगढ़ भी गए थे। कहा जाता है कि धर्मदास ने गोसाँई जी से इस प्रति को प्राप्त करने की तीव्र लालसा प्रकट की और प्रकट रूप मे इस सग्रह ग्रंथ की याचना भी की, किंतु भगवान गोस्वामी ने प्राणों के तुल्य प्रिय ग्रंथ को देने में असमर्थता प्रकट की और उसे लेकर बिहार प्रांत चले आए और यहीं इस ग्रंथ को महत्व देकर उन्होंने 'भगताही' शाखा की स्थापना की। इस गद्दी की स्थापना पहले बिहार के दानापुर कस्बे मे की गई थी। परतु कालातर मे यह गद्दी धनौती मे स्थापित की गई। शिवव्रतलाल के अनुसार इस शाखा के लोग अभी तक निंबार्क संप्रदाय का ही भेष धारण करना पसंद करते हैं।

रेवरंड महोदय के मत से धनौती गद्दी पर अभी तक १२ गुरु हो चुके हैं जिनकी सूची निम्नलिखित है :

१. भगवान गोसाँई
२. अज्ञातनाम शिष्य
३. बनवारी
४. भीषम
५. भूपाल
६. परमेश्वर
७. गुणपाल
८. सीसमान

[1] क० क० पं०, पृ० २१।२

९. हरनाम
१०. जयनाम
११. स्वरूप
१२. साधु, तथा
१३. रामरूप

वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित 'अनुरागसागर' में भगवान गोसाँई को तिमिरदूत कहा गया है और आगे प्रसंग में उनके लिये कहा गया है :

बहुतक ग्रंथ तुम्हार चुरे है।
आपन पंथ निहार चले हैं।[1]

इन पंक्तियों के प्रकाश मे गोसाँई जी का बांधवगढ़ से संग्रह पोथी को लेकर बिहार चला जाना प्रकट हो जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि भगवान गोसाईं न कबीर के समकालीन थे, न धर्मदास के और न सुरतगोपाल के ही। उनका कथन है कि 'धनौती के गद्दीधारियों के नाम की जो तालिका उपलब्ध है, उससे पता चलता है कि भगवान गोसाँई से लेकर अभी हाल तक १३ गुरु हो चुके हैं और, यदि उनके समय को भी प्रति गुरु २५ वर्ष का मान लें, तो, शाखा के प्रवर्तक का काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण मे ठहरता है। इस प्रकार भगवान गोसाँई न तो कबीर साहब के समकालीन सिद्ध होते हैं, न सुरतगोपाल के और न धर्मदास के ही।[2]'

(घ) अन्य शाखाएँ—वृक्ष के रूप मे कबीरपंथ का प्रसार और प्रचार अनेक शाखाओं और उपशाखाओं मे हुआ। कबीरपंथ की १२ प्रमुख शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके स्थापक थे नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारीपंथ प्रवर्तक, कमाली, भगवानदास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, तत्वाजीवा तथा गरीबदास। इनके पंथ भिन्न भिन्न प्रदेशों मे प्रसिद्ध हुए। इनके अतिरिक्त कटक (उड़ीसा) मे प्रचलित साहेबदासी पंथ, काठियावाड़ का मूल निरंजन पंथ, बड़ौदा का टकसारी पंथ, भड़ौच का जीवापंथ, जिसके संस्थापक थे तत्वाजीवा, सत्यकबीर, नाम कबीर, दान कबीर, मंगल कबीर, हंस कबीर, उदासी कबीर शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमे से अंतिम कुछ पंथों के संबंध में कोई सूचना नहीं मिलती। इनके अतिरिक्त कमाल, नित्यानंद तथा कमलानंद के द्वारा दक्षिण भारत मे तीन पंथ चलाए गए। परंतु इन पंथों का भी कोई विवरण नहीं मिलता है। बिहार प्रांत के मुजफ्फरपुर जिले के विदूपुर तथा शाहाबाद के मंथनी स्थानों मे भी दो गद्दियाँ वर्तमान हैं। संभवतः ये

१ अ० सा०, पृ० ६१।
२ उ० भा० सं० प०, पृ० २७४।

धनौती शाखा की उपशाखाएँ हैं। इनके अतिरिक्त सिंध, नैपाल, सिक्किम, गुजरात, राजस्थान में भी कबीर पंथ की अनेक शाखाएँ वर्तमान हैं।

२. अन्य पंथ और उनका धार्मिक साहित्य

कबीर पंथ की चर्चा करते समय उसके विस्तार एवं साहित्य का वर्णन प्रायः इस प्रकार किया जाता है जैसे उसका आरंभ, स्वयं संत कबीर के ही समय में हुआ हो तथा उसके क्रमशः संगठन एव निर्माण मे कुछ न कुछ उनका भी हाथ अवश्य रहा हो। परंतु उनकी उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओं का अध्ययन करने पर हमें ऐसा भी लगता है कि उन्होंने अपने नाम से किसी पंथविशेष के सगठित किए जाने की आवश्यकता का अनुभव, कदाचित् कभी नहीं किया होगा। कम से कम इस ओर किया गया उनका कोई स्पष्ट सकेत, उनकी उन रचनाओं के अंतर्गत, पाया जाता नहीं जान पड़ता है जिन्हे अब तक उनकी अपनी निजी बानियो का महत्व दिया जाता आया है। इनके सिवाय जिन अनेक लोगों को उनका शिष्य मान लेने की परंपरा चली आती है तथा जिन सभी के द्वारा कबीर पंथ की किसी न किसी शाखा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी दिया जाता आया है उन सबका संत कबीर का समसामयिक होना तक भी अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है, प्रत्युत. उनमे से कुछ तो प्रत्यक्षतः उनके परवर्ती समझे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये न तो हम संत पद्मनाभ के लिये निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे संत कबीर द्वारा व्यक्तिगत रूप में दीक्षित हुए थे अथवा उन्होंने 'राम कबीर पंथ' जैसी किसी संस्था को, अपने उस गुरु के समय में, प्रतिष्ठित किया था न संत जागूदास अथवा भागोदास के ही लिये कोई ऐसा असंदिग्ध प्रमाण दे सकते हैं कि ये लोग भी उनसे उक्त प्रकार दीक्षा ग्रहण कर चुके थे अथवा इन्होंने, उनके आदेशानुसार, क्रमशः बिद्दूपुर अथवा धनौती-वाली कबीरपंथी शाखाओं की कभी नींव डाली थी। हमे तो अभी तक इसके लिये भी कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं जिनके आधार पर हम प्रसिद्ध संत सुरतगोपाल अथवा संत धर्मदास तक को संत कबीर के दीक्षित शिष्य स्वीकार कर सकें अथवा इनके अपने उन सद्गुरु के किसी सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार कबीरपंथ की उन सर्वविदित शाखाओं की स्थापना भी मान लें जो क्रमशः काशी एवं छत्तीसगढ़ से संबधित कही जाती है। अभी तक इस ओर अनुसंधान कार्य करने पर, केवल इतना ही विदित हो सका है कि ऐसे 'कबीरशिष्यों' में से कुछ का संत कबीर के अंतिम दिनों तक, केवल आविर्भाव मात्र तक हो जाना सिद्ध किया जा सकता है, उनके आदेशानुसार इनके द्वारा किसी पंथ के चलाए जाने का प्रामाणिक आधार हमें नहीं मिल पाया है, प्रत्युत ऐसे लोगों मे से कई को उनका सुदूर परवर्ती तक भी ठहराया गया है। वास्तव मे अभी तक इस ओर किए गए प्रयत्नों मे यथेष्ट सफलता ही नहीं मिल पाई है।

फिर भी, इतना स्वाभाविक है कि, संत कबीर के जीवनकाल मे ही, जब उनके शिष्यों की संख्या मे वृद्धि होती चली जा रही थी; उनमे से कम से कम कुछ लोगों ने भी ऐसा सोचा होगा कि उनके जैसे व्यापक एवं महत्वपूर्ण उपदेशों के प्रचार के लिये कोई निश्चित आयोजन भी कर लिया जा सके तो सर्वसाधारण के लिये अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। हो सकता है, उस समय ऐसे किसी प्रस्ताव का कुछ विरोध भी हुआ हो तथा जब तक वे जीवित रहे तब तक, ऐसे किसी संगठन का सूत्रपात न भी हुआ हो। किंतु इसमे भी संदेह नहीं कि, इस प्रकार के उद्देश्य को लेकर कुछ कार्य बहुत पहले ही आरंभ हो गया था तथा, जब संत कबीर का देहांत हो गया उस समय, इसकी आवश्यकता का विशेष रूप मे अनुभव कर, इसे क्रमशः कई शाखाओं के रूप मे अग्रसर कर दिया गया और तदनंतर इनमे से कुछ ने धीरे धीरे स्वतंत्र प्रतिष्ठित होकर, दूसरों ने संबंधविच्छेद का ढंग अपनाकर तथा शेष ने वैसी अनुकूल विचारधाराओं द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित मात्र भी होकर अपनी अपनी पृथक् संस्थाएँ स्थापित कर लीं। इन सभी का कोई एक ही केंद्रीय संगठन कदाचित् कभी नहीं किया जा सका और न, यदि किया भी गया हो तो, उसे कभी कोई स्पष्ट मान्यता ही मिल पाई। परंतु नानक पंथ वा सिक्ख धर्म के उद्भव एवं विकास का इतिहास देखने पर, हमे पता चलता है कि इस प्रकार के किसी आयोजन की आवश्यकता का अनुभव संभवतः स्वयं गुरु नानकदेव ने ही किया था तथा उन्होंने अपने उत्तराधिकारियोंवाली 'गुरुपरंपरा' का प्रवर्तन कर ऐसी पद्धति को प्रेरणा प्रदान कर दी जिसने न केवल उनके मूल उद्देश्य की सिद्धि मे ही योग दिया, प्रत्युत जिसके द्वारा, अंत मे सिक्ख जाति के रूप मे, एक ऐसे सुगठित समाज के निर्मित होने मे भी कम सहायता नहीं मिली जिसका प्रमुख ध्येय आध्यात्मिक मात्र न रहकर अधिक राष्ट्रीय तक बन गया तथा जिसका परिणाम भी कुछ भिन्न सा प्रतीत होने लगा। कहते हैं, इसके पहले वा कुछ ही आसपास (संभवतः सं० १५५० के कुछ पहले) राजस्थान के संत जंभनाथ ने अपने 'विश्नोई संप्रदाय' का प्रवर्तन कर दिया था तथा उसके कुछ ही दिनों पीछे संत जसनाथ के नाम पर 'सिद्ध संप्रदाय' की सृष्टि हुई और इसी प्रकार कदाचित् इसी के लगभग, मध्यप्रदेश मे संत सिंगा जी की भी एक परंपरा प्रतिष्ठित हुई। इन सभी संप्रदायों में से, सर्वप्रथम, किसने ऐसा कार्य आरंभ किया, किस दूसरे ने उससे कहाँ तक प्रेरणा ग्रहण की तथा इनमे से किसी एक ने किसी दूसरे को कभी अपना आदर्श बनाया भी या नहीं, इस प्रकार के प्रश्नों के निश्चित उत्तर अभी तक नहीं दिए जा सके हैं। पिछले संतों में दादूदयाल के लिये कहा जाता है कि उन्होंने अपने पंथ का आरंभ, सं० १६३० में किया होगा जब उन्होंने, साँभर मे रहते समय, अपने कतिपय अनुयायियों के साथ बैठकर, पहले पहल, किसी 'ब्रह्म संप्रदाय' के आयोजन का संकल्प किया था।

जो हो, अभी तक हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे

सभी पंथों वा संप्रदायों ने आगे चलकर अपना अपना संघटन कार्य मनोयोग-पूर्वक आरंभ कर दिया होगा तथा उनमे से सभी की कोई न कोई परंपरा भी चल निकली होगी। फलतः संतों का मूल उद्देश्य एक समान होने पर भी क्रमशः इन पंथों मे, समय पाकर, कुछ न कुछ पारस्परिक भेद भी लक्षित होने लग गए होंगे जिसके परिणामस्वरूप उनके बीच भिन्नता की खाईं बहुत कुछ बढ़ती ही चली गई होगी जो बाह्य बातों पर आधारित होगी। हमारे आलोच्य युग, अर्थात् सं० १४०० से लेकर सं० १७०० तक की अवधि के भीतर आ गई किसी ऐसी स्पष्ट भिन्नता का ठीक पता हमे अवश्य नहीं चलता और जहाँ तक हम अनुमान कर पाते हैं यह उतनी उल्लेखनीय भी नहीं रही होगी। किंतु, इसके अनंतर, यह अधिक से अधिक व्यापक अवश्य बनती गई जिसका एक परिणाम यह हुआ कि किसी एक संत के ही अनुयायियों ने भी उसके नाम से प्रचलित पंथ वा संप्रदाय की अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं तक की सृष्टि कर डालना अनुचित वा अनावश्यक नहीं समझा। जिस पंथ का प्रचार जितना ही अधिक हुआ उसके उतने ही अधिक वर्गों में विभाजित होने की संभावना बढती गई और, हो सकता है, कबीर पंथ के आरंभ मे ही एक से अधिक शाखाओं मे बँट जाने की ओर भी ऐसे कारणों ने ही विशेष बल प्रदान किया हो। पता नहीं उक्त युग के भीतर कबीरपंथ की किन किन शाखाओं का तथा किन किन रूपों में संगठन किया गया होगा। फिर भी इसमे सदेह नहीं कि सं० १७०० वि० तक संतों के नामों पर चलनेवाले अनेक पथों के निर्माण का सूत्रपात अवश्य हो गया होगा तथा उनकी ओर से अपनी अपनी प्रगति मे समुचित वेग लाने का प्रयास भी किया जाने लगा होगा। परंतु यह इनके लिये प्रारंभिक युग था और, इस समय तक, इनके विभिन्न अनुयायी अपने अपने मूल पुरुषों से, कालक्रमानुसार, अधिक दूर भी नहीं हो पाए थे, इस कारण अभी तक उनमे उतनी कट्टरता नहीं आ पाई थी और न उनपर रूढ़िवादिता का उतना प्रभाव ही पड़ पाया था। संत बाबालाल के समय से, समन्वयात्मक वृत्ति के भी किसी न किसी रूप मे क्रमशः बढ़ने लगने के कारण, उनमे दीख पड़नेवाले परिवर्तनो ने कुछ आगे तक भी कदाचित् उतना विकट रूप नहीं धारण किया और न उतना उनका पारस्परिक भेद ही बढ़ गया। इनमे से कई तो, प्रायः स्थानीय परिस्थितियों के कारण भी, उत्पन्न हो गए थे। जिन्हे दूर करने की आवश्यकता की ओर अनेक बार ध्यान आकृष्ट किया जाता रहा।

संतोंवाले पंथीय साहित्य के उपलब्ध अंशों में से कितने का निर्माण उक्त युग मे हो चुका था, इसका हमें कोई निश्चित पता नहीं है। जो कुछ ऐसी रचनाएँ हमें मिल पाई हैं, उन सभी के या तो ठीक रचनाकाल का ही पता नहीं चलता और न, उनके पढ़ते समय, हमे उनके भीतर ऐसे यथेष्ट संकेत ही मिल पाते

हैं जिनके आधार पर हमे इस प्रकार का निर्णय देने में कोई समुचित सहायता मिले। इनमे से कुछ को उनके पंथोंवाले अनुयायियों द्वारा बड़ी श्रद्धा के साथ देखा जाता है और उनके लिये विश्वास भी किया जाता है कि वे अमुक महापुरुष की कृति अवश्य रही होंगी, किंतु जिसका सिद्ध किया जाना प्रत्येक दशा मे उतना सरल भी नहीं हुआ करता। इसके सिवाय, जिन ऐसी रचनाओं के विषय मे यह अधिक संभव है कि वे अपने पंथवालों के स्वयं मूल पुरुषों द्वारा ही निर्मित की गई होंगी उनमे भी कभी कभी अनेक प्रक्षिप्त अंशों के आ जाने का संदेह बना ही रहा करता है जिन्हें दूर करने के लिये उन्हें छाँटकर बाहर कर पाना भी कठिन हो जाता है। इस युगवाले जिन संतों की रचनाएँ हमे अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से कदाचित् केवल एकाध के ही लिये ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने उनका कोई अंश अपने हाथ से लिखा होगा अथवा कम से कम उसने किसी दूसरे द्वारा लिखे जाने पर उसे प्रमाणित ही कर दिया होगा। ऐसी दशा मे केवल यही कहा जा सकता है कि या तो उनमें से बहुत कुछ बहुत काल तक अपने मौखिक रूपों मे ही चली आई अथवा जिन्हें उन दिनों संगृहीत किया गया। उनकी प्रामाणिकता भी कदाचित् असंदिग्ध नहीं ठहराई जा सकी है। इसके सिवाय उनमें अनेक प्रकार की भूलों का आ जाना इस कारण भी संभव रहा कि, उनकी प्रतिलिपि करते समय, सभी पाठों का यथावत् शुद्ध रह जाना बहुत कुछ उनके लिपिकों की योग्यता पर भी निर्भर रहा और, कभी कभी तो बहुत से ऐसे पाठों को अपने लिये उतारते समय, लिपिक इस बात से भी प्रभावित हो जाते रहे कि उनकी स्वयं अपनी साम्प्रदायिक मान्यताएँ क्या हैं तथा, इसी कारण, उन्हे वहाँ कौन सा पाठ स्वीकार करना चाहिए जो उनके विरुद्ध न पड़े।

इस प्रकार संत साहित्यवाले उस पूरे के पूरे अंश को, जिसे प्रमुख संतों द्वारा निर्मित समझने की परिपाटी चली आ रही है, सहसा प्रामाणिक मान लेना और विशेषकर उसे, सारा का सारा, विश्वसनीय समझ बैठना हमारे लिये सर्वथा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता और न उसके वैसे उपलब्ध पाठो के आधार पर कोई अंतिम निर्णय कर लेना कभी उचित कहा जा सकता है। हो सकता है, उसका अधिकांश उस संत कवि द्वारा ही रचा गया हो जिसे उसका निर्माता कहा जाता है, किंतु, इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि, उसका कुछ अंश कभी न कभी किसी अन्य द्वारा रचित भी सिद्ध किया जा सकता है। उसका एक बड़ा वा कम से कम छोटा सा भी अंश प्रक्षिप्त कहला सकता है। कबीर पंथ का सर्वमान्य ग्रंथ 'कबीर बीजक', जिसके प्रायः प्रत्येक अंश को उसके अनुयायी स्वयं संत कबीर की ही रचना मानते आ रहे हैं, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण होगा। इस ग्रंथ को भी अनेक आलोचकों ने ऐसे दोषों से रहित नहीं पाया है तथा इस बात की ओर कई बार सबका

ध्यान भी आकृष्ट किया गया है। इसी प्रकार सिक्ख धर्म के अनुयायियों का पूज्य धार्मिक ग्रंथ गुरु ग्रंथसाहब के विषय मे भी कहा जा सकता है कि उसका पाठ भी सोलहो आने प्रामाणिक नहीं ठहराया जा सकता और न उसमे संगृहीत कई रचनाओं के रूप को वास्तविक मान लेना अथवा उन्हें, उनके अन्यत्र पाए जानेवाले पाठों की अपेक्षा, अधिक स्वीकारयोग्य समझ लेना कभी उचित कहा जा सकता है। उस ग्रंथ में तो, जैसा इसके पूर्व भी कहा जा चुका है, अनेक ऐसे दोष बहुत स्पष्ट भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। वास्तव मे ऐसे सभी ग्रंथों के अंतर्गत जिन्हें किसी पंथ वा संप्रदाय की ओर से पूज्य मानने की प्रवृत्ति दीखती आ रही है, कुछ न कुछ पद्य जान बूझकर भी उनका माहात्म्य प्रदर्शित करने की दृष्टि से, समाविष्ट कर लिए गए मिल सकते हैं जिन्हें न्यूनाधिक सांप्रदायिक वेश में ही उपलब्ध कहा जा सकता है और उनकी गणना भी, इस दृष्टि से, सांप्रदायिक साहित्य मे ही की जा सकती है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे संग्रह ग्रंथों के अंतर्गत किन्हीं प्रक्षिप्त अंशों का आ जाना अन्य प्रकार से भी संभव हो सकता है जिसके उदाहरणों में हम अपने आलोच्य युग-वाले एक अन्य ग्रंथ 'हरिदास जी की वाणी' को भी रख सकते हैं। इस ग्रंथवाली की रचनाएँ किसके द्वारा एवं किस समय संगृहीत की गईं, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। किंतु उन्हें ध्यानपूर्वक देखने तथा उनपर विचार करने से पता चलता है कि, यहाँ पर भी, कुछ न कुछ संदेह के लिये स्थान होगा। इसमे संगृहीत कतिपय कृतियाँ संभवतः पीछे रची गई हो सकती हैं जिसका कारण यह हो सकता है कि उक्त युग में पद्यसंग्रह करनेवालों की एक प्रवृत्ति समान भावोंवाली विविध पंक्तियों को एकत्र करने की भी रही जिसके फलस्वरूप संत रज्जब जी का 'सर्वंगी' ग्रंथ निर्मित हुआ तथा 'बावरी पंथ' एवं 'मलूक पंथ' के कुछ लोगों ने भी ऐसा किया। अतएव, यह भी संभव है कि इस दृष्टि से कार्य करनेवाले कुछ लोगों ने, पीछे किसी संत की रचनाओं के साथ, दूसरों की भी रचनाएँ केवल भावसाम्य की दृष्टि से जोड़ दिया हो जिसका महत्व, अपने ढंग से, कुछ कम नहीं ठहराया जा सकता। जहाँ तक विभिन्न काव्यरूपों के प्रयोग में लाने की बात है इस युग के प्रमुख संत कवियों ने केवल फुटकल रचनाएँ ही प्रस्तुत कीं और यदि कभी उनकी ओर से किसी छोटे प्रबंधन कार्य की चेष्टा की गई तो वह भी उन कतिपय 'लघुग्रंथों', 'लीलाओं', 'परचियों', 'जन्मसाखियों' अथवा 'कथागीतों' के ही रूपों में दीख पड़ी जिन्हें कलात्मक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं मिल सकता।

३. संतों की साहित्यिक परंपरा

संतों की साहित्यिक परंपरा का मूल स्रोत, जहाँ तक वर्ण्य विषय एवं बहुत कुछ वर्णनशैली से भी उसका संबंध है, उस प्राचीन उपनिषद् साहित्य मे ढूँढ़ा जा

सकता है जिसके रचयिता ऋषियों ने, अपने समय में, अनेक आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान की चेष्टा के फलस्वरूप, विभिन्न प्रकार के उद्गारवत् प्रकट किए थे और उनके महत्व की ओर उनके परवर्ती चिंतनशील महापुरुषों का भी ध्यान बराबर आकृष्ट होता आया था। बहुत से पिछले ग्रंथकारों ने उनसे स्पष्ट रूप मे प्रेरणा ग्रहण की तथा कई ने, उनपर विचार करते समय, या तो विविध भाष्य लिखे अथवा, उनमें निहित गूढ़ तत्वों का विशद स्पष्टीकरण करने के ही उद्देश्य से, उनसे संबंधित विषयों पर भी अपने मत प्रकट किए। इसकी परंपरा निरंतर चलती आई और इस बीच इसे जैन एवं बौद्ध जैसे धर्मों की विचारधाराओं से भी समय समय पर बल मिला। इसके साहित्यिक रूप को जहाँ एक ओर शिक्षित पुरुषों वा पंडितों ने अपने अपने ढंग से सँभाला वहाँ दूसरी ओर इसकी एक ऐसी मौखिक परंपरा भी क्रमशः चल पड़ी जिसके अनुसार इससे संबंधित कई प्रश्नों की चर्चा बराबर, सर्व-साधारण तक मे भी होती चली आई। यहाँ तक कि जो लोग भारतीय समाजवाले निम्न वर्गों के थे और अशिक्षित समझे जाते रहे उन्होंने भी इसमें बहुत कुछ भाग लिया। विषय के अत्यंत गहन और गंभीर होने पर भी, उसकी व्यापकता ने ही उसे एक सर्वसामान्य कोटि तक ला दिया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जो कोई भी व्यक्ति धार्मिक बातों को सोचने समझने की ओर प्रवृत्त होता वह अपनी भाषा को उसका माध्यम बना लेता। फलतः जो बातें कभी वैदिक भाषा का आधार लेकर कही गई थीं उनके लिये क्रमशः विभिन्न प्रचलित बोलियों तक का प्रयोग होने लगा और इस प्रकार उनके कई साहित्यिक भाषाओं के रूप ग्रहण कर लेने पर ऐसे कथन भिन्न भिन्न साहित्यों के भी भाग बनते चले गए। इस संबंध मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इसके वर्ण्य विषयों पर प्रकाश डालनेवाले वैदिक युगीन मनीषियों के सामने कदाचित् कोई शास्त्रीय परंपरा नहीं थी और न उन्होंने इसके लिये किसी प्रकार 'प्रतिपादन' वा 'निरूपण' की दार्शनिक शैली से ही काम लिया था। जहाँ तक पता चलता है, उन्होंने गंभीर चिंतन एवं व्यक्तिगत अनुभवों को ही अपने वैसे कथनों का प्रमुख आधार बनाया था जिसे स्वयं उनके द्वारा व्यक्त किए गए उपलब्ध विचारों के स्वरूप तथा उनके मूल में काम करनेवाले स्वानुभूतिपरक आत्म-विश्वास की उस दृढ़ता द्वारा भी प्रकाशित किया जा सकता है जो उनकी वाणियों के प्रत्येक शब्द से सूचित होती है।

पिछले संस्कृत साहित्य एवं पाली तथा प्राकृत में उपलब्ध अनेक रचनाओं का अध्ययन करने पर जान पड़ता है कि उपर्युक्त प्रकार की कोई न कोई साहित्यिक परंपरा वैदिक युग से लेकर ईस्वी सन् के आरंभ तक थी, उसके पश्चात् भी अक्षुण्ण रूप में प्रचलित रही और फिर समय पाकर उसे कोई न कोई स्थान, अपभ्रंश एवं भारत की प्रमुख प्रांतीय

भाषाओं मे प्रस्तुत किए गए विशाल वाङ्मय मे भी, दिया गया। इनमें रचे गए धार्मिक साहित्य के अंतर्गत पाए जानेवाले इसके विभिन्न उदाहरणों की संख्या कम नहीं कहला सकती। कहते हैं, एक महत्वपूर्ण आंशिक रूप मे, इसे उन वैष्णव आडवारों तथा शैवनायन मारों की उपलब्ध रचनाओं मे भी पाया जा सकता है जिन्होंने, भक्तिमयी भावुकता से प्रेरित होकर, अधिकतर सगुणवादी भक्तों जैसी पंक्तियों की श्रीवृद्धि मे अपना सहयोग प्रदान किया। आड़वारों की ऐसी तमिल रचनाओं का जो एक संग्रह 'नाड़ायिर प्रबंधम्' नाम से निर्मित किया गया है उसमें, यत्र तत्र, और विशेषकर उनमें से नम्म आडवार वाली संग्रहीत रचनाओं में, अनेक ऐसे स्थल पाए जाते हैं जहाँ पर इष्टदेव को प्रायः उसी रूप में परिचित कराया गया है तथा उसके लिये लगभग वैसी ही शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है जिसकी परंपरा उपनिषदों की रचना के ही समय से प्रचलित थी। अंतर केवल इतना ही लक्षित होता है कि इसके अधिकांश भाग में जो कथन, इस प्रसंग मे किए गए हैं वे शेष सभी सगुणवादी प्रवृत्ति के भी परिचायक हैं। नायनमारों-वाली इस प्रकार की रचनाओं के संबंध मे कहा जा सकता है कि उनमे वर्णित आराध्य-देव का चित्रण इनसे भी कहीं अधिक निर्गुणवादपरक प्रतीत होता है तथा इन शैव भक्तों की वैसी मनोवृत्ति का इससे भी स्पष्ट उदाहरण हमे उस 'वचन साहित्य' मे मिलता है जिसमे वीरशैव अथवा लिंगायत भक्तों के उद्गार संगृहीत किए गए हैं। यह 'वचन साहित्य' कन्नड भाषा में है जिसमे निर्मित की गई पंक्तियों के अंतर्गत सजग शैव साधकों के हृद्गत भाव निश्छल रूप मे भर दिए गए हैं। वीरशैव संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक बसव ने अपनी सगुण भक्ति की प्रेरणा जहाँ ईशान्य मुनि से ग्रहण की थी वहीं उन्हें निर्गुण भक्ति की ओर आकृष्ट करनेवाले महापुरुष प्रभुदेव अथवा अल्लम प्रभु के रूप मे मिल गए थे जिन्होंने उनकी आध्यात्मिक साधना को अत्यंत प्रगतिशील रूप दे दिया। कर्णाटक प्रांत के ही वैष्णव भक्त हरिदासी दासकूटों की कन्नड़ रचनाओं मे भी, निर्गुणपरक प्रवृत्ति कदाचित् उक्त आडवारों से कुछ अधिक ही पाई जाती है।

उपर्युक्त वैष्णव आडवार एवं शैव नायनमार अथवा शैव लिंगायत एवं वैष्णव दासकूट भक्त, ये सभी दक्षिण भारत के निवासी थे और इनका समय लगभग ५वीं विक्रमीय शताब्दी से लेकर उसकी १५वीं वा १६वीं शताब्दी तक भी ठहराया जा सकता है। उन्होंने क्रमशः तमिल अथवा कन्नड़ मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। इनमें से आडवारों एवं नायनमारों के ही प्रायः समसामयिक वा किंचित् परवर्ती वज्रयानी एव सहजयानी बौद्ध सिद्धों का भी आविर्भाव उत्तरी भारत की ओर हुआ जिन्होंने, अपने मत का प्रचार अपभ्रंश मे रचे गए दोहों एवं चर्यागीति पदों द्वारा किया। इन लोगों की भी ऐसी रचनाओं से हमे पता चलता है कि

अपने जिस परम ध्येय की ओर ये इंगित करते हुए दीख पड़ते हैं उसका भी परिचय बहुत कुछ वैसी ही शब्दावली के माध्यम से दिया गया है और, यद्यपि इन्हें उक्त वैष्णवों एवं शैवों की भक्तश्रेणियों में नहीं रखा जा सकता, तथापि सभी वस्तुतः एक ही जैसे लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। वे दोनों प्रकार के आत्मवादी भक्त मूलतः एक ऐसे परम तत्व को ही अपने लिये आराध्य देव के रूप में स्वीकार करते जान पड़ते हैं जिसे ये नैरात्मवादी बौद्ध सिद्ध, 'बोहि' वा 'शून्य' की किसी स्थितिपरक सिद्धि के रूप में उपलब्ध करने के लिये सचेष्ट हैं। वैसे साधकों के लिये ये दोनों ही अनुभवगम्य, अनिर्वचनीय हैं। इसी प्रकार इन दोनों के विषय में ठीक एक ही जैसी धारणा बनाते समय हमारा ध्यान स्वभावतः इस बात की ओर भी चला जाता है कि प्रसिद्ध अद्वैतवादी दार्शनिक स्वामी शंकराचार्य ने भी जिस अपने 'ब्रह्म' का निरूपण किया है वह भी इन बौद्धों के 'शून्य' से तत्वतः भिन्न नहीं प्रतीत होता। जो हो, ऐसे सहजयानी सिद्धों का भी कम प्रभाव उन गुरु गोरखनाथ जैसे नाथपंथी योगियों पर भी नहीं पड़ा था जिन्होंने वैसे 'ब्रह्म' की ही उपलब्धि को अपनी साधना का चरम लक्ष्य स्वीकार किया तथा, अपनी ऐसी मान्यताओं के प्रमाणस्वरूप, उन्होंने अपनी अनेक हिंदी बानियों की भी रचना की। ऐसे नाथपंथियों ने अपने लक्ष्यतत्व का निर्गुण होना स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है तथा उसका परिचय भी प्रायः उस परंपरागत शैली मे ही देना उचित समझा है जिसे प्राचीन उपनिषदों मे संगृहीत अनेक स्थलों के रचयिताओं ने अपनाया था। गुरु गोरखनाथ और बहुत से अन्य प्रमुख नाथपंथी योगियों का आविर्भावकाल उपर्युक्त वसव से पहले का समझा जाता है। अतः यह अधिक संभव है कि वीरशैवों के 'वचन साहित्य' पर न्यूनाधिक प्रभाव ऐसे नाथपंथियों का भी अवश्य पड़ा होगा। इतना तो निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि कदाचित् उनके कुछ ही परवर्ती मराठी कवि मुकुंदराज (संभवतः सं० १२४७ मे वर्तमान) अपनी गुरुपरंपरा नाथपंथ के ही साथ जोड़ी है तथा अपने 'विवेकसिंधु' ग्रंथ मे :

'तूँ निरगुन निराकारूँ। निःसंगु निर्विकारूँ॥
तुझे या स्वरूपाचा पारू। वेणती सर्व॥'

कहकर उन्होंने अपने आराध्य को न केवल निर्गुण, निराकार एवं निःसंग बतलाया है। अपितु स्वरूपतः उसे अज्ञेय तक भी घोषित किया है। तदुपरांत मराठी के अन्य अनेक कवियों ने भी, कभी कभी अपने नाथपंथी रूप मे, तथा, बहुधा वारकरी वैष्णव भक्त होते हुए भी, ऐसे निर्गुणतत्व को विशेष प्रधानता दी और इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हुए जिन्होंने हिंदी में भी रचना की तथा जिनका आविर्भावकाल संत कबीर से पहले का सिद्ध किया जा सकता है।

हिंदी में निर्गुण भक्ति संबंधी साहित्यिक परंपरा को प्रतिष्ठित करनेवालों मे प्रमुख श्रेय संत कबीर को ही दिया जाता है जिनका मृत्युकाल यदि सं० १५०५ (वि०) अथवा सन् १४४८ ई० स्वीकार कर लिया जाय तो, हमें पता चलेगा कि उक्त प्रकार से विचार करने से, इसका प्रवर्तन, उनके बहुत पहले से ही किसी न किसी रूप मे किया जा चुका था तथा, हिंदी के अतिरिक्त अन्य कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में, इसके अनुसार निर्मित बहुत सी रचनाएँ पहले से भी उपलब्ध थीं। इसके सिवाय, हमे ऐसा भी लगता है इस प्रकार की साहित्य-साधना का श्रीगणेश अत्यंत प्राचीन काल मे ही हो जाने के साथ साथ, उसका प्रचार क्रमशः अधिक व्यापक भी होता जा रहा था तथा कहीं कहीं पर इसे सगुणवादी साहित्यकारों का भी आधार मिल जाया करता था। निर्गुण भक्ति की ओर आकृष्ट होने अथवा कम से कम उसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करनेवाले कवियों के लिये यह पर्याप्त नहीं था कि वे केवल वैष्णव हों, शैव हों, बौद्ध हों अथवा जैन भक्त भी हों, क्योंकि उनका आदर्श इष्टदेव इस प्रकार के भेदभावों से सर्वथा अछूता अथवा ऐसी बातों से अतीत भी कहला सकता था और, इसी लिये, यदि वे किसी वर्ग विशेष के साथ अपने को जुड़ा हुआ मान सकते थे तो वह केवल इसी रूप में कि उनकी अपनी साधनापद्धति में कुछ न कुछ ऐसी विशिष्टता भी पाई जाती थी जो उन्हें अपने वर्ग के औरों से पृथक् कर दे सकती थी। ऐसी विशेषता के बल पर वे लोग प्रचलित रूढ़ियों की ओर से तटस्थ से बनकर क्षण भर स्वतंत्र विचार कर सकते थे, उन्हें ग्राह्य वा अग्राह्य ठहराने के विषय में सोच सकते थे तथा अपनी ज्ञानशक्ति के आधार पर, कभी शुद्ध विवेक से काम भी ले सकते थे। अतएव, ऐसे लोगों मे से अधिकतर वे ही मिला करते हैं जिनकी भक्तिभावना का रूप न्यूनाधिक 'ज्ञानाश्रयी' बनकर हमारे सामने आता है। ऐसे विशिष्ट भक्तिसाहित्य की एक अपनी रचनाशैली है जो इसे सगुणभक्ति संबंधी साहित्य से कई बातों मे सर्वथा भिन्न ठहरा देती है। निर्गुण काव्य की कोटि में आनेवाली तो वे भी रचनाएँ कहला सकती हैं जिनमें केवल निर्गुण तत्व का विवेचन मात्र किया गया हो। इस प्रकार की अधिकांश रचनाएँ नाथपंथी कवियों की भी हो सकती हैं जिन्हें भक्तिसाधना से कहीं अधिक योगसाधना पर ही बल देना आता था और जो इसी कारण, भक्तिपरक उद्गारों को प्रकट करने में प्रायः असमर्थ बन जाते थे। परंतु इस प्रकार का कथन वैसे सभी साहित्यकारों पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें कई के शब्दों में कुछ न कुछ भक्तिसुलभ उपासनापरक भावों को भी स्थान दिया गया मिलता है।

हिंदी में निर्गुण भक्तिवाली साहित्यिक परंपरा वास्तव में संत कबीर की रचनाओं से आरंभ होती है। नाथपंथी कवियों की रचनाओं में जो कुछ इस प्रकार का वर्ण्य विषय है वह अधिकतर आराध्य तत्व के निर्गुणत्व का बोधक मात्र है तथा

उसमे भक्तिसाधना का स्थान योगसाधना ने ले लिया है। जो कुछ भक्तिपरक उद्गार उसके अंतर्गत यत्र तत्र प्रकट किए गए मिल सकते हैं उनसे इस वाङ्मय का अधूरापन दूर नहीं किया जा सकता। नाथपंथियों के पहलेवाले सिद्ध साहित्यिकों को हम इसलिये इस कोटि मे नहीं ला सकते कि वहाँ पर भी हमें किसी निर्गुण इष्टदेव के प्रति कोई भक्तिभाव प्रदर्शित किया गया नहीं दीख पड़ता, प्रत्युत वहाँ किसी ऐसी तांत्रिक साधना के उदाहरण मिलते हैं जो भक्ति की भावना के सर्वथा अनुकूल नहीं जँचते। नाथपंथियों द्वारा प्रभावित बारकरी वैष्णव भक्तों की रचनाएँ बहुधा भक्तिभाव में सराबोर मिला करती हैं और कम से कम संत ज्ञानदेव एवं संत नामदेव जैसे कुछ कवियों को तो हम अनेक सर्वश्रेष्ठ कवियों तक मे गिनते समय कभी नहीं हिचक सकते। परंतु संत कबीर की निर्गुणभक्ति एवं उन कवियों की भक्ति-साधना-पद्धति को एक ही प्रकार का अथवा अभिन्न ठहराने का हमे कोई असंदिग्ध सबल आधार नहीं दीखता। संत ज्ञानदेव एवं संत नामदेव ये दोनों ही अपने इष्टदेव विट्ठल के प्रति अटूट श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते हैं तथा उसे प्रायः एक ऐसे सगुण रूप मे भी चित्रित कर दिया करते हैं जिसके साथ उनके अन्यत्र बहुचर्चित निर्गुण तत्व की कोई वैसी संगति नहीं लग पाती। वास्तव मे यदि इन दोनों मराठी भक्त कवियों की रचनाओं पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो, यह पता चल सकता है कि ये दोनों जितना निर्गुण एवं सगुण के बीच कोई सामंजस्य बिठाने के लिये उत्सुक हैं उतना उनका आग्रह इस बात के लिये नहीं कि सगुण भक्ति को निरा मायिक वा भ्रमात्मक भी कह सकते हैं। संत कबीर का किसी भी सगुण इष्टदेवविशेष अथवा विशिष्ट अवतार के प्रति किसी प्रकार का लगाव नहीं सूचित होता, प्रत्युत ये अपने आराध्य के लिये उन सारे शब्दों वा अभिधानों का निस्संकोच प्रयोग कर सकते है जो न केवल हिंदू प्रत्युत उससे इतर धर्मों की शब्दावली मे भी प्रचलित रहते आए हैं तथा उसके लिये व्यक्तित्व की कल्पना करते समय भी, ये उसका स्वरूप हमारे सामने प्रायः प्रत्येक प्रकार के प्रतीकों के सहारे ही प्रस्तुत किया करते हैं। नाथपंथियों के पूर्वकालीन भक्त कवियों ने तो अपने इष्टदेवों का केवल निर्गुणपरक वर्णन मात्र ही किया, उन्होंने उसकी उपलब्धि के लिये न तो वैसी किसी उपयुक्त साधना की चर्चा की और न उस ओर अधिक ध्यान देना उन्होंने कदाचित् आवश्यक ही समझा।

संत कबीर का आविर्भाव होने के पूर्व कई ऐसे निर्गुणवादी संत हो चुके थे जिन्हें उनका पथप्रदर्शक होने का श्रेय प्रदान किया जाता है। परंतु सिवाय संत नामदेव के उनमे से अन्य किसी की रचनाएँ यथेष्ट संख्या में उपलब्ध नहीं होतीं और न, इसी कारण, उनमें से किसने इसका पथप्रदर्शन किस रूप मे और कहाँ तक किया इस संबंध मे, कोई निर्णय कर पाने का आधार ही मिलता है। संत नामदेव को तो स्वयं उन्होंने भी संत जयदेव के साथ आदर्श भक्त के रूप मे भी एक से

अधिक बार स्मरण किया है, किंतु इससे भी पूरा समाधान नहीं होता। कश्मीर की संत लल्ला वा लालदेव (सं० १३९२-१४७२) को हम कुछ दूर तक संत कबीर की समकालीन ठहरा सकते हैं और उसके शिष्य नूरुद्दीन वा नंदा ऋषि (सं० १४३४-१४९५) को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं, किंतु इनकी भी पारस्परिक भेंट वा संबंध का हमें कोई संकेत नहीं मिलता। हमें यह भी पता नहीं चलता कि स्वयं इनके द्वारा भी उत्कल प्रांत के 'पंचसखा' भक्त वा अन्यत्र कहीं के कोई वैसे निर्गुणी कहाँ तक प्रभावित कहे जा सकते हैं। केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि सं० १४०० के बहुत पहले से ही निर्गुण भक्ति वा विशेषकर किसी निर्गुण तत्व के प्रति आस्था का भाव प्रकट किया जाने लगा था तथा इस संबंध में भारत के अधिकांश भागों मे यत्र तत्र कुछ न कुछ रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगी थीं जिनकी ओर हमारा ध्यान संतों की साहित्यिक परंपरा पर विचार करते समय आपसे आप चला जाता है। ऐसे साहित्य का रूप किस भाषा मे किस प्रकार का था तथा, उसका कोई तुलनात्मक अध्ययन करने पर, हम उनमे से किसी एक के द्वारा दूसरे का प्रभावित होना भी सिद्ध कर सकते हैं वा नहीं, यह अब तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर, असंदिग्ध रूप में नहीं कहा जा सकता। परंतु इतना अवश्य तथ्य रूप में स्वीकार कर लिया जा सकता है कि जो कुछ संत कबीर ने कहा तथा उन्होंने जिस रूप में कहा उसकी एक पृथक् साहित्यिक परंपरा अवश्य प्रतिष्ठित हो गई और वह आगे बहुत दिनों तक, केवल थोड़े बहुत ही परिवर्तनों के साथ, बराबर चलती आई। यह अपने प्रारंभिक समय में अधिकतर मौखिक रूप मे ही पाई जाती रही और इसका अधिकाश, कभी न कभी समय पाकर ही, लिपिबद्ध होता गया। इसमें पीछे विविध प्रकार के पंथीय साहित्यों का भी समावेश होता गया जिस कारण इसका मूल्य पूर्ववत् कायम नहीं रह सका। परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिंदी वाङ्मय के अतर्गत जो स्थान इसने प्राप्त कर लिया वह अपने ढंग का है तथा उसकी किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं की जा सकती।

तृतीय खंड

सूफी साहित्य

प्रथम अध्याय

प्रारंभिक सूफो साहित्य

१. सूफी साहित्य की विशेषताएँ

हिंदी साहित्य में 'सूफी काव्य' से अभिप्राय साधारणतः 'प्रेमाख्यानक काव्य' समझा जाता है और साहित्य के विद्यार्थियों के सामने मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' सूफी काव्य के उदाहरण स्वरूप, आ उपस्थित होती है। सूफी काव्य की चर्चा करनेवाले, हिंदी के प्रेमाख्यनक काव्यों को सामने रखकर ही, उसके सबंध में विचार करते हैं और उन काव्यों के लक्षणों को ही सूफी काव्य की विशेषता मानते हैं। इतना सही है कि सूफी काव्य, अथवा यों कहें कि सूफी विचारधारा के मूल में प्रेम है, लेकिन सभी प्रेमाख्यानक काव्य सूफी काव्य नहीं हैं। इसके साथ ही इतना भी समझ लेना आवश्यक है कि सूफी काव्य केवल प्रबंध काव्यों तक ही सीमित नहीं है।

यह कहना अनावश्यक है कि सूफी काव्य, सूफी विचारधारा से अनुप्राणित है। उसकी प्रेरणा का स्रोत सूफी साधकों की दृष्टभंगी और आत्मानुभूति। विचारों और प्रवृत्तियों की विभिन्नता सूफी साधकों मे देखने को मिलती है, अतएव सूफी काव्य में भी वक्तव्य विषय और रचनाकौशल का वैचित्र्य वर्तमान है। फारसी के सुप्रसिद्ध सूफी साधक एवं महान् कवि जलालुद्दीन रूमी की 'मसनवी मश्रानवी' जायसी के 'पदमावत' जैसा प्रेमाख्यानक नहीं है। इस विशाल काव्यग्रंथ में सूफी सिद्धांतों तथा सूफी साधना पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इसमें नाना प्रकार की छोटी छोटी कहानियों के सहारे किसी मत या विचार को समझाया गया है। इसका प्रारंभ भी 'पदमावत' जैसा नहीं है। इसमे न किसी शाहेवक्त की प्रशंसा ही की गई है और न हिंदी पुस्तकों में मसनवियों के बताए हुए लक्षणों और परंपराओं को ही अपनाया गया है।

हिंदी का सूफी साहित्य मुख्य रूप से काव्यसाहित्य है और उसमें भी प्रबंध-काव्य की प्रधानता है। लेकिन फारसी का सूफी साहित्य अत्यंत समृद्ध है। वह प्रबंध काव्यों तक ही सीमित नहीं है। सूफी साधकों ने फारसी में सूफी संतों की जीवनियाँ भी लिखी हैं तथा सूफी सिद्धांतों का प्रतिपादन और विवेचन भी किया है। फारसी में जीवनीसाहित्य तथा निबंधसाहित्य का अपना एक अलग महत्व है। हिंदी में इस प्रकार के साहित्य का नितांत अभाव है। कम से कम अभी तक हिंदी मे उस

प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। फारसी में सूफी कवियों ने अपने आपको अभिव्यक्त करने का माध्यम प्रधानतया काव्य को बनाया। काव्य के सहारे उन्होंने अपने विचारों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है और अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन किया है वे अत्यंत ही प्रतिभाशाली थे अतएव अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने फारसी साहित्य को एक बहुत बड़ी ऊँचाई तक पहुँचा दिया है।

फारसी के सूफी कवियों ने जिन तीन काव्यरूपों को विशेष रूप से अपनाया वे मसनवी, रूबाई और गजल हैं। बड़े बड़े आख्यान या उपदेशात्मक लंबे काव्य के लिये उन कवियों ने 'मसनवी' का सहारा लिया है। इस काव्यरूप को अपनाने का कारण यह है कि वह आकार मे बड़ा होता है, अतएव कवि को बहुत कुछ कहने का मौका सहज ही मिल जाता है। 'मसनवी' मे प्रयुक्त छंद तुकांत होता है। मसनवी के बैत (शेर) के मिसरों का तुक मिलता है। एक बैत से दूसरे बैत का तुक भिन्न होता है। जैसे रूमी के दीवान की निम्नलिखित पंक्ति के तुक को देख सकते हैं :

चे तद्‌बीर ऐ मुसलमानाँ कि मन खुद्‌रा नमी दानम्।
न तर्सा न यहूदम् न मन गबरम् न मुसलमानम्॥

अर्थात्, ऐ मुसलमानो, मैं क्या करूँ, मैं नहीं समझ पाता कि मैं क्या वस्तु हूँ। न तो मैं ईसाई हूँ, न यहूदी, न पारसी और न मुसलमान।

फारसी मसनवियों मे छंदों को लेकर भी सूफीकवियों ने काफी स्वतंत्रता का परिचय दिया है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी मे जिस छंद का प्रयोग किया है उसके बैत 'फायलातुन' के वजन पर हैं। गंज के निजामी की लिखी हुई पाँच मसनवियों का संग्रह 'पंज गंज' के नाम से प्रसिद्ध है। निजामी ने अपनी पाँचों मसनवियों मे अलग अलग पाँच छंदों का प्रयोग किया है। इस प्रकार से यह सहज ही देखा जा सकता है कि इस काव्यरूप के लिये प्रयुक्त किसी एक विशेष छंद को मसनवी का छंद नहीं कहा जा सकता। लेकिन इतना अवश्य है कि रूमी ने अपनी मसनवी के लिये जिस छंद को अपनाया है साधारणतः उसी छंद का अन्य कवियों ने भी प्रयोग किया है।

जहाँ तक वर्ण्य विषय का प्रश्न है मसनवी मे धार्मिक, आध्यात्मिक तथा उपदेशात्मक सभी प्रकार के विषयों का वर्णन हो सकता है। यह कोई जरूरी नहीं कि मसनवी एक बहुत बड़ा ग्रंथ हो। लंबे चौड़े वर्णनों के लिये भी मसनवी को अपनाया गया है जैसे वसंत ऋतु आदि का वर्णन। पहले की फारसी मसनवियों मे सूफी या रहस्यवादी प्रवृत्ति नहीं के बराबर है। यह प्रवृत्ति धीरे धीरे आई। ईसवी

सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से ही फारसी मसनवियों मे रहस्यवादी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि उस काल मे अन्य विषयों के लिये मसनवियों का बिल्कुल सहारा नहीं लिया गया। वैसे रहस्यवादी या सूफी प्रवृत्ति की प्रधानता अवश्य ही उस काल मे दीख पड़ती है। वास्तव मे ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद की शताब्दियों में सूफी मत तथा सूफी काव्य का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है।

सूफी कवियों ने, आध्यात्मिक प्रेम और साधकों की साधना तथा चरम परिणति का वर्णन करने के लिये, साधारण जनता मे प्रचलित प्रेमाख्यानों को अपनाया है। इन प्रेमाख्यानों मे उन कवियों ने बीच बीच मे परोक्ष सत्ता, अलौकिक प्रेम आदि की ओर भी सकेत किया है। बहुत बार सूफियों ने प्रतीकात्मक मसनवियों की भी रचना की है। उनमे फरीदुद्दीन अत्तार की 'मंतिकुत्तैर' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमे अत्तार ने साधक के मार्ग की कठिनाइयों तथा लक्ष्य तक पहुँचने का वर्णन किया है। साधक को पक्षी और लक्ष्य की ओर ले जानेवाले गुरु को हुदहुद पक्षी तथा परम प्रियतम को पक्षियों का राजा 'सीमुर्ग' कहा गया है। नाना दुर्गम घाटियों से नाना प्रकार का क्लेश सहते हुए केवल तीस पक्षी 'सीमुर्ग' तक पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचकर उनके भीतर का 'अह' भाव मिट जाता है और वे अपने मे तथा 'सीमुर्ग' मे कोई अतर नहीं पाते। वे अनुभव करते हैं कि जो वे तीस हैं वही 'सीमुर्ग' है और जो 'सीमुर्ग' है वही वे तीस है। इस प्रकार से अत्तार ने सूफियों के चरम लक्ष्य 'फना' और 'बका' का वर्णन प्रतीक और रूपक के सहारे किया है।

अभी तक हिंदी सूफी साहित्य के साथ साथ फारसी सूफी साहित्य की हम चर्चा करते रहे हैं और आगे भी करने जा रहे हैं इसका कारण यह है कि फारसी का सूफी साहित्य सभी देशों और भाषाओं के सूफी साहित्य को कम या बेशी प्रभावित करता रहा है, अतएव उसकी थोड़ी बहुत जानकारी हिंदी सूफी साहित्य के समझने मे सहायक सिद्ध होगी। ऐसा कहने का हमारा मतलब यह नहीं है कि फारसी सूफी साहित्य ने प्रत्यक्ष रूप से या पूरा का पूरा हिंदी सूफी साहित्य को प्रभावित किया है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से ही, फारसी साहित्य में रहस्यवादी या सूफी प्रवृत्ति के दर्शन होने लगते हैं। इसके पहले का फारसी साहित्य अर्थात् ईसवी सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का काल फारसी साहित्य का एक गौरवपूर्ण काल है। इस काल मे रुदकी, फिरदौसी आदि जैसे महान् कवि हुए। इस काल का

फारसी साहित्य अत्यंत सहज और सरल है। भाषा तथा वर्णनशैली मे सादगी है। इस काल में अलंकरण तथा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती। ईरान में इस्लाम के प्रवेश के बाद फारसी साहित्य अरबी के बोझ से लद गया था। इस्लामधर्म के कारण फारसी साहित्य की गति जैसे अवरुद्ध हो गई थी। नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे आकर फारसी साहित्य मे एक नया जागरण आया। अरबी खलीफों के प्रभुत्व से ईरान ने अपने को मुक्त कर लिया था इसलिये राष्ट्रीयता की नई भावना ने इस काल के फारसी साहित्य को पूरी तरह वे प्रभावित किया। अरबी शब्दों का बहुल प्रयोग बंद हो गया।

ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी मे फारसी काव्य मे रहस्यवादी भावना का समावेश हुआ और उत्तरोत्तर उसका प्राधान्य बढ़ता ही गया। ईसवी सन् की बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का फारसी साहित्य वास्तव मे सूफी साहित्य है। सूफी भावनाओं का इस प्रकार से दो सौ वर्षों तक फारसी साहित्य पर प्रभाव बना रहा। लेकिन यह प्रभाव इतना गहरा और व्यापक था कि किसी न किसी रूप में वह आज भी फारसी साहित्य मे वर्तमान है।

ईरानी सूफी कवियों ने परंपरा से आए हुए छंदों, उपमानों तथा कथानकों को अपनाया। जनता मे प्रचलित प्रेमकथानकों का इन सूफी कवियों ने उपयोग किया और उनके सहारे परमात्मा के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया। जिस प्रकार से लोकप्रचलित प्रेमकथानकों के प्रेम को उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम का रूप दिया उसी प्रकार से काव्य मे प्रयुक्त शब्दों, भावों और उपमानों का उपयोग उन्होंने अपने ढंग से किया। एक बात और यहाँ स्मरण रखने की है कि इस प्रकार के कुछ ही प्रेमकथानक है जिनका उपयोग सूफी कवियो ने किया है। उन प्रेमकथानकों मे यूसुफ जुलेखा, खुसरो शीरीं, मजनूँ लैला आदि दस बारह ही हैं जिनका उपयोग सूफी कवियों ने किया है। इस दृष्टि से फारसी का सूफी काव्य अत्यंत सीमित है। फारसी काव्य चाहे वह दरबारी ढंग का हो या सूफी काव्य हो, वह अत्यंत रूढ़िग्रस्त है। दूरारूढ़ कल्पना, श्लेष आदि अलंकार का उसमे बाहुल्य है। परंपरायुक्त तथा रूढ़िग्रस्त होने के कारण फारसी काव्य सब समय अन्य भाषाभाषियों के लिये रुचिकर नहीं होता। जो लोग इन परपराओं, रूढ़ियों और प्रतीकों से अपरिचित हैं उनके लिये फारसी काव्य का आनंद उठाना कठिन हो जाता है। वे उसकी बारीकियों तक नहीं पहुँच पाते और उनके लिये वह दुरूह और बोझिल प्रतीत होने लगता है।

सूफी कवियों ने फारसी भाषा की परंपराओं, रूढ़ियों और प्रतीकों का सहारा तो लिया लेकिन उनका उपयोग उन्होंने अपनी दृष्टि से किया। उन्होंने इस निपुणता से उनका प्रयोग किया कि भिन्न भिन्न रुचि और संस्कार के पाठक भी उस काव्य का आनंद उठा सकते हैं। उस काव्य को पढ़कर या सुनकर एक ओर जहाँ

साधक भावाविष्ट हो उठता है वहाँ दूसरी ओर उस काव्य का चमत्कार, उसकी शृंगारिकता साधारण पाठक को आत्मविभोर कर देती है। फारसी के पुराने कवियों ने शैली, शब्दों के प्रयोग आदि पर अधिक ध्यान दिया है। इसका फल यह हुआ है कि वर्ण्य विषय के प्रसार और तथ्यों की गहराई तक पहुँचने की चेष्टा सब समय उन कवियों में नहीं पाई जाती। अपने वर्णनों और अभिव्यक्ति के प्रकारों द्वारा वे मन को मुग्ध करते रहते हैं। सूफियों ने यद्यपि भाषागत चमत्कार और शैली के अनूठेपन की ओर ध्यान दिया है, फिर भी उनके लिये वक्तव्य विषय ही प्रधान बना रहा। उन्हें कुछ संदेश देना था, उस आध्यात्मिक जगत् का परिचय देना था, अतएव उन्होंने वक्तव्य विषय को गौण नहीं होने दिया।

सूफियों के काव्य में लौकिक प्रेम संबंधी शब्दावली का व्यवहार हुआ है लेकिन सूफियों ने उसका सांकेतिक अर्थ ध्यान में रखा है। बाद में चलकर उस सांकेतिक अर्थ पर प्रकाश डालने के प्रयास हुए हैं। सूफियों ने भी अन्य फारसी कवियों के समान शराब, मैखाना, लब, साकी जुल्फ, बुत आदि शब्दों के प्रयोग किए और उनका अपने ढंग से अर्थ समझा है। शराब का अर्थ उन्होंने प्रियतम के दर्शन के फलस्वरूप भावाविष्टावस्था का उत्पन्न होना किया है और मैखाना का अर्थ वह स्थान किया है जहाँ परम प्रियतम के प्रेम की शिक्षा मिलती है। उनके लिये साकी का अर्थ गुरु है, वैसे किसी किसी ने उस सत्य के अर्थ में भी साकी का प्रयोग किया है जो सभी व्यक्त रूपों में अपने को अभिव्यक्त कर आनंद पाता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सभी सूफी कवियों ने किसी शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ मे नहीं किया है। रुख (कपोल) शब्द का व्यवहार किसी ने सृष्टि के लिये किया है तो किसी ने परम सौंदर्य के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के अर्थ में किया है। इन शब्दों के सांकेतिक अर्थ को लेकर ही सूफी कवि प्रेम संबंधी गानों को सुन भावाविष्टावस्था को प्राप्त हो जाते थे।

बहुत से ऐसे भी कवि हुए जिनका मुख्य उद्देश्य अपनी कलात्मकता का प्रदर्शन मात्र था। इन कवियों ने भी सूफियों के समान उन लोकप्रचलित कहानियों को लिया। ऐसे कवियों के लिये वे कहानियाँ ही प्रधान हो उठीं। लेकिन काल के प्रभाव के कारण वे कवि संपूर्ण कहानी समाप्त कर यह कह देते कि सारी कहानी केवल रूपक है। मसनवीशैली में लिखे प्रेमाख्यानक काव्य में कवियों ने सब समय एक ही परंपरा, एक ही शैली को अपनाया हो ऐसी बात नहीं, फिर भी कुछ मसनवीलेखकों ने अपने ग्रंथ के नामकरण आदि को लेकर एक परंपरा का पालन किया है। कुछ कवियों ने अपने ग्रंथ का नाम नायक नायिका के नाम पर रखा है जैसे यूसुफ जुलेखा, खुसरो शीरीं और कुछ ने ग्रंथ में वर्णित विषय के नाम पर रखा है जैसे साकीनामा। कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनका नाम काल्पनिक है।

सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानों में अपने आध्यात्मिक अनुभवों तथा ईश्वरीय प्रेम का बीच बीच में संकेत किया है। इन मसनवियों में बीच बीच में गजल भी लिखे जाने लगे। जब कथानक के किसी पात्र के लिये प्रेम की पीर असह्य हो उठती तब इन गजलों के सहारे वह अपने मन को हल्का करता। इन मसनवियों में कई सर्ग होते। प्रथम सर्ग में कवि भगवान् को स्मरण करता, उनके गुणों को लेकर उनकी स्तुति करता। परमात्मा को स्मरण कर लेने के बाद साधक कवि पैगंबर को याद करता और यह दूसरे सर्ग में रहता। तीसरे सर्ग में पैगंबर के 'मीराज' का वर्णन रहता। इसके बाद के सर्गों में कवि तत्कालीन सुल्तान अथवा अपने आश्रय-दाता को स्मरण करता। एक सर्ग में ग्रंथरचना का उद्देश्य बतलाता अथवा यह बतलाता कि किस मित्र की प्रेरणा से वह ग्रंथरचना में प्रवृत्त हुआ। इसके बाद ही मूलकथा का प्रारंभ होता जिसके कई खंड होते और वे खंड सर्गों मे विभक्त होते। प्रत्येक सर्ग के ऊपर कवि फारसी भाषा में उस सर्ग मे वर्णित विषय का संकेत कर देता। बहुत से कवि ग्रंथ के अंत में उपसंहार भी देते और ग्रंथरचना की तिथि भी बतलाते। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सभी मसनवियों में इस नियम का पालन किया गया हो ऐसी बात नहीं। सूफी कवियों की यह विशेषता रही कि उन्होंने फारसी काव्य को दरबारी वातावरण से बाहर निकाल उसमें एक नए जीवन का संचार किया।

फारसी काव्य पर सूफी विचारधारा तथा सूफी कवियों का प्रभाव ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों तक बना रहा, लेकिन इसके बाद वह प्रभाव कम होता गया और फिर से लोगों का झुकाव ऐहिकतापरक काव्य की ओर हुआ। इसके साथ ही बड़े बड़े काव्यग्रंथों की रचना का प्रचलन भी कम हो गया। अलंकरण और चमत्कारप्रदर्शन की ओर कवि फिर झुके। रुबाइयों, गजलों का लिखना अधिक बढ़ गया। वैसे छोटे छोटे उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक काव्य के लिये मसनवी शैली ज्यों की त्यों बनी रही।

हिंदी सूफी काव्य पर फारसी सूफी काव्य के प्रभाव की बात को लेकर बहुत कुछ कहा गया है। अधिकांश लोगों ने इस बात को मान लिया है कि हिंदी सूफी काव्य पूर्ण रूप से फारसी सूफी काव्य से प्रभावित है। छंद, वर्णनशैली, प्रेरणा आदि सभी में इस प्रभाव की बात कही जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि फारसी सूफी काव्य ने विभिन्न भाषाओं के सूफी काव्य को प्रभावित किया है लेकिन इस प्रभाव की बात हिंदी सूफी काव्य के संबंध में बहुत बढ़ा चढ़ाकर कही गई है। हिंदी सूफी काव्य के अध्येता के लिये यह समझने मे बहुत देर नहीं लगेगी कि फारसी सूफी काव्य ने उसपर अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभाव डाला है। हिंदी के अधिकांश सूफी कवियों ने भारतीय वातावरण, भारतीय वर्णनशैली और परंपरा को अपनाया है। छंद, उपमानयोजना, कथानकरूढ़ि आदि के जरिए हिंदी के

सूफी कवियों ने भारतीय परंपरा की ओर अधिक ध्यान दिया है, फारसी साहित्य की ओर यदा कदा ही। ईसवी सन् की सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी तथा बाद के कुछ ही कवियों में इस्लामी परंपरा तथा फारसी साहित्य की ओर झुकाव दीख पड़ता है; लेकिन वर्णनशैली आदि में उन्होंने भारतीय परंपरा का ही निर्वाह किया है।

हिंदी के सूफी कवियों ने साधारणतः भारतीय कहानियों को ही अपने काव्य का आधार बनाया है। लोकप्रचलित प्रेमकथानकों का उपयोग उन कवियों ने आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत करने के लिये किया है। ये प्रेमकहानियाँ बहुत समय ऐतिहासिक नरेशों के नाम के साथ भी जुड़ गई हैं। वैसे प्रायः सभी में कल्पना की प्रधानता है। उस प्रकार की कुछ अर्धकल्पित कहानियाँ भी लिखी गई हैं। इन प्रेमकहानियों में नायकों के कई स्त्रियों से विवाह के प्रसंग हैं। नायक तथा नायिका के मिलन की कठिनाइयों तथा नायक के मार्ग के विघ्नों और उनके पार करने का वर्णन जब सूफी कवि करता है तो उसके मन में साधक के आध्यात्मिक मार्ग की कठिनाइयाँ बरबस याद आती रहती हैं। चित्रदर्शन, शुकसारिका द्वारा रूप गुण के वर्णन तथा स्वप्नादि मे दर्शन द्वारा नायक नायिका में प्रेमोत्पत्ति, मंदिर आदि में नायक नायिका का मिलन, सिंहलयात्रा, समुद्र पार करने में नौका डूबना आदि कथानक रूढियाँ भारतीय परंपरा की अंग हैं। इनका उपयोग हिंदी के सूफी काव्य में मिलता है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों तथा भारतीय साहित्य के लिये ये सभी रूढ़ियाँ पूर्ण परिचित हैं। इसी प्रकार से अपभ्रंश के चरितकाव्यों के समान अधिकांश सूफी कवियों ने अपने काव्य में अपने आश्रयदाता का तथा अपना परिचय दिया है। ग्रंथरचना की प्रेरणा तथा पूर्व के अन्य कवियों के नाम और गुरु की वंदना आदि भी अपभ्रंश चरितकाव्यों की विशेषताएँ हैं जिनका उपयोग हिंदी के सूफी कवियों ने किया है। ऋतुवर्णन, नगरवर्णन, फल फूलों की तालिका आदि भी अपभ्रंश के चरितकाव्यों में प्रायः ही देखने को मिलती हैं। छंदयोजना मे भी हिंदी के सूफी कवियों ने भारतीय परंपरा को ही लिया है।

छंद की दृष्टि से हिंदी के सूफी कवियों ने मसनवियों की छंदयोजना को नहीं अपनाया है। अगर कुछ समानता है तो इसी बात में कि मसनवियों में प्रयुक्त छंद तुगांत हैं। रूमी की मसनवी में एक ही छंद कई कई पृष्ठों तक चलता रहता है। कई कई पृष्ठों तक केवल चौपाई या चौपई किसी भी हिंदी सूफीकाव्य मे प्रयुक्त नहीं हुई है, बीच बीच में सूफी कवियों ने दोहे का घत्ता दिया है। साधारणतः सभी सूफी कवियों ने चौपाई दोहे का ही प्रयोग किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य' (पृ० १३) में बतलाया है कि चौपाई और दोहे की पद्धति का प्रथम प्रयोग बौद्ध सिद्ध सरहपा की रचनाओं में मिलता है। डा० द्विवेदी

का यह भी कहना है कि पूर्वी प्रांतों में चौपाई दोहे का अधिक उपयोग चरित-काव्यों के लिये किया गया है। अपभ्रंश के चरितकाव्य पद्धड़िया छंद में लिखे जाते थे। इन अपभ्रंश के चरितकाव्यों में पद्धड़िया छंद की आठ आठ पंक्तियों के बाद घत्ता दिया गया है। इसे 'कड़वक' कहते हैं। वैसे घत्ता के लिये पंक्तियों की संख्या में व्यतिक्रम है। इन चरितकाव्यों में पद्धरी, पादाकुलक, अलिल्लह छंदों का प्रयोग किया गया है। ये सभी छंद सोलह मात्राओं के हैं जो चौपाइयों से मिलते जुलते हैं। अपभ्रंश काव्यों में भी दोहड़ या दोधक नाम दोहे के लिये प्रयुक्त हुआ है। चाहे जो हो, इतना अवश्य है कि चौपाई दोहे की पद्धति भारतीय परंपरा में ही सूफियों ने अपनाई। बाद में चलकर कहीं कहीं सूफी कवियों ने बरवै, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, सोरठा छंदों का भी प्रयोग किया है। प्रायः सभी सूफी प्रेमाख्यान अवधी भाषा में लिखे गए हैं।

२. पथप्रदर्शक सूफी कवि

हिंदी के सूफी कवियों की परंपरा कब से शुरू हुई और किसको प्रथम सूफी कवि कहा जाय, यह कहना अत्यंत कठिन है। अभी तक मुल्ला दाऊद की 'चंदावन' को सबसे पहला हिंदी का सूफी प्रेमाख्यान होने का श्रेय प्राप्त है। वैसे यह काव्यग्रंथ दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध ही है।[१] फिर भी अब्दुलकादिर बदायूनी के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि यह एक प्रेमाख्यान था जो अत्यंत लोकप्रिय था और इसमें नूरक और चंदा के प्रेम की कहानी कही गई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रेमकहानी प्रायः समस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी। दौलत काजी लिखित 'सती मयना ओ लोर चंद्रानी' बँगला का प्रथम प्रेमाख्यानक काव्य है। दौलत काजी को किसी ने ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी का और किसी ने सत्रहवीं शताब्दी का बताया है। दौलत काजी ने अपने काव्य में बतलाया है कि उन्होंने साधन द्वारा दोहा चौपाई में लिखे हुए 'मैनासत' काव्य का बँगला के पाँचाली छंद में रूपांतर किया। चाहे जो हो, जब तक अन्य कोई रचना न मिल जाय, मुल्ला दाऊद की 'चंदावन' को ही पहला सूफी प्रेमाख्यान मानना पड़ेगा।

भारतवर्ष के सूफी कवियों में अमीर खुसरो का नाम लिया जा सकता है। अमीर खुसरो फारसी के विशिष्ट कवियों में थे। अमीर खुसरो का काल सन् १२५३ ई० से सन् १३२५ ई० (सं० १३१० से सं० १३८२) का है। अमीर खुसरो से हिंदी के सूफी कवियों ने कहाँ तक प्रेरणा ग्रहण की, यह कहना कठिन है।

१ इसके संबंध में दे० अध्याय २ (आगे)।—सं०।

अमीर खुसरो की रचनाओं ने सचमुच उन्हें प्रभावित किया, इसमें संदेह है। खुसरो ने भाव, भाषा, उपमान योजना, सबमें पूर्ण रूप से फारसी साहित्य और उसकी परंपराओं को अपनाया है। हिंदी के सूफी साहित्य का वातावरण खुसरो साहित्य से संपूर्णता भिन्न है।

फारसी साहित्य में खुसरो की मसनवियाँ अत्यंत समादृत हैं। लेकिन इन मसनवियों की विषयवस्तु, वर्णनशैली, छंद और सबसे बढ़कर कवि की दृष्टिभंगी में वह बात नहीं पाई जाती जो हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्य में है। खुसरो की मसनवियों को देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी बहुत सी मसनवियाँ न प्रेमाख्यानक हैं और न उनमें किसी आध्यात्मिक तत्व की चर्चा ही है। खुसरो की एक मसनवी में दिल्ली के बादशाह कैकुबाद और बंगाल के शासक बुगरा खाँ के मिलने का वर्णन बड़े ब्योरेवार ढंग से किया गया है। इसी प्रकार से उनकी दूसरी मसनवी में सुलतान जलालुद्दीन फिरोजशाह खिलजी के गद्दी पर बैठने के बाद की एक डेढ़ वर्षों की घटनाओं का वर्णन है। खुसरो की एक मसनवी 'नूह सिपह' में नौ आसमानों के समान नौ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में अलग अलग छंदों का व्यवहार किया गया है। इस मसनवी में खुसरो ने भारतवर्ष की प्रशंसा बड़े ही उच्छ्वसित ढंग से की है। खुसरो ने इसमें एक जगह कहा है, 'लोग मुझसे यह पूछ सकते हैं कि भारत के लिये मेरे मन में यह उत्साह और श्रद्धा क्यों है? इसका कारण यह है कि भारत मेरी जन्मभूमि है और यह मेरा देश है। पैगंबर ने कहा है कि अपने देश से प्रेम करना मजहब का एक अंग है। और चूँकि यह मेरा देश है, इसलिये अपने विषय को ध्यान में रखकर इसके संबंध में मैं कहने जा रहा हूँ।' इसके बाद इस मसनवी में भारतवर्ष के फूल, फल, पौधे, जलवायु, ज्ञान विज्ञान आदि की चर्चा है और दूसरे देशों जैसे, फारस, तुर्किस्तान की तुलना में इसे बड़ा बताया गया है। फिर इसमें हिंदुओं के विश्वास, पूजापद्धति आदि की चर्चा है और उन्हें समझने की चेष्टा है। 'इश्किया' नामक मसनवी में खुसरो ने खिजिर खाँ और देवलरानी के प्रेम और विवाह का वर्णन किया है।

फारसी के कवि निजामी के समान खुसरो ने भी 'खम्सा' की रचना की है। 'खम्सा' पाँच मसनवियों के संग्रह को कहते थे। निजामी के 'खम्सा' का नाम 'पंज गंज' है। लगता है जैसे प्रतिस्पर्धा का भाव रखकर खुसरो ने अपने 'खम्सा' की रचना की है। ये पाँच मसनवियाँ 'मत अउल अनवार', 'शीरीं खुसरो', 'मजनूँ-लैला', 'आईना-ए-इस्कंदरी' तथा 'हश्त बिहिश्त' हैं। निजामी की पाँच मसनवियों के नाम यों हैं : 'मख्जनुल असरार', 'खुसरो व शीरीं', 'लैला व मजनूँ', 'सिकंदर-नामा' तथा 'हफ्त पैकर'। खुसरो के बाद मसनवियों का लिखना कम हो गया और इतनी बड़ी मसनवियों के लिखने का प्रचलन नहीं रह गया।

अमीर खुसरो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। राजदरबारों में इनका बराबर संमान रहा। चंगेज खाँ की लूटपाट के समय इनके पिता तुर्किस्तान से भागकर भारतवर्ष में आए और उत्तर प्रदेश के एटा जिले मे रह गए। यहीं खुसरो का जन्म हुआ। खुसरो को साहित्य और संगीत से अत्यंत प्रेम था। बहुत कम उम्र मे ही इन्होंने कविताएँ लिखनी शुरू कीं।

द्वितीय अध्याय

सूफी प्रेमगाथा (उत्तरी भारत)

भारत मे अधिकांश सूफी लोग इस्लाम धर्म के भीतर सूफी मत के पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाने के बाद आए। उन्हे अब सूफी मत एवं इस्लाम के विरोध को सुलझाना न था, वे राजधर्म के अनुयायी एवं धैर्यवान प्रचारक थे। हिंदी मे प्रचलित प्रेमाख्यानों की हृदयग्राही परंपरा के द्वारा उन्होंने जनता के मध्य अपने विचारों का प्रचार किया।

हिंदी साहित्य में अधिकांश प्रबंध काव्यों की रचना दोहे चौपाई की पद्धति मे अवधी भाषा में हुई है। मध्ययुग के सूफी प्रेमाख्यान रचयिताओं ने भी अवधी को ही अपने भावाभिव्यंजन का उपयुक्त साधन पाया। मुल्ला दाऊद की 'चंदावन' का इस क्षेत्र मे अभी तक की खोज के अनुसार सर्वप्रथम प्रेमाख्यान होने के कारण, महत्वपूर्ण स्थान है। मुल्ला दाऊद रचित 'चंदावन' की प्रति अभी तक अपने पूर्ण रूप में अप्राप्य है, यद्यपि कभी कभी इसकी उपलब्धि संबंधी सूचना बीकानेर, धौलपुर या पटना आदि से मिल जाती है, तथापि निश्चित रूप से अभी तक उन सभी के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

१. मुल्ला दाऊद—मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन था, अलाउद्दीन खिलजी सन् १२९६ (सं० १३५३) में राजसिंहासन पर बैठा तथा उसकी मृत्यु २ जनवरी, सन् १३१६ को हुई। अतः मुल्ला दाऊद का रचनाकाल भी सन् १२९६ से सन् १३१६ के बीच का काल है। मिश्रबंधु को मुल्ला दाऊद का कविताकाल सं० १३८५ मान्य है और डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का विचार है कि मुल्ला दाऊद ने अपनी ग्रंथरचना सं० १४९७ मे की। डा० बड़थ्वाल के ग्रंथ, 'दि निर्गुण स्कूल आव हिंदी पोएट्री' में दिया हुआ सन् इतिहास के तथ्य से मेल नहीं खाता क्योंकि वे मुल्ला दाऊद को अलाउद्दीन का समकालीन भी मानते हैं और साथ ही उसका आविर्भावकाल सन् १४४० मानते हैं। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्य सन् १३१६ मे हो गई, यह इतिहाससम्मत है। तब सन् १४४० में मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन कैसे हो सकता है?

'चंदावन' की पूरी प्रति अनुपलब्ध होने के कारण उसके कथानक, भाषा एवं उद्देश्य के संबंध मे विस्तृत रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मुल्ला दाऊद के समकालीन अमीर खुसरो ने कई मसनवियाँ लिखी थीं। बहुत संभव

है, मुल्ला दाऊद ने भी उसी पद्धति पर अपनी काव्यरचना की हो। बाद के सूफी कवियों की भाँति मुल्ला दाऊद ने भी इस प्रेमाख्यान के माध्यम से अपने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचार किया था, यह तब तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता जब तक उसकी कोई प्रामाणिक प्रति न मिल जाय। 'चंदावन' की पूरी प्रामाणिक प्रति उपलब्ध होने पर सूफी प्रेमाख्यानपरंपरा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ने की संभावना है। अभी तक 'चंदावन' के संबंध मे निश्चित प्रामाणिक सूचना के रूप में अल बदायूनी की मुंतखबुत्तवारीख, के आधार पर केवल इतना ही कहा जाता रहा है कि '७७२ हि० सन् मे वजीर खानेजहाँ की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र जूनाशाह इसी उपाधि से विभूषित हो गद्दी पर बैठा। इसी जूनाशाह के संमान मे समकालीन कवि मौलाना दाऊद ने 'नूरक चंदा' नाम की एक मसनवी काव्यबद्ध की जिसमें नायक नूरक तथा नायिका चंदा के प्रेम का बड़ा विशद एवं मार्मिक चित्रण हुआ है, जिसकी और अधिक प्रशंसा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वह मसनवी अपने प्रदेश में बहुत ख्याति पा चुकी है। मखदूम शेख तकीउद्दीन वायज रहबानी इस मसनवी की कुछ पंक्तियाँ व्यासपीठ पर से पढ़ा करते थे, श्रोतागण इस काव्य से बहुत प्रभावित होते थे। कुछ अन्य धार्मिक पंडितों के द्वारा शेख से यह पूछने पर कि इस हिंदी मसनवी के चुनाव का क्या विशेष कारण है, उन्होंने उत्तर दिया कि यह संपूर्ण ग्रंथ दैवी सत्यता से ओतप्रोत है, इसकी कथावस्तु चित्ताकर्षक, भगवत्प्रेमियों को आनंदातिरेक से बेसुध करने में समर्थ एवं कुरान की कुछ आयतों के आध्यात्मिक अर्थ से साम्य रखती है। इसके अतिरिक्त जनसाधारण मे इसका गायन मनोमुग्धकारी है।

इधर इस प्रेमाख्यान की विशेष चर्चा देखने मे आई है और यह तीन लेखकों द्वारा पृथक् पृथक् चार संस्करणों में संपादित होकर न्यूनाधिक अधूरे रूप में ही प्रकाशित भी हो चुका है जिससे इसके विषय मे कुछ धारणा बना लेना उतना कठिन नहीं कहा जा सकता। इनमे से प्रथम दो संस्करणों का प्रकाशन (सन् १९६२ ई० में) एक ही साथ, आगरा (हिंदी विद्यापीठ) से हुआ है, तीसरा (सन् १९६४ ई० मे) बंबई (ग्रंथ रत्नाकर) से प्रकाशित है तथा चौथा आगरा (प्रामाणिक प्रकाशन) से सन् १९६७ ई० मे निकला है। इसके आगरावाले प्रथम दो संस्करणों मे से प्रथम को जहाँ 'चंदायन' कहा गया है, वहाँ द्वितीय को 'लोर कहा' नाम दिया गया है। उनकी प्रस्तावनाओं के अंतर्गत यह भी कहा गया है कि प्रथम का पाठ जहाँ 'भोपाल प्रति' पर आधारित है वहाँ द्वितीय वाला मनेर आदि स्थानों मे उपलब्ध प्रतियों का अनुसरण करता है जिस कारण दोनों में कुछ न कुछ अंतर आ जाने की भी संभावना हो सकती है। उक्त तीसरे रूप को विशेषकर मैनचेस्टर (इंगलैंड) के रीलैंडस पुस्तकालय मे सुरक्षित प्रति की सहायता

लेकर छापा गया है जिसे 'रीलैंड्स प्रति' जैसा नाम भी दिया गया है। इसमें, मूल पाठ के अतिरिक्त, शीर्षक, पाठांतर तथा आवश्यक टिप्पणी देने का भी प्रयत्न किया गया गया है। इसी प्रकार उक्त चौथे संस्करण का प्रमुख आधार जयपुर के श्री रावत सारस्वत वाली 'बीकानेर प्रति' मानी गई है और इसे संदर्भ, शीर्षक, पाठांतर आदि के अतिरिक्त, सानुवाद भी प्रकाशित किया गया है तथा उक्त तीसरे संस्करण में जहाँ केवल 'शब्दसूची' पाई जाती है वहाँ इसमें कतिपय शब्दों का एक ऐसा 'शब्दकोश' दे दिया गया है जिसकी सहायता द्वारा उनके प्राचीन भाषारूप एवं अर्थ पर भी कुछ विचार किया जा सकता है। अतएव, अब इतना कहा जा सकता है कि, यद्यपि इस प्रेमाख्यान के अद्यावधि उपलब्ध रूप को वस्तुतः अधूरा ही ठहरा सकते हैं, फिर भी उक्त प्रकार से प्राप्त सामग्री की छानबीन करके, हम इसके विषय मे बहुत कुछ कहने अथवा अनुमान करने की स्थिति मे अवश्य आ गए हैं। तदनुसार यदि हम चाहें तो अब इस रचना के आकार प्रकार, इसके कथानक, इसके रचयिता, इसकी भाषा एवं रचनाशैली आदि के संबंध मे कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं तथा, इसके वर्ण्य विषय का अध्ययन कर, इसका मूल्याकन भी कर सकते हैं। उपर्युक्त बंबईवाले तीसरे संस्करण के सपादक डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने, इसके प्राप्त अंशों का लेखा जोखा करके बतलाया है कि 'चंदायन' के कुल ३९२ कड़वक अभी तक प्रकाश मे आ गए हैं और 'बीकानेर प्रति' के आधार पर, यदि ऐसा अनुमान कर लिया जा सके कि इसके कम से कम ४७३ कड़वक रहे होंगे, उस दशा मे, कहा जा सकता है कि आज तक हमें इसके ८१ कड़वक देखने को नहीं मिल सके हैं।[1] परंतु उपर्युक्त चौथे संस्करण के संपादक डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इसके लगभग ४६८–६९ कड़वकों का ही होना अनुमान किया जाना चाहिए।[2] अपने द्वारा संपादित संस्करण के अंत मे और एक 'परिशिष्ट' के रूप मे, इन्होंने ऐसे ७८ कड़वकों का समावेश भी कर दिया है जो इन्हे 'प्रक्षिप्त' जान पड़ते हैं। जहाँ तक इस रचना के वास्तविक नाम के संबंध मे कहा जा सकता है वह 'नूरकचंदा', 'लोरकचंदा' वा 'लोरकहा' जैसा नहीं हो सकता जिस प्रकार का अनुमान, अभी तक समय समय पर किया जाता रहा और अब अधिक संभव यही जान पड़ता है कि, वह उक्त 'बीकानेर प्रति' वाले पाठ के अनुसार (जिसे चौथे संस्करण के ३२९वें कड़वक मे दिया गया है), या तो 'चादायन' अथवा 'चंदायन' के रूप में ही रहा होगा। तदनुसार दाऊद कवि का अपने लिये 'मौलाना' शब्द का वह प्रयोग करना भी हमें कुछ अस्वाभाविक सा

[1] दे० 'परिचय' पृ० २५-६ ('ग्रंथ का आकार')।
[2] दे० 'भूमिका' पृ० ५२ - ३ ('रचना की संपादन सामग्री')।

लगने लगता है जिसे, कदाचित् 'रीलैंड्स' प्रति पर आधारित और तीसरे संस्करण के १६०वें कड़वक की प्रथम पंक्ति के आरंभ मे ही, देखा जा सकता है।[1]

'चंदायन' के चौथे संस्करण का प्रकाशन हो जाने पर हमें ऐसा लगता है कि उसके वर्ण्य विषय का आकार प्रकार अन्यत्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण कहा जा सकेगा, यद्यपि इसमें भी, उसके अंतिम अंश के न पाए जाने के कारण, उसका पूरा रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इसकी कथावस्तु का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—गोबर नगर के राय महर सहदेव थे जिनकी ८४ रानियाँ थीं। उनमें से पट्टमहारानी का नाम 'फूला' था जिसकी कोख से पद्मिनी जाति की कन्या चाँद का जन्म हुआ। उसके सौंदर्य की प्रशंसा दूर दूर तक फैल गई तथा महर के पास उसके साथ विवाहार्थ अनेक संदेश आने लगे और ऐसे प्रस्ताव अस्वीकृत भी किए जाने लगे। तदनुसार जब वह केवल चार वर्ष की ही थी, रामजीत ने अपने पुत्र बावन के साथ उसके विवाह की माँग की जिसे स्वीकार कर लिया गया और दोनों का संबंध स्थापित हो गया। परंतु, विवाह के बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, बावन से चाँद की भेंट न हो सकी जिस कारण वह बेचैन होने लगी। इसलिये राय सहदेव ने उसे अपने यहाँ बुला लिया जहाँ उसने अपनी सहेलियों को, अपने सारे, कष्टों का विवरण दिया। इसी बीच वहाँ पर किसी दिन एक बाजिर (जोगी) ने गोबर मे भिक्षार्थ घूमते समय, चाँद को अपने धौरहर पर खड़ी देख लिया और वह उसपर मोहित हो गया। फलतः वहाँ से चले जाने पर भी, पीछे वह उसके विषय मे 'चंद्रावल का गीत' घूम घूमकर गाने लगा। तदनुसार, जब राजपुर के राय रूपचंद ने उसके मुख से चंदा की प्रशंसा सुनी तो, उसने, गोबर की ओर, उसके लिये कूच कर दिया और अपना प्रस्ताव स्वीकृत न होने पर उसने युद्ध भी छेड़ दिया। लड़ाई गंभीर हो उठी और तब, अपनी सहायता के लिये, राय सहदेव को लोरक को आमंत्रित करना पड़ा जिसने आकर रूपचंद को हरा दिया। तब महर ने, विजयोल्लास के उपलक्ष में, कोई जुलूस निकलवाया जिसमें लोरक को हाथी पर बिठाकर संमानित किया गया। धूमधाम के साथ निकली हुई उस शोभायात्रा को अपने धौरहर से देखते समय चंदा की दृष्टि लोरक पर पड़ी जिससे वह मूर्छित हो पड़ी। संज्ञा प्राप्त करने पर उसने, अपनी सहेली 'बिरहस्पत' की सहायता से फिर किसी भोज का आयोजन कराया जिस अवसर पर उसे देखकर अब लोरक मूर्छित हो गया। वह इतना बीमार पड़ गया कि उसकी माँ 'खोलिन' रोने लग गई जिसका पता

१ दे० पृ० २८६। ('मौलाना दाऊद यह गित गाई, जो रे सुनाँ सो गा मुरझाई')।

पाकर वहाँ विरहस्पत पहुँच गई और इसने उससे चाँद का हाल कहकर तथा उसे समझा बुझाकर परामर्श दिया कि जोगी के वेश में किसी मंदिर मे जाकर वह तप करे। फिर तो चाँद भी वहाँ पर किसी दिन पहुँच गई, किंतु दोनों प्रेमी खुलकर मिल न सके जिसके फलस्वरूप लोरक वन में चला गया और इधर चाँद उसके विरह मे झूरने लग गई। विरहस्पत ने तब लोरक से मिलकर उसे चाँद से मिलने की युक्ति बतलाई जिसके अनुसार वह रात के समय कमंद लगाकर उसके धोरहर पर चढ़ गया। इस प्रकार दोनों की भेंट हो गई और दोनों मे प्रेमालाप भी हुआ, किंतु, जब इसका पता लोरक के घरवालों को लग गया और किसी दिन इस बात से दुःख मान कर उसकी पत्नी मैना ने चाँद के साथ झगड़ा किया तो, उसने दोनों को मारपीट करने से रोका और, चाँद के साथ अपने प्रेमसंबंध की चर्चा अधिक फैलने लगने पर, उसने उसे लेकर कहीं भाग जाने का भी निश्चय कर लिया।

लोरक ने फिर इसके लिये किसी पंडित से शुभ दिन का विचार कराया और तदनुसार वह चाँद को धोरहर से नीचे लाकर वहाँ से चला। दोनों प्रेमियों ने काले वस्त्र पहन लिए थे, किंतु मार्ग मे कँवरू ने लोरक को पहचान लिया। परंतु उसे किसी प्रकार समझा बुझाकर फिर दोनों आगे बढ़े और किसी मल्लाह की सहायता से उन्होंने गंगा पार कर लिया। तब तक वहाँ बावन भी पहुँच गया और उसने गंगा को पार कर उनका पीछा किया, किंतु वह सफल न हो सका और हार मानकर अपने घर वापस आ गया। उधर वे दोनों प्रेमी कलिंग देश पहुँचे जहाँ किसी बोदई ने लोरक से चाँद को ले लेना चाहा। किंतु वह इसमे असफल हो गया। तत्पश्चात् बोदई ने इन दोनों की, अपने राजा से भेंट कराई। उसने उनपर प्रसन्न होकर उनकी बिदाई आदर के साथ की। फिर कलिंग मे ही, किसी ब्राह्मण के घर रहते समय, चाँद को सर्प ने डँस लिया जिससे किसी प्रकार उसके प्राणों की रक्षा हो सकी। फिर एक दूसरी बार भी उसे सर्प ने, मार्ग मे आगे बढ़ते समय, सोने की दशा में, डसा जिस अवसर पर फिर, किसी गुणी की करामात से उसके प्राण बचाए जा सके। अंत मे, चौदह कोस और आगे जाने पर, वे दोनों हरदी-पाटन पहुँचे जहाँ के राजा के किसी नाई द्वारा उन्हे आवास दिलाया गया। इस राजा का नाम छेतम था जिसने लोरक पर प्रसन्न होकर इसे एक घोड़ा दिया और ये दोनों प्रेमी उसके हरदीपाटन राज मे एक वर्ष और कुछ मास रहे। इधर मैना निरंतर लोरक की बाट जोहती रही और किसी दिन इसने हरदीपाटन जाने वाले किसी टाँडेवाले सुरजन के द्वारा अपना सदेश उसके पास भेजकर उससे घर वापस आने के लिये अनुरोध किया। चाँद ने इसे जान लेने पर आपत्ति की किंतु लोरक ने नहीं माना और अंत मे, दोनों हरदीपाटन से दो सौ पदातिकों के साथ

गोबर की ओर चल पड़े। पचास कोस चलकर जब वे दोनों देवहा के निकट आ गए तो लोरक ने एक माली के हाथ कुछ फूल भेजकर मैना के सतीत्व की परीक्षा लेनी चाही। मैना इसमें खरी उतरी और फिर जब यह अन्य महरियों के साथ दूध दही लेकर आई तो इस बार भी इसपर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सका। इसके अनंतर जब मैना एवं चाँदा दोनों आमने सामने हुईं तो उनके बीच फिर एक बार झगड़ा हुआ जिसमें लोरक ने बीच बचाव कर दिया। फिर अजई द्वारा लोरक की भी परीक्षा ली गई जो विजयी बनकर किसी घोड़े पर सवार हुआ और वह घर आकर अपनी माँ खोलनी से मिला। उसने उसे उसकी अनुपस्थिति में, उसके शत्रुओं द्वारा किए गए कृत्यों का समाचार दिया जिस कारण उसे बहुत कष्ट हुआ। चौथे संस्करणवाले मूलपाठ की कथा यहीं तक आकर रह जाती है और इसके अनंतरवाले अंश के विषय में केवल कल्पना की जाती है। इस प्रेमाख्यान का अंत लोरक की विजय तथा उसके सुखमय जीवन से होता है अथवा, उसके काशीक्षेत्र में जाकर जल जाने के अनंतर उसकी दोनों पत्नियाँ सती हो जाती हैं और कथा दुःखांत हो जाती है, यह यहाँ उपलब्ध सामग्री के आधार पर निश्चित नहीं हो पाता।

'चंदायन' के रचयिता दाऊद कवि ने यहाँ अपने संबंध में अधिक नहीं कहा है। रचना के समय का पता इसने हि० सन् ७८१ दिया है जो सं० १४३६ पड़ता है। इसने अपना स्थान भी डलमऊ नगर बतलाया है जो रायबरेली जिले (उ० प्र०) में गंगा तटपर बसा हुआ है। वहाँ के समकालीन मीर का नाम इसने 'मलिक मुबारक' दिया है और उसकी प्रशंसा की है तथा इसी प्रकार 'शाहेवक्त' का नाम फीरोजशाह बतलाते हुए, उसके वजीर खानेजहाँ की भी प्रशंसा की है और उसे अपने आश्रयदाता जैसा स्मरण किया है। उसका वास्तविक नाम भी इसने 'जौनासाहि' प्रकट किया है। कहते हैं, 'तारीखे डलमऊ' के अंतर्गत ऐसा लिखा है कि 'मुल्ला दाऊद डलमवी ने, भाखा चंदायन की रचना करके उसमें इस स्थान का कुछ परिचय भी दिया है।'[1] यह चौथे संस्करण के १५वें १७वें कड़वक की ही ओर संकेत करता है। इस कवि का 'मुल्ला दाऊद' कहलाना भी इससे सिद्ध होता है। इसने अपने पथप्रदर्शक अथवा मुर्शिद के रूप में, 'सेष जैनदी' अर्थात् शेख जैनुद्दीन का नाम लिया है जिनके यहाँ पर दिए गए परिचय से ऐसा लगता है कि न केवल उन्होंने इसकी ज्ञानदृष्टि खोल दी थी,

१ 'चंदायन' (आगरावाला १९६२ ई० का संकरण) प्रस्तावना, पृ० ८।

अपितु उन्होंने ही इसे वर्णमाला तक मे शिक्षित किया था।[1] इस कवि ने एक स्थान पर यह भी[2] कहा है कि, 'मुल्ला दाऊद ने सिराजुद्दीन के प्रति काव्य के ये छंद सँवारकर कहे', किंतु इस बात का कहीं कोई पता नहीं चल पाता कि ये सिराजुद्दीन कौन रहे होंगे और न हमें उस 'मलिक नथन' का ही कोई परिचय दिया गया दीख पड़ता है जिसके द्वारा दुःख की बात उभारी जाने पर इसने उसे कान देकर सुनने के लिये कहा है। इस रचना के संबंध मे यह विशेष रूप मे उल्लेखनीय है कि इसका कवि, संभवतः सूफीमत द्वारा प्रभावित होता हुआ भी, यहाँ पर उसके प्रति, अन्य सूफी कवियों की भाँति, बार बार हमारा ध्यान आकृष्ट करता नहीं दीख पड़ता।

हिंदी मे रचे गए तथा अभी तक उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों मे मुल्ला दाऊद की यह रचना सर्वप्रथम समझी जाती है। अल् बदायूनी द्वारा किए गए इसके प्रशंसात्मक उल्लेख की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। हमे इस बात का भी पता चलता है कि इसका एक फारसी अनुवाद भी शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (सं० १५१३–९४) ने आरंभ किया था जिसका कुछ अंश आजतक भी मिलता है तथा जिसके संबंध में कुछ आगे भी कहा जायगा। इसमे संदेह नहीं कि 'चंदायन' से, इसकी रचना के अनंतर लिखनेवाले हिंदी के सूफीकवियों ने भी अपनी प्रेमगाथाओं की रचना करते समय, कुछ न कुछ प्रेरणा अवश्य ग्रहण की होगी। परंतु स्वयं इसका अपना मूलआधार अथवा आदर्श क्या रहा होगा, इस बात का अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं किया जा सका है। इसके कथानक से मिलती जुलती किसी न किसी कहानी को लेकर अवधी, भोजपुरी तथा छत्तीसगढ़ी जैसी बोलियों के अंतर्गत, बहुत सी लोकगाथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनके तुलनात्मक अध्ययन का कार्य अभी तक, सभी दृष्टियों से, पूरा नहीं हो पाया है। अब तक उन अनेक साहित्यिक प्रेमाख्यानों का भी वैसा अध्ययन किया गया नहीं दीख पड़ता जो इससे मिलते जुलते कथानकों के आधार पर, हिंदी अथवा इससे भिन्न भाषाओं मे भी, इस समय मिलते हैं। 'चंदायन' वाली मूल कथावस्तु मे जो लोरक की दो प्रेमिकाओं अर्थात् मैना एवं चंदा की ओर से प्रदर्शित प्रेम दीख पड़ता है उसपर विचार करते समय हमे, ऐसा लगता है कि उसके यहाँ पर प्रत्यक्षतः दो रूप हो गए हैं जिनमे से एक दूसरे से किंचित् भिन्न भी कहला सकता है। मैना लोरक की विवाहिता पत्नी है जो उसके साथ पहले से रह भी चुकी है और उसके प्रेमभाव ने अपने पति के प्रति 'सतीत्वमूलक' रूप ग्रहण कर लिया है जहाँ चंदा अपने प्रेमी के प्रति केवल आकृष्ट होकर उसकी प्रेमिका बन गई है

[1] दे० कड़वक ६ (चौथा संस्करण), पृ० ८।
[2] दे० वही, पृ० २५८ का कड़वक २६८।

जिस कारण इसका प्रेम 'विशुद्ध शृंगारिक' वा 'शृंगारमूलक' जैसी कोटि का ही समझा जा सकता है। इन दोनों प्रकार के प्रेमभावों का चित्रण, अनेक अन्य प्रेमगाथाओं मे भी एक साथ किया गया पाया जा सकता है। परंतु 'चंदायन' वाली कथावस्तु की कदाचित् यह एक अपनी विशेषता है कि इसमे दीख पड़नेवाले मैना के सतीत्वमूलक प्रेम को हम, कभी कभी किसी न किसी स्वतंत्र रचना के अंतर्गत अकेले रूप में भी, चित्रित किया गया देखते हैं' जहाँ पर या तो उक्त द्वितीय रूप का उल्लेख तक नहीं होता अथवा उसे केवल प्रासंगिक रूप दे दिया गया रहता है तथा, प्रथम को उदाहृत करते समय, मैना की कठिन परीक्षा तक भी ले ली जाती है। वास्तव में हमारे यहाँ इस प्रकार की रचनाओं की एक पृथक् परंपरा ही चली आती रही है जिस कारण यहाँ पर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या 'चंदायन' की मूल कथावस्तु भी पहले इसी प्रसंग तक तो सीमित नहीं रही और इसमे पीछे चंदावाले उपर्युक्त प्रसंग को कभी अधिक विस्तार दे दिया गया ? परंतु इसका भी अंतिम समाधान केवल उसी दशा में संभव हो सकता है जब हमारे सामने ऐसी सभी प्रेमगाथाओं का यथेष्ट विवरण प्रत्यक्ष हो जा सके तथा जब हमे उन सभी का एक साथ अध्ययन कर लेने पर, उन्हें क्रमानुसार स्थान देने के लिये पूरा आधार भी मिल जाय। अभी, जहाँ तक पता है, 'चंदायन' वाली कहानी से संबंधित लोकगाथाओं की 'टेप रेकर्डिंग' भी पूरी नहीं हो पाई है[1] और न उन्हें लिपिबद्ध किया जा सका है तथा अभी स्वयं इसकी कोई सर्वांगपूर्ण प्रति तक भी उपलब्ध नहीं कही जा सकती और न ऐसी, अन्य भाषाओंवाली, रचनाओं का ही समुचित अध्ययन हो सका है।

२. कुतबन

प्राप्त सूफी प्रेमाख्यानों मे, तिथि के दृष्टिकोण से द्वितीय ग्रंथ कुतबन रचित 'मृगावती' है। 'मृगावती' की भी खंडित प्रतियाँ ही उपलब्ध होती हैं। अतः उसके आधार पर कुतबन के जीवन के संबंध मे अधिक ज्ञात नहीं होता। इधर कुछ मास पूर्व 'मृगावती' की एक प्रति खजुहा मे भी प्राप्त हुई है। इस प्रति के प्रकाश में आने पर संभवतः कवि के जीवन पर विशेष प्रकाश पड़े। 'मृगावती' की एक हस्तलिखित प्रति 'भारत-कला-भवन' काशी मे सुरक्षित है तथा एक दूसरी बीकानेर मे एवं तीसरी एकडला (फतेहपुर, उ० प्र०) मे भी पाई जाती है।

कुतबन जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह के समकालीन थे। अपने ग्रंथ में कवि ने शाहेवक्त की प्रशंसा इन शब्दो मे की है :

[1] डा० श्याममनोहर पांडेय ने इस ओर प्रशंसनीय कार्य आरंभ किया है जो, संभव है, पूरा हो जाने पर उक्त प्रश्नों को हल करने में भी, सहायक बन सके।—ले०।

'साहे हुसेन आहे बड़ राजा, छत्र सिंघासन उनको छाजा।
पंडित औ बुधवंत समाना, पढ़े पुरान अरथ सब जाना॥'[1]

हुसेनशाह की प्रशंसा करते समय कवि ने उसे बड़ा विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ भी बताया है। उसके ऐश्वर्य, धर्मशीलता तथा त्याग की प्रशंसा भी कवि ने की है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' मे इस हुसेनशाह को शेरशाह का पिता माना है, किंतु इतिहास की पुस्तकों मे शेरशाह के पिता का नाम अधिकतर 'हसन खाँ' लिखा मिलता है जिसकी विद्वता के संबंध मे भी इतिहासकारों ने विशेष निर्देश नहीं किया है। कुतबन की 'मृगावती' का रचनाकाल सं०१५६० है। कुतबन के समसामयिक हुसेनशाह नामक दो बादशाहों का उल्लेख इतिहासग्रंथों में मिलता है। इनमे से एक हुसेनशाह शर्की था जो जौनपुर का शासक था, तथा जिसे बहलोल खाँ लोदी ने हराया था। दूसरा हुसेनशाह बंगाल का शासक था, जिसका राज्यकाल स० १५५० से १५७६ तक माना जाता है। बहलोल खाँ लोदी की मृत्यु सं० १५४५ मे हुई थी, अतः ये दोनों शासक कुतबन के समसामयिक कहे जा सकते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कुतबन को जौनपुर के शासक हुसेनशाह का आश्रित कवि माना है, किंतु पं० परशुराम चतुर्वेदी को बंगाल के शासक हुसेनशाह का आश्रित कवि होना अधिक मान्य है। बंगाल का यह शासक वास्तव मे बहुत योग्य एवं धर्मपरायण था। हिंदू मुस्लिम एकता का समर्थक था तथा कहा जाता है कि इसी उद्देश्य से उसने 'सत्यपीर' नाम का मत भी चलाया था। कुतबन इन बादशाहों में किसका आश्रित था यह निश्चित रूप से अभी कह सकना संभव नहीं।

कुतबन ने अपने ग्रंथ को दो माह तथा दस दिन में पूर्ण कर लिया था। कवि का कहना है कि जिस कथा का वह वर्णन कर रहा है वह बहुत प्राचीन है किंतु कवि ने उसे नवीन रूप अवश्य दे दिया है। कवि ने उसी चली आती हुई कथा को दोहों, चौपाइयों, सोरठों एवं अरिल्ल छंदो में बाँधा है :

पहले ही अे दुइ कथा अही। योग सिंगार बिरह रस कही॥
पुनि हम खोली अरथ सब कहा। लघु दीरघ कौतुक नहीं रहा॥
जहीया होत पंद्रह सै साठी। तहीय अेरे चौपई गँठी॥
खट भख अहही ऐहि मद्ध। पंडित बिन बूझत होइ सिद्ध॥
पहिले पख भादौ छठो अही।[2] नौ सौ नव जब संवत अही॥

[1] कु० कु० मृ०, पृ० ६८।
[2] वही, पृ० ३०२।

रेश्र मोहनि चाँद उनियारी। यह कब कही पूरी सँवारी॥
गाहा दोहा अरेल अरल। सोरठा चौपाई कै सरल॥
आखर आखिर बहुतै आये। औ देसी चुनि चुनि कछु लाये॥
पढ़त सुहावन दीजै कानू। इहकै सुनत न भावै आनू॥

दोहरा

दोये मास दिन दस मही, पहरे दौराये जाय॥
येक येक बोल मोती जस पुखा, इकठा भवचित लाय॥

अतः सिद्ध होता है कि कुतबन ने हि० सन् ६०६ भादों बदी छठ को अपना ग्रंथ पूर्ण किया था।

कुतबन ने गुरु के रूप मे शेख बुरहान पीर की प्रशंसा की है। शेख बुरहान या बुढ़न को वे 'सबसो बड़ा सो पीर हमारा' तक कहते हैं। वे लिखते है :

सेष बुढ़न जग साचा पीरू। नाम लेत सुध होय सरीरू॥
कुतबन नाम लेइ पाधरे। सरवर दो दुहुँ जग नीर भरे॥

'आईन-ए-अकबरी' मे लिखा है कि शेख बुढ़न शत्तारी शेख अब्दुल्ला शत्तारी के वंशज थे और प्रसिद्ध सुलतान, सिकंदरशाह लोदी के समकालीन भी थे। साथ ही आईन-ए-अकबरी के रचयिता अबुलफजल के पिता के बड़े भाई ने शेख बुढ़न से जिक्र की शिक्षा भी ग्रहण की थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कुतबन को चिश्तिया संप्रदाय के शेख बुरहान का शिष्य मानते हैं।

'मृगावती' की जो एकडला वाली प्रति है उसे प्रमुखता प्रदान करते हुए इसका एक संस्करण हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसके अनुसार इसकी कथावस्तु का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है।—किसी एक अत्यंत दानी एवं धर्मात्मा राजा ने पुत्रकामना से ईश्वर से प्रार्थना की जिसके फलस्वरूप उसे एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ और उसने अपार धनराशि दान में देकर उसके भविष्य का विचार कराया। पंडितों ने पुत्र को विजयी एवं गुणवान कहा किंतु यह भी बतलाया कि उसे स्त्रीवियोग का दुःख भोगना पड़ेगा। इसके उपरांत उसके पालन एवं शिक्षादि का प्रबंध किया गया। एक दिन जब राजकुमार अपने मित्रो के साथ शिकार खेलने गया था, उसे एक सतरंगी हिरनी दीख पड़ी जिसके प्रति वह आकृष्ट हो गया तथा यह उससे भयभीत होकर मानसरोवर में कूद पड़ी और इसके इस प्रकार अंतर्धान हो जाने पर, उसने इसे भरसक पानी मे ढूँढा तथा इसके न मिलने पर वह वहीं पेड़ के नीचे बिलखने लगा। जब उसके साथी उसे ढूँढते वहाँ पहुँचे तो उसकी दशा देखकर उन्होंने भी हिरनी की खोज की और असफल हो जाने पर उससे घर वापस चलने का प्रस्ताव किया। कुछ समय बीत

जाने पर वहाँ स्वयं राजा भी आ गए। किंतु राजकुमार ने उनकी भी एक नहीं सुनी और विवश होकर उन्होंने इसके लिये वहीं पर चित्रसारी युक्त एक महल भी बनवा दिया। राजकुमार वहीं रहकर मृगी के लिये सदा रोता रहा। तब एक दिन उसकी धाय ने आकर उसे बतलाया कि प्रति एकादशी को वहाँ 'मिरगावती' मानसरोवर मे स्नानार्थ आया करती है और, यदि ऐसे अवसर पर उसका कोई चीर चुरा सके तो, वह प्राप्त भी की जा सकती है। तदनुसार, जब निश्चित तिथि को मिरगावती स्नान करने आई तथा राजकुमार ने अपनी धाय के कथनानुसार उसके वस्त्र चुरा लिए तो, उसकी सखियाँ पक्षी बनकर उड़ गईं और वह रह गई। उसने राजकुमार से अपने चीर के लिये बहुत प्रार्थनाएँ कीं, किंतु इसने उसे वापस नहीं किया, प्रत्युत उसकी जगह दूसरा वस्त्र दे दिया। तबसे दोनों वहीं राजमहल में रहने लगे। जब राजकुमार ने एक पत्र द्वारा अपने पिता को इसकी सूचना दी तो, उन्होंने आकर इन दोनों का विवाह करा दिया। तत्पश्चात्, जब एक दिन राजकुमार अपने पिता से भेंट करने गया तथा उसकी धाय कहीं बाहर चली गई तो, ऐसा अवसर पाकर 'मिरगावती' अपना चीर ढूँढकर उसे ले उड़ी और ऐसा करते समय धाय से यह भी कहती गई कि मेरे पिता का नाम रूपमुरारि है तथा मेरा 'ठाँव' कंचनपुर है। राजकुमार से कह देना कि वह मुझसे अवश्य मिले।

राजकुमार ने लौटकर जब यह वृत्तांत सुना तो वह अत्यंत दुखी हुआ और एक दिन चुपके से जोगी बनकर घर से निकल पड़ा। राजकुमार सत्य का संवल लेकर चला था जिस कारण रास्ते मे जहाँ उसे एक दिन रुकना पड़ा, उसने वहाँ के राजा को अपनी सारी बातें कह दीं और उसने इसे कंचनपुर की राह बताई। उस राजा ने इसे राह दिखाने के लिये किसी एक जंगम को भी नियुक्त कर दिया जिसने इसे समुद्र के किनारे ला खड़ा कर दिया और यह एक डोंगे पर सवार होकर चला। समुद्र मे लहर आ जाने पर नाव संकटग्रस्त हो गई, फिर भयानक सर्प भी दीख पड़े, किंतु वह किसी प्रकार किनारे लगी और राजकुमार ने एक वाटिका मे प्रवेश किया। वहाँ एक अपूर्व भवन के भीतर उसे कोई तरुणी बैठी दीख पड़ी जिसने अपना नाम रुक्मिनी बतलाया और यह भी कहा कि मुझे यहाँ एक राक्षस हर लाया है। फिर जब यह उसकी सेज पर बैठा ही था कि राक्षस भी वहाँ आ गया जिसका वध करके इसने रुक्मिनी को मुक्त कर दिया और वह इससे बहुत प्रभावित हुई। उसी समय रुक्मिनी का पिता भी उसे ढूँढता हुआ आ पहुँचा जिसने इसकी वीरता से प्रसन्न होकर इसका विवाह उसके साथ कर दिया और इसे आधा राजपाट भी दे दिया। परंतु राजकुमार का चित्त मिरगावती की ही ओर आकृष्ट था जिस कारण इसने एक धर्मशाला बनवाई और वहाँ आनेवाले साधुओं से कंचनपुर का मार्ग पूछता रहा। एक दिन यह शिकार के बहाने घर से

चला और फिर जोगी का वेश धारण कर नदी पार कर दी। यह आगे बढ़ता ही गया और एक दिन मार्ग में इसने एक गड़ेरिये का आतिथ्य स्वीकार किया जिसने इसे एक कमरे में ले जाकर बंद कर दिया जहाँ ऐसे ही अन्य व्यक्ति भी मौजूद थे। उनमें से वह एक एक को प्रतिदिन भूनकर खा जाया करता था जिस कारण उसे सबने मिलकर अंधा कर दिया और, जब वह इसे ढूँढने लगा तो, यह बाहर निकल आया। वहाँ से भागकर जब राजकुमार मार्ग के किसी सुंदर भवन मे छिपने गया तो वहाँ इसे चार पक्षी दीख पड़े जो स्त्रीरूप मे परिवर्तित हो गए और उनके शृंगी बजाने पर चार मोर भी, उसी प्रकार मद बन गए जिसे देखकर राजकुमार बहुत भयभीत हुआ और यह वहाँ से भी भाग खड़ा हुआ। उधर जिस समय मिरगावती पक्षी बनकर राजकुमार के घर से उड़ी थी उस समय उसकी सखियों को भी सारी बातें विदित हो चुकी थीं। मिरगावती, जब, अपने पिता रूपमुरारि का देहांत हो जाने पर, उसकी गद्दी पर बैठी तो उसने एक धर्मशाला निर्मित कराई जहाँ साधु-संन्यासी आते रहे। वह बराबर इस ताक मे रहा करती थी कि कभी राजकुमार भी वहाँ पर जोगी के वेश मे आ सकता है। राजकुमार को एक दिन किन्हीं दो पक्षियों से यह संकेत मिला कि इसके मिलन का दिन दूर नहीं और उनके पीछे दौड़ता हुआ यह एक कुएँ पर जा बैठा जिसपर पानी भरनेवाली पनिहारिनों ने इस बात की सूचना मिरगावती को दे दी और इधर यह जानकर कि कंचनपुर भी वहीं पर है तथा वहाँ के राजा की गद्दी पर मिरगावती स्वय आसीन है, वह किंगरी बजाने लगा। रानी को जब इसका पता चला तो उसने इस जोगी को अपने दर्बार मे बुला भेजा और, वह इसके आते ही इसे पहचान गई। उसने इसके जोगी वेश को उतरवा दिया और इसे दूसरे वस्त्रादि पहनाकर अपने मंदिर में गई ले जहाँ इसे उसने गद्दी पर भी बिठा दिया।

एक दिन जब मिरगावती अपनी किसी सखी के यहाँ गई तो इससे कह गई कि अमुक बंद कमरे को न खोलना, किंतु राजकुमार ने कौतूहल वश उसे खोल दिया और, जब इसने उसके बदी को मुक्त कर दिया तो, वह एक भयानक रूप धारण कर इसे ले उड़ा और इसे मार डालने की धमकी देना आरंभ कर दिया। मिरगावती को जब लौट आने पर यह बात ज्ञात हुई तो वह बहुत बेचैन हो गई और उसने राजकुमार को सर्वत्र ढूँढने का आयोजन किया। अंत में, जब राजकुमार उस मायावी में जाल से बचकर वापस आया तो, सबकी जान में जान आई और लोग प्रसन्न हुए। उधर रुक्मिनी राजकुमार के विरह मे बेचैन थी और उसने दूलभ नामक व्यक्ति के द्वारा इसे संदेश भेजा और वह गड़रिये से इसका कुछ संकेत पाकर कंचनपुर पहुँच गया। वहाँ पर जब उसके हाथ अपने पिता का पत्र इसे मिला तो राजकुमार ने मिरगावती को दिखाया जिसपर दोनों तैयार हो गए और अपने

बड़े पुत्र को अपना राजपाट सौंपकर तथा छोटे पुत्र को अपने साथ लेकर दोनों ने चंद्रागिरि की ओर प्रस्थान कर दिया। रुक्मिनी के पिता को जब यह बात विदित हुई तो वह इससे मिलने के लिये दलबल के साथ आगे बढ़ा और इसे घर लाकर संमानित किया। फिर यहाँ से भी रुक्मिनी को लेकर दोनों आगे चले जहाँ मार्ग में ही इसके पिता ने इसकी अगवानी की और सभी ने हर्ष मनाए। एक दिन रुक्मिनी एवं मिरगावती के बीच झगड़ा हो गया जिसे राजकुमार ने किसी प्रकार अपनी माता की सहायता से शांत किया। अंत मे शिकार के समय एक सिंह ने इसे मार डाला और वे दोनों सती हो गईं।

३. जायसी

कवि के प्रमुख ग्रंथ 'पद्मावत' से ज्ञात होता है कि जायसी की बाईं आँख और बाएँ कान की श्रवण शक्ति जाती रही थी :

मुहमद बाईं दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि॥

—पद्मावत : नागमती संदेश खंड

प्रारंभ में कवि आत्मपरिचय देते समय भी कहता है :

एक नैन कवि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेई कवि सुनी॥
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूर अस नखतन्ह माहाँ॥

× × ×

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पॉव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ॥

—स्तुतिखंड

मुँह की कुरूपता को देखकर हँसनेवाले भी जायसी के काव्य को सुनकर द्रवित हो गए :

जेइ मुख देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु॥

— पद्मावत : स्तुति खंड

इतनी सरस एवं मार्मिक काव्यरचना की सामर्थ्य होते हुए भी कवि ने कहीं गर्वोक्ति नहीं की है प्रत्युत स्तुतिखंड मे वह अपने को कवियों का अनुयायी भी कहता है :

हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा।
किछु कहि चला तबल देइ डगा॥

इन पंक्तियों मे जायसी की शालीनता साकार हो उठी है।

अपने ग्रंथ 'पद्मावत' की रचना कवि ने जायस नामक स्थान मे की :

जायस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू॥

अन्यत्र अपनी रचना 'आखिरी कलाम' में वे लिखते हैं :

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदियानू।
तहाँ देवस दस पहुँने आएउँ। भा वैराग बहुत सुख पाएउँ॥

कुछ विद्वान् 'पहुँने आएऊँ' मे जन्म ग्रहण करने का भाव लेते हैं किंतु कवि का किसी अन्य स्थान से जायस मे अतिथि के रूप मे आना भी संभव है, ऐसी दशा में जायस उनका जन्मस्थान न होकर काव्यरचना का स्थान अवश्य हो जायगा। बहुत संभव है कि जायस मे अतिथि रूप मे आने पर कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी हो जिससे हृदय वैराग्यकिरण से आलोकित हो उठा, और उस परमरूप या ज्योति की साक्षात् प्राप्ति की आकुलता संपूर्ण हृदय मे व्याप्त हो गई। कवि आखिरीकलाम में स्वयं कहता है :

जायस नगर मोर अस्थानू, नगर क नाँव आदि उदियानू।
तहाँ देवस दस पहुँने आएऊँ, भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ॥
सुख भा सोच एक्क दुख मानौं, ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं।
नैन रूप सो गएउ समाई, रहा पूरि भरि हिरदै छाई।
जहँवै देखौं तहँवै सोई, और न आव दिस्ट तर कोई।
आपुन देखि देखि मन राखौं, दूसर नाहि सो कासों भाखों।
सबै जगत दरपन कर लेखा, आपुन दरसन आपुहिं देखा॥
—जा० ग्रं० (हिं० ए०, प्रयाग) पृ० ६६० ।

जायसी चिश्ती संप्रदाय के कर्णधार निजामुद्दीन औलिया की शिष्यपरंपरा में थे। इस परंपरा की दो प्रमुख शाखाएँ हुईं—एक मानिकपुर कालपीवाली और दूसरी जायसवाली। जायसी ने इन दोनों शाखाओं के पीरों की चर्चा श्रद्धावनत होकर की है। 'पद्मावत' और अखरावट' दोनों मे जायसी ने मानिकपुर कालपीवाली गुरुपरंपरा का उल्लेख विस्तार से किया है। इसी आधार पर डा० ग्रियर्सन शेख महदी को ही इनका दीक्षागुरु मानते हैं। 'पद्मावत' मे दोनों पीरों की चर्चा इस प्रकार है :

सैयद असरफ पीर पियारा, जेइ मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।
गुरु महदी सेवक मैं सेवा, चलै उताइल जेहि कर खेवा॥
—जा० ग्रं०, पृ० १३१ ।

'अखरावट' में दोनों पीरों का उल्लेख इस प्रकार है :

कही सरीअत चिस्ती पीरू, उधरी असरफ औ जहँगीरू ।
पा पाएउँ गुरु मोहिदी मीठा, मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥

—जा० ग्रं०, पृ० ६६४ ।

अंतःसाक्ष्य के आधार पर कवि का विस्तृत जीवनवृत्त प्राप्त नहीं होता । 'पद्मावत' महाकाव्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि उनका आध्यात्मिक अनुभव बहुत गंभीर था, हिंदू एवं इस्लाम धर्म के संबंध मे उन्हे अच्छी जानकारी थी । यद्यपि शास्त्रीय अध्ययन के अभाव के कारण उसे पांडित्य नहीं कहा जा सकता— तथापि उन्हें लोकज्ञान अच्छा था । प्रकृति से वे उदार एवं विनयशील थे, उनकी कल्पनाशक्ति उच्चकोटि की थी । कवि के रचनाकाल के समय दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट शेरशाह अधिष्ठित था । 'पदमावत्' में कवि शाहेवक्त के रूप मे उसका वर्णन करता है—

'सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू, चारिउ खंड तपइ जस भानू ।'

—जा० ग्र० पृ० १२८ ।

अपने जन्मसंवत् के विषय मे कवि लिखता है :

भा अवतार मोर नव सदी, तीस वरिस ऊपर कवि बदी ।

—जा० ग्रं० पृ० ६८८ ।

अपने ग्रंथ 'पदमावत' के निर्माणकाल के संबंध मे वे लिखते हैं :

सन् नव सौ सैतालिस अहा, कथा अरंभ बैन कवि कहा ।

—जा० ग्रं० पृ० १३५ ।

'पद्मावत' की कई प्रतियों में 'सन् नव सौ सैंतालिस' के स्थान पर 'सन् नव सै सत्ताइस' भी मिलता है ।

जायसी ने अपने सुपरिचित ग्रंथ 'पद्मावत् ' के अतिरिक्त अन्य और ग्रंथों की भी रचना की है । श्री सैयद अली मुहम्मद के अनुसार जायसी के ग्रंथो की तालिका यह है—१. 'पद्मावत' २. 'अखरावट' ३. 'सखरावत' ४. 'चंपावत' ५. 'इतरावत' ६. 'मटकावत' ७. 'चित्रावत' ८. 'खुर्वानामा' ९. 'मोराई नामा' १०. 'मुकहरानामा' ११. 'मुखरानामा' १२. 'पोस्तीनामा' १३. होलीनामा' १४. 'आखिरी कलाम' । आचार्य शुक्ल जी, अनुश्रुति के आधार पर जायसी के एक ग्रंथ 'नैनावत' की भी चर्चा करते हैं ।

जायसी का महत्व इन अनेक ग्रंथों की रचना के कारण नहीं है । जायसी प्रसिद्ध हैं अपनी सहृदयता, उदारता एवं भावुकता के कारण । सच्चे भक्त का प्रधान

गुण दैन्य उनमें कूट कूटकर भरा था। अपनी इसी उदारता के कारण वे भारतीय संस्कृति के मूल तथ्यों को हृदयंगम कर सके, भारतीय लोकजीवन का विशद चित्रण कर धार्मिक कट्टरता को विस्मृत कराने में समर्थ हुए। मानवहृदय के उन सार्वजनीन मनोभावों का चित्रण कवि ने किया है जहाँ धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विभेदों का कोई स्थान नहीं रहता। 'पद्मावत' केवल प्रेमकथा ही नहीं है, वह धर्मकथा है। उसका महत्व, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से, है। उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' की कथा इस प्रकार है :

कवि आरंभ मे मसनवी पद्धति के अनुसार अल्लाह, नबी, शाहेवक्त एवं गुरु की महिमा का गुणगान करता है। तत्पश्चात् आत्मकथात्मक कुछ पंक्तियाँ लिखकर वह अपनी कथा आरंभ कर देता है। सिंहलद्वीप, उसके राजा गंधर्वसेन, राजसभा, नगर, उपवन इत्यादि का वर्णन करके पद्मावती के जन्म का उल्लेख करता है। पद्मावती का हीरामन नाम का तोता पद्मावती के योग्य वर ढूँढ़ने की बात करता है जिसका पता लगते ही राजा ने हीरामन तोते को मार डालने की आज्ञा दी। पद्मावती के प्रेमाग्रह ने उस समय तोते की रक्षा की, किंतु सशंकित हीरामन एक दिन, जब पद्मावती अपनी सखियों के साथ स्नान करने गई थी, वन की ओर उड़ गया। एक दिन उसी वन में एक बहेलिए ने लासा लगाकर चारे के लोभ में हीरामन को पकड़ लिया। चित्तौड़ के एक व्यापारी के साथ एक ब्राह्मण भी सिंहल की हाट मे आया था। उसने हीरामन तोते को, उसके पांडित्य पर विमुग्ध हो, खरीद लिया और चित्तौड़ लौट आया। जिस समय वह ब्राह्मण चित्तौड़ लौटा उस समय चित्रसेन के निधनोपरांत उसका पुत्र रत्नसेन सिंहासनाधिकारी हो गया था। रत्नसेन ने एक लाख रुपए देकर उस गुणी तोते को खरीद लिया।

एक दिन रत्नसेन जब शिकार को गया था उसकी रानी नागमती ने हीरामन से अपने सौंदर्यगर्व की चर्चा की। तोते ने सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों की चर्चा करके पद्मावती के अनिंद्य सौंदर्य की प्रशंसा कर दी जिसे सुनकर ईर्ष्यावश रानी नागमती ने एक धाय को तोते को मार डालने का आदेश दिया।

धाय तोते के प्रति राजा के प्रेम को जानती थी। अतः मारने के कुपरिणाम को सोचकर उसने तोते को छिपा दिया। राजा लौटने पर तोते को न पाकर अत्यंत क्रोधित हुए। अंत में हीरामन उपस्थित किया गया। राजा ने उससे संपूर्ण घटना जानी तथा पद्मावती का रूपवर्णन भी सुना। सुनते ही पद्मावतीप्राप्ति की ऐसी प्रबल अभिलाषा राजा के हृदय में जाग्रत हुई कि वह जोगी होकर निकल पड़ा। उसके साथ सोलह हजार कुँवर भी जोगी होकर चले। अनेक दुर्गम स्थानों को पार करके वे कलिंग देश पहुँचे, जहाँ के राजा गजपति से जहाज लेकर सब जोगियों सहित उसने सिंहलद्वीप को प्रस्थान किया। खार समुद्र

क्षीर समुद्र, दधि, उदधि, सुरा, एवं किलकिला समुद्र पार करके वे मानसरोवर समुद्र में पहुँचे। मानसरोवर को पार करके वे सिंहलद्वीप पहुँचे। वहाँ पहुँच कर रत्नसेन महादेव के मंदिर में पद्मावती के स्मरण चिंतन में संलग्न हुआ और हीरामन तोता पद्मावती से भेंट करने गया। पद्मावती से तोते ने राजा रत्नसेन के ऐश्वर्य सौंदर्य की बहुत प्रशंसा की। पद्मावती उसके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर वसंत पंचमी के दिन राजा को जयमाला पहनाने को प्रस्तुत हो गई। जब पूजा के दिन पद्मावती सखियों के सहित मंडप गई तो राजा उसके सौंदर्य को देखकर मूर्छित हो गया। चेत आने पर राजा बहुत पछताने लगा और जल मरने को तैयार हो गया। उसकी विरहाग्नि से लोकभस्म होने के भय से देवताओं द्वारा प्रेरित शंकर पार्वती सहित राजा के पास पहुँचे और राजा के दृढ़ प्रेम को पहचानकर महादेव ने उसे 'सिद्धि गुटिका' दी तथा सिंहलगढ़ में घुसने का मार्ग बताया।

भयरहित होकर जोगियों सहित राजा सिंहलगढ़ पर चढ़ने लगा। तब राजा ने दूत भेजे। राजा ने दूतों से अपने पद्मावती को प्राप्त करने का उद्देश्य कहा। दूत कुपित होकर लौट गए और राजा रत्नसेन दूने उत्साह से दुर्ग पर चढ़ाई करने लगा, किंतु भोर हो जाने से राजा अपने साथियों सहित पकड़ा गया और राजा तथा उसके साथियों को शूलीदंड देना निश्चत हुआ। महादेव ने भाट के रूप में रत्नसेन का पक्ष ले कर उसे बचाना चाहा तो राजा गंधर्वसेन ने आनाकानी की और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। महादेव के साथ हनुमान आदि सब देवता जोगियों की सहायता के लिये आ खड़े हुए। महादेव का घंटा, विष्णु का शंख एवं स्वयं शिव को युद्धस्थल में देखकर गंधर्वसेन महादेव के चरणों पर गिर पड़ा और उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। इसी समय हीरामन तोते ने आकर राजा रत्नसेन को संपूर्ण वृत्तात कह सुनाया। गंधर्वसेन ने बड़ी धूमधाम से रत्नसेन के साथ पद्मावती का विवाह कर दिया तथा अन्य सोलह हजार कुँवर भी पद्मिनी स्त्रियों से विवाह करके सिंहलगढ़ में सुख चैन से रहने लगे।

इधर चित्तौर में रत्नसेन की पूर्वपत्नी नागमती रत्नसेन के वियोगदुःख में संतप्त थी। उसके दुःख से द्रवित हो एक पक्षी रत्नसेन तक उसका संदेशा ले जाने को प्रस्तुत हो गया। वह पक्षी सिंहलगढ़ पहुँचकर समुद्र के किनारे एक पेड़ पर बैठ गया। संयोग से रत्नसेन शिकार खेलते खेलते उसी पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। पक्षी ने अवसर समझकर चित्तौड़ एवं नागमती की दुरवस्था की कहानी कही। रत्नसेन का मन सिंहलगढ़ से उचटकर स्वदेश जाने को प्रेरित हुआ। विदाई के समय सिंहल के राजा से बहुत सा सामान एवं धन मिला। इतनी संपत्ति को देखकर राजा के मन में लोभ जागा और उसने याचक रूपी समुद्र को लोभवश दान देने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप, समुद्र में तूफान आने के कारण, जहाज लंका की

ओर बह गए। लंका तट पर एक राक्षस ने राजा रत्नसेन से जहाज को किनारे लगाने के बहाने भँवर मे डाल दिया जहाँ समुद्र का राजपक्षी राक्षस को ले उड़ा, तथा जहाजों के ध्वंस हो जाने से एक ओर एक तख्ते पर राजा रत्नसेन तथा दूसरे तख्ते पर दूसरी ओर रानी बह चली।

रानी बहते बहते समुद्र के एक तट पर, जहाँ सागर की कन्या लक्ष्मी खेल रही थी, जा लगी। चेत आने पर लक्ष्मी से रानी ने अपनी कथा कही। लक्ष्मी ने अपने पिता समुद्र से रत्नसेन की खोज के लिये कहा। राजा रत्नसेन एक मूँगे के टीले से जा लगा था, जहाँ वह पद्मावती के वियोग मे अपने गले मे कटार मारना ही चाहता था कि समुद्र ने रोक लिया और उसे पद्मावती के पास समुद्रतट पर पहुँचा दिया। लक्ष्मी ने रत्नसेन की परीक्षा लेने के बाद उसे पद्मावती के पास पहुँचा दिया। कई दिनों तक समुद्र का अतिथि रहकर राजा एवं पद्मावती अपने अन्य साथियो के साथ, जिन्हें समुद्र ने ढूँढ़ निकाला था या जिला दिया था, स्वदेश चल दिए। बहुत से रत्नों के अतिरिक्त पाँच पदार्थ अमृत, हंस, शार्दूल, राजपक्षी एवं पारस भी समुद्र ने चलते समय राजा को प्रदान किए। चित्तौड़ पहुँचकर रत्नसेन अपनी दोनों रानियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। राजा के नागमती से नागसेन तथा पद्मावती से कमलसेन, दो पुत्र उत्पन्न हुए।

चित्तौड़ की राजसभा मे राघवचेतन नामक एक गुणी विद्वान् था जिसे यक्षिणी सिद्ध थीं। राजा रत्नसेन ने उसे वाममार्गी एवं वेदविरोधी आचरण करनेवाला पाकर देशनिकाले का दंड दे दिया। पद्मावती ने गुणी पंडित को संतुष्ट करने के लिये सूर्यग्रहण के उपलक्ष में दानस्वरूप उसे एक कंगन भेंट दिया। जब पद्मावती झरोखे से वह कंगन फेंक रही थी, राघवचेतन रानी की अनिंद्य छवि देखकर बेसुध हो गया। चेत आने पर उसने सोचा कि दिल्ली जाकर सुल्तान अलाउद्दीन को पद्मिनी के सौंदर्य की चर्चा से विमोहित करके चित्तौड़ पर आक्रमण करने को प्रेरित करना चाहिए। इससे राजा से बदला भी चुका लूँगा और बदले में ऐसा ही एक और कंगन प्राप्त कर लूँगा। वह दिल्ली गया और अलाउद्दीन को पद्मिनी का रूपसौंदर्य सुनाया। अलाउद्दीन ने सरजा नामक एक दूत चित्तौड़ भेजा कि पद्मिनी को राजा तुरंत दिल्ली भेज दे और बदले में मनोवांछित राज्य ले ले। राजा रत्नसेन ने क्रुद्ध होकर दूत को वापस भेज दिया। अलाउद्दीन आठ वर्ष तक गढ़ घेरे पड़ा रहा पर प्रवेश न कर सका। इसी समय उसे सूचना मिली कि दिल्ली पर हरेव लोगों ने आक्रमण कर दिया है। तब सुल्तान ने राजा के पास संधिप्रस्ताव भेजा और पद्मिनी के बदले मे समुद्र से प्राप्त पाँच पदार्थों को लेकर वापस लौट जाने की इच्छा प्रकट की।

राजा ने शर्त स्वीकार करके सुल्तान को अपना अतिथि बनाया, गोरा, बादल नामक दो सरदारों ने इसका विरोध किया और राजा के न मानने पर वे रूठकर अपने घर चले गए। बादशाह ने एक दिन संयोगवश पद्मिनी की छवि दर्पण मे देखी और देखते ही वह बेहोश हो गया।

जब राजा बादशाह को विदा करने जा रहा था तब छल से उसने राजा को बंदी बना लिया। राजा रत्नसेन के दिल्ली में बंदी बन जाने पर कुंभलनेर के राजा देवपाल तथा अलाउद्दीन दोनों ने ही दूती के बहाने पद्मिनी को बहकाना चाहा पर वे सफल न हुए।

अंत में रानी के अनुरोध पर गोरा और बादल राजा को छुड़ाने का उपाय सोचने लगे। उन्होंने सोलह सौ ढकी पालकियों के भीतर सशस्त्र राजपूत सरदारों को बिठाया और एक सर्वोत्तम पालकी मे औजारों के सहित लोहार को बिठाया और वे यह प्रसिद्ध करते चले कि पद्मिनी सोलह सौ दासियों सहित दिल्ली जा रही है। वहाँ अलाउद्दीन से कहा गया कि महल मे जाने के पूर्व रानी रत्नसेन से मिलकर उसे खजाने की कुंजी देना चाहती है। अलाउद्दीन ने बात मान ली और पालकी में बैठे हुए लोहार ने राजा रत्नसेन को बंधनमुक्त कर दिया। पहले से प्रस्तुत घोड़े पर सवार होकर राजा रत्नसेन अपने अन्य सोलह सौ साथियों के साथ चित्तौड़ की ओर चल पड़ा। अलाउद्दीन की सेना ने उनका पीछा किया। गोरा ने एक हजार सैनिकों के साथ इस सेना का सामना किया और शेष सवारों को लेकर बादल तथा रत्नसेन चित्तौड़ पहुँच गए। वहाँ पद्मिनी के मुँह से राजा ने जब कुंभलनेर के राजा देवपाल की कुचेष्टा जानी तो दूसरे ही दिन उसने कुंभलनेर पर आक्रमण कर दिया। देवपाल की साँग से राजा रत्नसेन घायल हो गया, किंतु मरते मरते उसने अपनी तलवार से राजा देवपाल का सिर भी धड़ से अलग कर दिया। दोनों रानियाँ राजा रत्नसेन के शव के साथ सती हो गईं। इतने में दलबल सहित अलाउद्दीन चित्तौड़ आ पहुँचा। बादल गढ़रक्षा करते समय खेत रहा और चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। संक्षेप मे पद्मावत की यही कथा है।

जायसी ने कथा को विकास देने तथा उसे अभिलषित दिशा मे मोड़ने के लिये कुछ कथानकरूढ़ियों का सहारा लिया है। इस प्रकार की कथानकरूढ़ियों का उपयोग कवि, अपनी कथा को अधिक प्रभावोत्पादक, गतिशील, सरस एवं रोचक बनाने के लिये करता है। 'पद्मावत' में जिन कथानकरूढ़ियों का प्रयोग हुआ है वे इस प्रकार हैं :

१. कथा मे सुग्गे का महत्वपूर्ण योग।

२. कीर्ति एवं रूपवर्णन सुनकर प्रेमासक्ति।

३. रूपपरिवर्तन।

४. नायक का औदार्य ।

५. षट्ऋतु या बारहमासे के माध्यम से विरह अभिव्यक्ति ।

६. पक्षी से संदेश भेजना ।

७. विजन स्थान मे सुंदरियों से साक्षात्कार ।

८. असुर के कारण प्रियावियोग ।

९. देवमंदिर में नायक नायिका का मिलन ।

१०. भवानी या शंकर का मंदिर मिलनकेंद्र ।

११. सागरयात्रा, तूफान, भवँर में फँसकर जहाजों का नष्ट होना ।

१२. योगी वेश से प्रियाप्राप्ति ।

१३. पार्वती महादेव का, परीक्षा के उपरांत, नायक की सहायता ।

१४. मिलन के बाद वियोग एवं अलौकिक शक्तियों की सहायता से संयोग ।

१५. सिंहलद्वीप चर्चा ।

१६. लौकिक से पारलौकिक का संकेत ।

१७. सपत्नी ईर्ष्या ।

१८. साहसिक कृत्य करने की तत्परता ।

१९. आकाशवाणी आदि ।

इन काव्यरूढ़ियों के अतिरिक्त, खोजने पर बहुत संभव है, अन्य काव्यरूढ़ियों के दर्शन भी हो जाँय ।

'पद्मावत' की संपूर्ण आख्यायिका को साधारणतः दो भागों में विभक्त किया जाता है। प्रथम तो रत्नसेन का पद्मावती को सिंहल से लेकर आने तक और द्वितीय खंड राघवचेतन के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक माना जा सकता है। इन खंडों में प्रथम की काल्पनिकता के संबंध मे कोई शंका नहीं करता, किंतु उत्तरार्ध की ऐतिहासिकता की चर्चा कई आलोचकों ने की है। आचार्य शुक्ल जी ने कर्नेलटॉड के राजस्थान के इतिहास तथा 'आइने अकबरी' के आधार पर कथा की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है, किंतु श्री शिवसहाय पाठक ने अपनी पुस्तक 'पद्मावत का काव्यसौंदर्य' में इसके विपरीत प्रमाण दिए हैं। उनके अनुसार 'टॉड, फिरिश्ता, आईनेअकबरी आदि की पद्मावती विषयक कहानी का मूलाधार 'पद्मावत' ही है।××× टाड ने यह कथा भाटों और चारणों के आधार पर लिखी है और भाटों ने उसको 'पद्मावत' से लिया है। ×× 'पद्मावत' की कथा इतनी लोकप्रिय हुई कि इतिहास के अभाव में उसी को इतिहास मान लिया गया। अबुलफजल कृत 'आईने अकबरी' मे रत्नसिंह का नाम आया है तथा उसके धोखे से मारे जाने की कथा वर्णित है। 'पद्मावत' की रचना के लगभग ७० वर्ष बाद मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने 'तारीख फरिश्ता' लिखी जिसमें उसने पद्मिनी को

रत्नसेन की पत्नी न लिखकर बेटी लिखा है। इन बाद के इतिहासग्रंथों के अतिरिक्त खिलजीवंश के प्रामाणिक इतिहासों मे अमीर खुसरो की 'तरीख-ई-अलाई' का महत्वपूर्ण स्थान है। अमीर खुसरो चित्तौड़ की लड़ाई मे स्वयं अलाउद्दीन के साथ था, किंतु उसने कहीं भी पद्मिनी के विषय में या पद्मिनी के हेतु लड़ाई का होना नहीं लिखा है। जिआउद्दीन बर्नी भी उस काल का जीवित और प्रामाणिक इतिहास लेखक है। बर्नी ने अलाउद्दीन के दुष्कृत्यों की आलोचना भी की है; किंतु उस इतिहासकार ने भी कहीं पद्मिनी का उल्लेख नहीं किया है। खुसरो ने खिजिर खाँ एवं देवलदेवी की प्रेमकथा को अपनी मसनवी 'आशिकाह' मे अमर कर दिया है, किंतु इस सहृदय मसनवी लेखक ने भी पद्मिनी का कहीं नाम नहीं लिया है। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचद ओझा ने अपने 'उदयपुर राज्य का इतिहास' नामक ग्रंथ मे पद्मिनी की कथा को कवि की कल्पना मात्र माना है। उनका कहना है कि पद्मावत, टाड, फिरिश्ता आदि के चित्तौड़ संबंधी तथ्यों मे यदि कुछ सत्य है तो यही कि १३०३–१३०४ ई० मे अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर अक्रमण किया था और छह मास के घेरे के अनंतर उसे जीत लिया। रत्नसिंह सामंतों सहित लड़ाई में मारा गया। कुछ समय के लिये चित्तौड़ पर मुसलमानो का राज्य हो गया। अतः निश्चित यही होता है कि 'पद्मावत' की कथा ऐतिहासिक न होकर लोककथा पर आधारित कविकल्पना मात्र है, हाँ कवि ने उसे ऐतिहासिक नामों से सयुक्त अवश्य कर दिया है। 'पद्मावत' मे ऐतिहासिक तथ्य केवल ये हैं:

१. रत्नसेन चित्तौड़ का राजा था, उसने मात्र एक वर्ष राज्य किया, शिलालेखों में उसके शासन का उल्लेख है।
२. दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन ने चित्तौड़ विजय किया था।
३. क्षत्राणियों ने जौहर किया था।
४. चित्तौड़ और दिल्ली आदि ऐतिहासिक नगर हैं।[1]

'पद्मावत' की कथा एक प्रेमकथा है जिसमे दांपत्य प्रेम का आविर्भाव, रूप, गुण, चर्चा के श्रवण से आरंभ होता है। नायक रत्नसेन एवं नायिका पद्मावती दोनों ही एक दूसरे के रूपसौंदर्य का वर्णन सुनकर आकृष्ट होते हैं, किंतु नायक के प्रेम मे तीव्रता अधिक है, यद्यपि आगे चलकर नायिका के प्रेम मे भी संयत मर्यादा का आभास मिलता है। जायसी ने अपनी प्रेमकथा मे शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों का विस्तृत वर्णन किया है। संयोग शृंगार का वर्णन अमर्यादित एवं अश्लील हो गया है,

[1] दे० प० का० सौ० (पृ० १४-२२)।

किंतु वियोग शृंगार का जैसा सात्विक एवं सर्वव्यापी मार्मिक चित्रण कवि ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है। जायसी के शृंगारवर्णन मे मानसिक पक्ष प्रधान है, शारीरिक गौण। कवि ने नायक एवं नायिका के मन के उल्लास एवं वेदना का वर्णन अधिक किया है। प्रेम के आदर्शात्मक ऐकांतिक स्वरूप का चित्रण करते हुए कवि ने अपनी कथा को एकांगी होने से बचा लिया है। उसमे लोकव्यवहार संपन्न पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की छाप है। पद्मावती के प्रेमासक्त रूप के साथ ही साथ नागमती का गार्हस्थ्य मर्यादित प्रेम का वर्णन भी कवि ने किया है। इसी प्रेमवर्णन में कवि ने अपनी रहस्यात्मक पद्धति से आध्यात्मिक प्रेम का भी वर्णन किया है। सारी सृष्टि के उस परम प्रेममय से वियोग की चर्चा कवि करता है :

धाइ जो बाजा कै मन साधा, मारा चक्र भएउ दुइ आधा।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा, मारा तैस लोटि भुइँ रहा।
अगिनि उठी जरि उठी निआना, धुआँ उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ, बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ॥

जायसी ने प्रबंधकार की कुशलता का भी परिचय दिया है। घटनाओं की एकसूत्रता, मनोभावों की मार्मिक व्यंजना, चरित्रगत विशेषताओं का उद्घाटन कवि ने बड़ी सफलता से किया है।

———

तृतीय अध्याय

जायसी के परवर्ती सूफी कवि

१. मंझन

सन् १९१२ के पूर्व मझन एवं उनकी कृति 'मधुमालत' से हिंदी संसार सर्वथा अपरिचित था। उसी वर्ष 'मधुमालत' की एक अपूर्ण प्रति स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा के सहयोग से राय कृष्णदास जी को काशी के गुदड़ी बाजार मे मिली। यह प्रति फारसी लिपि मे है तथा इसके आदि एवं अंत के कई पृष्ठ अनुपलब्ध हैं। इस समय यह प्रति काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भारत कला-भवन की संपत्ति है। सन् १९३० मे भारत-कला-भवन को कैथी मिली देवनागरी लिपि मे 'मधुमालत' की एक दूसरी प्रति भी मिली। इस प्रति का अंतिम भाग पूर्ण है, जिसकी पुष्पिका है, "इती स्री मधुमालती कथा शेष मंझन क्रीती समापितं संवतु १९४४ समये अगहन सुदि पुरनमासी ॥ ब्रीहसपती बसरे ॥ लीषीतं माधोदास कोहली कासी मधे पोथी माधोदास कोहली की ॥" इन्हीं दोनों हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर बहुत दिनों तक मझन की जाति एव समय पर विवाद चलता रहा। स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा एवं उनके आत्मज श्री सत्यजीवन वर्मा दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कवि मंझन जाति के मुसलमान थे एव उनकी 'मधुमालत' की रचना जायसी के पूर्व हुई। श्री ब्रजरत्नदास ने भी इन्हीं प्रतियों के आधार पर मंझन को हिंदू ठहराया, अपने कथन की पुष्टि के लिये उनका कहना है कि मझन ने हिंदू होने के कारण ही ग्रंथारंभ में न तो ग्रंथ का निर्माणकाल दिया है न शाहेवक्त की प्रशसा की है। वास्तव मे जिस प्रति के आधार पर ब्रजरत्नदास जी ने यह निर्णय किया है उस प्रति के आरंभ के पृष्ठ ही नहीं हैं।

'पद्मावत' के आरंभ मे जिन प्रेमाख्यानों का उल्लेख जायसी ने किया है उनमे 'मधुमालत' भी एक है। इस आधार पर बहुत दिनों तक 'मधुमालत' को जायसी की पूर्ववर्ती रचना कहा जाता था, किंतु इस प्रकार के आधार पर निर्णय देना बहुत संगत नहीं जान पड़ता। बहुत संभव है, जायसी ने केवल प्रचलित लोककथाओं का उल्लेख किया हो या किसी 'मधुमालत' नामक प्रेमाख्यान की रचना उनसे पूर्व कोई अन्य कवि (मंझन के अतिरिक्त) कर चुका हो तथा अपने वर्णन में उन्हें ग्रथों के निर्माणकाल के क्रम को बनाए रखना अभीष्ट न हो।

स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा जी ने कुतबन की 'मिरगावति' और मंझन की

'मधुमालत' दोनों मे पाँच अर्धालियों के बाद दोहे के क्रम को देखकर इन कवियों को जायसी का पूर्ववर्ती ठहराने का प्रयास किया है क्योंकि 'पद्मावत' मे यह क्रम सात अर्धालियों के अंतर से है। किंतु किसी कवि का कालनिर्णय इस आधार पर करना पूर्णतः संगत न होगा। इसी प्रकार भाषा संबंधी अंतर स्पष्ट करने का प्रयास भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि 'मिरगावति', 'पद्मावत' एवं 'मधुमालत' के रचनाकाल मे विशेष अंतर नहीं है। मंझन के जायसी के पूर्ववर्ती होने का उल्लेख लगभग सभी इतिहास ग्रंथों एवं आलोचना पुस्तकों में मिलता है, किंतु, रामपुर राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर, इस निर्णय की भ्रमात्मकता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रति में 'पद्मावत' की भाँति ईश्वरवंदना मुहम्मद साहब एवं उनके चारों मित्रों की प्रशंसा है। शाहेवक्त के स्थान पर सलीम शाह का उल्लेख है। शेख बदी, शेख मोहम्मद, एवं गुलाम गौस की प्रशंसा भी पीर के रूप मे हुई है। इन सबके अंत मे निर्गुणमहिमा का गान है। जो प्रतियाँ कलाभवन के स्वाधिकार में हैं वे यहीं से आरंभ होती हैं, अतः उनमे रचनाकाल, पीर, शाहेवक्त मुहम्मद एवं उनके मित्रों का प्रसंग उपलब्ध नहीं होता।

रचनाकाल—रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालयवाली प्रति तथा, इसके अभी तक प्रकाशित, हिंदी प्रचारक कार्यालय, वाराणसी एवं डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित होकर सानुवाद प्रकाशित हुए प्रयागवाले संस्करणों के आधार पर, अब यह निश्चित हो जाता है कि 'मधुमालत' का रचनाकाल शेरशाह के पुत्र शाह सलीम का राज्यकाल था। शाह सलीम अपनी दानशीलता के कारण विख्यात था। सलीमशाह शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ९५२ हिजरी या १५४५ ईसवी अर्थात् सं० १६०२ में राज्यसिंहासन पर बैठा था। इसी समय कवि लिखता है कि उसे ग्रंथरचना की इच्छा हुई :

> सन् नौ सै बावन जब भये, सनी पुरख कलि परिहरि गये।
> तब हम जी उपजी अभिलाषा, कथा एक बाधौं रस भाषा॥
> —'मधुमालती' (डा० मा० प्र० गु०), पृ० ३३।

इसके सिवाय, इधर उपलब्ध कतिपय सामग्रियों के अनुसार, हमें अब इस संबंध की कुछ अन्य बातों के स्पष्टीकरण मे भी सहायता मिलने लगी है तथा अब हम ऐसी स्थिति मे आ गए जान पड़ते हैं जिसमे रहकर मंझन की जीवनी विषयक एकाध प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न कर सकें एवं उनके जीवनकाल की कुछ तिथियों तक का अनुमान कर सकें। अब तक हमारी यह व्यवस्था रहती आई है कि मंझन का संबंध चुनार से रहा, इस कारण वहाँ के मूल निवासी भी रहे होंगे।

इनका इसी प्रकार, शेखमुहम्मद गौस का शिष्य होना मात्र ही विदित हो पाता था जो सूफियों की शत्तारी शाखा के एक प्रमुख प्रचारक भी समझे जाते हैं। परंतु उस शत्तारी शाखा के ही एक लेखक गौसी शत्तारी की एक रचना 'गुलजारे अबरार' का अध्ययन करने पर अनेक अन्य वैसी बातों पर भी प्रकाश पड़ता प्रतीत होता है। इस ग्रंथ की चर्चा प्रो० रिजवी की पुस्तक 'मुगलकालीन भारत' में की गई है[1] जिसकी ओर डा० श्याममनोहर पांडेय ने हमारा ध्यान आकृष्ट कर मंझन संबंधी कतिपय बातों के विषय में कुछ अनुमान करने की चेष्टा की है।[2] 'गुलजारे अबरार' एक फारसी की पुस्तक है जो हि० सन् ६९८ से लेकर १०२२ अर्थात् सन् १६७३ ई० (सं० १७३०) तक पूर्ण की गई थी और उसमे शत्तारी शाखा का वर्णन विचार के साथ किया गया है। इसकी एक प्रति पांडुलिपि के रूप में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संग्रहालय मे सुरक्षित भी कही जाती है। इसके सिवाय, शत्तारी शाखा के इतिहास एवं विचारधारा आदि पर लिखे गए एक शोधप्रबंध द्वारा भी, मझन की जीवनी पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिसे श्री काजी मुईनुद्दीन अहमद ने उक्त विश्वविद्यालय से ही पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने के लिये सन् १९६३ मे, उपस्थित किया है। तदनुसार अब यह भी कहा जा सकता है कि मलिक मंझन की जन्मभूमि, वस्तुतः चुनार न होकर, लखनौती रही होगी। जिस समय, शेर खॉ सूरने, रायसेन के किले पर अधिकार करके, उसे 'इस्लावार' जैसा नाम दिया उस समय ये वहीं शेखुल इस्लाम रहे तथा वहीं पर ये अपनी एक खानकाह स्थापित करके जीवन व्यतीत करते रहे और वहाँ से फिर सारंगपुर (मालवा) चले गए। इस संबंध मे इतना और भी पता चलता है कि ये सारंगपुर के समीप आश्ता नामक स्थान पर भी कुछ दिनों तक रहते रहे तथा जनवरी, सन् १५९३ (सं० १६५०) मे ८० वर्ष की अवस्था पाकर ये मर गये।

मंझन के पिता का नाम अब्दुल्ला काजी खैरुद्दीन शरीफ बतलाया गया है जो काजी ताजुद्दीन नहवी शेख महमूद जिंदापोश कर्शी इश्की के वंशज थे जिनकी खानकाह बल्ख में थी जहॉ से वे हिंदुस्तान मे लखनौती नगर आ बसे थे। मंझन की मॉ दिल्ली के काजी समाउद्दीन देहलवी की पुत्री थीं जिनकी एक उपाधि कुतलून खॉ भी थी और उनके पुत्र का नाम उसमान था। कहते हैं कि मलिक मंझन की भेंट सम्राट् अकबर से भी सं० १६१४ (हि० सन् ९८६) मे हुई थी जब वह मालवा गया हुआ था तथा गौसी

[1] मु० का० भा०, भा० २, पृ० ४९२-३।
[2] डा० श्याममनोहर पांडेय : मं० जी० न० प्र०, पृ० ३८५-८।

शत्तारी स्वयं भी उस अवसर पर वहाँ उपस्थित रहे जो मंझन की सेवा में पहुँच गए थे। उस लेखक का यह भी कहना है कि 'गुलजारे अबरार' की रचना करते समय, इसकी सामग्री का संकलन उसने मंझन के पुत्र उसमान से भी सहायता लेकर किया था जो सूफी संतों के विषय में अच्छा जानकार था। उसी वर्ष सं० १६६२ में उसने उनके खिर्के का भी दर्शन किया था जिसे शेख मुहम्मद गौस ने उन अपने प्रिय शिष्य मंझन को कृपापूर्वक दिया था तथा जो उस समय, उनकी मृत्यु के उपरांत उसके यहाँ सुरक्षित था। मंझन के गुरु पहले कोई सैयद नाजुद्दीन बुखारी रह चुके थे जिन्होंने स्वयं भारत मे आकर शेख मुहम्मद गौस की शिष्यता ग्रहण की थी तथा शत्तारी शाखा मे संमिलित भी हो गए थे और उन्हीं की संस्तुति के बल पर, मंझन को भी उनके शिष्यों मे स्थान मिल पाया था। कहा जाता है कि मंझन ने अपने उक्त गुरु गौस की पुस्तक 'जवाहिरे खम्सा' का अध्ययन उन्हीं की देख रेख में किया था तथा उसके द्वारा अनुप्राणित होकर इन्होंने अपने जीवन का आदर्श भी निश्चित किया था। 'गुलजारे अबरार' के लेखक ने मंझन को एक बहुत बड़ा विद्वान् माना है तथा इनके लिये यह भी कहा है कि इनके सहपाठी शेख अहमदी रह चुके थे जो स्वयं भी प्रसिद्ध पडित हुए। फलतः लखनौती से सारंगपुर चले जाने पर, जब इनके पुस्तकालय के समस्त ग्रंथ किसी दुर्घटना के कारण नष्ट हो गए तो, इन्होंने अपनी स्मृति के ही आधार पर, उनमे से प्रत्येक प्रसिद्ध पुस्तक की टिप्पणियाँ तैयार कर दीं जिनसे इनके शिष्यों को बहुत लाभ पहुँचा। वहाँ इनके रहते समय सारंगपुर को प्रसिद्ध शीराज नगर जैसी ख्याति प्राप्त हो गई[1] जो साधारण बात नहीं कहला सकती।

अतएव, यदि उपर्युक्त बातें ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध की जा सकें तो, इनके आधार पर मलिक मंझन के विषय मे अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चल जाता है और ये हमारे समक्ष एक सूफी कवि के अतिरिक्त महान् पंडित एवं साधक के रूप मे भी, उपस्थित हो जाते हैं। परंतु यदि इस कवि का मूल संबंध लखनौती (बंगाल) के साथ सिद्ध हो जाता है और इसका वहाँ से सीधे सारंगपुर (मालवा) चला जाना भी मान लिया जाता है उस दशा मे, हमारे सामने एक प्रश्न इस रूप में भी उपस्थित हो सकता है कि तब उसको चुनार (मिर्जापुर) का परिचय कब और किस प्रकार मिला होगा जिसके एक स्थलविशेष का वर्णन यह अपनी आँखों देखा सा करता जान पड़ता है? इसके सिवाय, केवल उक्त सामग्री पर ही आश्रित रह जाने पर, हमे अपने इस अनुमान की भी पुष्टि मे कोई सहायता नहीं मिल पाती जिसके अनुसार

१ हि० शा० सि०, पृ० ६१ (दे० सा० स० पृ० ३८८)।

'मधुमालती' मे उल्लिखित 'चनौढी' को 'चरणाद्रि' का विकृत रूप समझकर हम उसका चुनार का दुर्ग होना तथा वहाँ पर मंझन के गुरु शेख मुहम्मद गौस का कदाचित् १२ वर्षों तक साधना करना तक भी स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त होते आए हैं। हो सकता है कि इसके समाधान में हमे किसी अन्य ऐसी कड़ी से भी सहायता मिल जाय जो अभी तक हमारे लिये अज्ञात बनी हुई है अथवा हमें अपनी धारणाओं में संशोधन भी करना पड़ जाय।

'मधुमालती' की कथा—यह कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर एवं महारस नगर के राय विक्रम की पुत्री मधुमालती की प्रेमकथा है। मनोहर को कुछ अप्सराएँ रातों रात उड़ाकर मधुमालती की चित्रसारी में ले गईं। जागते ही दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय देने के पश्चात् अपने प्रेम की दृढ़ता बताई। मनोहर ने मधुमालती के प्रति अपने प्रेम को जन्म जन्मांतर का बताया। वार्तालाप के पश्चात् दोनों प्रेमनिद्रा में निमग्न हो गए। उनके सो जाने पर अप्सराएँ फिर आईं और राजकुँवर मनोहर एवं मधुमालती को प्रेमपूर्वक सोते देखकर चिंता के वशीभूत हो गईं। दोनों प्रेमियों को वियुक्त करके वे विरहाग्नि प्रज्वलित नहीं करना चाहती थीं और दोनों के साथ रहने पर कुँवर मनोहर के माता पिता के दुःख की कल्पना भी वे नहीं कर सकती थीं। मनोहर ही उनका एकमात्र जीवनावलंब था। अंत मे सबने एकमत होकर राजकुँवर को उसके माता पिता के पास पहुँचाना ही निश्चय किया। इस प्रकार अप्सराओं की मध्यस्थता दोनों प्रेमियों को सुखद एवं दुःखद दोनों ही सिद्ध हुई।

जागने पर मनोहर अत्यंत विकल हुआ और माता पिता के समझाने बुझाने पर भी वह मधुमालती की प्राप्ति के लिये गृह त्याग करके चल पड़ा। मनोहर के साथ हाथी, घोडे आदि राज्यवैभव भी था। उसके कई मित्र भी उसके साथ हो लिए थे, किंतु बोहित के लहर मे पड़ जाने के कारण, मनोहर अपने राज्यवैभव एवं साथियों से बिछुड़ गया। अपने साथियों से बिछुड़कर अकेला ही एक काठ का सहारा लेकर मनोहर किनारे पर पहुँचा और तटस्थित अगम्य वन की ओर अग्रसर हुआ। वन में घूमते हुए उसे एक पलंग पर एक सुंदर स्त्री लेटी हुई दिखाई दी, मनोहर ने देखा वह अनिंद्य सुंदरी थी। जागने पर वह सुंदरी पहले तो बहुत आश्चर्यचकित एवं भयभीत हुई, किंतु बाद में मनोहर का परिचय पाकर उसने अपनी दुःखकथा मनोहर को सुनाई कि वह चितविसरामपुर के राजा चित्रसेन की पुत्री, प्रेमा थी। एक बार वह अपनी सखियों के साथ अमराई मे खेल रही थी तभी एक राक्षस उसे उठा लाया और तब से वह जंगल मे अकेली ही थी। उसे जंगल मे रहते हुए एक साल हो गया था। प्रेमा ने मनोहर से अपनी तथा मधुमालती की मैत्री की चर्चा की और बताया कि वर्ष में एक बार मधुमालती उसके घर अवश्य आती है।

प्रेमा के आग्रह करने पर भी मनोहर ने उसका त्राण किए बिना आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। राक्षस को मारकर प्रेमा को भी साथ लेकर मनोहर ने चितबिसरामपुर की ओर प्रस्थान किया।

प्रेमा के घर पहुँचने से उसके माता पिता अत्यंत प्रसन्न हुए और, दूसरे ही दिन दुइज होने के कारण, मधुमालति के प्रेमा के घर आने का समाचार पाकर मनोहर अत्यंत प्रसन्न हो उठा। प्रेमा की रक्षा करने के उपकार को स्वीकार करते हुए प्रेमा के माता पिता ने प्रेमा का विवाह मनोहर से करना चाहा, किंतु प्रेमा एवं मनोहर ने अपने भाई एवं बहन के संबंध को दृढ़तापूर्वक निबाहा।

दूसरे दिन जब मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई तो प्रेमा ने यत्नपूर्वक चित्रसारी मे उन दोनों को मिला दिया। रूपमंजरी जब लौटने लगी तो देर होते देख व्यग्र होकर स्वयं प्रेमा एवं मधुमालती की खोज में निकल पड़ी। मनोहर एवं मधुमालती को एक साथ पाकर उसने प्रेमा को बहुत भला बुरा कहा और मधुमालती को लेकर अपने स्थान को लौट गई। मधुमालती मनोहर के प्रेम में घुली जा रही थी। उसे इस प्रकार प्रेमपीड़ा मे व्यथित देखकर उसकी माँ ने उसे बहुत समझाया, किंतु मधुमालती का हठ देखकर रूपमंजरी ने उसे चिड़िया हो जाने का शाप दे दिया। मधुमालती चिड़िया होकर मनोहर की खोज में उड़ चली। इधर मनोहर भी मधुमालती की व्यथा में इधर उधर भटक रहा था।

एक दिन मधुमालती जब उड़ी जा रही थी तो पिपनेर मानगढ़ के राजकुमार ताराचंद के रूप का मनोहर से साम्य देखकर, वह उसकी छत पर बैठकर उसे निहारने लगी। ताराचंद ने उसे पकड़ लिया और नित्य अपने पास रखने लगा। प्रसंगवश मधुमालती ने अपनी सारी कथा बताई। ताराचंद अत्यंत मर्माहत होकर मधुमालती का पिंजरा लेकर उसकी माँ के पास महारसनगर पहुँचा। उसकी माता ने अत्यंत प्रसन्न होकर मधुमालती को फिर से राजकुमारी बना दिया और प्रेमा के पास मधुमालती के पुनरागमन तथा मनोहर से उसके विवाह की स्वीकृति का संदेश भेजा। संयोगवश मनोहर भी उसी समय प्रेमा के पास आ पहुँचा और प्रेमा ने मधुमालती के माता पिता के पास सूचना भेज दी। उनके आ जाने पर मनोहर तथा मधुमालती का पाणिग्रहण हो गया और वे सब वहीं सानंद रहने लगे।

एक दिन ताराचंद और मनोहर जब शिकार से लौट रहे थे तब ताराचंद की दृष्टि प्रेमा पर पड़ी जो मधुमालती के साथ झूला झूल रही थी। ताराचंद उसके प्रेम में व्याकुल हो गया। मधुमालती ने प्रेमा के पिता से कहकर उन दोनों का विवाह करा दिया। दोनों मित्र अपनी पत्नियों सहित आनंदमग्न रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् मनोहर एवं मधुमालती तथा ताराचंद और प्रेमा अपने घर लौटकर राज्योपभोग करने लगे। कथा का अंत सुख एवं समृद्धि मे होता है।

'मधुमालत' के पूर्व प्राप्त सूफी प्रेमाख्यानों मे केवल 'मृगावती' एवं 'पद्मावत' का नाम आता है। इन कहानियों के कथानक से 'मधुमालत' के कथानक मे अंतर है। प्रमुख कथा के साथ ही एक और अंतर्कथा चलती है। उपनायक एवं उपनायिका की योजना करके कथा को विस्तृत करने के साथ ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, निस्वार्थ प्रेम एवं संयम का आदर्श भी उपस्थित किया गया है। भाई बहन के आदर्श प्रेम की चर्चा करके कवि ने भारतीय संस्कृति के उज्वल पक्ष का उद्घाटन किया है। जन्मांतर और योन्यंतर के बीच भी प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेम की व्यापकता एवं शाश्वतता का सफल चित्रण किया है।

आश्चर्यतत्व की योजना यद्यपि इन सभी कथाओं मे होती रही है, तथापि 'मधुमालत' मे उसका भी अपूर्व रूप है। अप्सराओं का, नायक एवं नायिका के प्रथम मिलन में, महत्वपूर्ण हाथ है, इसके अतिरिक्त मधुमालती की माँ का उसे मंत्र फूँककर पक्षी बना देना तथा पुनः पूर्वरूप प्राप्त करवा देना ऐसी ही घटनाएँ हैं जो, कथा की गति मे सहायक होने के साथ ही, उसे चमत्कारपूर्ण बनाती हैं।

कवि मंझन ने अपने नायक एवं नायिका के मध्य प्रथम दर्शन मे ही उद्भूत प्रेम की अस्वाभाविकता को समझा था, किंतु कवि ने उस प्रथम दर्शन को पूर्वजन्म के प्रेम की एक कड़ी बनाकर स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया है। कथा मे घटनाक्रम अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों की भाँति ही है, मिलन के बाद विछोह, नायक का प्रयास, उसकी कठिनाइयाँ, उसके सहायक, प्रियदर्शन, पुनः विछोह, प्रेम की तीव्रता एवं शाश्वत मिलन आदि का वर्णन करके कथा का अंत हो जाता है। कई स्थलों पर पाठक का कुतूहल अत्यत वृद्धि पाता है : जैसे जंगल में प्रेमा को पाने पर पाठक को मनोहर एवं प्रेमा के संबंध को लेकर जिज्ञासा होती है, क्योंकि कवि प्रेमा के रूप सौंदर्य का वर्णन भी मधुमालती से कम नहीं करता है। दूसरी बार जब रूपमंजरी मधुमालती को पक्षी बनाकर उड़ा देती है तब पाठक की मनःस्थिति डाँवाडोल हो जाती है, कभी तो वह सूफी प्रेमकथाओं की दुःखांत परंपरा का स्मरण कर व्यथित होता है और कभी आशा का संबल पा अति शीघ्र परिणाम जानने को अग्रसर होता है। मधुमालती का पक्षी होकर मनोहर की खोज मे उड़ते फिरना, योरोपीय दुःखांत रोमांस 'प्रिमस' एवं 'थिसवी' का स्मरण कराता है। शंका होती है कि 'प्रासने' एवं 'फिलमिला' की भाँति कहीं मधुमालती भी पक्षी के रूप में अपनी वेदना गाती ही न रह जाय।

कथा का अंत विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कवि मंझन अत्यंत सहृदय थे। इस 'सरब सार जग प्रेम' के अनुसार संसार में केवल प्रेम की सरसता एवं नित्यता उन्हें मान्य थी। कोमलहृदय मंझन अपनी कथा को दुःखांत न बना सके। कवि ने जान बूझकर कथा को सुखांत बनाया है। यह उसके कथासंगठन की मौलिकता है। 'मैं छोहन्ह येइ मारि न पारेउ'[1] में कितनी कोमल एवं स्पृहणीय भावना का उद्घाटन है।

यद्यपि कथा वर्णनात्मक अधिक है, फिर भी जहाँ कहीं भी प्रेम एवं विरह का वर्णन कवि करता है वहाँ वह अधिक रहस्यात्मक एवं सहानुभूतिमय हो उठा है। उन स्थलों पर उसकी उक्तियाँ भी अधिक व्याख्यात्मक तथा मार्मिक है।

यह कथा बहुत लोकप्रिय रही है। उसमान ने अपनी 'चित्रावली' में इसका उल्लेख किया है तथा जायसी का उल्लेख भी कथा की लोकप्रियता का परिचायक है। जैन कवि बनारसीदास ने संवत् १६६० के आसपास की अपने आत्मचरित् 'अर्धकथानक' मे इसका उल्लेख किया है। दक्षिण के शायर नसरती ने दक्खिनी उर्दू में 'गुल्शने इश्क' नाम से मधुमालती एवं मनोहर के प्रेम की चर्चा की है।

मधुमालती एवं मनोहर का प्रेमोदय, साक्षात् दर्शन से होने के कारण अधिक स्वाभाविक है। मनोहर के प्रेम की दृढ़ता में कहीं भी शिथिलता नहीं आती, आरंभ से ही विशिष्टोन्मुख उसका प्रेम कहीं भी दुविधा में नहीं पड़ता। मधुमालती की प्रेमव्यथा प्रेमोन्माद नहीं है, उसकी व्यथा मूक है। वह सुलग सुलगकर क्षीण हो जाती है, किंतु फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती, अधिकारयाचना की भावना उसमें किंचिन्मात्र भी नहीं है। जन्मांतर एवं योन्यंतर के मध्य भी प्रेम की अखंडता दिखाकर कवि ने पुनर्जन्म की भारतीय भावना को पुष्ट किया है।

संपूर्ण आख्यायिका में पूर्ण रूप से रसराज शृंगार का राज्य है। शृंगार के दोनों पक्षों पर कवि ने प्रचुरता से लिखा है। विरहवर्णन के अंतर्गत बारहमासे की रचना भी बड़ी सफलता से हुई है। प्राकृतिक दृश्यों एवं उत्सवों से जो साम्य एवं प्रतिकूलता प्रदर्शित की गई है उसमें भारतीय लोकजीवन पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित है। एक स्थल पर मधुमालती बड़े ही मर्मपूर्ण शब्दों मे कहती है कि मुझे आश्चर्य है कि मैं सदा रोती ही रही, किंतु नयनों में बसी मनोहर की मूर्ति धुल नहीं गई, वह वहाँ अब भी स्थित है।

अचरजु ऐह हौं संतत रोई। पै न गयहु तुम्ह चखु सोई धोई।

—वही, पृ० ३६३।

[1] पृ० २८४।

संयोगवर्णनों मे कहीं अश्लीलता नहीं है, कवि ने रहस्यात्मक संयोगानुभूति का भावात्मक वर्णन किया है। संयोगानंद को कवि अनिर्वचनीय मानता है :

दुइ जी बीच जो निबंही, विलस सनेही कंत।
सो कैसे नहिं आवै, सखी ये जीभ कहंत॥

'मधुमालती' की रचना भी बोलचाल की अवधी मे हुई है। पाँच अर्धालियों के बाद एक दोहे के क्रम का निर्वाह किया गया है। अलंकारों की ओर कवि का विशेष आग्रह नहीं है। शब्दालंकारों की उपेक्षा एवं अर्थालंकारों की अधिकता है।

'मधुमालत' प्रेमाख्यान, कथासंगठन एवं प्रेमपद्धति, दोनों दृष्टियों से, मौलिक एवं आकर्षक है। कवि मंझन की सहृदयता ने इस ग्रंथ को रूढ़िबद्ध प्रेमकथा मात्र होने से बचा लिया है।

उसमान

मंझन के पश्चात् जिस सूफी कवि की रचना उपलब्ध होती है वह 'उसमान' हैं। कवि उसमान गाजीपुर नगर के निवासी थे। गाजीपुर का वर्णन करते समय कवि ने उसकी भौगोलिक स्थिति, वहाँ के निवासी तथा सुख शांति का वर्णन किया है। गाजीपुर का चित्र कवि बड़ा समृद्धिपूर्ण प्रस्तुत करता है। निवासस्थान का परिचय देने के साथ ही कवि अपने पिता एवं भाइयों का परिचय देना भी नहीं भूला है। कवि के पिता का नाम शेख हुसैन था। कवि के चार भाई और थे जिनके नाम क्रमशः शेख अजीज, इमानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह तथा शेख हसन थे। ये पाँचो भाई अपनी पृथक् विशेषताओंवाले थे। शेख अजीज विद्वान, शीलवान तथा दानशील थे, इमानुल्लाह योगसाधना मे रत थे, शेख फैजुल्लाह पीर थे, शेख हसन संगीतज्ञ थे। कवि अपना परिचय साहित्यिक के रूप मे भी देता है। उसका कहना है कि इस नश्वर संसार मे केवल वचन ही अमर है। वचन उस अमृत के समान है जिसे पीकर कविगण भी अमर हो जाते हैं, अतः उसने विद्यालाभ करके साहित्य-रचना की ओर ध्यान दिया :

आदि हुता विधि माथे लिखा, अच्छर लिखा, पढ़ै हम सिखा॥
देखत जगत चला सब जाई, एक बचन पै अमर रहाई॥
बचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाए कवि अमर रहाई॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि होए, होउ अमर यह अमिरित पीए॥

—चित्रावली, पृ० १२।

कवि के रचना-काल-निर्देश एवं शाहेवक्त की प्रसंशा के आधार पर उसके स्थितिकाल का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शाहेवक्त के रूप मे

कवि ने न्यायप्रिय जहाँगीर की प्रशंसा की है। जहाँगीर की दानशीलता की प्रशंसा सुनकर संभवतः कवि स्वयं भी एक बार उसके दरबार मे गया था। जहाँगीर का शासनकाल इतिहासग्रंथों मे संवत् १६६२ से १६८४ तक लिखा मिलता है। कवि ने अपने ग्रंथारंभ का समय सन् १०२२ हिजरी (या सन् १६१३ ई० अर्थात् सं० १६७०) लिखा है, अतः जहाँगीर के शासनकाल मे उसकी स्थिति निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। अपने ग्रंथ चित्रावली के आरंभ मे उन्होंने कथा लिखने के उद्देश्य को भी स्पष्ट किया है। कवि कहता है कि उसने इस जग की काली अज्ञान रात्रि को सरलता से बिताने के लिये एक इच्छातरु रूपी प्रेमकथा कही है। अपने हृदय के लहू को इसके लिये कवि ने पानी के रूप मे बहा दिया है। कवि अत्यंत विनीत है तथा विद्वद्वर्ग से अपनी त्रुटियों की क्षमा चाहता है।

ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परंपरा मे हाजी बाबा के शिष्य थे। हाजी बाबा इनके दीक्षागुरु थे। अपनी एक मात्रप्राप्त पुस्तक 'चित्रावली' के आरंभ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैगंबर एवं चार खलीफाओं, शाहेवक्त जहाँगीर, शाह निजामुद्दीन एवं हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। तदुपरांत अपने निवास-स्थान गाजीपुर की प्रशंसा के बाद आत्मपरिचय दिया है। कवि उसमान स्वभाव से विनीत तथा एक गुणी परिवार के सदस्य थे। इनके निवासस्थान, ग्रंथ का रचनाकाल, स्थितिकाल, गुरु, पिता एवं भाइयों के नाम के अतिरिक्त सामाजिक जीवन का कुछ और परिचय ज्ञात नहीं होता है।

'चित्रावली' की कथा नैपाल देश के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेमकथा है। कथा इस प्रकार है कि नैपाल देश के राजा धरनीधर के कोई संतान न होने के कारण वे अत्यंत चिंतित रहते थे। राजा धरनीधर ने एक दिन बहुत निराश होकर तपस्या के हेतु राज्य छोड़ने का निश्चय किया, किंतु उसके मंत्रियों ने उसे समझा बुझाकर घर पर ही शिवाराधना करने एवं दान पुण्य मे दत्तचित्त होने को कहा। उसके दान की प्रशंसा शिवलोक तक पहुँची और पार्वती सहित शंकर ने उसकी दृढ़ता तथा एकनिष्ठता की परीक्षा करनी चाही। शिवपार्वती, साधुवेश धारण कर राजा धरनीधर के पास पहुँचे और उन्होंने कहा कि यदि राजा अपना सिर उन्हें दान कर दे तो वे उसे श्री शंकर पर चढ़ाकर उन्हें प्रसन्न कर लेगे। विचार करने के पश्चात् राजा ने सिर दान करना स्वीकार कर लिया और उन तपस्वी वेशधारी शंकर पार्वती से कहा कि वे उसे मंदिर तक ले चलें जहाँ वह अपनी रुधिरधार श्री शकर पर चढ़ाकर श्री आशुतोष को उन तपस्वी के लिये प्रसन्न कर सके।

शिव पार्वती उसकी दृढ़ता देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए और स्वयं अंश रूप में राजा के यहाँ अवतरित होने का वरदान दे अंतर्धान हो गए। यथासमय राजा

के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके लग्न, नक्षत्र आदि का ज्योतिष से विचार करने के पश्चात् उसका सुजान नाम रखा गया। सुजान अत्यंत गुणशाली तथा कुशाग्र-बुद्धि था। उसने अपने गुरु से अनतिकाल मे ही सारी विद्याएँ सीख लीं।

कुँवर बहुत अच्छा अश्वारोही था, उसे शिकार से बहुत चाव था। एक दिन मृगया के पश्चात् जब वह दलबल सहित घर लौट रहा था तो आँधी आ जाने के कारण, भटककर एकाकी एक पर्वत पर स्थित किसी देव की मढ़ी मे जा सोया और वह देव अपने देशाधिपति के इस एकमात्र पुत्र के रक्षार्थ मढ़ी के द्वार पर बैठ गया। उसी समय उस देव के एक मित्र ने चित्रावली के वर्षगाँठोत्सव का ऐसा हृदयग्राही वर्णन किया कि उसे रूपनगर चलने को बाध्य होना पड़ा। सुजान की रक्षा के उत्तरदायित्व को समझकर, देव उसे भी अपने साथ लेता गया और वहाँ सुजान को चित्रावली की चित्रसारी में लिटाकर दोनों मित्र उत्सव देखने चले गए।

इधर कुँवर की नींद खुली और अपने को नवीन स्थान पर देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। चित्रावली का चित्र देखकर वह मत्रमुग्ध सा होकर उसे निहारने लगा। रूपसौंदर्य ने उसके हृदय मे प्रेमोन्मेष कर दिया। चित्रसारी मे चित्ररचना का सामान देखकर उसने अपना भी एक चित्र वहीं उसके चरणों के पास बना दिया और फिर निद्रा के वशीभूत हो गया।

उत्सव समाप्त हो जाने पर देव कुँवर को लेकर फिर मढ़ी मे आ गया। प्रातःकाल जागने पर कुँवर अत्यत दुःखी हुआ और प्रेम मे विह्वल हो ज्ञानगर्व खो बैठा। उसके साथी उसे इस अवस्था मे पाकर अत्यत चिंतित हुए और नगर मे ले आए। सुजान के माता पिता उसकी यह अवस्था देखकर अत्यत विकल हो गए। किंतु कुँवर किसी को अपना भेद नहीं बताता था। सुजान के गुरुभाई सुबुद्धि ने युक्तिपूर्वक सुजान की संपूर्ण परिस्थिति जान ली और परामर्श के पश्चात् यह निश्चित किया कि वे दोनों वहीं मढ़ी में जाकर रहें। ये दोनों मित्र उसी मढ़ी की नवीन रचना करवाकर वहीं रहने लगे। दान के अमिट प्रभाव को हृदयंगम कर ये लोग भी अन्नसत्र करने लगे।

इधर दूसरे दिन रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली अपनी सखियों के साथ स्नान तथा शृंगार करने के पश्चात् जब चित्रसारी मे पहुँची तो वहाँ कुँवर का चित्र पाकर उसपर प्रेमासक्त हो गई। वह दिवस चित्र देखकर बिताने लगी। एक नपुंसक ने रानीहीरा से चित्रावली की इस दशा की शिकायत कर दी। क्रुद्ध होकर हीरारानी ने कुँवर के चित्र को धो डाला। चित्र की अनुपस्थिति मे चित्रावली की परेशानी और अधिक बढ़ गई। चित्रावली ने उस कुटीचर को दंड देने के पश्चात् चार नपुंसकों को कुँवर की खोज में भेजा।

परेवा नाम का एक दूत योगी का भेष धारण कर उत्तर के देशों में भ्रमण करता हुआ नैपाल जा पहुँचा। वहाँ उसके भोजनपान न करने पर चिंतित होकर कुँवर ने उसे अपने पास बुलाया। कुँवर को देखकर परेवा अत्यंत प्रसन्न हुआ। परेवा ने कुँवर को रूपनगर के मनोहर वैभव तथा भव्य सौंदर्य का विवरण सुनाकर उसे रूपनगर के लिये प्रस्थान करने को आतुर कर दिया। परेवा गुरु के प्रताप तथा 'गुटका अंजन' के प्रभाव से कुँवर अदृश्य होकर रूपनगर की ओर चल पड़ा। मार्ग मे मन की वृत्तियों को रमानेवाले कई आकर्षक स्थानों को पारकर हृदय में केवल चित्रावली के दर्शनलाभ की इच्छा लेकर, कुँवर रूपनगर तक पहुँचा। परेवा कुँवर से शिवमंदिर पर ठहरने के लिये कहकर स्वयं चित्रावली को सूचित करने गया। चित्रावली कुँवर के आगमन का समाचार पाकर अत्यंत हर्षित हुई किंतु नारीसुलभ लज्जा के कारण वह स्वयं मिलने न जा सकी। परेवा से कहला भेजा कि शिवरात्रि के दिन मैं जोगियों को भोजन कराऊँगी, तभी झरोखे से भोजन के समय तुम्हें दर्शन भी दूँगी। तब तक दर्पण मे तुम उस मूर्ति का प्रतिबिंब देखकर अपने ज्ञान तथा चर्मचक्षुओं को दृढ़ कर लो क्योंकि एकाएक कोई चित्रावली के अनंत सौंदर्य का दर्शन नहीं कर सकता। इस संदेश के साथ परेवा ने दर्पण कुँवर को दे दिया।

शिवरात्रि के दिन संपूर्ण शृंगार करके चित्रावली ने कुँवर को दर्शनलाभ दिया। कुँवर प्रथम छवि देखकर मूर्छित हो गया, किंतु उपचार के पश्चात् चेत आने पर परेवा ने उसे फिर दर्शनलाभ पाने की सूचना दी। सुनकर कुँवर अत्यंत हर्षित हुआ और चित्रावली नित्य इसी प्रकार झरोखे से कुँवर को दर्शन देने लगी।

इसी समय जिस कुटीचर को चित्रावली ने दंडित करके निकाल दिया था उसके मन मे नित्य अन्नसत्र की बात सुनकर संदेह उत्पन्न हुआ और वह भी योगी का वेश धारण करके वहाँ गया। कुँवर के चित्र को पहले देख चुकने के कारण उसने शीघ्र ही कुँवर को पहचान लिया और उसे बहकाकर अपने साथ ले गया तथा धोखे से अंधा करके एक निर्जन वन की गुफा मे डाल दिया। इस प्रकार योगियों का जमघट टूट गया और चित्रावली को विरहदुःख सहना पड़ा।

इधर जंगल मे कुँवर अकेले भटक रहा था तभी एक अजगर उसे निगल गया, किंतु उसकी विरहज्वाला से घबड़ाकर उसने कुँवर को उगल दिया। एक बनमानुष इस घटना को देख रहा था उसने अपने आश्चर्य के शमनार्थ कुँवर से सारी कथा जान ली। सारा हाल जानकर उसने कुँवर को एक अंजन दिया जिसे लगाने से उसकी नेत्र-ज्योति पूर्ववत् हो गई। इसी समय कुँवर को एक मत्त हाथी ने पकड़ लिया। किंतु जीवनलीला समाप्त होने के पूर्व ही उसे एक पक्षिराज ले उड़ा, हाथी ने घबड़ाकर कुँवर को छोड़ दिया और वह एक समुद्रतट पर जा गिरा। वहीं फुलवारी मे वह

विश्राम कर रहा था, तभी सागरगढ़ की राजकुमारी कौलावती उसे देखकर रूपासक्त हो गई।

कुँवर चित्रावली के वियोग में कहीं एक क्षण रुकना नहीं चाहता था। कौलावती ने उसे रोकने का अन्य उपाय न पाकर योगियों को भोजन खिलाने के बहाने उसके भोजन में हार छिपाकर उसे चोरी के दंड में बंदी बना दिया। कुँवर सुजान कैद मे था, किंतु किसी भी प्रकार कौलावती उसे अपने अनुकूल नहीं बना पा रही थी। कौलावती के रूपसौंदर्य को सुनकर सोहिल-नरेश ने सागरगढ़ पर आक्रमण कर दिया। चार महीने गढ़ के घिरे रहने पर भी राजा को जीतने की आशा नहीं रह गई। तभी कुँवर सुजान को कौलावती पर दया आई और उसने संग्राम में अपने पराक्रम से सोहिलनरेश को मृत्यु के घाट उतारकर सागरगढ़ की रक्षा की। सागरनरेश ने सुजान के साथ कौलावती का विवाह कर दिया किंतु साथ ही कुँवर ने कौलावती से चित्रावली के मिलने तक संयोग की प्रतीक्षा का वचन ले लिया।

इधर चित्रावली वियोग से पीड़ित थी। उसने कुँवर को ढूँढने के लिये फिर परेवा को भेजा। वह सारे देशों मे खोजता हुआ गिरनार पर्वत पर पहुँचा, वहीं उस समय कुँवर और कौलावती भी शंकरपूजन के हेतु गए थे। योगी वेशधारी परेवा ने कुँवर को पहचानकर उसे फिर रूपनगर के लिये प्रस्थान करने को प्रेषित किया। कुँवर कौलावनी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा करके रूपनगर की ओर चल पड़ा।

इसी अवसर पर राजा रूपनगर को एक कथक ने, सागर राजा और सोहिल नरेश के युद्ध तथा कुँवर सुजान के पराक्रम की कथा सुनाई जिसे सुन राजा को कन्या के विवाह की चिंता उत्पन्न हुई और उसने चार चित्रकार राजकुमारों के चित्र लाने के लिये भेजे। इसी बीच रानी को चित्रावली की उदासी देखकर चिंता हुई और एक चेरी के द्वारा रानी को परेवा के जाने की सूचना भी मिल गई थी।

परेवा जब कुँवर को सीमा पर बैठाकर चित्रावली को सुसंवाद देने आ रहा था तभी वह हीरारानी के दूतों के द्वारा पकड़ लिया गया। परेवा के संदेश लेकर न आने पर कुँवर विरह से अत्यधिक संतप्त होकर पागलों की तरह चित्रावली का नाम ले लेकर इधर उधर दौड़ने लगा। राजा ने अपयश के भय से उसे उन्मत्त हाथी के द्वारा मरवाना चाहा किंतु कुँवर सुजान ने उस हाथी को भी पछाड़ डाला। उसकी वीरता देखकर चित्रावली के पिता को भय उत्पन्न हुआ और उसने चारों ओर से घेरकर उसे पकड़ लिया।

इसी अवसर पर सागरगढ़ से आए हुए चित्रकार ने कुँवर सुजान का चित्र उपस्थित किया जो इस योगी से पूर्णरूपेण मिलता था। रानी हीरा ने परेवा को बंदीगृह से मुक्त कराकर सब हाल पूछा तो ज्ञात हुआ कि यही कुँवर सुजान है। राजा को यह जानकर हर्ष हुआ और उसने चित्रावली का विवाह सहर्ष संपन्न किया। चित्रावली ने कौलावती के संदेश से कुँवर को वंचित रखा और रंगनाथ पांडे तथा चित्रावली दोनों कुँवर को रसचर्चा में मग्न रखने लगे।

कौलावती ने हंसमित्र को अपना दूत बनाकर विरहव्यथा सुनाने रूपनगर भेजा। वहाँ उसने भ्रमर पर आक्षेप करके कुँवर को कौलावती का स्मरण करवाया।

कुँवर ने अपने माता पिता और कौलावती का स्मरण करके रूपनगर के राजा से विदा माँगी। चित्रावली की विदा का वर्णन बड़ा मार्मिक है। वहाँ से विदा कराके कुँवर मार्ग मे कौलावंती को लेता हुआ अपने घर की ओर चला। समुद्र में तूफान आया किंतु संकट पार करके वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ कुँवर की भेंट केशी पांडे से हुई जिसने उसे पाँच अमूल्य नग भी दिए। वहाँ से सब प्रकार से सुसज्जित हो कुँवर अपने देश आया जहाँ उसके माता पिता पुत्रवियोग से अंधे हो रहे थे। पुनः पुत्र को प्राप्त कर माता के नेत्र खुल गए और राजा ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके स्वयं शिवाराधना मे ध्यान लगाया।

कवि अपनी कथा को दुःखांत नहीं बनाना चाहता था। उसने अपनी कथा का अंत इसी कारण राज्याभिषेक के बाद ही कर दिया है।

कथासंगठन से संबंधित कुछ विशेष बातें ध्यान देने योग्य हैं—जैसे आत्मपरिचय के बाद कवि ने रूप, प्रेम, और विरह, सूफी साधना एवं दर्शन के प्राण इन तत्वों की व्याख्या की है। इस संसार मे रूप और प्रेम का साथ है। जहाँ रूप है वहीं प्रेम है। रूप और प्रेम के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है उसी की स्वाभाविक प्रतिक्रिया विरह है। इस प्रकार रूप, प्रेम और विरह इन तीनों का चिरंतन साथ है। इन्हें सृष्टि का मूलस्तंभ मानकर कवि अपनी कथा आरंभ करता है।

कवि मंझन ने जहाँ घटनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है वहाँ उसमान की रुचि विस्तृत वर्णन की ओर दिखाई पड़ती है। कवि ने राजा धरनीधर का पुत्राभाव, दान, शंभु परीक्षा, पुत्रोत्पत्ति, उसकी शिक्षा, चित्रदर्शन, विरह, परेवा की खोज, राजकुमार सुजान का देश से प्रस्थान, मार्ग की कठिनाइयाँ, अंत में प्रियप्राप्ति आदि सभी परंपरायुक्त घटनाओं का वर्णन किया है, किंतु कुछ घटनाओं और आश्चर्यतत्वों की संयोजना अवश्य नवीन रूप मे हुई है। कुछ यौगिक क्रियाओं का समावेश भी कवि ने किया है, जैसे 'लुक अंजन' लगाकर लोगों की दृष्टि

से अदृष्ट होना आदि, देव का राजकुमार को लेकर उड़ना, अजगर का कुँवर सुजान को निगलना, फिर विरहज्वाला से पीड़ित हो उसे उगल देना, हाथी का राजकुँअर को सूँड़ मे लपेटना, एक पक्षी का सुजान और हाथी दोनों को लेकर आकाश मार्ग से उड़ना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो कथा में कुतूहल उत्पन्न करने के साथ ही उसकी लोकप्रियता सिद्ध करती हैं। लोककथाओं में ये तत्व प्रचुर रूप से वर्तमान रहते हैं।

मसनवी रचना की एक पद्धति के अनुसार नायक का प्रत्येक कठिन स्थल पर एक सुंदरी से परिचय होता है और नायक अधिकांशतः उन सुंदरियों से विवाह भी कर डालता है। मलिक मंझन ने भी अपने नायक का परिचय एक सुंदरी से कराया है, किंतु नायक मनोहर एवं प्रेमा के भाई बहन संबंध की स्थापना उनकी मौलिकता एवं भारतीय परंपरा से परिचय को स्पष्ट करती है। कवि उसमान ने सुजान से कौलावती का परिचय कराके कई उद्देश्यों की पूर्ति की है। एक ओर तो उसने सुजान की कौलावती के प्रति उपेक्षा तथा गो, नारी एवं ब्राह्मण की रक्षा के हेतु क्षत्रियधर्म पालन दिखाकर नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया है, दूसरी ओर, नायक के अविवाहित होने के कारण उसके गृहत्याग से नायक की त्यागभावना का पूर्ण परिचय नहीं मिल सका था। सुजान ने कौलावती से विवाह करके चित्रावली की प्राप्ति के पूर्व संयोग-सुख-लाभ नहीं किया, यह उसके लक्ष्य की एकात्मकता है, अतः कौलावती से नायक का पाणिग्रहण केवल परंपरामुक्त नहीं है।

सभी पात्रों के नाम यद्यपि संकेतात्मक नहीं है, तथापि कुछ नाम अवश्य ऐसे हैं जो प्रतीक रूप से आए हैं। गुरुपुत्र 'सुबुद्धि' का नाम प्रतीकात्मक है। रूपनगर के बीच में पड़नेवाले नगरों के नाम भोगपुर, इंद्रियपुर, गोरखपुर, नेहनगर और रूपनगर आदि शारीरिक विषय वासना, उनके दमन, आनंदवृत्ति एवं रमणवृत्ति के परिचायक हैं।

कवि उसमान का विश्वास है कि प्रेमीजनों को, जो एक दूसरे के ऊपर मर मर-कर ही जीते हैं, इस संसार मे कोई मार नहीं सकता। यही कारण है कि वह अपनी कथा को सुखांत रखता है। कथानक पूर्णतः काल्पनिक है। अन्य प्रेमाख्यानों की अपेक्षा चित्रावली की एक और विशेषता है कि नायिका का वर्णन परंपरा के अनुसार पद्मिनी रूप में न होकर चित्रिणी रूप में किया गया है।

रचना में शृंगाररस की प्रमुखता होते हुए भी वीररसात्मक वर्णन भी मिलता है।

प्रयुक्त अलंकारों में प्रतीप, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उल्लेख, रूपक, उपमा आदि का बाहुल्य है।

सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम संपूर्ण ग्रंथ में निबाहा गया है।

भाषा साधारण बोलचाल की अवधी है, जिसमें यदाकदा संस्कृत, अरबी एवं फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। कहावतों एवं मुहाविरों का प्रयोग कवि ने प्रचुरता से किया है, जैसे 'पुनि मन कछु गियान उपराजा, चाँघ उघारे मरिये लाजा' तथा 'कौन सुनै अस को मति देई, हस्ति क भार क गदहा लेई'।

कवि बहुज्ञ होने के साथ ही साथ भावुक भी है। भय, हर्ष, प्रेमातिरेक आदि भावों की व्यंजना उसने बहुत सफलता से की है जैसे सुबान के पराक्रम को सुनकर राजा चित्रसेन का भय इन शब्दों में साकार हो जाता है :

सुनि के राजा थकि रहा, रुहिर सूखि गा गात।
हिए थरथरी, पेट डर, मुख नहिं आवै बात ॥५००॥

—'चित्रावली', पृ० १६० ।

३. शेख नबी

कवि के जीवनवृत्त संबंधी कुछ ही तथ्य 'ज्ञानदीप' में अंतःसाक्ष्य रूप में उपलब्ध होते हैं। 'ज्ञानदीप' प्रेमाख्यान ही इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। शेखनबी का स्थितिकाल सम्राट जहाँगीर का शासनकाल ज्ञात होता है। ग्रंथ का रचनाकाल संवत १६७६ दिया हुआ है। कवि जौनपुर सरकार के दोसपुर थाने के अंतर्गत अलदेमऊ को अपना निवासस्थान बताता है :

एक हजार सन रहै छबीसा, राज सुलही गनहु बरीसा।
संवत् सोलह सै छिहत्तरा, उक्ति गरन्थ कीन्ह अनुसारा॥
अलदेमऊ दोसपुर थाना, जाउनपुर सरकार सुजाना।
तहवाँ शेषनबी कवि कही, शब्द अमर, गुन, पिंगल मही॥
बीर सिंगार बिरह किछु पावा, पूरन पद लै जोग सुनावा।

—'ज्ञानदीपक', पृ० ७ ।

कवि अपने को अवगुन की खान बताकर विद्वत्वर्ग से क्षमा चाहता है :

हौं अजान मूरख दुखव्यापी, अधम अधीन हिये जड़ पापी
तृष्ना, लोभ, क्रोध जिय कीन्हें, मोर मोर लाए लव लीन्हें
सब ऐगुन हैं मोंहिं पहँ, एकै गुन गंभीर।
लै लै नाँव रावरो, पोपऊँ अधम सरीर॥

—वही, पृ० २-१ ।

कवि स्पष्ट कहता है कि उसने यह कथा कहीं सुनी थी। उसी सुनी हुई कथा को उसने पद्यबद्ध कर दिया है :

पोथी बात नबी कवि कही, जो कछु सुनी कहूँ से रही ॥
आखर चारि कहा मैं जोरी, मन उपराजा न कीन्हेउ चोरी ॥
—वही, पृ० १६१।

इस प्रकार आरंभ में कवि परंपरानुसार निर्गुण ब्रह्म, मुहम्मद साहब एवं शाहेवक्त की प्रशंसा करता है। आत्मपरिचय रूप मे अपना नाम, निवासस्थान तथा ग्रंथ के रचनाकाल का निर्देश करने के पश्चात् कथारंभ कर देता है। कथा इस प्रकार है :

नेमिसार मिश्रिक का राजा राय सिरोमनि था। शंकर जी के अनुग्रह से उसके ज्ञानदीप नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्ञानदीप बहुत योग्य एवं प्रतिभाशाली था। एक दिन आखेट खेलते हुए वह अकेला मार्ग भटक गया। सिद्धिनाथ जोगी ने उसे प्रतिभाशाली देखकर संसार से विमुख करना चाहा, किंतु नीरस सिद्धांतों की ओर उसे आकर्षित न होते देखकर, सिद्धिनाथ ने उसे राग रागिनियों तथा संगीत के द्वारा वश में करना चाहा। विद्यानगर का राजा सुखदेव बहुत ज्ञानी एवं संगीतविशारद था, उसके यहाँ नित्य संगीत सभा होती थी। राजा सुखदेव के देवजानी नाम की एक विदुषी कन्या थी जिसकी सहेली का नाम सुरज्ञानी था। सिद्धिनाथ ने विशेष उद्देश्य से ज्ञानदीप को विद्यानगर की ओर प्रेरित किया था। वहाँ सगीत का ऐसा प्रभाव ज्ञानदीप पर पड़ा कि अचेत ज्ञानदीप सजग हो गया। सुरज्ञानी ने अपने संगीत एवं नृत्य से ज्ञानदीप को विमोहित करना चाहा, किंतु ज्ञानपूर्ण वार्तालाप करके अपनी कुटिया में जाकर ध्यानमग्न हो गया। सुरज्ञानी ज्ञानदीप के सौंदर्य पर मुग्ध हो गई थी। उसने राजभवन में जाकर देवजानी से संपूर्ण वृत्तांत कहा, किंतु उसे विश्वास न होने पर, सुरज्ञानी झरोखे में से ज्ञानदीप को दिखाने के लिये देवजानी को ले गई। इसी बीच में उसने, टूटे माले का बहाना करके देवजानी को माला, सुई एवं डोरा लाकर, दे दिया। देवजानी ज्ञानदीप के सौंदर्य को देखकर इतनी मुग्ध हुई कि उसे माला का ध्यान ही न रहा और अगुँली में सुई चुभने की पीड़ा भी उसे ज्ञात न हुई।

देवजानी को ज्ञानदीप का विरह सताने लगा, उसे किसी प्रकार भी चैन न था। अंत में सुरज्ञानी उसे अपने वशीकरण मंत्र का संबल दे रात्रि में शृंगार कराके ज्ञानदीप के पास ले चली। ज्ञानदीप समाधिस्थ था। सुरज्ञानी और देवजानी दोनों ही अपनी सारी चेष्टाएँ करके हार गईं, किंतु उन्हे किसी भी प्रकार की सफलता न मिली। राजमहल मे लौटकर जोगी की उदासीनता के कारण देवजानी का विरह और तीव्र हो गया। सुरज्ञानी ने फिर एक उपाय किया और कागज का एक मंत्राभिषिक्त घोड़ा बनाकर पार्वती की कृपा से उसे जीवनदान दिलाया, स्वयं वेश बदलकर उसकी रास थामे, सहायता की याचना करती हुई ज्ञानदीप की कुटी के पास गई। ज्ञानदीप उसे विकट अवस्था में देख दयार्द्र हो गया

और उसने घोड़े की रास थाम ली। उसके घोड़े पर सवार होते ही घोड़ा उसे आकाशमार्ग पर ले चला और देवजानी के महल की छत पर रुक गया। वहाँ सुरज्ञानी और देवजानी को एकत्र देखकर वह इनकी चाल समझ गया और इनकी चेष्टाओं से विमुख होने जा रहा था कि देवजानी के संस्कृत भाषोच्चारण से प्रभावित होकर रुक गया। अब नित्य ही इस प्रकार घोड़े पर बैठकर कुँवर ज्ञानदीप देवजानी के पास पहुँचने लगा। महल के रक्षकों ने नित्य ही इस प्रकार एक घोड़े को आकर छत पर उतरते देखा तो राजा से शिकायत की। राजा एक दिन रात्रि को धनुषबाण लेकर खड़ा हो गया और जैसे ही ज्ञानदीप घोड़े पर सवार होकर महल की ओर जाने लगा, राजा ने बाण चला दिया। आहत ज्ञानदीप भूमि पर आ गिरा। ज्ञानदीप को बंदी बनाकर राजा ने सारा वृत्तांत पूछा तो देवजानी की मर्यादा का स्मरण करके वह झूठ बोल गया कि देवसभा में होनेवाली संगीतसभा मे उपस्थित होने का उसे आदेश मिला है। वह देवसभा में ही जा रहा था कि राजा ने उसे आहत कर दिया। राजा को ज्ञानदीप की बात पर विश्वास हो चला था, किंतु अंगरक्षकों के बार बार कहने पर राजा ने ज्ञानदीप को प्राणदंड की आज्ञा दे दी। मंत्री ने राजा को हत्या के पाप से बचाना चाहा, तब राजा ने ज्ञानदीप को काठ की एक पेटी में बंद करके नदी मे बहा दिया। बहता हुआ ज्ञानदीप राय मानराय की राजधानी मानपुर में जा लगा। उस पेटी से निकालकर ज्ञानदीप राजसभा में लाया गया। राजा के द्वारा प्रश्न किए जाने पर उसने अपना सारा वृत्तांत बता दिया।

इधर देवजानी को ज्ञानदीप का समाचार ज्ञात होने पर उसे बहुत व्यथा हुई और वह अग्निकुंड में भस्म होने के लिये अग्नि में कूद पड़ी, किंतु शंकर एवं पार्वती की कृपा से बच गई। उसी रात्रि को शंकर जी ने राजा सुखदेव को ज्ञानदीप की निर्दोषता का स्वप्न दिया। राजा ने ज्ञानदीप की खोज का कोई उपाय न पाकर कुमारी देवजानी के स्वयंवर की सूचना सर्वत्र भिजवा दी, इस आशा में कि ज्ञानदीप यदि जीवित होगा तो अवश्य आएगा। राजा भीमराय सूचना पाकर ज्ञानदीप को लेकर स्वयंवर की ओर चल दिए। देवजानी ने वरमाला ज्ञानदीप के गले में डाल दी। देवजानी और ज्ञानदीप का विवाह संपन्न हो गया। राजा शुकदेव शीघ्र ही अपनी एकमात्र संतान को विदा करने के लिये तैयार नहीं हुए और इसी झमेले मे बारात वहाँ लगभग सात माह तक रही। इसी बीच राय सिरोमनि गुरु सिद्धनाथ के साथ विद्यानगर आ पहुँचे। वहाँ ज्ञानदीप को देखकर उन्होंने उसे अपने साथ लेना चाहा। इस प्रश्न पर कुछ देर विवाद होने के पश्चात् यही तय रहा कि ज्ञानदीप राय सिरोमनि का पुत्र है। ज्ञानदीप के संभावित विरह से पीड़ित होकर राजा मानराय की मृत्यु हो गई। ज्ञानदीप उसका अंतिम संस्कार करने के लिये मानपुर गया। वहाँ राजा की तीन सौ साठ रानियाँ अपनी सखियों के साथ सती हो गईं। इस प्रकार

माता पिता दोनों का निधन हो जाने से उनकी पुत्री दामावती अकेली रह गई। ज्ञानदीप अपना कर्तव्य समझता था। वह उसे अकेली छोड़कर नहीं लौटा। उसने दामावती का योग्य वर से विवाह कर दिया और स्वयं राजपाट सँभालने लगा। इधर देवजानी उसके विरह मे अत्यंत दुःखी थी, उसका दुःख न देख सकने के कारण सुरज्ञानी ज्ञानदीप की खोज मे जोगिन होकर घर से निकली। मार्ग मे भ्रमित होकर एक वृक्ष की छाँह में लेटी थी कि भिन्न भिन्न वनस्पतियाँ प्रकट होकर उसे समझाने लगीं। वनस्पती रानी ने उससे उसकी आपबीती जाननी चाही। वनस्पती रानी ने उसकी कथा सुनकर, दयार्द्र हो उसे अपनी शक्ति से पल भर मे भानपुर पहुँचा दिया। ज्ञानदीप उसे शीघ्र ही पहचान गया और दोनों मिलन सुख से आनंदित हो उठे। सुरज्ञानी को देवजानी का बराबर ध्यान था, वह शीघ्र ही ज्ञानदीप को लेकर विद्यानगर की ओर चल पड़ी। मार्ग मे वनस्पती की भेंट इनसे भी हुई। मार्ग के सारे विघ्न पार करके ये देवजानी के पास पहुँचे।

देवजानी के पिता से बिदा होकर ज्ञानदीप जब घर जा रहा था तो मार्ग में एक स्थान सुंदरपुर मे विश्राम के हेतु ठहर गया। उस नगर में स्थित सरोवर, फुलवारी एवं हंसपंक्ति को देखने के लिये सुरज्ञानी तथा देवजानी भी वहाँ गई और स्नान किया। सुंदरपुर की स्त्रियों ने नगर मे जाकर इन दोनों रूपवती नारियों की चर्चा की। चर्चा सुनकर नगर का राजा सुंदरसेन स्त्री रूप धारण करके सरोवर के निकट पहुँचा और देवजानी को देखकर उसका पूर्वप्रेम जाग्रत हो गया। देवजानी के स्वयंवर में सुंदरसेन भी गया था किंतु उसे निराश ही लौटना पड़ा था। तभी से देवजानी का सौंदर्य उसे भूलता न था। सुंदरसेन ने अवसर देखकर छलपूर्वक देवजानी को अपनाना चाहा।

इधर देवजानी की सखियों से सूचना पाकर ज्ञानदीप ने सुंदरसेन पर आक्रमण कर दिया और सुंदरसेन को हराकर देवजानी के साथ वह स्वदेश लौटा। माता पिता, पुत्र एवं पुत्रवधू को पाकर प्रसन्न हुए। सुरज्ञानी तथा देवजानी दोनों बहुत प्रेम से रहती थीं। ज्ञानदीप शासन मे दत्तचित्त रहने लगा।

कथा का प्रारंभिक भाग अन्य कथाओं से भिन्न है, नायक विरहपीड़ित होकर स्वेच्छा से गृहत्याग नहीं करता। गुरु के द्वारा उपयुक्त पात्र समझा जाकर वह गृहत्याग करता है तथा बाद मे उसकी वृत्तियों के अनुकूल ही परममार्ग का प्रदर्शन गुरु के द्वारा होता है। कथा मे प्रचुर आश्चर्यतत्वों की योजना है।

कथा की गति को लेखक जहाँ कहीं भी उद्देश्य या लक्ष्य की ओर मोड़ना

चाहता है वहाँ सर्वत्र शंकरअनुग्रह की अपेक्षा हुई है। काल्पनिक कथानक के साथ ही आश्चर्यतत्वों की योजना कौतूहलवृद्धि में सहायक हुई है।

कथा में शृंगाररस की व्याप्ति है, वीररस का भी किंचित् आभास है।

सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रमनिर्वाह किया गया है।

ज्ञानदीप में अन्य प्रेमाख्यानों की भाँति वस्तुवर्णन की अधिकता नहीं है। सौंदर्यवर्णन के साथ ही राग रागिनी एवं मंत्रज्ञान की चर्चा अधिक है।

ज्ञानदीप का महत्व सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अधिक है। बारह वर्ष की देवजानी को कवि विवाहयोग्य समझता है। संस्कृत का समादर तब भी समाज मे अधिक होता था। संस्कृतभाषी पंडित समझे जाते थे। राजा के रनिवास मे रानियों की संख्या बढ़ती जाती थी। कवि ने समाज मे प्रचलित शकुनों का भी वर्णन किया है। विवाहसंस्कार का विस्तृत वर्णन मिलता है। स्त्रियों की समाज में निम्न स्थिति पर भी कवि ने विचार प्रकट किए हैं। स्त्रीसौंदर्य ही संभवतः उसे समाज में आदृत बनाता था, अन्यथा वह सब प्रकार के अवगुणों से युक्त मानी जाती थी :

औगुन भरी सो तिरिया, तैसा गुन अधार।
संत करहु चित भीतर, जो पुरबहि करतार॥

घर मे सास ननद का आतंक कम नहीं था। नाममात्र के योगियों से सामाजिक मर्यादा भंग होने का भय बराबर बना रहता था :

जोगिहि नहिं पतिआइय, बैठिय पास न दौरि।
देई भीषि मँगाइ कै, बैठे देइ न पौरि॥

ज्ञानदीप का महत्व कथासंगठन एवं सामाजिक दृष्टिकोण से विशेष है।

४. जान कवि

न्यामत खाँ उपनाम 'जान' कवि के ग्रंथों की संख्या लगभग ७१ है। स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने 'जान' को फतेहपुर (जयपुर) के नवाब अलफ खाँ का उपनाम समझा था तथा उसे बादशाह शाहजहाँ का बहुत ही कृपापात्र एवं संबंधी बतलाया था। कुछ विद्वान् उसे शाहजहाँ का साला होना तक स्वीकार करते हैं। श्री अगरचंद नाहटा ने अपनी खोजों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि यह उपनाम वास्तव मे अलफ खाँ का न होकर न्यामत खाँ उनके बेटे का है। अपने इस कथन का आधार नाहटा जी ने तीन ग्रंथ 'अलफ खाँ की पैड़ी' 'कायमरासो' तथा 'बुद्धिसागर' माना है। 'अलफ खाँ की पैड़ी' तथा 'कायमरासो' ग्रंथ 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के संग्रहालय मे नहीं हैं। ये तीनों ग्रंथ नाहटा

जी के ही पास हैं। 'बुधसागर' नामक एक और ग्रंथ इसी कवि का लिखा हुआ प्राप्त होता है, किंतु उसमे कहीं भी 'न्यामत खाँ' नाम का उल्लेख नहीं है। ग्रंथ के अंत मे 'सोरह सै पचानवे संवतु हो दिन मान। अगहन सुदि तेरस हुती ग्रंथ कियो कवि जान। इति श्री ग्रंथ बुधसागर कवि जानकृतं संपूरण। संवत् १८३१ वर्षे मिती आसाढ़ वदि ६ सनिवासरांते लिषतं पंडित फूंरामं फत्तेपुर मध्ये ८ और बांचै पढ़ै ताकूं हमारी जै श्री कृष्न छै जी। श्री रस्तुकल्याणमस्तु' लिखा हुआ है।

नाहटा जी के अनुसार 'कायम रासो' मे लिखा हुआ :

कहत जान अब बरनिहौं, अलिफ खान की बात।
पिता जानि बढ़ि ना कहौं, भाखौं साची बात॥

अतः जान कवि के पिता का नाम अलिफ खॉ था। उत्तररासो मे अलिफ खाँ के पॉच पुत्र बतलाए गए हैं। न्यामत खॉ इनके द्वितीय पुत्र थे। अतः जान उपनाम वस्तुतः अलिफ खाँ के पुत्र न्यामत खाँ का उपनाम था, यह सिद्ध होता है।

यद्यपि 'कथा खिज्र खॉ देवल दे की चौपई' में कवि ने अलाउद्दीन के सिपहसालार 'अलफ खाँ' का वर्णन किया है, तथापि कहीं भी उसे पिता रूप में वर्णित नहीं किया है, अतः जान कवि का वास्तविक नाम न्यामत खाँ' है यह श्री अगरचंद नाहटा जी की स्वोपलब्ध ग्रंथों प्र आधारित स्थापना है।

जान कवि के उपर्युक्त लगभग ७१ ग्रंथों मे से २६ की गणना प्रेमाख्यानों के अंतर्गत की जा सकती है, यद्यपि ये सभी प्रेमाख्यान सूफी परंपरा मे नहीं आते हैं। सूफी में आनेवाले प्रेमाख्यानों 'कथा रतनावति', 'कथा कनकावती', 'ग्रंथ बुधिसागर', 'कथा कवलावती' आदि प्रमुख हैं। मसनवी पद्धति पर आरंभ होनेवाले ग्रंथों की संख्या अधिक हैं, यद्यपि इन ग्रंथों में सूफी विचारधारा का स्पष्टीकरण अधिक नहीं होता है। ऐसे ग्रंथों में 'कथा मोहिनी', कथा 'नल दमयंती', 'ग्रंथ लै लै मजनूँ', 'कथा कलावती', 'कथा रूपमंजरी' 'कथा खिज्रखाँ साहिजादै व देवल दे की चौपाई', 'कथा कलंदर', 'कथा तमीम अंसारी', 'कथा अरदसेर पातिसाह की' आदि प्रमुख हैं। कुछ ऐसे प्रेमाख्यान भी हैं जिनमें मसनवी परंपरा का पालन नहीं है। ग्रंथ का आरंभ केवल कथारंभ से ही हो जाता है जैसे 'कथा छबिसागर', 'कथा निरमल दें', 'कथा कामरानी' आदि। कुछ मुक्तक ग्रंथों मे भी कवि ने मसनवी परंपरा का पालन किया है, जैसे 'ग्रंथ विरहसत', 'ग्रंथ बारहमासा', 'ग्रंथ वियोगसागर' आदि।

कवि जान के 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' में सुरक्षित ग्रंथ हैं—'कथा रतनावती', 'ग्रंथ लै लै मजनूं', 'कथा कामलता की चौपाई', 'कथा कनकावती की चौपाई' 'कथा छबिसागर', 'कथा मोहिनी', 'चंद्रसेन राजा सीलनिधान' की कथा चौपाई', 'कथा नल दमयंती', 'कथा कलावती', 'कथा रूपमंजरी', 'कथा खिजरखा साहिजादे वा

देवल दे की चौपाई', 'कथा निरमल दे', 'कथा कलंदर', 'कथा तमीम अंसारी', 'कथा कामराती', 'कथा अरदसेर पातिसाह की', 'कथा सुभटराइ की', 'ग्रंथ बुधिसार' 'कथा कलावती', 'द्वीता', 'कथा पीतमदास', 'कथा देवल देवो', 'कथा कौतूहली', 'कथा सतवंती', 'कथा सीलवंती', 'कथा कुलवंती', 'कथा वलूकिया विरही', 'ग्रंथ बारहमासा', 'सवईया वा भूलवाह कवि जान क्रिते', 'षट् ऋतु बरव', 'षट्ऋतु पवंगम', 'घूँघट नामा', 'सिंगार सत', 'भावसत', 'बिरहसत', 'दरसनामा', 'अलकनामा', 'प्रेमसागर', 'वियोग सागर', 'कंद्रपकलोल', 'भावकलोल', 'मानविनोद', बिरही को मनोरथ', प्रेमनामा', 'रसकोष', 'श्रृंगार तिलक', 'रस तरंगिनी', 'चेतनामा', 'सिषग्रंथ', 'सुधासिष', 'बुद्धिद्वायक', बुधिदीप', 'सतनामा', 'बर्ननामा', 'उत्तम-सबद', 'सिखसागर', 'बदनामा', 'जफरनामा', अनेकार्थ नाममाला', 'बाजनामा', 'कबूतरनामा', 'गूढ़ ग्रंथ', 'दिसावली', 'वैदिक सिषनामा', 'पाहनपरीक्षा'। इनके अतिरिक्त 'बुधसागर' की प्रति कुँवर संग्रामसिंह (नवलगढ़) के पास है तथा 'ग्रंथ बुद्धिसागर' 'अलिफ खाँ की पैडी' तथा 'कायम रासो' नामक ग्रंथों का उल्लेख भी अगरचंद नाहटा जी ने किया है।

जहाँ तक जान कवि द्वारा रचे गए सूफी प्रेमाख्यानों के विषय में कहा जा सकता है, इनमे से प्रमुख पाँच रचनाओं की कथाओं का सारांश निम्न रूप मे दिया जा सकता है तथा इनकी संक्षिप्त आलोचना भी प्रस्तुत की जा सकती है :

(क) कनकावति—भरथ नामक एक राजा था जिसकी राजधानी का नाम भरथनेर था। भरथनेर का नगर चारों ओर से जल से घिरा था। राजा की कई रानियाँ थीं, किंतु किसी की भी कोई संतान नहीं थी। किसी प्रकार एक पुत्र हुआ जो अत्यंत सुंदर था और जिसका नाम परमरूप था। किसी एक रात को परमरूप ने स्वप्न मे एक सुंदरी को देखा जिस कारण वह पागल हो उठा और किसी चित्रकार द्वारा उसके कथनानुसार एक चित्र बनाया गया जिसे देखकर एक विप्र ने बतलाया कि वह चित्र सिधपुरी के राजा की पुत्री कनकावती का है और वह ४०० कोस पर है। विप्र ने यह भी कह दिया कि उस कन्या का विवाह तब तक स्थायी रूप से नहीं हो सकता जब तक जगपतिराम उसके लिये अपनी कोई स्वीकृति न दे दें। परमरूप ने यह सुनकर प्रधान को बुलाया और स्वयं 'जोगी' का वेश धारण कर एक सेना के साथ चल पड़ा। उधर विप्र ने जाकर इस बात की सूचना कनकावती को दे दी और परमरूप ने सौंदर्य का वर्णन करके उसका मन भी उसकी ओर आकृष्ट कर दिया। भरथराम के पहले प्रधान को भेजकर राजसिंह से कनकावती को मँगा लेना चाहा, परंतु वह इस बात पर सहमत नहीं हुआ और दोनों मे युद्ध छिड़ गया। भरथराम हार गया और परमरूप को एक संन्यासी अपने साथ लेकर जंगल की ओर चला गया। राजकुमार के इस प्रकार जीवित रहने का समाचार

देकर विप्र ने इधर भरथराम को और उधर कनकावती को धैर्यपूर्वक रहने के लिये उत्साहित किया ।

फिर विप्र स्वयं परमरूप को ढूँढ़ने निकला और उसे संन्यासी के आश्रम में जाकर पाया। विप्र उस दिन से परमरूप एवं कनकावती के बीच पत्रवाहक का भी काम करने लगा। इस प्रकार उसने दोनों के पारस्परिक प्रेमभाव को जाग्रत रखा। संन्यासी ने भी इसी बीच मे राजकुमार को 'कच्छपनिधि' की विद्या सिखला दी जिसके बल पर वह एक दिन अदृश्य होकर विप्र के साथ सिघनगर पहुँच गया। परंतु कनकावती ने उसे बिना विवाह के स्वीकार नहीं किया, अतएव विप्र को उन दोनों का विवाह भी अनुष्ठित करना पड़ा। एक दिन केलि करते समय परमरूप को भरथनेर का स्मरण हो आया और दोनो प्रेमी बीहड़ यात्रा समाप्त कर वहाँ पहुँच गए। इधर राजसिंघ को अपनी पुत्री के इस प्रकार चले जाने पर बड़ा सोच हुआ और उसने जगपतिराम से ये सारी बातें जना दीं। जगपतिराम क्रुद्ध होकर भरथनेर पर चढ़ आया और उसने उस नगर के आधे भाग को सुरंग से उड़ा दिया। उसके निवासी पानी मे बहने लगे और परमरूप इस प्रकार बहता बहता जगराय के हाथ लग गया। जगराय ने उसे पुत्रवत् पाल रखा। उधर कनकावती भी इसी भाँति जगपतिराय के हाथ लगी जिसने उसे पुत्रीवत् स्वीकार कर लिया, परंतु वह सदा विरह मे तड़पती रही। एक बार संयोगवश जगराय ने जगपति को लिखा कि मेरे पुत्र के साथ तुम अपनी कन्या का विवाह कर दो। अंत मे क्रमशः जगपति एवं जगराय के साथ राजसिंघ और भरथराय भी मिल गए।

इस प्रेमगाथा की रचना जानकवि ने सं० १६७५ मे सम्राट् जहाँगीर के शासन करते समय, केवल तीन दिनों मे ही, समाप्त की थी :

सोलह सै पचहत्तरै, जहाँगीर के राज।
तीन द्योस में जान कबि, यहु साज्यो सब साज ॥

इसके द्वारा इस बात को उसने स्वयं प्रकट किया है तथा उसने यह भी बतलाया है कि इस रचना की भाषा 'ग्वालियरी' है :

भाषा जानो जो सुख आई। ग्वारेरीहू मनसा आई।

किंतु इसके कथानक का उसने कोई मूलाधार नहीं कहा है। इसमे आए हुए पात्रों अथवा स्थलों के नाम भी हमे काल्पनिक ही लगते हैं तथा इसके अंतर्गत कुतूहल एवं चमत्कार के उदाहरण अधिक मिलते हैं। इसकी कहानी विविध विचित्र घटनाओं के कारण, बहुत रोचक भी बन गई है, किंतु इसमे उतने साहित्यिक गुणों की प्रधानता नहीं पाई जाती।

(ख) कामलता—हंसपुरी नगरी में रसाल नामक राजा रहता था जिसके प्रधान का नाम बुधवंत था। एक रात उसने स्वप्न में किसी सुंदरी को अपने साथ मिलते देखा जिस कारण जगने पर वह विरहाकुल हो गया। बुधवंत ने यह देखकर उसके कथनानुसार एक चित्र बनवा दिया जिसे पाकर वह और भी विचलित हो उठा। उस चित्र को मार्ग मे रख दिया गया जिससे उसे देखकर कोई पथिक उसके मूल का कोई परिचय दे सके। एक दिन संयोगवश किसी पथिक ने उस चित्र को देखकर बतलाया कि वह सुंदरपुरी की शासनकर्त्री कामलता की प्रतिकृति है, किंतु वह किसी पुरुष से विवाह नहीं करना चाहती, अपितु वह इस नाम से भी चिढ़ जाया करती है। इसपर बुधवंत एवं रसाल दोनों ही सुंदरपुरी की ओर चले और वहाँ जाकर प्रधान ने राजा का एक चित्र किसी चित्रकार से बनवाकर कामलता के पास किसी प्रकार पहुँचवा दिया जिसे देखकर वह तत्क्षण मोहित हो गई। उसने तब रसाल को बुला भेजा और फिर क्रमशः प्रयत्न करने पर दोनों प्रेमियों का विवाह संबंध भी हो गया।

इस प्रेमगाथा की रचना, 'कनकावति' से तीन वर्ष पीछे हुई और इसके संबंध मे भी जान ने बतलाया :

सोलह सै अठहत्तरे, कथा कथी कविजान।
षोर विषोरहु भूलिजिन, अनवन बाँचहु वान॥

इस पद्य की दूसरी पंक्ति का अभिप्राय पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता और इसके लिये कोई पाठांतर भी अपेक्षित हो सकता है। यह रचना आकार की दृष्टि से बहुत छोटी सी है और इसके पीछे भी स्वप्नदर्शन एवं चित्रदर्शन का महत्व काम करता दीख पड़ता है। इसमें कनकावति के जैसा घटनाओं का बाहुल्य नहीं है और न इसी कारण यहाँ पर किन्हीं विशिष्ट पात्रों की ही भरमार दीख पड़ती है। इसकी एक प्रमुख विशेषता इस बात मे लक्षित होती है कि इसकी नायिका कामलता किसी कारण पहले पुरुष मात्र से घृणा करती पाई जाती है, किंतु वह फिर एक पर आसक्त भी हो जाती है।

(ग) मधुकर मालति—अयोध्या नामक नगर में एक सौदागर था जिसका नाम रतन था। उसके पुत्र का नाम मधुकर था। वह अपने गुरु के पास नित्य पढ़ा लिखा करता था। एक दिन उसकी दृष्टि, चटसार मे पढ़ने जाती हुई लड़कियों मे से, एक पर पड़ गई जो परम सुंदरी थी और जिसका नाम मालती था। दोनों एक दूसरे को देखकर मोहित हो गए। मधुकर ने घर लौटने पर अपने पिता रतन से कहा कि गुरु के यहाँ अकेले पढ़ने मे मेरा जी नहीं लगता। मुझे चटसार भेज दो। इस प्रकार वे दोनों प्रेमी एक साथ हो गए। उधर मालती

की मौनावस्था को देखकर उसके पिता ने उसे घर पर ही पढ़ाना उचित समझा और इसके लिये उसने चटसारवाले गुरु से कोई अध्यापक माँगा। गुरु ने इस मधुकर को योग्य समझकर इसे ही वहाँ के लिये नियुक्त करा दिया। इधर मधुकर के पिता को उन दोनों के प्रेम का पता चल गया और उसने उसे अपने साथ बाहर ले जाने का विचार किया तथा, उसके ऐसा करने पर इन दोनों का बिछोह हो गया और मधुकर विरह के कारण दुखी रहने लगा। मालती को भी 'विलाइत' के किसी बादशाह ने एक सहस्र मुद्रा देकर उसे चेरी के रूप मे खरीद लिया और वह उसे अपने साथ रखने लगा। परतु मालती फिर उसके यहाँ से वजीर के पास चली गई और वहाँ पर भी वह किसी विरहिणी की ही भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगी। उधर मधुकर का पिता काल पाकर विदेश मे ही मर गया और वह अपनी माता के यहाँ लौट आया जहाँ पर, गुरु द्वारा मालती के बिक जाने का हाल सुनकर वह, उसे ढूँढने निकला और उस तक पहुँच गया। यहाँ पर उसे पता चला कि वजीर की उक्त चेरी उसके यहाँ नहीं रहना चाहती जिस कारण वह उसे मार डालना चाहता है। संयोगवश अभी तक वह मारी नहीं जा सकी थी और बादशाह ने उसे अपने यहाँ बुला लिया था। परंतु, जब वह यहाँ पर भी रहने से इनकार करने लगी तथा उसने अनेक प्रलोभनों को ठुकरा दिया तो बादशाह ने भी उसे मरवा डालना ही चाहा तथा अंत मे ऐसा न कर सकने पर उसने इसे तुर्किस्तान के छत्रपति के हाथ बेच दिया जो उसे लेकर अपने देश चला गया। उसके साथ किसी प्रकार मधुकर भी हो लिया।

छत्रपति ने मालती को अपनी पुत्री की चेरी के रूप मे नियुक्त कर दिया जहाँ पर उसका दामाद इसके ऊपर आसक्त हो गया। उसने इसके स्वीकार न करने पर इसे पानी मे डुबो दिया, किंतु उस संदूक को, जिसमे इसे रखा गया था, किसी 'अरमनी' ने पानी से निकाल लिया। वह इसे अपने साथ नाव द्वारा ले चला, किंतु, जब उसने इसका आलिंगन करना चाहा तो, इसने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। इसपर मधुकर ने, जो सदा उसके साथ रहा करता था, उसे वचन दिया कि मैं इसे समझा बुझाकर ठीक कर दूँगा। मैं इसकी भाषा भी जानता हूँ। इसी बीच नाव तब तक 'सतान' तक पहुँच गई जहाँ के बादशाह ने अपने प्रधान को 'अरमनी' की नाव का सारा सामान क्रय करने के लिये भेजा। प्रधान यहाँ पर मालती को देखकर मुग्ध हो गया और इसकी स्वीकृति न पाकर, दंड देने पर तैयार हो गया। यह सुनकर बादशाह ने, इसे स्वयं अपने यहाँ बुला लिया और इसे पाँच रत्न देकर खरीद भी लिया। परंतु, जब वह यहाँ पर भी नहीं रह सकी तो, उसने 'अरमनी' को इसे लौटा दिया तथा, ऐसा करते समय, उसके आदमियों ने भूल से इसे मधुकर के ही सपुर्द कर दिया और उसके पास उक्त पाँच रत्नों को न पाकर उसे 'भाकसी'

मे डाल दिया। भाकसी में रहते समय मधुकर का एक माँझी मित्र उसे चोरी चोरी नित्य एक मछली खाने के लिये दे जाया करता था। एक दिन संयोगवश उसे, किसी ऐसी मछली के ही पेट से, वे पाँचो रत्न मिल गए जिन्हे कहीं पानी में फेंक दिया गया था। अतएव, उन्हें लौटाकर वह मालती को ले आया। परंतु जब ये दोनों प्रेमी नाव मे बैठे और भाग निकले कि मार्ग मे ही इनकी नाव फट गई और दोनों पृथक् पृथक् हो गए। मालती वहाँ जाकर लगी जहाँ के बादशाह ने उसे अपने दस सेवकों के साथ उसे अपने देश भेज देना चाहा। परंतु कुछ लोगों ने उनसे इसे छीन लिया तथा अप्सराओं को इसे दे दिया जिनके बादशाह ने भी इसे अपने यहाँ रखना चाहा और इसके न मानने पर इसे उन्हें लौटा दिया। तत्पश्चात् उन सेवकों ने इसे 'अवध' के मार्ग पर लाकर छोड़ दिया जहाँ से घूमती फिरती हुई वह बगदाद नगर तक आ गई। उधर मधुकर भी बहकर किसी नाव मे पहुँच गया जहाँ से एक 'जंगी' ने उसे भी बगदाद तक पहुँचा दिया जहाँ पर ये दोनों ही किसी सराय मे, रात के समय अनजान मे एक साथ, सोए रहे। ये दोनों एक साथ लेटने पर भी, एक दूसरे को अँधेरे मे पहचान न सके प्रत्युत बराबर विरह द्वारा पीड़ित ही बने रहे। दूसरे दिन जब वे क्रमशः बाहर निकले तब वहाँ के पौरिए उनपर संदेह करके उन्हे अपने बादशाह हारूँ रशीद के पास पकड़ ले गए। तत्पश्चात् ये दोनों ही पृथक् पृथक् बंदी बनाए गए और इस प्रकार, जब उन दोनों के पारस्परिक प्रेम का पता बादशाह को चला तो, उसने इनकी परीक्षा लेकर इनका विवाह भी करा दिया। इस प्रकार दोनो ही आपस मे मिलकर आनंदित हुए और फिर बादशाह ने इन दोनों को इनके देश अयोध्या तक भी पहुँचवा दिया।

'मधुकर मालति' वाली इस प्रेमगाथा के साथ कुछ नामसाम्य होने के कारण कवि मंझन की 'मधुमालती' का भी यहाँ पर स्मरण आ सकता है, परंतु इन दोनों के कथानकों मे बहुत बड़ी असमानता है जिससे इसके साथ उसके किसी संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती। जान कवि की इस रचनावाले कथानक का पता चतुर्भुजदास कायस्थ की प्रेमकथा 'मधुमालती' मे चलता है जिसका निर्माण इसके पहले हो चुका था। 'मधुकर मालती' के रचनाकाल की चर्चा करते समय कवि जान ने बतलाया है कि उसने इसे 'ज्ञान' एवं 'विवेक' के साथ सं० १६६१ की फागुन वदी १ को लिखा था :

> सोरह सै इक्यानबौ, ही फागुन बदि एक।
> जानि कवि कीनी कथा, करिकै ग्यान विवेक ॥

परंतु चतुर्भुजदास कायस्थ की उपर्युक्त रचना का संभवतः मंझन कवि की

'मधुमालती' से भी पहले प्रस्तुत किया जाना सिद्ध किया जा सकता है।[1] चतुर्भुजदास कायस्थ की 'मधुमालती' की भी नायिका मालती पहले किसी चटसार मे पढ़ती हुई दिखलाई गई है, यद्यपि वह वहाँ पर उसके नायक मनोहर के साथ ही पढ़ना लिखना सीखती है और वहाँ पर इसे मनोहर के द्वारा उसके पढ़ाए जाने का कोई प्रसंग नहीं आता। इसका प्रेम वहाँ कदाचित् मजनूँ (कैस) एवं लैला की जैसी परिस्थिति मे जाग्रत होता है जहाँ मंझन की मालती की दशा इससे नितांत भिन्न है। परंतु चतुर्भुजदास कायस्थ की 'मधुमालती' की रचना का अनुसरण यहाँ 'मधुकरमालति' मे पूरा पूरा नहीं किया गया है और यह उससे भी कुछ भिन्न है। यहाँ पर कथानकवाली घटनाओं को अधिक विस्तार देते समय अनेक ऐसी पेचीदगियाँ लादी गई हैं जिनके कारण पाठक के हृदय मे, उसके नायक नायिकाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करते समय अनेक प्रकार के भाव उठने लगते हैं और वह मालती की दृढ़ता से अत्यंत प्रभावित भी हो जाता है। बगदाद की सराय मे दोनों प्रेमियों के एक ही साथ लेटे रहने पर भी, अँधेरे के कारण, एक दूसरे को न देख पाना तथा इस प्रकार अत्यंत निकट रहते हुए भी एक का दूसरे को अपने से वियुक्त समझकर विरहाकुल बने रहना एक ऐसी घटना का चित्रण है जिसकी व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार भी की जा सकती है जिसकी ओर एक संकेत जायसी द्वारा अपनी पंक्ति 'पिउ हिरदै मँह भेंट न होई, कोरे मिलाव कहो कि होई' के माध्यम से किया गया है तथा जिसके महत्व का उल्लेख अनेक बार अन्य सूफी कवियों ने भी समय समय पर किया है। इस प्रेमाख्यानवाले कथानक का मूलस्रोत काल्पनिक हो सकता है, किंतु इसमे संदेह नहीं कि, इसकी कोई परंपरा बहुत कुछ पुरानी भी रही होगी और जान कवि ने उसका न्यूनाधिक सहारा लेते हुए भी, अपनी ओर से इसके साथ कुछ न कुछ अवश्य जोड़ दिया होगा। जहाँ तक चरित्रचित्रण के विषय में कहा जा सकता है, इसके रचयिता ने नायक एवं नायिका के पिता, स्वयं इन दोनों तथा हारूँरशीद बादशाह जैसे कुछ पात्रों का परिचय बड़ी सजगता के साथ कराया है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन दासप्रथा के दुष्परिणाम तथा उन दिनों के विविध शासकों, वजीरों एवं साधारण लोगों का भी चित्रण उपयुक्त है। इस प्रेमगाथा की भाषा में वैसी कोई विशेषता नहीं है और यह भी जान कवि की अपनी रचनाशैली का ही एक उदाहरण प्रस्तुत करती है।

(घ) रतनावति—जान कवि ने अपनी प्रेमगाथा 'रतनावति' की भी

[1] हिं० सू० प्रे०, पृ० ७२

रचना संभवतः 'मधुकर मालति' से कुछ पहले ही कर दी थी क्योंकि उनका कहना है :

> सोरह से ईकानवे बरष। रतनावति बाँची मैं हरष।
> अगहन बदि सातैं कह जान। कथा संपूरन करी बषान॥
> कथा पुरातन कीनी नई। नौ दिन में संपूरन भई॥
> सन् सहस चार चालोस। जानि बषानी बीसवा बीस॥

इसका अभिप्राय यह है कि मैंने पुरानी कथा को नया रूप देकर अगहन वदी ७ सं० १६९१ (हि० सन् १०४४) को ९ दिनों में समाप्त किया। उन्होंने यह भी बतलाया है कि 'साहिजहाँ है जगपति नाहि' जिससे उस समय बादशाह शाहजहाँ का शाहेवक्त होना सिद्ध होता है। इसकी रचनाशैली भी अन्य अनेक उनकी प्रेमगाथाओं की ही जैसी है, किंतु उसका स्तर यथेष्ट ऊँचा नहीं ठहराया जा सकता। कथानक इस प्रकार है :

जगतराइ एक राजा था जो बड़ा प्रतापी था, किंतु उसे कोई संतान नहीं थी। वृद्धावस्था में उसने ज्योतिषी के परामर्श से एक विवाह किया जिसके द्वारा उसकी पत्नी से एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'मोहन' रखा गया। प्रायः उसी समय उसके मंत्री जगजीवन को भी एक पुत्र हुआ जिसे 'उत्तिम' नाम दिया गया। इस प्रकार ये दोनों ही परस्पर समवयस्क रहे। एक दिन राजा ने मोहन के चौदहवें वर्ष में उसे एक 'जामा' तथा एक 'मुद्रिका' प्रदान की तथा उन दोनों के गुण भी उसे बतला दिए। मोहन को किसी दिन, उक्त जामे पर अंकित कोई चित्र दीख पड़ा जो 'फुलवारी नगर' के राजा सूरज की पुत्री रतनावती का था और उसे देखते ही वह राजकुमार उसपर आसक्त हो गया। मोहन को इस प्रकार प्रभावित पाकर सूरजराय ने चारों ओर चित्रकार भेजकर अनेक सुंदर सुंदर चित्र मँगवाए, किंतु उनमें उक्त रतनावती का कोई भी नहीं ठहरा और न उसका कहीं कोई पता ही चल सका जिस कारण उससे बिदा ले मोहन स्वयं उसकी खोज में निकला।

मोहन सर्वप्रथम चीन देश पहुँचा जहाँ से कुछ परामर्श लेकर वह फिर चित्रपुरी गया, किंतु वहाँ भी किसी ने कोई पता नहीं दिया। तत्पश्चात् किसी वृद्ध चित्रकार के कहने पर वह जहाज पर बैठकर रूपनगर की ओर चला तथा मार्ग में उसका सभी से विछोह हो गया। मोहन संयोगवश फिर सात भूपालों के साथ किसी 'जोगी' के हाथ में पड़ गया जो उसे अपने घर ले गया जहाँ 'जोगिन' उसपर रीझ गई। किंतु वहाँ से किसी प्रकार भागकर, ये आठो ही साथी निकल गए और इनमें से पाँच को एक मगर निगल गया। मोहन की फिर प्रेत, पंछी, अप्सरा, दानव, दानवी आदि से भी क्रमशः भेंट होती गई तथा उसे कोई घोड़ा भी मिला। उसे प्रसिद्ध ख्वाजा खिज्र से भी कुछ सहायता मिली। उसने इसके अनंतर अनेक

प्रकार के कौतुक देखे और फिर किसी पद्मिनी के द्वारा उसे रतनावती का पता चल सका। उस पद्मिनी को मोहन ने किन्हीं अप्सराओं को नष्ट करके एवं एक सिंह तथा हाथी को भी मारकर मुक्त किया और इस प्रकार उसे साथ लेकर वह सिंहल द्वीप आया।

सिंहल में संयोगवश मोहन को उसका बिछुड़ा हुआ मित्र उत्तिम मिल गया और उसे रतनावती के भी दर्शन प्राप्त हो गए। वहाँ पर उसे रतनावती ने बतलाया कि मैं फुलवारी नगर के अधिपति 'रविराजा' की पुत्री हूँ जहाँ केवल अप्सराएँ ही रहती हैं और वहाँ पर मानव का प्रवेश नहीं। रतनावती इतनी सूचना देकर फुलवारी नगर चली गई और इधर मोहन को एक देव रूपपुरी की 'रूपरंभा' के यहाँ उड़ा ले गया। इस प्रकार यह रूपरंभा ही उसे फुलवारी नगर ले गई तथा वहाँ पर रतनावती के माता पिता को उसने बहुत समझाया। परंतु मोहन को एक दानव फिर वहाँ से तब तक उठा ले गया जिसे जीतकर ही रतनावती के पिता उसे अपने घर वापस ला सके। यहाँ पर उन्होंने फिर मोहन एवं रतनावती का विवाह कर दिया और तदनंतर ये दोनों पद्मिनी के यहाँ सिंहलद्वीप आ गए। मोहन एवं रतनावती ने यहाँ रहते समय केलि की तथा यहीं पर पद्मिनी के साथ उत्तिम का विवाह भी संपन्न हो गया। अंत में वहाँ से चलकर, मार्ग में 'जोगिनी' को भी लेता हुआ तथा चीन होकर मोहन सबके साथ अपने घर वापस आ गया जहाँ उसके माता पिता से भी भेंट हो सकी।

(ङ) जान कवि की एक पाँचवी प्रेमगाथा 'छीता' का कथानक इससे कुछ अधिक स्पष्ट और स्वाभाविक जान पड़ता है। उसका सारांश इस प्रकार है :

राजा देव उस नगर के राजा थे जिसका द्वापरवाला 'देवगिरि' नाम कलियुग में आकर 'दौलताबाद' हो गया। राजा को कोई संतान नहीं थी। उसे बहुत दिनों पर कोई कन्या हुई जिसका नाम 'छीता' रखा गया तथा जिसके सौंदर्य की प्रशंसा चारों ओर फैलती चली गई। कोई एक राजा 'राम' नाम के थे जो किसी पश्चिम देश के निवासी थे और जिन्हें छीता की चर्चा सुनकर उसे देखने की अभिलाषा हुई। इसलिये वे धोती, 'धागा' आदि धारण करके तथा तिलक लगाकर विप्र के वेश में, देवगिरि पहुँच गए। यहाँ पर वे राजा देव के पुरोहित के यहाँ रहने लगे जिसने किसी दिन इन्हें पहचान लिया और इन्हें अपनी सहायता प्रदान करने का भी वचन दिया। फिर छीता जब किसी दिन पूजा करने निकली तो राजा राम ने उसे देख लिया और यह उससे अत्यंत प्रभावित हो गया। तत्पश्चात् इन्होंने अपना समाचार अपनी राजधानी को भेज दिया और वहाँ से अपने आदमियों को पूरी सजधज के साथ बुला लिया। जब वे सभी आ गए तो

इन्होंने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया जिसपर राजा देव की ओर से इनका पूरा स्वागत सत्कार हुआ। राजा राम ने तब राजादेव से अपनी अभिलाषा प्रकट कर दी जिसे उनके स्वीकार कर लेने पर तीन साल के लिये 'सादी' या सगाई भी कर दी गई। राजा राम तदनंतर अपने यहाँ लौट गए, किंतु उन तीन वर्षों को उन्होंने नौ लाख युग के समान बिताया।

राजा देव की इधर ऐसी इच्छा हुई कि मैं कोई एक सुंदर चित्रित महल निर्मित कराऊँ और उसमें अपनी पुत्री तथा जामाता के रहने का प्रबंध करूँ, जिसके लिये उसने अच्छे अच्छे चित्रकार बुलाने के उद्देश्य से कोई आदमी बादशाह अल्लाउद्दीन के पास दिल्ली भेजा। वहाँ से चित्रकारों के आ जाने पर उनसे उक्त महल बनवाया और उनमे से किसी ने छीता का सौंदर्य देखकर इसका एक पृथक् चित्र भी तैयार कर लिया तथा उसने उसे दिल्ली वापस जाने पर बादशाह अला-उद्दीन को भेंट कर दिया जिसे देखकर वह अत्यंत प्रभावित हुआ। फलतः, छीता को हस्तगत करने के लिये, उसने राजा देव के गढ़ को घेर लिया और दोनो ओर से युद्ध छिड गया। गढ़ के टूट न सकने पर उसने, राघव चेतन के परामर्शानुसार, अपने किसी वसीठ के चाकर के वेश मे, गढ़, के भीतर प्रवेश पा लिया तथा वहाँ पहुँचकर वह विविध प्रयत्न करने लगा। तदनुसार, छीता जब, उसके उद्यान मे पूजा करने आई, उसने, पक्षियों पर गुलेल फेंकते समय, बादशाह को पहचान लिया तथा उसने उसे पकड़वा मँगाया और समझा बुझाकर फिर उसे दिल्ली वापस जाने के लिये कहा और वह लौटने भी लगा। परंतु राजा देव ने इधर उसके कुछ आदमियों को बुलवा लेना चाहा जिसपर क्रुद्ध होकर उसने फिर अपने गढ़ को घेर लिया। उसने इस बार गढ़ के भीतर सुरंग लगा दी जिससे होकर अपना कोई आदमी उद्यान मे जा सके। तदनुसार कोई वहाँ जाकर संन्यासी के वेश मे रहने लगा और इस प्रकार उसने किसी दिन छीता को छलपूर्वक भ्रम मे डालकर उसे दिल्ली पहुँचवा दिया। बादशाह ने वहाँ पर छीता को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रयत्न किए, किंतु वह बराबर उदास बनी रही जिसपर उसने राजा के यहाँ अपनी सगाई का प्रस्ताव भेजा। राजादेव ने इन सारी बातों का समाचार अपने जामाता राजा राम के यहाँ भेज दिया जिसने, ऐसी सूचना पाते ही, जोगी का वेश धारण कर दिल्ली के लिये प्रस्थान किया। बादशाह अलाउद्दीन को जब ऐसे जोगी का पता चला, उसने इन्हे अपने यहाँ बुला भेजा जहाँ इन्होने बीन बजाई जिसे सुनते ही, वहाँ पर छीता की आँखो से आँसू गिरने लगे जिससे इनके अंग पर लगा भस्म धुलने लगा। इसका प्रभाव बादशाह के ऊपर इतना पडा कि उसने छीता को अपनी पुत्रीवत मानकर उसे राजा राम को दे डाला तथा इन दोनो का विवाह भी करा दिया।

जान कवि की इस रचना के अंतर्गत बादशाह अल्लाउद्दीन, राजा राम आदि

जैसे कुछ पात्रों की चर्चा के आ जाने पर, यह प्रत्यक्षतः किसी मूल ऐतिहासिक घटना पर आधारित समझ पड़ती है और इसे तदनुसार एक ऐतिहासिक प्रेमाख्यान मान लेने की प्रवृत्ति भी होती है। इसके सिवाय जायसी की प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' (प्रकरण ४६२) में, जो कथन उक्त बादशाह द्वारा राजा रतन के यहाँ भेजे गए 'सरजा' की ओर से किया गया है उसमे भी किसी ऐसे ही प्रसंग की चर्चा आई है[1] जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसका उल्लेख, प्रायः जान कवि के पहले रची गई कृतियों मे भी किया जाता रहा होगा। इसी प्रकार, किसी नारायणदास कवि द्वारा रचित 'छिताई वार्ता' से तो यहाँ तक प्रतीत होता है कि उसका निर्माणकाल उक्त 'पद्मावत' से पहले का ठहराया जा सके तो,[2] इस विषय को लेकर कुछ न कुछ रचनाएँ कदाचित् बहुत पहले से भी, प्रस्तुत की जाती रही होंगी, तथा यह भी संभव है कि उनमे से ही किसी का जान ने अनुसरण भी किया होगा।

परंतु, इसी प्रकार दूसरी ओर स्वयं 'छिताई वार्ता' के रचयिता ने भी उसके एक स्थल (पद्य सं० ३२१) पर सुलतान अलाउद्दीन द्वारा कहलाया है कि 'मैंने पद्मिनी का पता पाकर चितौर पर धावा किया था और वहाँ से राजा रतनसेन को बाँध लाया था जिसे 'बादल' छुड़ा ले गया',[3] जिससे हमें यह भी संभव समझ पड़ता है कि यह कथा, उक्त दोनों कवियों के कुछ पहले से ही चली आ रही होगी। जहाँ तक इसके 'छीता' के अंतर्गत उपलब्ध रूप की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, ऐसा हो सकता है कि, उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन ला दिया गया हो। उदाहरण के लिये, कहते हैं, मलिक इसामी नामक एक अलाउद्दीन के समसामयिक इतिहासकार के अनुसार, देवगिरि के राजा 'रामदेव' ने अपनी कोई लड़की उक्त सुलतान को दी थी जो उसके यहाँ उसकी बेगम के रूप मे रही और इससे उत्पन्न पुत्र शहाबुद्दीन उमर उसका उत्तराधिकारी भी बना था। किंतु इस प्रकार की बातें, प्रस्तुत प्रेमाख्यान वाले कथानक के सर्वथा प्रतिकूल जाती हैं। यहाँ पर तो सुलतान के साथ छीता का विवाह तक भी संपन्न होता नहीं दीख पड़ता और न वह किसी अन्य प्रकार से भी

[1] 'पद्मावत', झाँसी संस्करण पृ० ५११।

[2] के० छि० वा० 'प्रस्तावना' पृ० ११ जहाँ पर उसके सं० १५८३ की आषाढ शुक्ल के दिन आरंभ किए जाने के संबंध में, उसकी किसी मूल हस्तलिखित प्रति से कतिपय पंक्तियाँ उधृत करते हुए, इस बात की ओर संकेत किया गया है।

[3] 'यौं बोलै ढिल्ली कौ धनी मैं चीतौर सुनी पद्मिनी।
बाध्यौ रतनसेन मैं जाइ। लै गौ बादिलु याहि छिड़ाइ। (प० ४६)।

[4] 'साहि अलाउद्दीन इंव भनी। आ बेटी सम करि मइँ गिनी (पृ० १२६)।

उसकी बेगम ठहराई जाने की दशा में आती जान पड़ती है। इस प्रसंग में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जिस ऐतिहासिक सुलतान की धारणा हमें उक्त 'पद्मावत' के आधार पर बनी रहा करती है उससे नितांत भिन्न हम यहाँ इस 'छीता' वाले बादशाह के विषय में बनाने की स्थिति में आ जाते हैं। साधारण इतिहास अथवा उक्त 'पद्मावत' का भी अलाउद्दीन हमें ऐसा लगता है जैसे वह कोई सौंदर्यलोलुप, कामी एवं क्रूर पुरुष रहा होगा किंतु, जब हम यहाँ उसे अपनी अभीष्ट छीता को पाकर फिर इसे इसके प्रेमी राजाराम के हवाले अपनी पुत्रीवत् कर देते तथा इन दोनों का विवाह तक भी करा देते देखते हैं तो, हम इसके पूर्वपरिचित स्वभाव में लक्षित होनेवाले विचित्र परिवर्तन पर दंग रह जाते हैं। निश्चय ही इस प्रकार की नवीनता किसी कविकल्पना के आधार पर लाई गई होगी और वह भी एक प्रेमाख्यान की रचना की दृष्टि से किया गया होगा। जान कवि से पहले 'छिताईवार्ता' के रचयिता कवि नारायणदास ने अलाउद्दीन के द्वारा उस काव्य के प्रेमी नायक के प्रति केवल इतना ही कहलाया था 'इस छिताई को मैंने अपनी बेटी के समान गिना है' तथा इसे उसे समर्पित करा दिया था। जान कवि इस बात को अपनी रचना 'छीता' के अंतर्गत, और भी स्पष्ट कर दिखलाता है जिस कारण यह उसका ऋणी भी बन जाता है। वास्तव में 'छीता' का अधिकांश हमे 'छिताईवार्ता' पर ही आश्रित जान पड़ता है और इन दोनों में जो कोई उल्लेखनीय अंतर दीख पड़ता है वह केवल कतिपय नामों एवं विवरणों से ही संबंध रखता है जिन्हें उतना महत्व नहीं दिया जा सकता।

जान कवि की अन्य इस प्रकार की प्रेमगाथाओं में से 'पुहुपबारिया' की रचना बादशाह शाहजहाँ के शासनकाल में हुई थी। उसका कथानक मंझन कवि की प्रेमगाथा 'मधुमालति' वाली प्रेम कहानी के साथ बहुत साम्य रखता है। यहाँ पर भी इसकी नायिका सुकेशी की माँ अपनी पुत्री को प्रायः उसी प्रकार पक्षी के रूप मे परिणत कर देती दीख पड़ती है जिस प्रकार उक्त रचनावाली नायिका मालती की माँ ने उसे किया था। इसके सिवाय उस प्रेमगाथा वाले नायक मनोहर को वहाँ पर प्रेमी का साक्षात्कार जिस प्रकार हुआ था लगभग उसी प्रकार से यहाँ पर भी इसके राजकुमार की भेंट निरमल दे के साथ हो जाती जान पड़ती है और यहाँ पर भी एक से अधिक प्रेमियों के विवाह का अनुष्ठान प्रायः एक ही संयोग से संपन्न होता है। इन दोनों में एक विशेष अंतर यह है कि यहाँ पर किसी एक कथा को दूसरी की अंतर्कथा बना डालने का उपक्रम भी किया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस कवि की एक अन्य रचना 'कथा खिजर खाँ साहिजादे व देवल दे की चौपई' का निर्माण प्रसिद्ध सूफी कवि अमीर खुसरो की फारसी मसनवी के आधार पर किया है जिस की आधारभूत प्रेम कहानी के ऐतिहासिक लगने पर भी उसका अधिकतर

काल्पनिक होना ही बतलाया जाता है। जान कवि ने यहाँ पर सुल्तान अलाउद्दीन को अत्यंत प्रतापी रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक कथा नल दमयंती के आधार पर तथा, इसी प्रकार शामी प्रेम-गाथा लैला मजनूँ का भी आश्रय ग्रहण कर अपनी दो प्रेमकहानियों की रचना कर डाली है। कवि का कहना है कि नलदमयंती की कहानी को मैंने अनेक स्थलों पर वर्णित पाया है और वे सभी भिन्न प्रकार से कही गई जान पड़ती हैं। किंतु इसने न तो इस बात के लिये कोई स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया है और न उसकी कोई आलोचना ही की है। इस रचना द्वारा कवि के किसी सूफीमत विषयक विचार-धारा का कोई उदाहरण भी नहीं पाया जाता। इसी प्रकार कथा लैलामजनूँ भी हमें केवल किसी विशुद्ध प्रेमाख्यान सी ही जँचती है और इसमे भी कहीं किसी वैसी बात की विशेषता नहीं पाई जाती जो सूफी प्रेमाख्यानों में दीख पड़ती है। जान की एक अन्य रचना कथा रूपमंजरी, इसके लिये इन दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। इसके नाम को पढ़कर तो सहसा भक्त नंददास की प्रसिद्ध कथा 'रूपमंजरी' का स्मरण हो आता है, किंतु इन दोनों की कथावस्तुओं मे कोई साम्य नहीं पाया जाता। यहाँ पर गुरु की महिमा का वर्णन कुछ विशेष मनोयोगपूर्वक किया गया दीख पड़ता है और 'पैमुगाँठि' (प्रेमग्रंथि) का उसी के द्वारा दिया जाना भी कहा गया है। इसका कोई रचनाकाल नहीं दिया गया है, प्रत्युत इसे कभी केवल 'तीन ही जाम' के भीतर प्रस्तुत कर दिया जाना भी बतलाया गया है। इस कवि की 'कथामोहिनी' नामक रचना का उल्लेख यहाँ पर विशेष रूप किया जा सकता है जिसके अंतर्गत एक विशिष्ट रचनाशैली द्वारा काम लिया गया है तथा परमात्मा को ही परम प्रेयसी के रूप में चित्रित करके उसे सबके लिये अभीष्ट सिद्ध कर देने की चेष्टा की गई है। इस रचना की नायिका मोहिनी सभी प्रेमियों से कुछ पहेलियों के उत्तर जानना चाहती है जिसमे केवल मोहन सफल हो पाता है। फिर भी यहाँ पर सूफीमत संबंधी विशिष्ट बातों के विषय मे यथेष्ट कथन किया गया नहीं दीख पड़ता और न इस ओर अधिक बल दिया गया जान पड़ता है। परमात्मा को किसी परम सुंदरी प्रेयसी से रूप में चित्रित कर देना तथा उसकी रहस्यरचना की ओर संकेत कर देना मात्र ही इसका लक्ष्य समझ पड़ता है। जान कवि की अन्य ऐसी प्रेम गाथाओं मे भी जिनमें से साधारणतः 'रतनमंजरी', 'कवलावती', 'कथा कलावती, आदि के नाम लिए जा सकते हैं, हमें कोई नवीनता नहीं दीख पड़ती और न वहाँ पर सूफी रचना शैली की कोई ऐसी विशेषता ही लक्षित होती है जो उल्लेखनीय कहलाने योग्य हो। वास्तव में इनकी अधिकाश रचनाओं पर हमे विशुद्ध प्रेमगाथा अथवा सतरक्षा विषयक आख्यानोंवाली शैली की ही छाप दृष्टिगोचर होती है।

इस कवि की रचनाओं के अंतर्गत हमे शृंगार रस की प्रधानता स्वभावतः दीख पड़ती है किंतु यत्रतत्र हास्य एवं वीर रस के भी उदाहरण मिल जाते हैं तथा शृंगार रसवाले विप्रलंभ रूप का चित्रण यहाँ पर अधिक विस्तृत एवं मार्मिक भी हो गया सा लगता है। संयोग पक्ष वाले वर्णन यहाँ पर विशेष आकर्षक नहीं बन पाए हैं क्योंकि यहाँ उन्हे यथेष्ट विस्तार नहीं दिया गया है। सुखानुभूति की भावात्मक व्यंजना का यहाँ प्रायः अभाव सा दीख पड़ता है जिस कारण यह स्वाभाविक भी हो जाता है। इस कवि की एक विशेषता इसकी रचनाओंवाली पंक्तियों की द्रुतगामिता में देखी जा सकती है जहाँ पर जान पड़ता है कि उनमे से प्रत्येक आपसे आप बनती जा रही है। इस प्रकार कवि हमे अपने आशुकवित्व का भी परिचय दे देता है जिसके कारण उसे कहीं सोचने का विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता है। इस कवि की अधिकांश रचनाओं के कथानकों की रूपरेखा हमे इसके केवल संकेत मात्र से ही आती चली जाती है और फिर भी हमे केवल साधारण तुकबंदियों का ही परिचय नहीं मिलता प्रत्युत यहाँ पर अनेक ऐसी पंक्तियाँ भी आ जाती हैं जिनके आधार पर कभी कभी अन्य पूरी रचना को किसी प्रौढ़ सुंदर काव्य का उदाहरण ठहरा देना भी हमे अनुचित नहीं प्रतीत होता। जान कवि ने अपने पात्रों के चरित्रचित्रण एवं घटनाप्रकार के आयोजन मे भी अपने काव्यकौशल का अच्छा परिचय दिया है। हाँ, इस कवि को अपनी रचनाओं के अंतर्गत कहीं कहीं शीघ्रता के कारण कतिपय घटनाओं को संकुचित भी कर देना पड़ा है जिससे कुछ दोष आ जाता है तथा जहाँ कहीं उसमें अपना हस्तलाघव प्रदर्शित करते समय यथोचित गंभीरता को प्रश्रय नहीं दे पाया है वहाँ पर हमे कुछ हलकापन आ गया भी जान पड़ता है जो इसकी कई विशेषताओं को भी यथेष्ट महत्व प्रदान करने मे कभी कभी बाधा उपस्थित कर देता है। प्रेमतत्ववाले गंभीर भावों की व्यंजना मे इस प्रकार के अभाव का खटकना अत्यंत स्वाभाविक है। परंतु हमे ऐसा लगता है कि परम रसिक एवं मनमौजी जान कवि को इस तथ्य की ओर समुचित ध्यान देने की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती।[1]

जान कवि की भाषा के संबंध मे यह कहा जा सकता है कि वह सामान्यतः व्रजभाषा द्वारा अधिक प्रभावित है। इस कवि का भाषा के विषय मे अपना एक निश्चित दृष्टिकोण जान पड़ता है। उसका विचार है कि किसी काव्यरचना की भाषा वैसी ही होनी चाहिए जो स्वभावतः सरल हो तथा जो बोली एवं पढ़ी जाती हो।

१ दे० सु० का० सं० पृ० १५१–२।

'सफल' काव्य के लिये साहित्यिक भाषा का प्रयोग आवश्यक नहीं है, प्रत्युत उसके लिये उक्ति प्रधान का होना अधिक ठीक होगा। साधारण बोली मे जो कोमलता एवं माधुर्य रहा करता है वह कभी किसी संस्कृत मिश्रित भाषा मे नहीं पाया जाता। अतएव, बोलचाल की ही भाषा अधिक उचित ठहरती है—

मुष आनी जो जिय में आई। भाषा जी आई सो आनी॥
रहलो बागर भाउ, किय भाषा भावै भली।
पै दिन ढिग ज्यों साँझ, तैसी भाषा उकति ढिग॥
उकति भली भाषा में आवै, तो यह सोना सुगंध कहावै।
उकति बिसेष साँचु कै जानहु, भाषा जो आवै सो मानहु॥
× × × ×
संसक्रित ग्वाररे मिलायौ, गद्य मिलाय कै साज बजावै।
यह कँवल बामै कठिनाई, ताते कहियहु जुगति जताई॥
—कथा कँवलावती

इस कवि की रचनाओं के अंतर्गत हमे लोकजीवन के तत्वों के भी दर्शन कम नहीं होते। उसने यहाँ पर यथास्थल कुछ ऐसे विवरणों को भी स्थान दिया है जो किसी व्यक्ति के जन्म से लेकर उसके मरण तक वाले संस्कारों का परिचय देते हैं और यह भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इसके सिवाय जहाँ तक अलंकारों तथा अन्य इस प्रकार की काव्यगत विशेषताओं के समावेश के विषय में कहा जा सकता है, जान कवि ने इस ओर भी अच्छी सफलता उपलब्ध की है तथा इस प्रकार यह रीतिकाल के प्रारंभिक कवियों मे उक्त स्थान प्राप्त कर सकता है।

चौथा अध्याय

फुटकल सूफी साहित्य (उत्तरी भारत)

१. उपक्रम :

हिंदी के सूफी कवियों ने जिस प्रकार प्रेमाख्यानों की रचना की है उसी प्रकार उन्होंने बहुत से ऐसे फुटकल साहित्य का भी निर्माण किया है। जो इस समय 'दोहरे', 'पद', 'बारहमासा', 'अखरावट' वा 'अलिफनामा' तथा इसी प्रकार के अन्य रूपों मे भी उपलब्ध है। उनमे से कुछ ने वैसे कई प्रेमाख्यान एवं साधारण आख्यान भी लिखे हैं, जिनकी गणना 'सूफी प्रेमाख्यानों' मे नहीं की जा सकती है। इनका उद्देश्य किसी मत विशेष के प्रतिपादन वा प्रचार का न होकर विशुद्ध प्रेम के महत्व का प्रदर्शन अथवा केवल मनोरंजन भी जान पड़ता है। परंतु अन्य कई प्रेमाख्यानेतर कृतियों का कोई स्पष्ट लक्ष्य ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है जैसा सूफी प्रेमाख्यानों के लिये अनुमान किया जाता है। इस प्रकार की रचनाओं तथा सूफी प्रेमाख्यानो मे से किस प्रकार की पंक्तियों का निर्माण इन कवियों ने पहले किया होगा इस बात का कुछ पता, अमीर खुसरो की उपलब्ध हिंदी रचनाओं के आधार पर चल सकता है। अमीर खुसरो का जन्म, सं० १३१२ के अंतर्गत पटियाली (जि० एटा, उ० प्र०) नामक गाँव मे हुआ था और उसकी मृत्यु भी सं० १३८१ मे हुई थी जिस कारण उसके आविर्भाव काल का समय हमारे आलोच्य काल, सं० १४००-१७०० के पहले, पड़ता है और जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, वह इस प्रकार यहाँ अन्य ऐसे कवियों के लिये पथप्रदर्शक के रूप मे ही स्मरण किया जा सकता है। अमीर खुसरो प्रसिद्ध सूफी पीर निजामुद्दीन औलिया का मुरीद रहा और वह दिल्ली तख्त के गुलाम वंश, खिलजी वंश एवं तुगलक वंश के राज्यकाल में वर्तमान रहा तथा उसके लिये कहा जाता है कि, उसने कुल मिलाकर संभवतः ९९ छोटे मोटे ग्रंथों की रचना की थी जिनमे से कई के विषय दैनिक जीवन की साधारण बातों तक से संबध रखते हैं और वे मनोरंजनार्थ लिखे गए भी कहला सकते हैं। परंतु इस प्रतिभाशाली कवि ने, फारसी भाषा में, कुछ ऐसे ग्रंथ भी लिख डाले जिनके कारण इसकी गणना वैसे अच्छे कवियों मे होती है। इसकी हिंदी रचनाओं मे से कुछ के विषय मे, यह भी अनुमान किया जाता है कि उनका रचयिता कोई और ही खुसरो रहा होगा जो, कदाचित् मुगल बादशाह शाहजहाँ के राज्यकाल में वर्तमान था। फिर भी इस

अमीर खुसरो के लिये ही यह प्रसिद्ध है कि उसने अपने पीर निजामुद्दीन औलिया के देहांत से दुःखी होकर कहा था—

> गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
> चल खुसरो घर आपने; रैन भई चहुँ देस॥

तथा उसने कभी नीचे लिखा एक दोहरा भी रचा था जिसके द्वारा उसके आध्यात्मिक उद्‌गारों की एक बानगी प्रस्तुत की जा सकती है—

> खुसरू रैन सोहाग की, जागी पी के संग।
> तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग॥

अतएव, हो सकता है, अमीर खुसरो जो एक बहुश्रुत एवं अन्य प्रकार से भी योग्य व्यक्ति था उसने, हिंदी मे काव्य रचने की किसी प्रचलित परंपरा का अनुसरण करके, कतिपय फुटकल पद्यों का भी निर्माण कर दिया हो जिनमे से कुछ इस काल तक उपलब्ध थे। इनमे से कई के विषय मे ऐसा संदेह किया जाता है कि इनकी भाषा का रूप, कदाचित् ठीक वैसा ही नहीं है जो उन दिनों का हो सकता था, किंतु इसके उत्तर में प्रायः इस प्रकार भी कथन किया जाता है कि ये रचनाएँ अधिकतर मौलिक रूपों मे ही प्रसिद्ध रही हैं जिस कारण यह भी संभव है कि उनकी शब्दावली के मूल रूपों मे क्रमशः कुछ परिवर्तन हो गए होंगे।

जो हो, इतना स्पष्ट है कि अमीर खुसरो के परवर्ती सूफी कवियों में से कई दूसरों ने भी इस प्रकार के प्रयास किए जिनमें से आज तक हमें केवल कुछ के फुटकल दोहरे मात्र ही उपलब्ध हैं किंतु दूसरों की अनेक अन्य प्रकार की भी रचनाएँ मिलती हैं। अमीर खुसरो के अनंतर ही इस प्रकार की परंपरा चल निकलती है और ये रचनाएँ भी उपयुक्त प्रेमाख्यानों के समानांतर ही लिखी जाने लगती हैं और जहाँ तक सूफी मत के प्रचार का प्रश्न है, ये भी उसके लिये कुछ कम उपयुक्त साधन सिद्ध नहीं होतीं। उक्त प्रेमाख्यान जहाँ अधिकतर लोकप्रचलित आख्यानों का सहारा लेकर चलते हैं और अपनी कहानियों की लोकप्रियता के कारण सर्व-साधारण का ध्यान आकृष्ट करते हैं वहाँ ये भी अपने यहाँ उपलब्ध लोकगीतों अथवा विशेष प्रचलित पद्य रूपों का ही जामा धारण करके हमारे सामने उपस्थित होते हैं और प्रायः चुटकलों जैसा प्रभाव डालने में समर्थ बन जाते हैं। इन छोटे छोटे से दोहरों आदि की एक यह भी विशेषता रहा करती है कि ये जिस रूप मे कहे जाते हैं उसी रूप मे ये श्रोताओं के लिये कंठस्थ बन जाने योग्य भी रहा करते हैं जिस कारण इन्हें अपने ठीक ठीक पूर्वरूप में भी अपना लिया जा सकता है जहाँ प्रेमाख्यानों के विषय में भी ऐसा नहीं कहा जा सकता जिनके लंबे आकार के कारण, उन्हें स्मरण रखना सरल नहीं हुआ करता। इनकी केवल कथावस्तु ही अपनी

बन जाती है और वह भी, कभी कभी अनेक व्यक्तियों की कल्पनाओं के कारण विकृत भी हो जा सकती है। दोहरों के अतिरिक्त जो वैसे पद्य, 'ककहरों' वा 'बारहमासों' आदि के रूपों मे, लिखे गए थे उनके संबंध मे भी, यह बात न्यूनाधिक लागू रही, किंतु इनमे कदाचित् यह एक दोष भी रहा कि अधिकतर कंठस्थ बने रहने के ही कारण ऐसी रचनाओं को लिपिबद्ध कर लेना भी उतना आवश्यक नहीं समझा गया जिसके फलस्वरूप इनमें से अनेक विस्मृति के गर्त मे विलीन तक हो गईं। उत्तरी भारत के फुटकल रचयिता सूफी कवियों में से केवल उन्हीं की चर्चा यहाँ की जा सकती है जिनके कोई न कोई पद्य वा लघु ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं।

२—शेख शर्फुद्दीन माहिया मनेरी—ये मनेर (जि० पटना, बिहार) के निवासी थे जहाँ पर इनके परदादा फिलस्तीन से पहले पहल सं० १२३७ मे आए थे। इनका जन्म सं० १३१६ मे हुआ था और अपनी मृत्यु के उपरांत ये सं० १४३७ में बिहार शरीफ मे दफनाए गए। जब ये ७-८ वर्ष के थे तभी इन्हें मौलाना शर्फुद्दीन तव्वाम नामक एक बुखारा के सूफी संत सुनारगाँव ले गए जहाँ पर इन्होंने इस्लाम धर्म एवं दर्शन का गंभीर अध्ययन पूरा किया। फिर वहाँ पर अपना विवाह कर लेने तथा वहीं अपने एक पुत्र की उत्पत्ति भी हो जाने पर ये मनेर लौट आए जहाँ इनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। वहाँ से फिर ये अपने किसी सुयोग्य गुरु की खोज में दिल्ली की ओर चले जहाँ पर इनकी भेंट प्रसिद्ध सूफी पीर निजामुद्दीन औलिया एवं शर्फुद्दीन बू अली कलंदर पानीपती से हुई, किंतु इन्होंने उन्हें अपने पीर के रूप में स्वीकार नहीं किया अथवा ये उन्हें, इस प्रकार किसी कारण अपना न सके और पीछे ये शेख नजीबुद्दीन फिरदौसी के मुरीद हुए जिनकी मृत्यु सं० १३४७ मे हुई। कुछ लोगों का अनुमान है कि जिस समय ये दिल्ली पहुँचे उस समय तक शेख निजामुद्दीन औलिया का देहांत हो चुका था, जिस कारण ये उनके संपर्क में नहीं आ सके। परंतु प्रो० अस्करी का कहना है कि यह बात सही नहीं, क्योंकि इन्होंने स्वयं कुछ ऐसे संकेत किए हैं जिनसे दोनों का मिलना प्रमाणित हो जाता है। कहते हैं, जब ये उधर से मनेर की ओर वापस आ रहे थे उस समय इन्होंने मार्ग मे कहीं किसी शुतुर्मुर्ग की बोली सुनी जिसका प्रभाव इनके ऊपर इतना पड़ा कि ये भावावेश मे आ गए और ये बिहिया (जि० शाहाबाद, बिहार) के घने जंगलो की ओर चल पड़े। उधर ये राजगृह, मुंगेर एवं मोरंग की पहाड़ियो मे भ्रमण करते अथवा कठोर साधना करते रहे जिसमे इनके ३० वर्ष तक लग गए। राजगृह की पहाड़ियों मे से ढूँढकर इन्हें कुछ लोग मनेर तक लाए जहाँ पर निवास करते समय भी ये बराबर बिहार शरीफ जाते आते रहे। बिहार शरीफ मे, प्रत्येक शुक्रवार को ये अपने उपदेश दिया करते थे और वहाँ पर इनकी प्रतिष्ठा एवं शिष्यमंडली में निरंतर वृद्धि भी होती गई। इनकी रचनाओं के संबंध मे कहा जाता है कि वास्तव

मे वे सभी मौखिक रूप मे ही प्रस्तुत की गई थीं, किंतु पीछे इनके शिष्यों ने उन्हें, इनके 'मकतूबात' एवं 'मलफूजात' के रूपों मे, संगृहीत कर दिया और वे उसी आकार प्रकार में आज तक उपलब्ध भी समझी जाती हैं। इनकी ओर से भेजे गए कई पत्रों द्वारा इनकी धार्मिक मान्यताओं एवं दार्शनिक विचारधारा पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। ये प्रसिद्ध सूफी इब्न अरबी (सं० १२२२-९७) के विश्वात्मवादी सिद्धांत 'तौहीद वुजूदी' से अत्यंत प्रभावित रहे और 'शरीअत' के कठोर नियमों तक की व्याख्या बड़ी उदारता के साथ प्रायः व्यावहारिक दृष्टिकोण से, करते रहे।[1] इनकी मृत्यु के उपरात मीर अशरफ़ जहाँगीर (मृ० सं १४४५) ने नमाज पढ़ी थी जिन्हे कदाचित् मलिक मुहम्मद जायसी ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। शेख मनेरी ने हिंदी मे अनेक पद्यों की रचना की है और उनमें इन्होंने प्रायः अपना नाम 'शर्फ़' के रूप मे दिया है। इनकी ऐसी सभी पंक्तियाँ अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं, किंतु जो इनके कतिपय दोहरे आदि मिलते हैं उनसे इनके मत का कुछ पता चल जाता है, जैसे

काला हंसा निरमला, बसे समंदर तीर।
पंख पसारे बिख हरे, निरमल करे सरीर॥
शर्फ सिर्फ मायल करे, दर्द कछू न बसाय।
गर्द छुए दरबार की, सो दर्द दूर हो जाय॥
वाट भली पर साँकरी, नगर भला पर दूर।
नन्ह भला पर पातला, नारी कर हर चूर॥
साँकर कुएँ पताल पानी, लाखन बूँद बिकाय।
बजर परो तँह मथुरा नगरी, कान्हा पियासा जाय॥[2]

इनमे से प्रथम दो की व्याख्या किसी औषध विशेष के प्रति संकेत के रूप मे भी की जाती है। इस संबंध मे यह भी कहा जाता है कि इन्होंने बहुत से बिच्छू एवं साँप का विष झाड़ने के मंत्र भी लिखे थे। शेष दो का भाव प्रतीकों के सहारे स्पष्ट किया गया है। शेख मनेरी की रचनाओं का अध्ययन करके एक आलोचक ने इसके विषय मे कहा है कि ये उस प्रकार के महापुरुष हैं जो अपने विचारों को प्रस्तुत करते समय, अथवा, अपनी, रहस्यात्मक अनुभूतियों की व्याख्या हमारे सामने रखते समय भी, बड़ी मौलिकता से काम लेते हैं तथा इसके साथ ही

[1] मु० रि० मू०, पृ० ४६।
[2] सू० मि० वि० पृ० ६०।

जो इस्लाम धर्म के आधारभूत व्यापक सिद्धांतों को नपी तुली एवं संयत भाषा में व्यक्त भी करना जानते हैं।

३—शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही—ये इस्माइल के लड़के तथा शेख अब्दुलहक चिश्ती साबिरी के मुरीद कहे गए हैं। इन्होंने फारसी मे कई किताबें लिखी हैं, किंतु ये हिंदी में भी कविता किया करते थे और इसके लिये इन्होंने अपना उपनाम भी 'अलखदास' रख लिया था। शेख गंगोही के लिये कहा गया है कि इन्होंने अपनी काव्यसाधना की प्रारंभिक दशा मे चाहा था कि मुल्ला दाऊद की प्रसिद्ध हिंदी रचना 'चंदायन' का फारसी मे अनुवाद कर डालें तथा इसके लिये इन्होंने प्रयत्न भी किया था। इस विषय मे इनका यह उद्देश्य भी रहा कि उसमे अध्यात्म एवं गुणानुवाद (नात) के अतिरिक्त, सिद्धावस्था (मेराज) का भी समावेश कर दिया जाय, जिसकी इन्हें उसमें कमी जान पड़ती थी और इसकी पूर्ति को इन्होंने वहा आवश्यक समझा था। फलतः अपने ऐसे अनुवाद का बहुत कुछ अंश इन्होंने पूरा भी कर डाला, किंतु, उसी समय सुल्तान हुसेन से लड़ाई छिड़ जाने के कारण उसका अधिकांश नष्ट हो गया। अवशिष्ट वा सुरक्षित भाग से एक उदाहरण निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया जा सकता है। 'चंदायन' की पंक्तियाँ, जिनका अनुवाद किया गया है।

ऊँच बिरख बहु लाग अकासा। हाथ चढ़े की नारी आसा।
कहु जो कित को बाँह पसारे। तरवर डार छुवै को पारे॥
रैन दिवस बहुतै रखवारा। नयन न देख जाइ को मारा।

जिसका फारसी रूप इस प्रकार है :

शजै वलंदस्त समर दर समा। कित ए उम्मीदस्त बराँ दस्ते माँ।
जेहर केरा दस्त फराजो कुनद। शाखे फलक दस्त के वाजी कुनद।
रोज व शब गश्ता निगहबाँ कसे। कुश्ता शवद चूँ के बबीनद कसे!

जहाँ तक इनकी हिंदी कविता के नमूने की बात है वह, नीचे दी गई कुछ पंक्तियों द्वारा प्रकट की जा सकती है :

क्यों करिखेलूँ तुज संग मीता, मुझ कारन तैं एता कीता॥
अलखदास आखे सुन सोई, सोई बाक अरथ पुनि सोई॥
जिधर देखूँ हे सखी, देखूँ और न कोय।
देखा बूझ विचार मँह, सबही आयें सोय॥
बाहर भीतर कहा न जाय, सर्व निरंतर एक ही काय।
अलखदास आखे मोर कंत, दीन्ह सखी दिन रात वसंत॥
अलखदास भाखे सुन लोई, दूई दुई कहो मत भाई कोई॥
जल थल महि पर सर्व निरंतर, गोरखनाथ अकेला सोई॥

फले न फूले धावे न जाय, काँसे का सबद काँसे में समाय।
जलकैं ओफला बुलबुला, जलही माहि बिलाय।
तैसा यह संसार सभ मूलह जाय समाय॥
आप गँवाये पी मिले, पी खोये सभ जाय।
अकथ कथा है प्रेम की, जे कोई बूझे पाय॥[1]

जिनसे इनके मत को समझने मे हमें विलंब नहीं लगता। ये मूलतः रुदौली (जि० बाराबंकी, उ० प्र०) के रहनेवाले थे। इनका जन्म सं० १५१३ में हुआ था। किंतु ये पीछे गंगोह (जि० सहारनपुर, उ० प्र०) में जाकर रहने लगे जिस कारण 'गंगोही' कहे गए। प्रसिद्ध है कि इनकी धर्मनिष्ठता द्वारा प्रभावित होकर सिकंदर लोदी, बाबर एवं हुमायूँ तक इनसे उपदेश ग्रहण करने लगे थे। ये बचपन से ही बड़े नम्र स्वभाव के थे और कहा जाता है कि, मसजिदों मे जाकर उपस्थित लोगों के जूते भी सँभाला करते थे। इनका देहात सं० १५६४ मे ८० वर्ष की अवस्था मे हुआ था।

४. मलिक मुहम्मद जायसी—इनका परिचय इसके पहले ही दिया जा चुका है। यह भी बतलाया गया है कि इन्होंने, अपनी प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' के अतिरिक्त, अन्य ग्रथों का भी निर्माण किया था जिन्हें 'प्रेमाख्यान' शीर्षक में नहीं रखा जा सकता, किंतु जिनसे इनके मत पर पूरा प्रकाश पड़ सकता है। इनकी ऐसी उपलब्ध रचनाओं मे 'अखरावट' एवं 'आखिरी कलाम' को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। इनके कुछ सोरठे इस प्रकार के हैं—

हुता जो एकहि संग, हो तुम काहे की छुरा।
अब जिय उठे तरंग, मुहम्मद कहा न जाय किछु॥ ३॥
बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासौ कहौं?
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपमें॥ ७॥
सुन्न समुद चख माँहि, जल जैसी लहरैं उठहि।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं, मुहमद खोज न पाइये॥ १२॥
कटु है पिउकर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तँह नहिं हँसी न रोज, मुहमद ऐसे ठाँव वह॥ २३॥
हिया कँवल जस फूल, जिउ तेहि मँह जस बासना।
तन तजि मन मँह मूल, मुहमद तब पहचानिए॥ ३१॥

[1] पं० ऊ०, पृ० २१४-६।

अपने कौतुक लागि, उपजाएहि बहु भाँति के।
चीन्हि लेहु सो जागि, मुहम्मद सोइ न खोइए ॥ ३६ ॥[1]

५. शेख रिज्कुल्लाह मुश्ताकी—ये शेख सादुल्लाह के लड़के थे जो खानेजहाँ पुत्र अहमद खाँ के आश्रित रहे। इनका जन्म सं० १५४८ मे हुआ था[2] और इनकी मृत्यु २४ अप्रैल, सन् १५८१ ई० अर्थात् सं० १६३८ में हुई थी। इनके पिता सादुल्लाह खानेजहाँ के कृपापात्र थे और जब अपदस्थ हो जाने पर उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रह गई थी, उस समय भी, इन्होंने उसका साथ नहीं छोड़ा था। शेख रिज्कुल्लाह के लिये भी कहा जाता है कि ये अपने समकालीन पठान अमीरों के विश्वासपात्र बने रहे तथा उनकी गोष्ठियों मे आते जाते रहे। इनके पिता के पास एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था जिससे इन्हें भी लाभ उठाने का अवसर मिला होगा। ये पहले किसी शेख मुहम्मद मंगन के मुरीद हुए थे किंतु इन्होंने पीछे शेख बुढ्न का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया तथा इस प्रकार ये सूफियों की शत्तारी शाखा के सदस्य हो गए। कहते हैं, इन्होंने संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था तथा भारतीय दर्शन एवं परंपरा के भी ज्ञाता हो गए थे। ये अपने समय के दरवेशों जैसा ही जीवन व्यतीत करते थे और उनके सत्संगों मे भाग लिया करते थे। कहा जाता है, एक बार इन्होंने अपने पिता शेख सादुल्लाह से प्रश्न किया, 'क्या प्रसिद्ध कबीर मुसलमान थे अथवा काफिर थे?' उत्तर मे उन्होंने कहा, 'वे मुवह्हिद रहे'। अनंतर, इनके फिर पूछने पर कि, 'क्या मुवह्हिद काफिर से भिन्न होता है अथवा मुस्लिम से?' उन्होंने बतलाया, 'इसका समझ पाना कठिन है, तुम इसे धीरे धीरे समझ सकोगे।' यह प्रकट करता है कि ये अपने बचपन वा युवावस्था से ही, जिज्ञासु थे। इन्होंने फारसी एवं हिंदी दोनों भाषाओं मे कविता की है जिसके लिये ये अपने उपनाम क्रमशः 'मुश्ताकी' एवं 'राजन' रखा करते थे। इन्होंने फारसी मे, कविताओं के अतिरिक्त, एक रचना, 'वाकेयाते मुश्ताकी' नाम से भी की है जिसके भूमिका भाग मे इन्होंने बतलाया है कि 'कुछ बातें जो अनुभवी लोगों से सुनी थीं अथवा जिनका अवलोकन मैंने स्वयं किया था उन्हें मैंने इसमें संकलित कर दिया है'। यह, वास्तव मे, एक इतिहास ग्रंथ है जिसमें सुल्तान बहलोल के राज्यकाल से लेकर सम्राट् अकबर के राज्यकाल तक की विभिन्न घटनाओं का उल्लेख किया गया है और वे ऐसी कहानियों वा चुटकुलों के रूप में उपस्थित की गई हैं जो अत्यंत रोचक एवं सजीव हैं। इनकी हिंदी रचनाओं में से दो नाम 'पैमन' एवं 'जोत

[1] 'अखरावट।'

[2] इनके जन्मसंवत् का १५४९ होना भी बतलाया जाता है। दे०, ख० वो० हिं० स०, पृ० १२।

निरंजन' के रूपों में लिए जाते हैं और इनकी चर्चा 'अखबारुल् अखियार' में भी की गई है। परंतु ये अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं जिस कारण इनके वर्ण्य विषय अथवा रचनाशैली के संबंध मे कुछ निश्चित रूप से कह पाना सरल नहीं है। हिंदी की कुछ पुस्तकों में इनका उल्लेख 'प्रेम बन जोव निरंजन' जैसा किया गया मिलता है और इसे किसी एक ही मस्नवी (प्रेमगाथा) का नाम समझ लिया गया जान पड़ता है। यदि इनमे से कोई एक या दोनों वस्तुतः प्रेमगाथाओं जैसी ही हों उस दशा में, संभव है, हमें शेख मंझन की 'मधुमालती' के समय की वैसी अन्य रचना भी मिल सकेगी।

६. मुहम्मद अफजल 'झंझानाती' वा 'पानीपती'—ये संभवतः पानीपत के मूल निवासी थे किंतु मेरठ (उ० प्र०) के निकट झंझाना वा झझा नाम की बस्ती में लड़कों को पढ़ाया करते थे जिस कारण इन्हे कहीं कहीं मौलाना अफजल भी कहा गया मिलता है। कहते हैं, इनका प्रेम किसी हिंदू स्त्री के साथ हो गया जिसका बाहर निकल पाना कठिन हो जाने पर उसके घरवालों ने उसे मथुरा भेज दिया। परंतु ये वहाँ भी पहुँच गए और उसके द्वारा दुतकार दिए जाने पर, उन्होंने अपनी दाढ़ी मुँड़ाकर जनेऊ पहन लिया तथा वहाँ के किसी मंदिर मे उसके पुजारी के शिष्य बन गए और उसके मर जाने पर पीछे उसके उत्तराधिकारी तक भी बन बैठे। इस दशा मे इन्होंने कदाचित् अपना नाम 'गोपाल' भी रख लिया था जिसका उल्लेख इनकी 'विकट कहानी' की एक पिछली पंक्ति 'कहे अफजल, कहे गोपाल भी बाश' मे मिलता है। किसी पर्व के दिन जब हिंदू स्त्रियाँ उस मंदिर मे पूजा करने आईं तो इन्होंने उनमें अपनी प्रियतमा को पहचान कर उससे बातचीत की तथा उसे मुसलमान बनाकर फिर इस्लामधर्म को स्वयं भी ग्रहण कर लिया और ये उसके साथ रहने लग गए। इनका सं० १६८२ तक जीवित रहना बतलाया जाता है। इन्होंने 'विकट कहानी' नाम की एक रचना 'खड़ी बोली हिंदी' मे निर्मित की है जो वस्तुतः बारहमासे के रूप मे है तथा जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

सुनो सखियो, विकट मेरी कहानी।
भई हूँ इश्क के गम सूँ दिवानी।
न मुझकूँ भूक दिन ना नींद राता,
बिरह के दर्द सूँ सीना पिराता।
अरे यह नाग जिसके डंक लावे,
न पावे गाड़रू जिवड़ा गँवाँवे।
विकट किस्सा विकट मुश्किल कहानी,
दिवानी की सुनो सखियो कहानी।

इसके अंतर्गत बारहमासे का वर्णन 'सावन' से आरंभ होकर 'आषाढ़' तक समाप्त होता है और इसकी कई पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हो गई हैं, जैसे—

पड़ी है गल मे मेरे पेम फांसी,
भया मरना मुझे और लोक हाँसी।
मुसाफिर से जिन्होंने दिल लगाया,
उन्होंने सब जनम रोते गँवाया

ये कभी कभी फारसी एवं हिंदी मिश्रित पंक्तियाँ लिखते भी दीख पड़ते हैं जैसे--

ये साजम चूँ कुनम कस कत पुकारूँ।
जतन क्या इश्क के गम का विचारूँ।[1]

परंतु इनकी इस 'कहानी' मे हमे सूफीमत द्वारा प्रभावित स्पष्ट स्थलों का प्रायः अभाव ही सा लगता है। वास्तव मे सभी ऐसे कवियों ने अपनी रचनाएँ केवल अपने सिद्धांत का निरूपण वा उसका प्रतिपादन करने के ही लिये नहीं प्रस्तुत की थीं। इनके कुछ फुटकल दोहरे आदि तो, संभवतः, इसके प्रवचनो के प्रसंग मे निर्मित वा कहीं अन्यत्र से उद्धृत कर दिए गए होंगे।

———

[1] क० उ० (हु०)—पृ० ४१०-५०।

पाचवाँ अध्याय

सूफी प्रेमगाथा (दक्षिण)

१. उपक्रम :

दक्खिनी हिंदी मूलतः वह कौरवी, हरियानी वा हिंदवी बोली थी, जो दिल्ली के मुस्लिम सुल्तानों द्वारा की गई दक्षिण भारत की विजय के साथ साथ उस ओर प्रायः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध काल से ही पहुँचने लग गई थी। प्रारंभिक अवस्था मे इसका रूप मौखिक ही रहता आया और जहाँ तक पता चलता है, यह बहुत कुछ सुल्तानों के दरबारियों वा निकटवर्ती व्यक्तियों तक ही सीमित रही। परंतु, जब उधर मुस्लिम संतों द्वारा क्रमशः इस्लामधर्म अथवा सूफीमत का प्रचारकार्य भी आरंभ हुआ तथा उनकी बानियों वा प्रवचनो को लिपिबद्ध भी किया जाने लगा, इसे न केवल एक लिखित रूप ही दिया जाने लगा, प्रत्युत धीरे धीरे इसकी कुछ न कुछ साहित्यिक विशेषताओं को भी स्वीकार करना पड़ गया। ये मुस्लिम प्रचारक बहुधा अरबी एवं फारसी भाषाओं में लिखे गए अपने धार्मिक साहित्य के जानकार एवं पंडित भी रहा करते थे और प्रायः अरब, ईरान, जैसे देशों की ओर से आने के कारण उनके कथन की पद्धति स्वभावतः उसी के अनुसार प्रभावित भी रहा करती थी। इस कारण उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा एक ऐसी नवीन शैली को जन्म दे दिया जो आगे चलकर एक नए प्रकार के साहित्य की सृष्टि के लिये मार्गदर्शन करने लग गई तथा जिसके फलस्वरूप, अंत में, मूलतः एक ही बोली दो भिन्न भिन्न दीख पड़नेवाली भाषाओं मे परिवर्तित हो चली जिनमें से उत्तरवाली खड़ीबोली तो अपनी पूर्वप्रचलित परपराओं का ही पालन करती आई तथा उसने, इसी कारण, अपनी आसपास वाली प्रादेशिक बोलियों के साथ सहयोग भी किया, किंतु दक्षिणवाली दक्खिनी हिंदी ऐसा नहीं कर सकी। इसे समय पाकर उन दक्षिणवाले बहमनी, कुतुबशाही, बीजापुरी आदि सुल्तानो की ओर से प्रश्रय और प्रोत्साहन मिलता गया जिनके दरबारों के कवियों ने इसके माध्यम से उनके लिये कुछ ऐसे मनोरंजक साहित्य का भी सृजन किया गया जिसपर मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति का ही प्रभाव अधिक स्पष्ट रहा। अतएव, हम देखते हैं कि, जब इस भाषा के वैसे साहित्य का निर्माण दिल्ली एवं अवध जैसे उत्तरी प्रांतों में भी होने लगता है, वह अपनी नवीन वेशभूषा का परित्याग नहीं कर पाती, प्रत्युत इधर वाले मुस्लिम शासकों के आश्रय में यह और भी निखरने लग जाती है। इस पर पड़ा हुआ दक्खिनी बोलियों का न्यूनाधिक प्रभाव तो क्रमशः दूर होता चला जाता है, किंतु इसके साहित्य

के रूपों में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता, प्रत्युत यह केवल उन्हीं विशेषताओं को अपनाना अधिक पसंद करती है जो अरब और ईरान की देन रहा करती हैं। प्रायः इसी प्रकार के नियम का पालन हम गुजरात प्रांत में भी होता हुआ पाते हैं जहाँ इसे दक्खिनी की जगह 'गूजरी' जैसा नाम दिया गया है। दक्खिनी हिंदी के माध्यम से कतिपय सूफी प्रेमाख्यानों की सृष्टि होती है और इसमे तथा गूजरी में वैसा फुटकल साहित्य भी रचा जाता है किंतु इस दशा मे भी, यहाँ पर उस रचनाशैली का अनुसरण नहीं किया जाता जो उत्तरी भारत मे पहले से प्रचलित रहती आई है। इनमें से अभी तक विदित प्रमुख कवियों तथा उनकी उपलब्ध प्रेमगाथाओं का परिचय नीचे लिखे अनुसार दिया जा सकता है :

२. निजामी : निजामी के संबंध मे अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है और न इनका प्रेमाख्यान 'कदम राव व पदम' ही आज तक पूरा मिल सका है। कहते हैं, यह सूफी कवि सुल्तान अहमद शाह सालिस बहमनी (सं० १५१७-१५१९) का समसामयिक था और उसका दरबारी कवि तक रहा। 'दकन मे उर्दू' पुस्तक के लेखक श्री नसीरुद्दीन हाशमी ने इसकी उक्त रचना से तीन पंक्तियाँ उद्धृत कर इसका आविर्भावकाल निश्चित करने का प्रयास किया है।[1] किंतु इनके आधार पर अधिक से अधिक इतना ही पता चल पाता है कि इनके लिखे जाने के समय तक संभवतः बहमनी सुल्तान अलाउद्दीन का देहांत हो चुका था, उसकी उपाधि 'वली' थी तथा उसके शाहजादे का नाम 'अहमद' रहा और यह सब कुछ पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता। इसकी ठीक ठीक संगति, इतिहासों मे प्राप्त तथ्यों के साथ बैठती भी नहीं जान पड़ती और न यह निश्चित हो पाता है कि उनमे आए हुए नाम वस्तुतः किनके लिए प्रयुक्त किए गए होंगे। इसके सिवाय श्री हाशमी ने जो कुछ अन्य पंक्तियाँ इस रचनावाले वर्ण्य विषय का यत्किंचित् परिचय दिखाने के लिए उद्धृत की हैं उनसे इसपर भी उतना प्रकाश नहीं पड़ता। न तो उनके द्वारा यही पता चलता है कि इस प्रेमकथा के नायक नायिका कहाँ के थे और न यह कि उनके पारस्परिक संबंध की घटनाएँ ही क्या रही होंगी। हमें इसके लिये भी पूरी सामग्री नहीं मिल पाती कि इस प्रेमगाथा को हम किसी विशुद्ध प्रेमाख्यान की कोटि मे ही रख सकते हैं अथवा इसकी कथा को ऐसी उपमिति कथा भी ठहरा सकते हैं जिसके आधार पर साधारणतः सूफी कवि लिखा करते थे। इसकी निम्नलिखित दो पंक्तियों के पढ़ने पर तो हमे ऐसा लगता है कि इस रचना का नायक वास्तव मे 'कदमराव' नहीं हो सकता और न इसी कारण इसकी नायिका को 'पदम' कहा जा सकता है, जैसा स्वाभाविक था :

१. दे० पृ० ३३।

कि तू साच मेरा गुसांई कदम, पदम राव तुज पाँव केरा पदम ।
जहाँ तू धरे पाँव हौं सर धरूँ, अयस सार की लकतराई करूँ ।।१।।[1]

अतएव, जहाँ तक इस प्रेमाख्यान के रचनाकाल का प्रश्न है, हम उपर्युक्त संकेतों के अनुसार केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि यदि इसे अलाउद्दीन अहमदशाह का देहांत हो जाने पर, अर्थात् सं० १५१४ के अनंतर, मान लिया जाय तो, यह उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी सुल्तान हुमायूँ शाह के राज्यकाल (सं० १५१४-१८) के भीतर पड़ सकता है। इसे सुल्तान मुहम्मद शाह तृतीय के राज्यकाल (सं० १५२०-३६) अथवा सुल्तान निजाम शाह के समय सं० (१५८०-२०) तक भी खींच ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती जब तक इस बात के लिये भी कोई प्रमाण न मिल सके कि इसकी रचना मे निजामी का अधिक समय लगा होगा। हाँ, इस संबंध मे यह भी कहा गया है, 'इस मस्नवी के इस अहद में तसनीफ होने की ताईद इससे भी होती है कि शायर बादशाह का मुसाहब था और उसको दरबारशाही से ताल्लुक़ था इसलिये बहुत मुमकिन है कि शायर ने अपना तखल्लुस बादशाह के लकब पर निजामी करार दिया हो'[2] जिसपर और ढंग से भी विचार किया जा सकता है।

३. मुल्ला वजही : यह कवि दक्खिनी हिंदी वाले कवियों मे एक बहुत उच्च कोटि का स्थान रखता है, किंतु इसके भी विषय मे हमे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं। प्रायः इसकी दो प्रमुख रचनाओं 'कुतुबमुश्तरी' एवं 'सबरस' के आधार पर इसके संबंध में कुछ बतलाने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिये इसके कथन—

इब्राहीम कुतुबशाह राजाधिराज,
शहंशाह हैं शाहंशाहों में आज ।

से पता चलता है कि, जिस प्रेमाख्यान 'कुतुबमुश्तरी' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं उसकी रचना के समय, इब्राहीम कुतुबशाह का शासनकाल था, किंतु उसने यह भी कहा है :

तमाम इसकिया दीस बारा मने,
सन यक हजार होर अठारह मने ।

जिससे जान पड़ता है कि इसने उसे हि० सन् १०१८ अर्थात् सं० १६६७ मे,

१. द० उ०, पृ० ३७ (सन् १९६३ ई० वाले संस्करण का ६० ४२)।
२. वही, पृ० ४०।

प्रतिनिधित्व करते हैं तथा वैसे ही नाम भी धारण करके हमारे सामने उपस्थित होते हैं और इस प्रकार हमारे जीवन के एक नैतिक पहलू को बोधगम्य बनाने में हमे सहायता पहुँचाते हैं। इसका कथानक भी बहुत बड़ा और पेचीदा सा लगता है जिस कारण उसका अत्यंत संक्षिप्त सारांश नीचे लिखे अनुसार दिया जा सकता है :

सीस्तान नगर का शासक 'अक्ल' नाम का था जिसके सहारे ही सभी काम चला करते थे और उसके पुत्र का नाम 'दिल' था। अक्ल ने दिल को 'तन' देश का राज्य सौंप दिया जिसे किसी दिन शासनसमिति के सदस्यों द्वारा पता चला कि अमृत का पान कर लेने पर सभी अमर हो जा सकते हैं। यह सुनते ही दिल की अमृत प्राप्त करने की अभिलाषा बढ़ी जिस उद्देश्य से उसने अपने जासूस 'नजर' को नियुक्त किया। नजर अमृत का पता लगाने यात्रा पर चला और मार्ग में उसने क्रमशः 'नामूस' (प्रतिष्ठा) 'रिज्क' (रोजी) एवं 'हिदायत' नामक दुर्ग के रक्षक 'हिम्मत' से भेंट कर उससे मार्गदर्शन की चेष्टा की। उसे हिम्मत से पता चला कि पश्चिम के किसी देश में 'इश्क' नाम का कोई बादशाह है जिसकी पुत्री 'हुस्न' 'दीदार' नगर मे रहती है जहाँ 'रुखसार' नामक एक उद्यान है। उस रुखसार के ही 'धन' कहलाने वाले स्रोत पर जाकर हुस्न प्रति दिन अमृत पिया करती है। हिम्मत ने फिर उसे मार्ग की कठिनाइयों के लिये भी सचेत कर दिया और उसे अपने भाई कामत (कद) के नाम एक पत्र देकर विदा किया। तदनुसार नजर को अमृत के लिये आगे बढ़ते समय मार्ग में सुबुकसार (कोमल) नगर मिला जहाँ के कुछ लोग उसे पकड़कर 'रकीब' के यहाँ ले गए जहाँ पर उसने अपने को सोना बनानेवाला बतलाया और इसके लिये सामग्री लाने के उद्देश्य से वह रकीब के साथ दीदार नगर की ओर चल पड़ा। आगे चलकर कामत की सहायता से उसका रकीब से पिंड छूट गया और अब इन दोनों ने दीदार नगर पहुँचकर हुस्न और उसकी सहेली 'लट' को देखा। लट ने उसे अपने चार बाल दिए जो आत्मरक्षा मे सहायता कर सकते थे और संयोगवश उसे अपना एक बिछुड़ा भाई 'गम्ज' भी वहीं पर मिल गया जिसने उसे 'हुस्न' के यहाँ जौहरी के रूप मे परिचित कराया। हुस्न ने जब एक दिन अपने किसी अनमोल हीरे की उससे परीक्षा कराई तो उसने इसमें लगे एक सुंदर चित्र को दिल बादशाह का बतला दिया और इस प्रकार उसने क्रमशः हुस्न का चित्त दिल की ओर इतना फेर दिया कि यह विरह मे तड़पने लगी। हुस्न ने अपने 'ख्याल' नामक एक गुलाम को नजर के सपुर्द कर दिया और उसे अपनी एक अँगूठी देकर दिल को अमृत के लिये अपने ही यहाँ बुला भेजा जिसके लिये नजर एवं ख्याल दोनों दिल के यहाँ आ गए।

दिल ने यहाँ पर ख्याल द्वारा हुस्न का एक चित्र निर्माण कराया और उससे

प्रभावित होकर यात्रा के लिये तैयार हो गया। परंतु बादशाह अक्ल के वजीर वहम (संदेह) ने उधर चुगली कर दी जिस कारण इन सभी को बंदी बन जाना पड़ा। किंतु हुस्न की अँगूठी मुँह मे डालकर नजर अदृश्य हो गया। फिर भी दीदारनगर पहुँचने पर जब उसे अमृत का स्रोत दीख पड़ा और उसने इसके लिये अपना मुँह खोला कि अँगूठी गिर पड़ी और वह पकड़ लिया गया। वह यहाँ अबकी बार रकीब का बंदी बना जहाँ पर लट के दिए हुए एक बाल को जलाने पर वह इसकी सहायता के लिये पहुँची और उसने इसे बाहर कर दिया। इस प्रकार नजर जब हुस्न के यहाँ पहुँचा और उससे इसने सारा हाल कहा तो उसने इसके साथ गम्जा को करके दोनों को फिर दिल के यहाँ भेजा। इधर अक्ल के सामंत जोहद (वैराग्य) और उसके पुत्र 'तोबा' नजर की गिरफ्तारी के लिये सजग थे, किंतु इसने बड़ी चतुरता और बहादुरी के साथ अपने को बचाया जिसका लोहा अक्ल को भी मान लेना पड़ा। अक्ल ने तब दिल को बंदीगृह के बाहर करा दिया और अपने सेनापति के साथ उसे इश्क की राजधानी की ओर कूच करने का आदेश दे दिया। तदनंतर कुछ हिरनों का पीछा करते करते इनकी सेना दीदारनगर पहुँच गई जिसका पता नजर ने हुस्न को दे दिया और वह बहुत प्रसन्न हुई। परंतु इस फौज का मुकाबला करने के लिये उधर से इश्क की भी सेना उसके सेनापति मह्र (दया) के नेतृत्व मे आ पहुँची और चार दिनों तक युद्ध चलता रहा। इसी बीच हुस्न ने अपने सेवक खाल (मस्सा) की सहायता से अपनी एक बहन को भी बुला लिया जिसने अपने द्वारपाल हलाक को युद्धस्थल पर भेज दिया जिसने वहाँ पर दिल को तीर से घायल कर दिया और अक्ल वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार दिल पकड़ा गया और उसे 'दिलकश' बाग मे रख दिया गया। फिर वह पीछे एक छज्जे पर लाया गया जहाँ पर रकीब की बेटी 'गैर' ने उसे अपनी ओर बहकाने का प्रयास किया जिससे हुस्न की बेचैनी बढ़ गई। किंतु अंत मे गैर ने हुस्न से अपनी सारी करतूत का भंडाफोड़ कर दिया जिससे प्रभावित होकर इसने भी एक पत्र दिल को अपनी सफाई मे भेजा। उधर अक्ल ने परास्त हो जाने पर फिर हिम्मत नामक सैनिक की सहायता ली जो इश्क से जाकर मिला जिसके परिणामस्वरूप अक्ल व इश्क दोनों मिल गए। इश्क और दिल दोनों का विवाह हो गया और फिर खिज्र का आशीर्वाद पाकर दिल हुस्न के साथ आनंदपूर्वक दिन व्यतीत करने लगा और उसका रोजगार भी चल निकला।

मुल्ला वजही ने इस कथानक को अपनी मौलिक सूझ का परिणाम बतलाया है, किंतु ऐसी बात नहीं है। मौ० अब्दुल हक का कहना है कि इसका आधार वास्तव में, नैशापुर निवासी उस किसी याहिया नामक कवि की रचना 'दस्तूरे इश्क' नामक प्रेमाख्यान है जिसका देहांत सं० १५०६ मे हुआ था। याहिया ने अपना नाम

'फत्तारी' रखा था और उसने 'दस्तूरे इश्क' की एक व्याख्या 'हुस्न व दिल' नाम से गद्य मे की थी। 'दस्तूरे इश्क' को समाप्त करते हुए फत्तारी ने अपनी उस फारसी रचना में खिज्र के मुख से कुछ इस प्रकार कहलवाया है जिससे प्रकट हो जाता है कि प्रत्येक पात्र की वास्तविक स्थिति क्या है। परंतु यहाँ पर 'सबरस' मे सारी बातें उतनी स्पष्ट नहीं हो पातीं और यहाँ नायक एवं नायिका से सांसारिक प्रेमी एवं प्रेमिका होने का भ्रम हो जा सकता है। इसके सिवाय मुल्ला वजही ने अपनी रचना का आरंभ अमृत की खोज से किया है, जो रहस्यमय बना रह जाता है, जहाँ फत्तारी के लिये कहा गया है कि उसने स्पष्ट रूप से मुख में निवास करनेवाली 'वाणी' को ही अमृत बतलाया है। मुल्ला वजही सूफीमत एवं सूफी साधना को महत्व देनेवाला कवि है। वह अपनी इस रचना को इतना महत्व देता है कि वह इसे सभी किताबों का 'सरताज' तक ठहराता है और कहता है कि इसकी सभी बातें रहस्यपूर्ण हैं जिन्हें प्रेमी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता तथा जो कोई इसे पढ़ेगा उसे यह पूर्ण रूप से प्रभावित कर देगी। वह न केवल इसके वर्ण्य विषय को ही अत्यंत महत्वपूर्ण समझता है, प्रत्युत उसकी दृष्टि में इसकी 'सतर सतर पर बरसता है नूर, हरेक बोल है यक हूर। इसे पढ़कर जिने हज पाया जानो बहिश्त मे आया। यहाँ खुदा बोलन हारा चहै'। इसके द्वारा उसकी आत्मश्लाघा का भी कुछ पता चल जाता है। इस कवि के लिये यह भी प्रसिद्ध है कि अपने सामने वह किसी को भी काव्य-कौशल मे अधिक गौरव प्रदान नहीं करना चाहता था और न कदाचित् उसे अपनी बराबरी का ही पद दे सकता था। अपनी इस पुस्तक को उसने गद्य में लिखा है तथा हिंदी के प्रचलित दोहरों का भी प्रयोग किया है। उसने बहुत से ऐसे मुहावरों को भी यहाँ पर स्थान दिया है, जो हिंदीभाषी क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित थे। इनके कुछ ऐसे दोहरे इस प्रकार के हैं -

चार बुलाई चौदा आई, सुनो घर की रीत।
भार के आकर खा गये, घर के गाये गीत॥
धरती स्याने रीजकर, बीज बिखर कर बोय।
माली सींचे सौ घड़ा, रित आये फल होय॥
जिनकूँ दर्सन इत हैं, तिनकूँ दर्सन उत।
जिनकूँ दर्सन इत नहीं; तिनकूँ इत न उत॥

४. गवासी—दक्खिनी हिंदी के प्रसिद्ध सूफी कवियों मे मुल्ला वजही के अनंतर उसके समकालीन कवि गवासी का नाम लिया जाता है। इसके मूल नाम का 'शेख हुसेन वहाउद्दीन' होना भी बतलाया जाता है, किंतु अभी तक इस बात के लिये यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। गवासी मुल्ला वजही से कदाचित् उम्र में छोटा था और इसकी ख्याति भी, उस के कुछ अनंतर, अपनी प्रमुख रचनाओं का निर्माण कर

देने पर ही हो सकी। इसे सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के शासनकाल (सं० १६८३-१७१६) मे राजकवि का भी पद प्राप्त हो गया जिससे इसकी कीर्ति के बढ़ने में विशेष सहायता मिल गई। गवासी सैयदशाह अबुलहसन अली हैदरसाकी का मुरीद था तथा सूफियों के कादिरिया सप्रदाय का अनुयायी रहा। इसके उपलब्ध प्रेमाख्यानों मे से 'मैनासतवंती' के सर्वप्रथम रचे जाने का अनुमान किया जाता है और यह भी समझा जाता है कि उस काल तक यह संभवतः नवयुवक भी रहा होगा। इसके 'सैफुल मुलूक व बदीउज्जमाल' नामक प्रेमाख्यान की भी कदर पहले नहीं हुई जिस कारण यह कुछ निरुत्साहित सा भी दीख पड़ा। परंतु जब यह न केवल राजकवि के पद पर पहुँच गया, प्रत्युत इसे बीजापुर के दरबार के लिये राजदूत बनाकर भी भेजा गया तथा इसे जागीर भी मिल गई तो इसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और जब इसने अपनी रचना 'तूतीनामा' भी प्रस्तुत कर दी तो यह अपने को एक उच्च कोटि का कवि सिद्ध करने से भी न रोक सका। इसकी इन तीनों रचनाओं के अतिरिक्त 'लैली मजनू' का भी नाम लिया जाता है, किंतु यह अभी तक उपलब्ध व प्रकाशित नहीं हो सका है।

गवासी के प्रेमाख्यान 'मैना सतवंती' के विषय मे पहले समझा जाता था कि उसका नाम 'चदा और लोरक' रहा होगा, किंतु यह ठीक नहीं था। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ सर्वप्रथम 'इंडिया आफिस लायब्रेरी' में मिली थीं, किंतु इधर कई एक अन्य स्थानों से भी उपलब्ध हो गई हैं तथा यह रचना अब तक उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद से सन् १६६५ ई० मे प्रकाशित भी हो चुकी है जिससे इसके संबंध में अब कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है और इसके कथानक एवं रचनाशैली आदि पर भी कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। इसके अंतर्गत किसी शाहे वक्त की चर्चा की गई नहीं दीख पड़ती जिसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसके कवि का संबंध उस समय तक संभवतः किसी राजदरबार के साथ नहीं रहा होगा और इस विचार से इसके निर्माणकाल को 'सैफुलमुलूक व बदीउज्जमाल' के कुछ पहले ठहराया जा सकता है। स्वयं कवि ने इस बात का कहीं संकेत नहीं किया है कि उसने इसे कब रचा था, किंतु कतिपय अन्य बातों पर भी विचार कर लेने पर यह मान लेना कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता कि इसे उसने सं० १६७४-५ के कुछ वर्ष पहले ही प्रस्तुत कर दिया होगा। इसके वर्ण्य विषय अथवा कथावस्तु का संबंध प्रसिद्ध लोकगाथा लोरक एवं चंदा की कहानी के साथ स्पष्ट हो जाता है और इतना और पता चल जाता है कि उसके केवल उसी अंश को यहाँ प्रमुख स्थान दिया जाता है जिसमे उसके नायक लोरक की पत्नी मैना के सतीत्व का वर्णन आता है।

'मैना सतवंती' के कथानकवाला सारांश संक्षिप्त रूप में इस प्रकार दिया जा सकता है :

किसी नगर का बादशाह बालाकुँवर था जिसकी पुत्री चंदा बहुत सुंदरी थी और एक दिन जब वह अपने महल के कोठे पर बैठी थी, उसने नौजवान चरवाहे लोरक को देख लिया जो जंगल की ओर से अपने मवेशी चराकर वापस जा रहा था। यह उसकी ओर आकृष्ट हो गई और फिर इसने किसी दिन उसे संकेत द्वारा बुलाकर अपने हृदय का भाव भी उसपर प्रकट कर दिया जिसका पता चलते ही वह ग्वाला घबड़ा गया। उसने इसके प्रलोभनों से प्रभावित न होते हुए, इससे यह भी कह दिया कि मेरा विवाह बचपन में ही सुंदरी मैना के साथ हो चुका है। उसने अपनी उस पत्नी की बहुत कुछ प्रशंसा भी की, किंतु, अंत में, वह चंदा की बातों में आ गया और किसी समय दोनों अवसर पाकर वहाँ से निकल भागे जिसका पता पीछे बादशाह को भी लग गया परंतु बादशाह बालाकुँवर इस घटना से विचलित नहीं हुआ और उसने अपने मुसाहबों को बुलाकर उनसे अपने हृदय की बात बतलाते हुए, कहा कि जो होना था अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं पहले से ही ग्वाले की पत्नी सुंदरी मैना पर आसक्त हो चुका हूँ, इस कारण अब ऐसा करो कि किसी दूती द्वारा उसे बहकाकर प्राप्त कर लिया जाय। फलतः कोई प्रसिद्ध दूती बादशाह के सामने लाई गई जिसे समझा बुझाकर उसने ऐसे कार्य पर नियुक्त कर दिया और वह इस प्रकार का प्रण करके मैना के पास गई कि यदि सफलता नहीं मिल सकी तो मैं अपना सिर मुँड़वा लूँगी।

इधर मैना की यह दशा थी कि जब इसे लोरक के कहीं निकल जाने का पता चला तो यह बहुत दुखी हो गई और यह अपना जीवन उसके विरह में किसी प्रकार ज्यों त्यों करके, बिताने लग गई। बुढ़िया दूती ने, इसी परिस्थिति में इसके पास आकर अपना परिचय दिया, 'तू नहीं जानती, मैं तेरी माँ हूँ और मैंने तुझे दो वर्षों तक दूध पिलाया है। मैं तुझ से दूर पड़ गई थी। तेरा स्मरण करके मैं कभी कभी उदास हो जाया करती थी इसलिये आज तेरे पास आई हूँ'। इसपर मैना बहुत प्रसन्न हुई और दूती से उसने अपनी विरहव्यथा की सारी कहानी बतलाकर उससे सहायता चाही। दूती यह सुनकर उसके पति लोरक की निंदा करने लगी और उसने इस प्रकार की चेष्टा की जिससे मैना का चित्त उसकी ओर से उचट जाए। परंतु यह उसकी बातों द्वारा प्रभावित न हो सकी और बातचीत के साथ उन दोनों के बीच का मतभेद बढ़ता ही चला गया। यहाँ तक कि जब दूती ने, बादशाह बालाकुँवर के सौंदर्य वैभवादि की चर्चा करके उसकी ओर मैना को आकृष्ट करना चाहा तो, इसे उसके प्रति घृणा तक भी होने लग गई। बुढ़िया

दूती एवं मैना ने अपनी बातचीत के प्रसंग में अपनी अपनी ओर से ऐसे कुछ दृष्टांत भी, अपने अपने पक्षों के समर्थन में, प्रस्तुत किए जिनकी चर्चा, इस रचना के अंतर्गत अंतर्कथा के रूपों में आ गई है तथा जिस कारण इसके आकार मे कुछ वृद्धि भी हो गई है और यह केवल मैना मात्र के ही सतीत्व की कहानी नहीं रह जाती।

अंत मे जब मैना ने दूती से पूछा कि 'क्या स्वयं तुमने भी ऐसा किया है और अपने पति को छोड़कर दूसरों का साथ दिया है?' तथा, इसके उत्तर मे जब उसने इस बात को स्वीकार कर लिया और कहा कि 'हाँ, पहले दो चार और फिर जवानी मे आठ दस तक को मैंने अपनाया था।' तो मैना इस उत्तर से झुँझला गई और इसने स्पष्ट शब्दों मे कह डाला 'यदि मैंने तेरा दूध पिया होता तो मेरा भी हृदय वैसा ही बन गया होता, इस कारण मुझे विश्वास नहीं होता कि तू मेरी माँ है अथवा मेरा कल्याण चाहती है। तू और तेरा बादशाह दोनों भी मिलकर मुझे अपने व्रत से डिगा नहीं सकते, बल्कि मेरी आह दोनों को जला दे सकती है।' बादशाह को जब इस बात का पता चला तो उसने मैना के सामने आकर इसके सतीत्व की प्रशसा की और उससे क्षमायाचना की। उसने कोई आदेश भेजकर लोरक एवं चंदा को बुला भेजा और लोरक को मैना से मिला दिया। उसने स्वयं अपनी बेटी को भेजकर मैना का शृंगार कराया तथा दूती का सिर मुँड़ाकर और उसे गधे पर चढ़ाकर सारे नगर मे उसे घुमाने का आदेश दिया। इस प्रकार 'मैना सतवंती' की प्रेमगाथा का नायक भी मूलतः वही लोरक सिद्ध होता है जिसकी कहानी, मुल्ला दाऊद की रचना 'चंदायन', दौलत काजी के बँगला प्रेमाख्यान 'सती मैना ओ लोर चंद्राणी', साधन कवि के 'मैना सत' एवं फारसी मे हमीदी द्वारा रचे गए 'अस्मतनामा नामक प्रेम कहानी में भी पाई जाती है।

इनमे से 'चंदायन' के अंतर्गत मुल्ला दाऊद ने लोरक की दोनो पत्नियों की कहानी कही है, किंतु चंदा एवं लोरक के संबंध को वह कवि कहीं अधिक विस्तार के साथ चित्रित करता दीख पड़ता है और वह कदाचित् प्रचलित लोकगाथा का पूरा अनुसरण करता हुआ कथानक के किसी अंशविशेष पर अधिक बल देना नहीं चाहता। परंतु साधन कवि के 'मैना सत' में यह बात नहीं पाई जाती और वहाँ पर कवि का उद्देश्य मैना के सतीत्व को ही विशेष महत्व देना जान पड़ता है। फिर भी 'मैनासत' एवं प्रस्तुत रचना 'मैना सतवंती' में पाई जानेवाली कहानी ठीक एक ही ढंग से नहीं कही गई है। इसकी 'माँ' वहाँ पर 'मालिन' है जो अपने को मैना की 'धाय' कहलाती है 'बालाकुँवर' 'सातनकुँवर' है, यहाँ जो दृष्टांत दिए गए हैं उनकी जगह पर वहाँ प्रत्येक ऋतु का वर्णन किया गया दीखता

है और इसी प्रकार, यहाँ के बादशाह के आदेशानुसार दूती का सिर मूँड़े जाने का कार्य वहाँ स्वयं मैना द्वारा संपन्न होता है। जहाँ तक उपर्युक्त 'सती मैना ओ लोर चंद्राणी' के विषय में कहा जा सकता है उसमे भी पूरी कथा के देने का प्रयत्न लक्षित होता है। फिर भी रतना मालिन से ही काम वहाँ पर भी लिया जाता है और उसका सिर मैना की किसी सहेली की सहायता से मूँड़ा जाता है। वहाँ पर इसके उपरांत किसी ब्राह्मण को भेजकर लोरक को अपने घर बुलवाया भी जाता है।

फारसी की मस्नवी 'अस्मतनामा' की रचना सन् १०१६ हि० अर्थात् सं० १६६४-५ में सम्राट् जहाँगीर के राज्यकाल में हुई थी। इसके रचयिता हमीदी ने इसके आरंभ में ही बतलाया है कि उसे मैना की कहानी के सामने लैली आदि की प्रेमगाथाएँ कुछ भी महत्व नहीं रखती तथा इसी बात के समर्थन मे उसने इसका निर्माण भी किया है। 'अस्मतनामा' की मैना भारत के किसी राजा की पुत्री है जिसका विवाह वह नवयुवक लोरक के साथ कर देता है जो फिर चंदा के फेर में पड़कर इसे छोड़कर चल देता है। मैना के सौंदर्य की चर्चा सुनकर फिर कोई सातनकुँवर इसपर आसक्त हो जाता है और इसके महल का चक्कर लगाना आरंभ कर देता है। फिर वह कुटनी को नियुक्त करता है जो अपने को मैना की धाय के रूप मे प्रकट करती है और इसे प्रत्येक मास के ऋतुपरक गीत सुनाती है। इसी बीच बारह मास व्यतीत होते ही, उधर चंदा की मृत्यु हो जाती है और लोरक अपने घर वापस आ जाता है। इस रचना की एक विशेषता यह है कि इसकी कहानी को हमीदी ने किसी धार्मिक रूपक जैसा रूप देने का भी प्रयत्न किया है। उसने लोरक को 'खुदा' (परमात्मा), मैना को 'रूह' (जीवात्मा), सातन को 'शैतान' एवं मालिन को 'नफ्स' इन्सानी (इंद्रियों) के रूप मे समझा है जिस बात का कदाचित् कोई भी संकेत हमे 'चंदायन', 'मैनासत' आदि रचनाओं मे नहीं मिलता। 'मैना सतवंती' मे भी इस विशेषता का न पाया जाना सिद्ध कर सकता है कि इन दोनों रचनाओं मे पूरी समानता नहीं है। अतएव, हमे यह कहने का कोई पुष्ट आधार नहीं कि 'मैना सतवंती' 'अस्मतनामा' पर आश्रित है अथवा इसका आधार कोई अन्य वैसी रचना होगी। गवासी की इस रचना की कुछ पंक्तियों को हम लगभग उसी रूप में अन्यत्र एक 'मसनवी किस्सा सतवंती' नामक रचना में भी पाते हैं जिसके रचयिता के लिये 'अज्ञात लेखक' लिखा गया मिलता है[१] और उसकी पूरी प्रतियाँ हमे उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। अतएव इस संबंध

[१] द० हि० ग० प० पृ० २८८-६।

में केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों ही किसी एक और संभवतः गवासी कवि ही द्वारा निर्मित, प्रेमाख्यान का पाठांतर मात्र सूचित करती होंगी।

अपनी द्वितीय रचना 'सैफुल मुलूक व बदी उलजमाल' के विषय में गवासी ने, इसके एक स्थल पर स्वयं कहा है कि एक दिन जब वह प्रातःकाल कहीं उद्यान में टहलने गया था, उसने वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य की छटा देखकर सोचा कि कोई ऐसा काम करूँ जिससे अमर हो जाऊँ तथा, इसी संदर्भ मे उसके हृदय मे यह भी भावना जाग्रत हुई कि उसे सैफुल मुलूक व बदी उल् जमाल को प्रेमगाथा लिखनी चाहिए। उसके अनुसार यह कहानी पहले से ही प्रचलित रही तथा, 'अलिफ लैला' के देखने से पता चलता है कि इसे वहाँ भी, स्थान मिला है। एक फारसी की गद्य पुस्तक 'सैफुल मुलूक' को भूमिका में बतलाया गया है कि प्रसिद्ध सुल्तान महमूद गजनवी के एक वजीर को उसके लिये रोचक कहानियों का पता लगाते समय, दमिश्क के बादशाह ने दरबार में ऐसी कोई कहानी की पुस्तक मिली थी जिसमें यह कहानी भी थी जिस उल्लेख के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि गवासी ने भी वैसे ही किसी मूलस्रोत से इसका कथानक ले लिया होगा। परंतु इसके लिये अभी तक ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है जिसके आधार पर इस प्रकार का निर्णय किया जा सके। ऐसी दशा मे यह भी संभव है कि कवि ने इसे किसी पहले की रचना से केवल अनुवाद मात्र के ही रूप मे प्रस्तुत नहीं किया हो। इस रचना की भी कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमे से अधिकतर हैदराबादवाले पुस्तकालयों मे ही पाई गई हैं और कुछ योरप में भी वर्तमान हैं। इसकी रचना सं० १६८२-८३ मे किसी समय हुई थी और इसकी एक विशेषता यह रही कि इसके अंतर्गत कदाचित् सर्वप्रथम अभारतीय कथानक के आधार पर प्रेमाख्यान की रचना की गई तथा उसी के अनुसार अनेक घटनाओं की भी सृष्टि की गई। इसके लिये कहा गया है कि इसकी कथावस्तु का मूल आधार कोई अरबी मे प्रचलित कथा भी कही जा सकती है। इसके अनुसार मिस्र का बादशाह कोई आसिम नवल नामक व्यक्ति है जिसके पुत्र का नाम सैफुल मुलूक है और वह जिस दिन जन्म लेता है उसी दिन बादशाह के वजीर को भी एक पुत्री उत्पन्न होती है जिन दोनों का लालन पालन स्वयं बादशाह ही करता है तथा इन्हें शिक्षा भी दिलवाता है। संयोगवश एक दिन सैफुल मुलूक कोई एक जरीन कपड़ा खोलता है जिसपर किसी सुंदरी का चित्र बना रहता है और यह उसे देखकर मोहित हो जाता है। बादशाह को जब इस बात का पता लगता है तो वह वजीर की पुत्री को बतला देता है कि उस कपड़े को कुछ परियाँ उसे आँधो के समय भेंट स्वरूप दे गई थी तथा उसपर निर्मित चित्र अंबना की किसी राजकुमारी का है।

तत्पश्चात् इसके फलस्वरूप सैफुल मुलूक उस राजकुमारी को ढूँढने के लिये वजीर की पुत्री के साथ निकल पड़ता है और ये दोनों चीन देश तक पहुँच जाते हैं। वहाँ पर इन्हें किसी १७० वर्ष के वृद्ध से पता चलता है कि वह सुंदरी राजकुमारी उसकी जानकारी के अनुसार तुर्की के कुस्तुन्तुनिया नगर में हो सकती है। तदनुसार दोनों उधर चल देते हैं और आँधी तूफान के कारण अलग अलग हो जाते हैं तथा शाहजादा एक तख्ते के सहारे लगा हुआ जिन्नों के देश में पहुँच जाता है। जिन्न उसे अपनी पुत्रियों के लिये भोजन के रूप मे भेजता है जिनमे से एक इसपर आसक्त हो जाती है और उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करने पर यह बंदी बना लिया जाता है, वहाँ से जब वह किसी प्रकार भाग निकलता है तो उसकी भेंट 'सर्फद' कस्बे की राक्षसी से हो जाती है जो अंत में बदरुल जमाल का पता देती है

वहाँ से ये दोनों बदरुल जमाल के लिये चलते हैं और यह राक्षसी सुफल्मुल्क को अपने अतिथि के रूप मे प्रकट करती है। तदंतर वहीं उसकी भेंट खो गई हुई वजीर की पुत्री से भी हो जाती है और बदरुल जमाल जब मिलती है तो वह उस पर आसक्त हो जाती है। बदरुल जमाल को अपने पिता का भय था जिस कारण उसने अपने लिये पैरवी अपनी नानी शहरबानू से कराई। इधर सैफुल्मुल्क फिर कुछ राक्षसों के हाथ में पड़ गया जिनसे लड़कर बदरुल जमाल के बाप को उनसे छुड़ाना पड़ा जिसके अनंतर नायक एवं नायिका का विवाह सपन्न हो जाता है। इस प्रकार कथानक के अंतर्गत मिस्र और चीन जैसे दूरवर्ती देशों तथा जिन्नों, परियों, तूफानों आदि का समावेश करके इस कवि ने जो विचित्र वातावरण चित्रित किया है वह हमारे लिये कुछ अपरिचित सा जान पड़ता है और हमें अभारतीय भी लगता है। इस प्रकार की बातों को लेकर काव्यरचना की परंपरा लगभग उसी समय उत्तरी भारत के सूफी कवि उसमान तथा जान कवि की रचनाओं मे भी लक्षित हुई तथा इसे कासिम शाह ने अपने 'हंस जवाहर' प्रेमाख्यान मे आगे बढ़ाया और अंत मे,निसार की रचना 'यूसुफ और जुलेखा' तक की सृष्टि हो गई। इन दोनों में एक उल्लेखनीय अंतर यह रहा कि दक्खिनी हिंदीवाली रचनाएँ जहाँ अपने काव्यरूपों एवं छंदों तक मे ईरानी आदर्शों का अनुसरण करती रहीं वहाँ उत्तरी भारत के सूफी कवियों ने अपनी पूर्वागत पद्धति की उपेक्षा नहीं की और ये प्रधानतः दोहे चौपाइयों मे ही लिखते रहे। दक्खिनी हिंदी के कवियों में से गोवासी के ही समकालीन कवि अमीन ने भी एक उक्त प्रकार की रचना, बीजापुर के सुल्तान आदिल द्वितीय (सं॰ १६३८-१६७३) के समय, 'बहराम हुस्न बानू' के नाम से आरंभ की थी जिसे वह पूरा नहीं कर सका था और उसे दौलत ने अंत तक निभाया।

ग़वासी की तीसरी रचना 'तूतीनामा' की कहानी का मूलस्रोत विदेशी न

होकर भारतीय समझा जा सकता है। इसका आरंभ ही हिंदुस्तान के किसी धनी सौदागर की वाणिज्ययात्रा से होता है और 'तूतीनामा' स्वयं वस्तुतः संस्कृत की 'शुकसप्तति' के एक फारसी अनुवाद का दक्खिनी अनुवाद है। कहते हैं, किसी मौलाना जियाउद्दीन नखशवी ने 'शुकसप्तति' की उक्त कहानियों में से केवल ५२ को चुनकर उन्हें, सं० १३२९ में किसी समय फारसी में लिख डाला था तथा फिर उनमें से केवल ३५ को ही लेकर किसी मुल्ला सैयद मुहम्मद कादरी ने सं० १६८१ में उसका कोई एक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जिसकी भी भाषा फारसी ही रही और गवासी ने फिर नखशवी वाली कहानियों में से केवल ४५ को ही चुन लिया। इस प्रकार 'सैफुल मुल्क' में जहाँ एक ही कहानी को अधिक विस्तार के साथ कहा गया मिलता है वहाँ 'तूतीनामा' के अंतर्गत, मूलकथा के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध न रखनेवाली अनेक ऐसी कहानियाँ भी आ जाती हैं जिन्हें अधिक से अधिक दृष्टांतों के रूप में प्रस्तुत की गई कह सकते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रंथ 'तूतीनमा' के अनुवाद तुर्की व अंग्रेजी जैसी कुछ अन्य भाषाओं में भी हो चुके हैं तथा इसके सैयद हैदरबख्श द्वारा किए गए किसी 'तोता कहानी' नामक अनुवाद का भी एक हिंदी अनुवाद 'शुक बहत्तरी' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी मूल कथा के अनुसार उपर्युक्त सौदागर को एक पुत्र, किसी प्रकार सौभाग्यवश उत्पन्न हो जाता है जो अत्यंत सुंदर है और वह एक दिन बाजार में जाकर एक तोता खरीद लाता है जो परोक्ष की बातें करने में भी कुशल जान पड़ता है। इस कारण उसके द्वारा यह जानकर कि शीघ्र ही कुछ व्यापारी वहाँ 'अंबर' खरीदने आनेवाले हैं, इसलिए, यदि शहर का 'अंबर' खरीदकर एकत्र कर लिया जाय तो, लाभ हो सकता है। ऐसा ही किया जाता है तथा इससे तोते के प्रति विशेष प्रेम दिखाया जाने लगता है और उसके लिये एक मैना भी ला दी जाती है। फिर नौजवान सौदागर व्यापार के उद्देश्य से एक लंबी यात्रा पर चल देता है और तोते को अपनी पत्नी के सपुर्द कर देता है। तदंतर उसकी अनुपस्थिति में, उसकी पत्नी किसी नवयुवक के साथ प्रेम करने लगती है जिस कारण उसे मना करने पर मैना जान से मार दी जाती है। परंतु जब सौदागर की पत्नी तोते से अनुमति लेकर अपने प्रेमी के यहाँ जाना चाहती है तो वह इसे स्वीकृति प्रदान कर देता है, किंतु इसके साथ ही वह यह भी कह देता है कि 'अपने हृदय की गूढ बातें प्रकट न होने देना नहीं तो तुम्हारी भी दशा उस रानी की जैसी ही हो जायगी जिसकी कहानी इस प्रकार है और वह तदनुसार बराबर प्रतिदिन नई नई कहानियाँ कहता चला जाता है जिनकी ओर आकृष्ट हो जाने के कारण वह बाहर नहीं जा पाती तथा तब तक उसका पति भी यात्रा से लौट आता है।

गवासी ने इसी विषय को अपनी दक्खिनी हिंदी के शब्दों द्वारा प्रकट किया

है। इसके अंतर्गत कवि ने नारियों की निंदा अनेक बार की है जिसके आधार पर एक आलोचक ने यह भी अनुमान किया है कि ऐसा संभवतः उसके व्यक्तिगत अनुभव के कारण है। किंतु उसकी कोई प्रामाणिक विस्तृत जीवनी न मिलने के कारण, इस प्रकार का कथन करना कोरा अनुमान भी कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि जिस मनोवृत्ति के साथ गवासी ने 'तूतीनामा' के अंतिम अंश की रचना की है वह इस प्रसंग मे अवश्य द्रष्टव्य है। कुछ पंक्तियाँ ये हैं :

गवासी अगर तू है सचला गवास। लगा इश्क अपने खुदा सात खास ॥
तेरे दर्द का तूँ अपने हो तबीब। ले गर्दान ए हर्ज गोई ते जीब ॥
चलेगा केता नफ्स के कैम ने। केता होयगा नाँव के पैमने॥
केता शायरी पर धरैगा खियाल। केता होयगा दरपमे खत्तो खाल ॥
हो बेदार यक बार इस ख्वाब ते। निकल भार इस गम के गर्दाब से ॥

यहाँ पर इन्होंने फिर एक दृष्टांत पैगबर ईसा मसीह का दिया है जिसके पूछने पर कि 'तू यह बुर्के के अदर कौन सी औरत है ?' 'दुनिया' ने उन्हें बतलाया था :

दुन्या जिस कते है सो मेरा है नाँव। कहे 'काड बुर्का' जो तुजकूँ निम्हाँव ॥
जो बुर्का सुही काडकर उस घड़ी। बुरी शक्ल सों तब नजर तल पड़ी ॥
डुबाई है खुश लहु मने एक हाथ। दुजा हाथ रंगी है मेंहदी संगात ॥
जो ईसा नबी कूँ लग्या यूँ अजब। कही खोल ईसा कूँ इस घात तब ॥
'जो यो हाथ लहू से भरचा है मेरा। सो कर खून आई हूँ यक शै केरा ॥
जो मेंहदी दुजे हाथ कूँ ल्याइ हूँ। नवा इक मशुस लोड कर आई हूँ ॥
मेरा काम है लोडना छोड़ना। मेरा रस्म है जोड़ना तोड़ना ॥
मेरी आरजू में जे कोइ उम खोय। थे नामर्द उनमें न था मर्द कोय ॥
न कर रतमात इस गुजर गाह का। यों फाँदा है दर्वेश होर शाह[1] का
॥इत्यादि।

गवासी ने 'सैफुलमुल्क व बदीयुल् जमाल' मे सूफीमत द्वारा प्रभावित बातें कम ही दी होंगी, किंतु इस रचना मे उसने यत्र तत्र अनेक ऐसी बातों को स्थान दिया है।

गवासी के लिये यह भी कहा जाता है कि इसका एक और भी प्रेमाख्यान 'चंदा और लोरक' नाम से उपलब्ध हुआ है तथा इसके संबंध मे अनुमान किया गया है कि इसकी रचना संभवतः सं० १६८२ के पहले हो चुकी होगी। इसे किसी फारसी ग्रंथ का अनुवाद भी बतलाया जाता है, किंतु, अभी तक इसकी कोई प्रति

१ 'द० हिं० का० धा०, पृ० २१६-७।

उपलब्ध न होने के कारण, इसके विषय मे कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसकी जितनी पंक्तियाँ अभी तक हमे मिल सकी हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इसका कथानक 'चंदायन' वाले से कदाचित् कुछ भिन्न रहा होगा। जैसा इसके पहले संकेत किया जा चुका है, उसके विपरीत गवासीवाली रचना की चंदा ही किसी नगर के बादशाह की पुत्री जान पड़ती है और उसका पिता कोई 'बाला' वा 'माला' कुँवर सा लगता है। इस प्रकार जिस समय चंदा को चोरी से लेकर लोरिक भाग निकलता है और बादशाह को इस बात की सूचना दी जाती है तो वह यहाँ पर कहता है, 'अच्छा हुआ, मेरी बाधा टल गई। लोरिक के घर उसकी एक परम सुंदरी नारी है जिसे मैं प्यार करता हूँ और अब उसे किसी कुटनी द्वारा पा लेने में, मुझे सुविधा होगी। उपलब्ध पंक्तियों द्वारा न तो चंदा के किसी बावन जैसे पति का पता चलता है और न उसके भागते समय की किन्हीं बाधाओं का ही वर्णन आता है, प्रत्युत यहाँ पर लोरक अपनी पूर्व पत्नी की प्रशंसा भी करता दीख पड़ता है।

इसमे संदेह नहीं कि लोरक एवं चंदा की कहानी के दो भाग प्रायः पृथक् पृथक् प्रचलित रहते आए हैं जिसमे से एक के अंतर्गत लोरक एवं चंदा की प्रेमकहानी का ही वर्णन अधिक विस्तार से किया गया मिलता है और लोरक की पूर्वपत्नी को गौरव स्थान प्राप्त रहता है। किंतु दूसरे मे यही 'मैना', 'मंजरी' अथवा अन्य भी किसी नाम से किसी 'सतवंती' के रूप मे महत्व पाने लग जाती है। फिर भी ऐसा कह सकते हैं कि गवासी, कदाचित् इस रचना के अंतर्गत भी अपने सूफीमत का प्रचार करता सा नहीं लक्षित होता।

५. मुकीमी—इस नाम के कवि ने 'चदर बदन व महियार' नामक एक प्रेम कहानी की रचना की है जिसका प्रत्यक्ष उद्देश्य न केवल सूफीमत जैसे साम्प्रदायिक संदेश का प्रचार जान पड़ता है, प्रत्युत इसका 'मकसद मजहबे इस्लाम की अजमत जाहिर करना'[1] भी बतलाया गया है जिस कारण इसका महत्व भी उस दृष्टि से, बहुत अधिक बढ़ जाता है। मुकीमी का व्यक्तिगत परिचय हमे यथेष्ट रूप मे प्राप्त नहीं है और इस विषय में, केवल प्रासंगिक उल्लेखों के ही आधार पर कुछ अनुमान कर लिया जाता है। कहते हैं, इसके पिता मुल्ला रजाई थे जो, हि० सन् ९८८ अर्थात् सं० १६३६ में, बीजापुर में वर्तमान थे। मुकीमी का पूरा नाम, संभवतः, मिर्जा मुहम्मद मुकीम सलमी 'मुकीमी' था और यह 'मशहदी' था जो फारसी के अतिरिक्त हिंदी मे भी कविता कर लेता था। इसे मूलतः ईरान का रहनेवाला तथा फारसी का एक अच्छा शायर भी कहा गया है। इसकी किताब 'चदर बदन व महियार' का रचना-

[1] उ० म० इ०, पृ० ४८-५०।

काल भी हि० सन् १०५० अर्थात् सं० १६६२ तक समझा जाता है। इस कहानी की वास्तविक घटना का होना भी, मुकीमी के आविर्भावकाल मे ही, माना जाता है और कहते हैं कि कवि ने 'सैफुलमुलूक' का प्रचार हो जाने पर इसे निर्मित किया था। इसकी कथावस्तु के आधार पर मुहम्मद बाकर नामक 'आगाह' उपनाम वाले कवि ने 'मसर्रते इश्क' नामक एक रचना सं० १७६८ मे प्रस्तुत की है और उसने अपनी रचना के अंतर्गत तसव्वुफ (सूफीमत) की बातों को अधिक स्पष्टता के साथ समाविष्ट कर दिया है। यह कदाचित् सर्वप्रथम प्रेमाख्यान है जो बीजापुर में लिखा गया था, किंतु जिससे प्रेरणा ग्रहण करके अन्य कवियों ने इसकी कथावस्तु अपनाई। इसे संक्षिप्त रूप मे इस प्रकार दिया जा सकता है :

कोई महियार नामक युवा पुरुष चंदर पटन के राजा की लड़की चंदर बदन का नाम सुनकर उसपर आसक्त हो जाता है और उसकी खोज मे चंदर पटन पहुँचकर उसे देख भी लेता है तथा उसके पैरों तक पर भी गिर पड़ता है। परंतु इस बात से कुछ प्रभावित होती हुई भी, वह इसे अपने धर्म के कारण ठुकरा देती है जिसके फलस्वरूप इसकी दशा एक पागल की सी हो जाती है। इसे बीजापुर के राजा से कुछ आश्वासन अवश्य मिलता है, किंतु लड़की के बाप के यहाँ इसकी कुछ भी सुनवाई नहीं होती। फलतः महियार अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है और इसका जनाजा चंदर बदन के महल की ओर से ही निकलता है, किंतु किसी कारण आगे नहीं बढ़ पाता। इसका समाचार सुनकर चंदर बदन बहुत ही प्रभावित हो जाती है। वह नहा धोकर कहीं कोने में जा सो रहती है और वह भी मर जाती है जिस पर महियार का जनाजा आगे बढ़ने लगता है और जब वह कब्र मे रखा जाता है तो वहाँ किसी प्रकार चंदर बदन का भी शव पहुँच जाता है।

इस रचना के कुछ आलोचकों का कहना है कि इस घटना के स्मारक रूप में कहीं कुछ दक्षिण भारत मे निर्माण भी कर दिया गया है। मुकीमी की इस रचना से पता चलता है कि उसकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव बहुत कुछ था और उसकी कथनशैली भी सादी थी, 'चंदरबदन व महियार' से इस संबंध मे कुछ अवतरण दिए जा सकते हैं :

दुन्या में बड़ा है पिरित का रतन। पिरित बिन नहीं कोई खाली जीवन ॥
पिरित को बनाया है करतार वह। पिरित सोच सँवारया है संसार वह ॥
खुलासे में सबसे पिरित है अव्वल। पिरित बिन नहीं कोई दूजा फजल ॥
पिरित बिन कहीं इश्क उपजता नहीं। कि मरना व जीना समजता नहीं[1] ॥

१ च० ब० म०, पृ० ८२।

बिरह की सुलग आग मनकूँ लगी। जला मन को कर राख तनकूँ लगी ॥
कि जिस सर बिरह की अगिन आ पड़ी। पकीं है कि मुश्किल इसे सर खड़ी ॥
कि जिस सर बिरह की अगिन है सही। जलेगा तो आशिक हमेशा वही[1] ॥ आदि।

इसके द्वारा उसकी प्रेम व विरह विषयक धारणा का पता चल जाता है।

इन दक्षिणी भारत के सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को पढ़ने से पता चलता है कि यद्यपि ऐसे उत्तरी भारत वालों ने इस प्रकार की रचनाओं का आरंभ करके, भरसक भारतीय साहित्यिक परंपरा का ही अनुसरण करने की चेष्टा की थी, इन्होंने इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इन्होंने अपने लिये अधिकतर फारसी मे लिखी गई मसनवियों को ही आदर्श रूप मे स्वीकार किया तथा इस प्रकार, इन्होंने अपने पीछे आनेवाले कई कवियों का मार्गप्रदर्शन करके भावी उर्दू रचनाओं की एक नई बुनियाद कायम कर दी। फलतः इनके द्वारा रची गई प्रेमगाथाओं में न केवल विशेष रूप से शामी परंपरा की रक्षा एवं प्रचार का प्रयास किया गया, प्रत्युत भारतीय संस्कृति का कहीं सफल चित्रण तक भी न हो सका। जिन्न, परी, देव, शाही दरबार, दरवेश, एवं खिज्र खाँ विषयक प्रसंगों को कभी कभी अनावश्यक होने पर भी स्थान दिया जाने लगा। इसके सिवाय इन कवियों के अधिकतर मुस्लिम शासकों की ही छत्रछाया मे रहकर काम करने के कारण फारसी एवं अरबी भाषा की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर अधिक दीख पड़ने लगी तथा इन दोनों की शब्दावली को भी क्रमशः अधिक स्थान मिलने लगा। फारसी की प्रसिद्ध मसनवियों का लगभग अक्षरशः अनुकरण किया जाने लगा और उनका ही आदर्श प्रायः उन प्रेमगाथाओं के लिये भी उपयुक्त समझा गया जिनका संबंध केवल विशुद्ध प्रेम से रहा। यहाँ तक कि ऐसे कवि अपनी रचनाओं के लिये फारसी एवं कभी कभी अरबी तक के बह्र (छंदों) को ही अपनाने मे अपना गौरव समझने लगे। छोटी सी रचनाओं तक मे भी बराबर केवल उन्हीं बातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया जो अधिकतर मुस्लिम सामाजिक वातावरण के अनुकूल पड़ती थीं। निजामी जैसे पहलेवाले दक्खिनी हिंदी के सूफी कवियों ने अपनी भाषा मे अपने यहाँ की ठेठ बोली के प्रयोग प्रचुर मात्रा में किए थे। परंतु उनके परवर्ती कवियों ने, इस ओर क्रमशः अधिकाधिक ढीलापन दिखलाया

[1] वही, पृ० ८७।

जिस कारण दोनों रचनाशैलियों के बीच अंतर बढ़ता ही चला गया और आज हमें यह देखकर विशेष आश्चर्य नहीं होता कि उनकी ऐसी रचनाओं का उर्दू साहित्य में स्वागत होने लगा है। जहाँ तक पता चलता है, इन दक्षिणी सूफी कवियों ने हमारे आलोच्य युग (सं० १४००–१७००) के उत्तरार्ध काल में अपने प्रेमाख्यानों की रचना आरंभ की थी और उसके अंत तक उन्होंने इनके विभिन्न रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किए। परंतु उनमे से कदाचित् कम लोग ही ऐसे मिल सकते हैं जिन्होंने उत्तरी भारतवाले अपने समानधर्मा लोगों की भाँति सूफी मत का प्रचार करते समय भी, भारतीय परंपरा एवं संस्कृति के वातावरण मे वैसा करने के महत्व का अनुभव किया हो और, कदाचित् इसी कारण, उनकी कृतियाँ उतनी लोकप्रिय भी न हो सकीं।

छठा अध्याय

फुटकल सूफी साहित्य (दक्षिण)

१—शेख ऐनुद्दीन गंजुल इल्म—दक्खिनी हिंदी की सूफी फुटकल रचनाओं का निर्माण वैसे प्रेमाख्यानों से कहीं पहले आरंभ हो चुका था, किंतु अभी तक हमें ऐसा साहित्य यथेष्ट रूप में उपलब्ध नहीं है। उन लेखकों को बड़ी श्रद्धा के साथ आज भी देखा जाता है जिन्होंने अपनी फारसी रचनाओं के अतिरिक्त कतिपय ऐसी पंक्तियाँ भी छोड़ रखी हैं जिनकी भाषा अपनी बोलचाल की थी तथा जिन्हें प्रस्तुत करने का उद्देश्य प्रधानतः सर्वसाधारण के बीच अपने मत का प्रचार कार्य ही रहा। ऐसे सूफ़ियों मे दो वे थे जिनका जन्म सं० १४०० के पहले हो चुका था, किंतु जिनका देहांत १५वीं शताब्दी के क्रमशः पूर्वार्ध व उत्तरार्ध मे हुआ और इनमें से भी प्रथम अर्थात् शेख ऐनुद्दीन की रचनाएँ तो हमे अभी तक देखने को नहीं मिल सकी हैं, किंतु ख्वाजा बंदा नेवाज की कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा उनका कुछ न कुछ अध्ययन तक भी किया जा चुका है। शेख ऐनुद्दीन गंजुल इल्म का जन्म सं० १३६३ मे दिल्ली में हुआ था और ये सं० १४४६ में मरे थे जिस कारण इनकी रचनाओं को प्रारंभिक वा प्राचीनतम भी कहा जाता है, यद्यपि उनके प्रकाश मे न आ सकने के कारण, उनपर कुछ कहने मे पूरी कठिनाई का अनुभव होता है। कहते हैं कि ये दिल्ली से चलकर गुजरात होते हुए दौलताबाद पहुँचे थे जहाँ पर मुहम्मद बिन तुगलक (सं० १३८२-१४०८) का शासन चल रहा था और वहाँ पर ये सैयद बुन्दमीर के मुरीद हो गए तथा इन्होंने यहाँ के कुछ उलेमाओं से भी उपदेश ग्रहण किए। ये फिर सं० १३६१ के लगभग ऐलोबाद आए जहाँ पर बहुत समय तक रहकर पीछे बीजापुर आ गए और इन्होंने सुल्तान अलाउद्दीन बहमनशाह (सं० १४३३—४५) तथा उसके चार उत्तराधिकारियों तक के शासन-प्रबंध को अपनी आँखों देखा और फिर ८६ वर्ष की अवस्था मे मर गए। इनकी रचनाओं की संख्या १३६ तक बतलाई जाती है जिनमे से अधिकांश की भाषा फारसी है। इनके विषय मे प्रसिद्ध है कि इनके कई 'रिसाले' दक्खिनी हिंदी मे भी लिखित मिलते हैं जिनमें से तीन का एक संग्रह 'कालिज किला सेंट जार्ज' के पुस्तकालय में सुरक्षित था और इनके पृष्ठों की संख्या केवल ४० ही बतलाई जाती थी। 'तारीख जबान उर्दू कदीम' के रचयिता हकीम सैयद शम्स उल्ला कादरी का कहना है कि इन तीनों रचनाओं का वर्ण्य विषय ऐसे कर्तव्यों से सबंध रखता था जो धार्मिक व्यक्तियों के लिये आवश्यक समझे जाते हैं तथा जिनका विषयकथन

भी आदेशप्रदान की शैली मे किया गया था।[1] परंतु ये तीन छोटी छोटी पुस्तिकाएँ तक भी, कदाचित् अभी तक प्रकाश मे नहीं लाई जा सकी हैं।

२—ख्वाजा बंदा नेवाज—इनका मूल नाम सैयद मुहम्मद हुसैनी बतलाया जाता है और इन्हें 'गेसूदराज' भी कहा जाता है। ये सं० १३७५ के लगभग दिल्ली में उत्पन्न हुए थे और अपने पिता सैयद यूसुफ शाह के साथ अपनी शैशवावस्था में ही, दक्षिण भारत की ओर आए थे। इनके पिता जब इन्हें केवल पाँच वर्ष का ही छोड़कर मर गए तो ये अपनी माँ के साथ दिल्ली वापस आ गए। यहाँ पर ये नसीरुद्दीन चिरागे देहली के मुरीद हो गए और फिर उन्हीं के उत्तराधिकारी के रूप मे भी प्रतिष्ठित हुए। अंत मे तैमूरलंग द्वारा दिल्ली पर आक्रमण किए जाने पर सपरिवार फिर दक्षिण की ओर गए और गुजरात होते हुए हसनगंगू बहमनी के पोते फीरोजशाह की राजधानी गुलबर्गा पहुँच गए जहाँ पर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही चली गई और सं० १४८० में इनका देहांत हो गया। ये अपने समयवाले उन लोगों मे अग्रणी समझे जाते हैं जिन्होंने इब्न अरबी के 'विश्वात्मवाद' का घोर विरोध किया था तथा इस उद्देश्य से रचनाएँ भी की थीं। इनकी दक्खिनी हिंदी वाली रचनाओं में 'चक्कीनामा', 'मेराज़नामा' और 'सेह पारा' के नाम लिए जाते हैं जिनमें से केवल प्रथम ही पद्य में है। इनकी 'हकीकत रामकली', 'मुखम्मस', 'रुबाई' व 'सहेलिया' नाम से चार अन्य रचनाओं के भी नाम लिए जाते हैं और इनके रचनासंग्रहों मे उनको भी प्रकाशित किया गया दीख पड़ता है[2]। ये दक्खिनी हिंदी के प्रथम गद्यलेखक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इनकी 'मेरा जुल् आशिकीन' नामक रचना सर्वाधिक प्रसिद्ध बतलाई जाती है।

इनके विचार, इनकी भाषा एवं रचनाशैली का कुछ पता नीचे के उदाहरणों द्वारा लग सकता है:

देखो वाजिब तन की चक्की। पीवो चातर होके सक्की॥
सौकन इब्लिस खिच खिच थक्की। के या बिस्मिल्ला अल्लाहो हो अल्ला।
बंदा नेवाज बंदा हुसैनी। सदा बंदगी में रहते।
भर का रैना ठार सौ देना। के या बिस्मिल्ला अल्ला हो हो अल्ला॥
—चक्कीनामा, पृ० २६, ८६

वाहिद अपने आप था आपे आप निभाया।
परकट जलवे कारने, अलिफ मीम हो आया॥
इश्कौ जलवा देने कर, काफ नून बसाया॥—हकीकत रामकली (पृ०६४)

[1] नवल किशोर प्रेस; लखनउ, पृ० ४०-४१।
[2] दे० मी० आ० मय द० क०—पृ० ८६-१०४।

कहाँलक खींचिया रहेगा तू, दुनिया की परेशानी।
जियेलक फिकर है, दुनिया की, दुनिया देखे तो है फानी ॥
—मखम्मस

पानी में नमक डालवियाँ देख्या इसे,
जब घुल गया नमक बोलना किसे।
यों घोले खुदी अपनी खुदा साथ,
मुस्तफा जब घुल गई खुदी तो खुदा बोलता किसे ॥
—रुबाई[1]

सवाल—जाती ईमान कौन सा और सिफाती ईमान कौन ?
जवाब—अखंड हाल साबिती है सो जाती ईमान वह है।
साबिती जाती और जाती है सो सिफाती ईमान ॥
—शहपारा[2]

३—शाह मीरॉं जी—ये एक बहुत बड़े विद्वान् थे तथा दक्षिण के सूफी संतों में भी ये कम प्रसिद्ध नहीं कहे जा सकते। इन्हें शाह मीरॉं जी के अतिरिक्त 'शम्सुल उश्शाक' अर्थात् प्रेमी भक्तों मे सूर्यवत् प्रकाशमान् भी कहा जाता है। कहते हैं, इन्होंने १२ वर्ष तक मदीने मे व्यतीत किए थे और वहॉ से वापस आ जाने पर ये बीजापुर नगर के बाहर निवास करने लगे थे। इन्होंने ख्वाजा कमालुद्दीन बयालानी का शिष्यत्व ग्रहण किया था जो हजरत बंदा नेवाज गेसूदराज के उत्तराधिकारी सय्यद मुहम्मद हुसेनी के उत्तराधिकारी थे। इनकी मृत्यु का समय साधारणतः ६१० हि० सन् समझा जाता है, किंतु डा० अब्दुल हक ने इसे कुछ प्रमाणों के आधार पर ६०२ हि० सन् अर्थात् सं० १५५३ ठीक माना है। ये बीजापुर के ही निकट शाहपुर में मरे थे जहाँ पर इनकी मजार बनी हुई है तथा जहाँ प्रति वर्ष उसी का मेला भी लगा करता है। इनकी पॉच रचनाएॅ बतलाई जाती हैं जिनमें से तीन पद्य मे तथा दो गद्य में हैं। इनकी रचनाओं में हमे कहीं कहीं दाम्पत्य भाव के उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ प्रेमिका अपने प्रेमपात्र से मिलने के लिये शृंगार करती है तथा उसके प्रति आर्त बनकर अनुनय भी करती है। ये किसी एक आदर्श लड़की की चर्चा करते हैं जो अपने बचपन से ही परमात्मा के रँग में रॅगी होती है और जिसे सांसारिक बातें नहीं भातीं। इस लड़की को इन्होंने 'खुश' जैसा नाम दिया है जो इनसे प्रश्न करके कई विषयों पर प्रकाश डालने का अनुरोध किया करती है। इनकी सबसे

१ 'मीराजुल आशिकीन' (दिल्ली) पृ० ८६,८६,६४,६८, १०३।
२ 'दक्खिनी काव्यधारा' पृ० ४-५।

प्रसिद्ध रचना 'खुशनामा' समझी जाती है जो किसी 'मसनवी' के ढंग पर लिखी गई है जिसकी खुशनुदी भी, संभवतः उपर्युक्त 'खुश' से अभिन्न है और वह अंत में, फिरिश्तों के साथ स्वर्गधाम चली जाती है। रचना के आरंभ मे कवि कहता है :

सिफत करूँ मैं अल्ला केरी जे पूरे पूरन पूर,
कादिर कुदरत अंगी कारूँ जो बेड़े ना दूर।
ना उस रूप ना उस रेख ना उस थान मकान,
निरगुना गुनवंता गरना किस मुख करूँ बयान।

फिर इसका कहना है—

इस खुशनामा धरियानाम, दोहा एक सौ सत्तर
दसा जियादा पर है सोने, लहे खुशी के छेत्तर।

खुश के लिये कहा है—

ईस के रंगों रँगी साड़ी, दूजा रंग न बानी,
ईसके पासा हमको वासा फूल फोकट को आनी,[1]

इसी प्रकार की एक अन्य रचना 'खुशनग्ज' नाम से भी इन्होंने लिखी है जिसमें प्रश्नोत्तर द्वारा अनेक बातें कहलाई गई हैं। अपनी एक तीसरी रचना 'शहादतुल हकीकत' के अंतर्गत इन्होंने कहा है :

हैं अरबी बोल केरे, और फारसी बहुतेरे।
यह हिंदी बोलूँ खम, इस अरतों के सनन।
यों गुर मुख पाद पाया, तो ऐसे बोल चलाया।
जे कोई अच्छे खासे, इस बयान केरे प्यासे[2]॥

इनकी एक गद्य रचना 'सबरस' नाम की भी है जिससे पीछे मुल्ला वजही ने भी कदाचित् प्रेरणा ग्रहण की होगी।

४—शेख बहाउद्दीन 'बाजन'—ये सं० १४४५ में किसी समय गुजरात प्रांत में उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनों तक वहीं निवास भी करते रहे। वृद्धावस्था में ये बुरहानपुर चले गए जहाँ पर इनके सं० १५६३ में १२१ वर्ष की अवस्था में मर जाने पर इनकी मजार भी निर्मित हुई। ये शेख रहमतुल्ला गुजराती के

[1] क० उ० (हक०) पृ० ८-१०
[2] वही, पृ० १९।

मुरीद थे जिनके विषय में तथा स्वयं अपने शिष्यों को उपदेश देने के उद्देश्य से भी इन्होंने एक फारसी रचना निर्मित की है। इनका उपनाम 'वाजन' था जिसका अर्थ संगीत का वाद्ययंत्र है जो 'बाजा' भी कहा जाता है, किंतु इसे इन्होंने क्यों पसंद किया, इसका कोई कारण स्पष्ट नहीं होता। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं :

तेरे पंथ कोई चल न सके, जो चले सो चल चल थके।
पढ़ पंडित पोथी ढोयाँ, सब जाना सुध बुध खोयाँ ॥
वाजन वह किसी सरीखा नहीं, और उस सरीखा नहीं कोय।
जैसा कोई मन महँ चिंत दे, वैसा भी न होय ॥
भौंरा लेवे फूल रस, रसिया लेवे बास।
वाजन पाए सचे आस पर, भवरा खरा उदार ॥
मुहम्मद सरवर प्रेम का, रहम तुल्ला झरिया।
वाजन जिवड़ा वार कर, सर आगे धरिया ॥
वाजन कोई न जाने वह कद था और कद था परगट होय।
वही जाने आपकूँ, जब ये परगट हुवा ॥[1]

इन्होंने अपनी भाषा को कभी कभी जबान 'देहलवी' और कभी 'हिंदवी' कहा है।

५. शाह अली 'गाँवधनी'—इनके पिता का नाम शाह इब्राहीम था और ये गुजरात के निवासी थे तथा ये सूफी घराने मे ही उत्पन्न भी हुए थे। बहुत लोगों को विश्वास था कि इनसे अपनी जो अभिलाषा प्रकट की जाय उसकी ये पूर्ति कर सकते थे जिस कारण ये 'धनी' कहलाते थे। इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्हें जागीर से कोई गाँव मिला था जिस कारण ये 'गाँवधनी' कहे जाते थे। इनका देहांत ७७ वर्ष की अवस्था मे सं० १६२२ में किसी समय हुआ था और इनकी मजार का अहमदाबाद मे होना बतलाया जाता है। इनकी एक रचना का नाम 'जवाहरुल् इसरारे अल्ला' है जिसमे से कुछ अवतरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं :

आपी खेलूँ आप खिलाऊँ। आपी आपस ले, कल जाऊँ॥
मेरा नाँव मुझे अत भावे। मेरा जीव मुकी पर आवे॥
है सो हो हो होय रही है। जिधर देखूँ तित एक वही है॥
सरग अधोर होर मंदिर भारी। हरजे ओ समाद नदियाँ बारी॥

[1] पे० ७०, पृ० २०८।

मानक मोती सुख सिंगार। ये सब भेस पिया का सारी ॥
अभरन मेरा सही सो पिव है। पिव का जिव सो मेरा जिव है ॥
हार हमेलाँ भुज शहबाहाँ। मोतीहार सो तुम म्रू माँहा ॥
जब ज्यों राखे तब त्यों रहिये। लटका पिव का किस न कहिये ॥
जे कहना होय सो कहिये। मन माँही लेन रहिये ॥
कभी सो मजनू होय विरलावे। कभी लैला होय दिखलावे ॥
कभी सो खुसरू शाह कहावे। कभी सो शीरीं होकर आवे।
जग में मुज बिन कोइ नहीं, हो अपने दासा।
ए जी, मह के फूलरी सन मेरा बासा।[1]

जिनके द्वारा इनकी स्वानुभूति के विषय में भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। डा० अब्दुल हक के अनुसार 'इनके कलाम के अंदर तौहीद व और वहदत वजूद भरा हुआ है और इनके अलफाज व बयान मे प्रेम का रस घुला हुआ है। वह आशिक हैं और खुदा माशूक है और अपनी मुहब्बत को तरह तरह से जताते हैं। तर्ज कलामी हिंदी शुअरा का है और जबान आरा है'।[2]

६. शेख बुरहानुद्दीन 'जानम'—ये शेख मीरा वा शाह मीरा जी के पुत्र थे। इस प्रकार वे स्वयं भी बंदा नेवाज के उत्तराधिकारी थे। इनका जन्म सं० १६०० में हुआ था और ये अपने पिता शाह मीराँ जी की भाँति बहुत गंभीर विद्वान् थे तथा पूरे संत भी थे। ये अपनी भाषा को 'हिंदी' ही कहा करते थे। इनकी रचनाओं मे अनेक अन्य प्रकार की कविताओं के अतिरिक्त, कुछ ऐसे हिंदी पद्य भी हैं जिनके आधार पर इनकी विचारधारा का पता चल सकता है :

तूँ ने देख्या आपस आप। जे घडूथा यह तुज पाप।
आ रे इस सफा में नूर। कि जैसा आकास में सूर ॥
अरे तू आपसे आपस देख। जहूर कूँ करता लेखा लेख ॥
व खाली दिसता ठाँव। वह कइया अपना नावँ ॥
यो गफलत मेरी टूटी। जे नजर ऐसी फूटी ॥
यह सबके मुर्शिद घूटा। यह घोर अँधारा फूटा।
जैसा खाली फूल। या देखें जैसा डोल ॥
वह रूप परगट आप, छिपाया कोई न पाया अंत।
माया मोह में सब जग बाँध्या क्योंकर सूझे पंत ॥

[1] 'द० हिं० का० धा०', पृ० १२-१३।
[2] क० उ० (हक), पृ० ६१।

इन्होंने अपनी भाषा के विषय में इस प्रकार कहा है :

यह सब बोलू हिंदी बोल। पन तूँ अनमी सेती खोल ॥
ऐब न राखें हिंदी बोल। माने तूँ चख देखें खोल ॥
हिंदी बोली किया बखान। जेकर फसाद अथा मुज ज्ञान ॥[1]

इनकी सूफीमत संबंधी पुस्तकों मं 'सुख सुहेला' (सुख का गीत) और 'इरशाद नाम' के नाम लिए जाते हैं और यह भी बतलाया जाता है कि इन्होंने कतिपय फुटकल दोहरों की भी रचना की थी।

७. शेख खूब मुहम्मद चिश्ती—ये शेख कमालुद्दीन मुहम्मद सीस्तानी के मुरीद थे और इनका देहांत सं० १६७० मे हुआ था। इनकी मजार अहमदाबाद मे निर्मित है और इनकी सूफीमत विषयक रचनाओं में तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें से 'खूब तरंग' नामक एक हिंदी में भी है। यह खालिस तसवुफ की किताब कही जाती है जिसमे 'शुरू से लेकर आखीर तक मसायल तसव्वुफ से कह सकी गई है।' 'खूबतरंग' के अंतर्गत इन्होंने प्रधानतः उन उपदेशों को संगृहीत किया है जिन्हें इन्होंने शेख कमालुद्दीन मुहम्मद से ग्रहण किया था और इसकी रचना एक 'मसनवी' के रूप में सं० १६३४ में की गई थी, फिर इन्होंने स्वयं इसका फारसी मे एक अनुवाद भी किया जिसका नाम 'अमवाज खूबी' रखा गया और जिसे इन्होंने सं० १६४७ में समाप्त किया। 'खूब तरंग' का एक फारसी अनुवाद पीछे बुरहानपुर मे किसी मुहम्मद आलिम नाम के लेखक ने भी किया जिसकी एक विशेषता यह रही कि इसमें मूल पुस्तक के प्रत्येक पद्य को पृथक् पृथक् फारसी रूप दिया गया। शेख मुहम्मद मखदूम नाम के किसी आरकाट निवासी लेखक ने भी इस पुस्तक के कतिपय कठिन स्थलों पर एक टीका 'मुफताहुल तौहीद' नाम से लिखी है जिसकी रचना का ठीक समय विदित नहीं किंतु उनकी मृत्यु का सं० १७९८ बतलाया जाता है। शेख खूब मुहम्मद चिश्ती के पीर शेख कमालुद्दीन के विषय मे यह कहा गया मिलता है कि ये गुजरात मे रहा करते थे और वहाँ के सुल्तान मुजफ्फर शाह से किसी बात पर नाराज होकर वहाँ से मालवा चले गए थे जहाँ पर इनका देहांत, उज्जैन नगर मे, सं० १६५७ में हुआ। शेख 'खूब' ने अपनी जिस जबान को अरबी व फारसी मिश्रित गुजराती नाम एक स्थल पर दिया है, वह वस्तुतः उस समय वहाँ प्रचलित हिंदी से भिन्न

[1] द० हिं० का० धा०, पृ० ८-१०

नहीं जान पड़ती। 'खूब तरंग' की भाषा एवं वर्ण्य विषय का परिचय देने के लिये निम्नलिखित अवतरण यथेष्ट समझे जा सकते हैं जो 'भूमिका' से हैं :

खूब कहेगा खूब तरंग। सुनते कछू न कीजो तंग॥
यों इनकार न कीजो देख। जामों ली तुज यों मन लेख॥
के यह तो कहता है खूब। देखो के कहता है खूब॥
पढ़े जो छूकर दाद कोरान। तो इसकूँ कह झूट न मान॥
मत बूझें हैं छूकर दाद। इसका क्या बूझे बरबाद॥
जो बेकदर कही नहीं पाये। जौहर तो क्या बहना लिखाये।
यह तो जान बनांज न होए। जे मकसूद तुझे यों कोए॥
यह तो कह्या फलाँने यार। ऐसा बूझ करे इनकार॥
जितना तालिब कूँ बस होवे। मैं इस बाज कत्था है सो वे॥
ज्यों दिन अरब अजम की बात। सुन बोले बोली गुजरात॥[1]

इनकी भाषा के विषय मे चर्चा करते समय कहा गया है कि यद्यपि इसे 'गूजरी' भी कहा गया मिलता है, यह मूलतः वही है जिसे दक्खिनी हिंदी कहा जाता है।

८. मीरा हुसेनी—ये एक मस्त मौला फकीर थे और गोलकुंडा मे आकर एक मस्जिद में रहने लगे थे, किंतु अपना समय किसी गाँव मे भी बिताते थे और इनका आविर्भावकाल सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह का शासनकाल बतलाया जाता है, जिसके कदाचित् ये पहले भी रहे होंगे। इनकी एक रचना मसनवी 'बशीरतुल अनवर' है जिसका निर्माणकाल साधारणतः सं० १६८० दिया गया मिलता है। इनकी रचनाओं मे से चुनकर कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं जिनसे इनकी रचनाशैली का भी कुछ पता चल जाता है :

जिव का वी ओ जिवाला। रूपों में रूप आला॥
सबसे ऊपर है वाला। नित हँसत रह तूँ मीराँ॥
बच्चा बगल में होकर। ढूँढ़ते नगर में रोकर॥
सारी उमर यूँ खोकर। नित हँसत रह तूँ मीराँ॥
सो नूर खास होर। रंग रूप कुछ न आया॥
सूरत सकल न माया। नित हँसत रह तूँ मीराँ॥
ओ नूर खास आला। सब सूँ ऊपर है वाला॥
काला न लाल पीला। नित हँसत रह तूँ मीराँ॥

[1] पं० उ०, पृ० २२५-६।

दिसते कूँ क्या तूँ देखे। दिखते कूँ देख देखे॥
फिर देक अयकूँ देखे। नित हँसत रह तूँ मीराँ॥
है जात वो इलाही। उसकू है बादशाही॥
सब चीज पर गवाही। नित हँसत रह तू मीराँ॥
जैसे दरिया व मौजा। भलते हैं लाख तूफाँ।
वो ही समंद के सूरो, नित हँसत रह तू मीराँ।
मौजा कूँ अंत नै है, रहने के अंत नै है।
दिसके कूँ अंत नै है, नित हँसत रह तूँ मीराँ[1]॥

इनका मृत्यु सं० कहीं कहीं १६६६ (हि० सन् १०४६) दिया गया मिलता है और इनके उपनाम का भी 'जामी' होना पाया जाता है।

यदि हम दक्खिनी हिंदी के सूफी कवियों में से केवल प्रेमाख्यानों के रचयिताओं तथा उसी प्रकार फुटकल काव्यरचना करनेवालों की उपलब्ध रचनाओं की तुलना करने लगते हैं तो, हमें यह पता चलते देर नहीं लगती कि जहाँ तक सूफी मत विषयक बातों के संबंध मे लिखने अथवा उनपर विचार करने का प्रश्न है, इस ओर उक्त दोनों वर्गों में से द्वितीय से संबंधित कवि कहीं अधिक सजग और सचेष्ट हैं। प्रथम वर्ग वालों में से अधिकांश का ध्यान जितना अपनी कथावस्तु के निर्वाह अथवा अपने काव्यकौशल के प्रदर्शन की ओर जाता रहा है उतना इस बात पर यथेष्ट बल देने की ओर भी नहीं कि हमारा एक प्रमुख उद्देश्य अपनी धार्मिक मान्यताओं का प्रचार करना भी है। कतिपय फारसी प्रेमगाथाओं का अनुवाद करते समय तो वे इस प्रकार की भूल से अपने को भरसक बचा भी ले जाते हैं, किंतु जब वे कोई ऐसा कथानक ले लेते हैं जो काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक जैसा रहा करता है, उस दशा में इनकी ऐसी असफलता कभी कभी प्रत्यक्ष भी हो जाती है। इसके सिवाय जहाँ कहीं पर ये 'मुकीमी' कवि की भाँति किसी जनसमाज में प्रचलित प्रेमकहानी का आधार लेकर अपनी प्रेमगाथा का निर्माण करने चलते हैं तो ये उसे प्रायः ऐसा कोई रूप भी दे दिया करते हैं जिससे इनके सूफीमत का वास्तविक रूप ठेठ मजहबे इस्लाम में परिणत हो जाया करता है और उसके द्वारा प्रदर्शित किया गया प्रेमतत्व का महत्व भी हमे वहाँ गौण सा प्रतीत होने लगता है। मुल्ला वजही की रचना 'कुतुब मुश्तरी' में तो हमें, इस बात का भी उदाहरण स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया जाता नहीं दीख पड़ता। इसमे हमें इसके रचयिता दर्बारीपन की गंध भी मिलती जान पड़ती है जिसके साथ विशुद्ध सूफीमत का कोई काल्पनिक

[1] द० हिं० का० धा०, पृ० २२०-१।

संबंध तक भी नहीं लहराया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि इसकी रचना करते समय इस कवि का उस ओर कदाचित् कभी कभी ध्यान भी गया होगा। फुटकल पद्यों के रचयिता प्रत्यक्षतः वैसे किन्हीं पचड़ों में नहीं पड़ना चाहते और न इन्हें उनकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है। ये अपनी धार्मिक मान्यताओं अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों की चर्चा सीधे सादे ढंग से आरंभ कर देते हैं और कभी कभी तो ये ऐसी दार्शनिक व्याख्याओं तक में भी लग जाते हैं जिनके आधार पर हमारे लिये उनके वास्तविक लक्ष्य का समझ लेना और भी सरल हो जाया करता है। इस संबंध मे यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमाख्यानों के रचयिता सूफी कवियों तथा फुटकल काव्यों के वैसे लिखनेवालों के बीच इस प्रकार अंतर जितना स्पष्ट दक्खिनी हिंदी की रचनाओं मे दीख पड़ता है उतना उत्तरवाले सूफी साहित्य मे नहीं पाया जाता। एकाध को छोड़कर उधर के प्रायः सभी ऐसे प्रेमाख्यान किसी न किसी रूप में सूफी मत की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं और यह बात वहाँ पर उस दशा मे भी कम स्पष्ट नहीं रहा करती जहाँ स्थानीय लोकगाथाओ के कथानक अपनाए जाते हैं। वहाँ के जायसी ऐसे एकाध सूफी कवियों ने तो प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त फुटकल काव्यों की भी रचना करके अपने कर्तव्य का पालन किया है।

———

सातवाँ अध्याय

सूफी कवियों की साहित्यिक परंपरा

सूफी मत प्रधानतः इस्लाम धर्म की एक ऐसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है जिसपर कई अन्य बाहरी धर्मों एवं मतों का भी न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है तथा इसी कारण, इसे बहुत कुछ असांप्रदायिक ठहराने की भी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसका उद्भव इस्लामी देशों में हुआ और इसका विकास अधिकतर इस्लाम धर्म के अधिकाधिक अन्यत्र होते जानेवाले प्रचार का अनुगमन करता गया। तदनुसार यह स्वाभाविक था कि इसके साहित्य की प्रारंभिक रचनाएँ भी अरबी अथवा फारसी जैसी भाषाओं में ही निर्मित हों। अन्य भाषाओं का माध्यम इसके लिये तभी स्वीकार किया गया जब इनका स्वतंत्र निर्माण करने की आवश्यकता क्रमशः विभिन्न देशों में भी प्रतीत होने लगी। सूफी मत संबंधी अरबी अथवा फारसी की वैसी प्रारंभिक रचनाओं का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि यद्यपि उनका वर्ण्य विषय प्रायः एक ही प्रकार का रहा, किंतु उन्हें निर्माण करनेवालों ने स्वभावतः अपने अपने यहाँ की रचनाशैली को ही अपनाया। अरबी के सूफी कवियों वा लेखकों ने अपने यहाँ की ही साहित्यिक परंपरा को स्वीकार किया तथा इसी प्रकार फारसी सूफी साहित्य का निर्माण करनेवाले भी अपने यहाँ की उन विशिष्ट रचनापद्धतियों का परित्याग न कर सके जिनकी परंपराएँ बहुत पहले से प्रतिष्ठित हो चुकी थीं तथा जिनका अपनाया जाना न केवल उनके लिये ही सुकर हो सकता था, प्रत्युत जिनसे उनके पाठक भी पूर्ण परिचित रह चुके थे। यहाँ अवश्य है कि अनेक ऐसी प्रारंभिक कृतियों के मूलतः अरबी भाषा में ही निर्मित हो गए रहने के कारण, अरबी साहित्य के आदर्शों का महत्व दिया जाना बहुत काल तक संभव बना रहता आया, परंतु जब ईरान के अंतर्गत सूफीमत का प्रचार यथेष्ट रूप में हो चला तो, उनका स्थान क्रमशः फारसी के साहित्यिक आदर्शों ने ग्रहण कर लिया, यहाँ तक कि इन्हीं को पीछे सबसे अधिक मान्यता भी मिलने लग गई। सूफी मत की देन स्वरूप एक ओर जहाँ फारसी साहित्य का एक विशाल भाग स्पष्ट व महत्वपूर्ण बन गया वहाँ दूसरी ओर उसने एक ऐसी विशिष्ट परंपरा का भी सूत्रपात कर दिया जिसका पालन पीछे अन्य भाषावाले सूफी कवियों के लिये भी आवश्यक सा हो गया। साराश यह कि जहाँ कहीं भी सूफी मत का प्रचार हुआ तथा इसके फलस्वरूप सूफी साहित्य की सृष्टि हुई, वहाँ पर बहुधा उक्त दोनों प्रकार के उदाहरण किसी न किसी रूप मे, देखने को मिलते रहे और भारतवर्ष जैसा अनेक

भाषाओंवाला देश भी इसका अपवाद नहीं बन सका। यदि यहाँ की सर्वप्रमुख भाषा हिंदी मे निर्मित किए गए वैसे साहित्य के आरंभ एवं विकास पर हम दृष्टिपात करें तो, यह प्रत्यक्ष हो जा सकता है कि सर्वप्रथम, इसके लिये कदाचित्, पूर्वप्रचलित स्थानीय परंपरा ही अपनाई गई, किंतु पीछे उसके समानांतर फारसी साहित्य का आदर्श भी आ उपस्थित हो गया जिसका एक परिणाम यह भी हुआ कि वस्तुतः एक ही भाषा की नवनिर्मित शैली का रूप क्रमशः उससे भिन्न उर्दू भाषा भी कहा जाने लगा।

भारत में सूफी मत के प्रचार का आरंभ, वास्तव मे, उस समय से समझा जाता है जब विक्रम की १२वीं शताब्दी के प्रथम चरण मे, यहाँ के प्रसिद्ध सूफी अल् हुजिरी का अफगानिस्तान की ओर से आगमन हुआ तथा उसने फारसी में अपने 'कश्फुल महजूब' ग्रंथ की रचना की। इसके रचनाकाल तक मुस्लिम देशों के अंतर्गत कम से कम १२ सूफी संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। उन दिनों सूफीमत के इतिहास का तृतीय युग चल रहा था और इसके प्रचार कार्य को फारसी के कई उच्च कोटि के कवियों तक ने अपने हाथ में ले लिया था। इसके द्वितीय युग में जो बातें निरी उपदेश मात्र जान पड़ती थीं, तथा तृतीय युग के धर्माचार्यों तक ने जिन्हें अभी कोरा जामा मात्र पहना पाया था, उन्हे इन्होंने आकर्षक रूप देकर सुंदर एवं सजीव बना दिया और वे सर्वसाधारण के भी लिये पूर्णतः परिचित सी प्रतीत होने लगीं। इनकी काव्यरचनाओं द्वारा सूफियों के व्यक्तिगत जीवन और सिद्धांतों मे इतनी सरसता आ गई कि इस मत के प्रथम युग का शुष्क वैराग्य प्रायः विस्मृत सा हो चला और उसका स्थान प्रेम एवं विरह ने ले लिया जिनके प्रति किसी का भी उपेक्षाभाव प्रदर्शित करना संभव न था। द्वितीय युग के लेखकों ने अधिकतर निबंधों की ही रचना की थी और उनमें से कई ने तो इसमें 'कुरान शरीफ' की भाषा अरबी को ही अपनाया भी था। ऐसे निबंधोंवाली रचनाएँ सूफी मत की कतिपय बातों को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखी जाती रहीं और उनके सबसे प्रमुख उदाहरण के रूप में 'हल्लाज' की पुस्तक 'किताबुतवासीन' का नाम लिया जा सकता है जो अरबी भाषा के तुकांत गद्य वाले ११ प्रकरणों में लिखी गई है। इसी प्रकार सूफी साहित्य का एक दूसरा अंग सूफियों के जीवनवृत्तों से संबंध रखता है जिनमे उनका प्रशंसात्मक परिचय रहा करता था। हुज्विरी के 'कश्फुल महजूब' में प्रसिद्ध प्रसिद्ध सूफियों के जीवन की झाँकी देकर उनकी विशेषताओं का परिचय करा दिया गया है, किंतु इससे भी अधिक स्पष्ट उदाहरण हमें फरीदुद्दीन अत्तार की उस 'तजकिरातुल औलिया' मे मिलता है जिसमे वैसे संतों का हमे व्यक्तिगत परिचय सा भी मिलता जान पड़ता है जिनसे हम बिना प्रभावित हुए नहीं रह पाते। सूफी साहित्य का तीसरा वा सबसे प्रधान अंग उन विविध काव्यमयी रचनाओं द्वारा

परिचित कराया जा सकता है जिन्हें सूफी कवियों ने रुबाइयों, गजलों अथवा मसन-वियों के रूपों मे लिखा है तथा विशेषकर, जिनका अनुकरण भारत की अनेक प्रांतीय भाषाओं में भी किसी न किसी अंश मे किया गया है। उर्दू साहित्य को तो इस दृष्टि से सूफियों के सारे फारसी साहित्य की विशेष श्रेणी भी कहा जा सकता है। जिस युग, अर्थात् सं० १४०० से सं० १७०० तक की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें कम से कम दक्षिण भारत मे बोली जानेवाली दक्खिनी भाषा के माध्यम से एक ऐसे ही साहित्य का सृजन होने लगा था जिसे आज उर्दू भाषा का प्रारंभिक साहित्य होने का भी श्रेय दिया जाता है।

फारसी छंद के जिन तीन प्रकारों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमे से 'रुबाई' को हम एक साधारण 'चतुष्पदी' का नाम दे सकते हैं, किंतु उन सूफियों की रुबाइयो की यह एक विशेषता रहती आई है कि इस प्रकार की काव्यरचना के अतर्गत, प्रायः कुछ रहस्यमयी बातें व्यंजित कर दी जाती हैं और इसकी पंक्तियों की रचनाशैली ऐसी रहा करती है जिसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा करता है। प्रत्येक रुबाई अपने आपमें पूर्ण रहा करती है और इसकी बनावट भी ऐसी रहती है जिसका प्रभाव श्रोता पर बिना पड़े नहीं रहता। उर्दू साहित्य में इसे लगभग मूल रूप मे ही ग्रहण कर लिया गया है और इसे पुरानी दक्खिनी हिंदी में भी महत्वपूर्ण स्थान मिला था। परंतु जहाँ तक उत्तर भारतवाले सूफी साहित्य की बात है, इसे कदाचित् कभी भी अपनाने का वैसा प्रयत्न नहीं किया गया। फारसी की गजल कही जानेवाली कविताओं को भी सूफी कवियों ने विशेष महत्व प्रदान किया था और उसके द्वारा प्रेमभाव को प्रकट करते समय ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया था जिसे शृंगारिक ही कहा जा सकता है, किंतु जिसका वास्तविक अभिप्राय आध्यात्मिक रहा करता है। इन गजलों की भी पंक्तियाँ, प्रायः रुबाइयों की भाँति, फुटकल काव्यरचना मे काम आती हैं। परंतु 'मसनवी' के लिये भी ऐसा नहीं कहा जा सकता और यह रचनाशैली, छोटे वा बड़े से बडे प्रबंधकाव्यों का निर्माण करते समय, काम मे लाई जा सकती थी। ऐसे बडे काव्य, सर्गबद्ध हुआ करते हैं, अथवा यों कहे कि इनके अंदर कई छोटे बड़े अश हुआ करते हैं, जिनका उपयोग विभिन्न रूपों मे किया गया मिलता है तथा कभी कभी इनके बीच बीच मे कुछ गजले भी दी गई रहती हैं जिनसे रचना का उद्देश्य स्पष्ट हो सके। सूफियों की ऐसी बड़ी मसनवियों के आरंभ मे ईश्वर की स्तुति की गई मिलती है, फिर पैगबर की प्रशंसा आती है और शाहेवक्त की चर्चा करके तब कथा के वर्ण्य विषय का परिचय दिया जाना आरंभ कर दिया जाता है। सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों की रचना करते समय अधिकतर इसी काव्य प्रकार को अपने प्रयोग में लिया है। यहाँ तक कि इनमे से उन लोगों ने

भी, जिन्हें उत्तरी भारत की ओर फारसी छंदों का परित्याग कर दोहे चौपाइयों मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करनी पड़ी थीं, इस प्रकार के विषयों का यथासाध्य पालन करना अपना कर्तव्य समझा जिस कारण उनकी ऐसी प्रबंध रचनाओं को कभी कभी वैसा मसनवी नाम तक भी दे दिया गया जैसा हमे फारसी साहित्य के अंतर्गत मिलता है, तथा जो अन्य प्रकार से यहाँ अनुपयुक्त भी कहा जा सकता है। जहाँ तक इस समय उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर कहा जा सकता है उत्तरी भारत एवं दक्षिणी भारत अर्थात् दोनों ओर वाले सूफी कवियों एवं लेखकों ने हिंदी भाषा का माध्यम स्वीकार करके, साहित्यरचना लगभग एक ही समय आरंभ किया होगा। आजतक उपलब्ध सर्वप्रथम उत्तरवाले सूफी प्रेमाख्यान "चंदायन" की रचना सं० १४३६ मे हुई थी तथा इसी प्रकार, यहाँ वाले उपलब्ध फुटकल पद्यों के रचयिता शेख मझेरी का देहांत भी सं० १४३७ मे हुआ था और यद्यपि दक्खिनी हिंदी मे रचे गए एवं अभी तक प्राप्त "कदम राव पदम" नामक प्रेमाख्यान का रचनाकाल सं० १५१६-६ के लगभग ठहराया जाता है। उसमे की गई फुटकल रचनाओं के सर्वप्रथम कवि ख्वाजा बंदा नेवाज का मृत्युकाल भी सं० १४८० ही रहा। दक्खिनी हिंदी के माध्यम से किसी प्रकार की भी रचना करनेवाले सूफी कवियों लेखकों का ख्वाजा बंदा नेवाज से पूर्व वर्तमान रहना अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है जहाँ उत्तरी भारत वाले ऐसे साहित्यकारों में से शेख मझेरी के पूर्ववर्तियों में कम से कम अमीर खुसरो (मं० सं० १३८१) का नाम लिया जा सकता है जिसने, फारसी के माध्यम से सूफी प्रेमाख्यानों की रचना करते हुए भी, कुछ फुटकल पद्य भी निर्मित किए जिन रचनाओं के लिये कोई न कोई आदर्श बहुत पहले से ही वर्तमान रहता चला आया था। जहाँ तक प्रेमाख्यानों के निर्माण की बात है, इसकी एक ऐसी परंपरा थी जिसका आदर्श बहुत पहले से अपभ्रंश के माध्यम से रचा गया प्रचुर साहित्य ठहराया जा सकता था और जो अमीर खुसरोवाले सूफी फारसी प्रेमाख्यानों का भी पूर्ववर्ती रहा। तदनुसार इधर-वाले सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं के सामने यह प्रश्न भी कदाचित् उठा होगा कि हम इनमे से किसे अपना आदर्श मानकर चलें तथा इसी प्रकार यहाँवाले फुटकल सूफी काव्यों की रचना करनेवालों के भी समक्ष ऐसे दोनों प्रकार के आदर्श एक साथ आ सकते थे। दक्खिनी हिंदी मे सूफी साहित्य की रचना करनेवालों के आगे, कदाचित् इस प्रकार की समस्या स्पष्ट होकर नहीं खड़ी हुई। इनकी रचनाओं का माध्यम बननेवाली भाषा का भी मूल स्रोत वस्तुतः उत्तरी भारत मे ही ढूँढ़ा जा सकता था, किंतु यह वहाँ से बहुत दूर जा पड़ी थी। इसके सिवाय, जिस समय इसको साहित्यरचना के लिये प्रयोग मे लाया जाना आरंभ हुआ उन दिनों यह अधिकतर ऐसे लोगों द्वारा ही अपनाई भी गई जिनके सामने या तो सूफीमत के प्रचार

का लक्ष्य था अथवा जो कतिपय मुस्लिम सुल्तानों के दरबारों मे उनकी प्रशंसा वा मनोरंजन करना चाहते थे। इसकी प्रारंभिक दशा मे इसके साथ किसी ऐसे पूर्वप्रचलित साहित्य का लगाव भी स्वीकार नहीं किया जा सका जो स्थानीय तक समझा जा सकता हो और ऐसी परिस्थिति मे इसके साहित्यकारों का ध्यान, स्वभावतः फारसी साहित्य के आदर्शों की ही ओर आकृष्ट हो गया जिससे न केवल इसके साहित्यकार पूर्वपरिचित रहा करते थे, प्रत्युत जो उनकी ईरानी संस्कृति द्वारा प्रभावित मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल भी था।

सं० १४०० से लेकर सं० १७०० तक का समय, जो हमारा आलोच्य काल है, उसे सूफी प्रेमाख्यानों एवं फुटकल रचनाओं के निर्माण की दृष्टि से, 'प्रारंभिक युग' ही कहा जा सकता है, किंतु जहाँ तक इसके संबंध में लक्षित होनेवाली दो उपर्युक्त भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों का प्रश्न है, इनके दोनों ही रूप लगभग एक ही साथ प्रत्यक्ष होने लग गए थे और यद्यपि इन दोनों के बीच समय समय पर न्यूनाधिक आदान प्रदान भी होता गया, फिर भी इनकी पारस्परिक भिन्नता में उल्लेखनीय कमी नहीं आ पाई, प्रत्युत इन दोनों की रचनाएँ दो भिन्न वर्गों तक की समझी जाने लगीं। निजामी का प्रेमाख्यान 'कदम राव व मदम' अभी तक अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है जिस कारण उसके संबंध में हम उतनी निश्चित धारणा बना पाने में असमर्थ कहे जा सकते हैं, किंतु मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' की लगभग पूरी प्रति प्राप्त हो चुकी है तथा उसके कम से कम इतने अंश अवश्य मिल चुके हैं जिनके आधार पर हम कुछ महत्वपूर्ण अनुमान कर सकते हैं। फलतः हम कह सकते हैं कि उत्तरी भारत के इस मुल्ला दाउद कवि ने अपने समक्ष अमीर खुसरो जैसे प्रतिभाशाली सूफी कवि की फारसी प्रेमाख्यानवाली कृतियों को उससे अपेक्षाकृत अधिक निकट होते हुए भी, अपने सामने आदर्श के रूप मे नहीं रखा। परंतु निजामी के लिये कदाचित् इस प्रकार की उपेक्षा असह्य सी बन गई होगी और उसने अपने सामने उपलब्ध 'चदायन' वाली भारतीय रचनापद्धति की ओर अपना ध्यान देना आवश्यक समझकर संभवतः किसी सांप्रदायिक मनोवृत्ति के साथ काम कर दिया होगा। इस प्रकार उसके पथप्रदर्शन के परिणामस्वरूप, दक्खिनी हिंदीवाले उसके परवर्ती कवियों के लिये भी ऐसा करना किसी प्रकार अनुचित न जान पड़ा होगा और उन्होंने भी, इस नए कार्य मे अपना सहयोग प्रदान कर, एक सर्वथा नवीन परंपरा की नींव डाल दी होगी। फिर भी इतना अवश्य है कि दक्खिनी हिंदीवाली जो ऐसी प्रारंभिक रचनाएँ हैं और जिनका हमारे आलोच्य युग के साथ संबंध है उनकी तुलना यदि उत्तरी भारतवाली ऐसी हिंदी रचनाओं के साथ की जाए तो इन दोनों वर्गों के बीच का अंतर उतना अधिक नहीं प्रतीत होगा। यहाँ

पर इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक पता चलता है जो कुछ प्रेमाख्यान पीछे, बँगला, पंजाबी एवं सिंधी जैसी हिंदीतर भाषाओं में रचे गए वे अधिकतर उस रचनाशैली का ही अनुसरण करते गए जो उत्तरी भारतवाले हिंदी साहित्य की अपनी बन चुकी थी और उनमें दक्खिनी हिंदीवाले प्रेमाख्यानों का आदर्श अत्यंत कम लक्षित हो पाया। हिंदी के फुटकल सूफी काव्यसाहित्य को, उसके प्रेमाख्यानों जैसा महत्व कदाचित् कभी भी नहीं दिया गया और न इसी कारण, वह उतना समृद्ध ही हो पाया। इसके विपरीत वैसे प्रेमाख्यानोंवाली रचनाएँ बहुत लोकप्रिय बनती चली गईं, यहाँ तक कि कभी कभी हिंदी मे सूफी साहित्य को वहीं तक सीमित मान लेने की कल्पना तक भी की जाती पीछे देखने में आई।

———

चतुर्थ खंड

अन्य साहित्य

प्रथम अध्याय

प्रभावित साहित्य

(१) उपक्रम

प्रायः हर युग मे साहित्य या कला के क्षेत्र की विभिन्न धाराएँ एक दूसरे को थोड़ा बहुत प्रभावित करती हैं। भक्तिकाल (१४००-१७०० वि०) भी इसका अपवाद नहीं है। भक्तिकाल की प्रमुख धाराएँ चार हैं: संतधारा, सूफीधारा, कृष्णधारा, रामधारा। इन चारों ही ने एक दूसरे को कुछ न कुछ प्रभावित किया है। यह प्रभाव काव्य के आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूपों पर पड़ा है। आंतरिक प्रभाव विभिन्न धाराओं के विचारों (दार्शनिक तथा अन्य) पर दृष्टिगत होता है, और बाह्य अभिव्यक्तिशैली या शब्दादि पर। विचारों पर पड़े प्रभाव को मोटे रूप से दो वर्गों मे रखा जा सकता है। एक तो स्पष्ट या सीधा प्रभाव है। किसी एक धारा के कवियों ने दूसरी धारा से जो वैचारिक बातें ले ली हैं, उन्हें इसके अंतर्गत रखा जा सकता है। उदाहरण के लिये, मीराँ या भक्त व्यास यद्यपि मूलतः सगुण धारा के कवि हैं, तथापि उन्होंने बहुत सी बातें संतधारा से ली हैं। इसी प्रकार यदि एक ओर बहुत से संत कवियों जैसे यारी साहब, शाह फकीर या केसोदास आदि के विचारों पर सूफी धारा की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है, तो दूसरी ओर सूफी कवियों पर भी संतधारा का प्रभाव पड़ा है। वैचारिक दृष्टि से दूसरा प्रभाव इस प्रकार का स्पष्ट प्रभाव तो नहीं है, किंतु वह प्रभाव है अवश्य। इसमे विचारों की आलोचना है, अतः इसे प्रभावित आलोचनात्मक साहित्य कह सकते हैं। हमारा आशय भ्रमरगीत या इसी प्रकार के अन्य साहित्य से है। यों भ्रमरगीत का मूल 'भागवत' मे है जो संतधारा के विकसित रूप से बहुत पूर्व का है, किंतु इसमे तनिक भी संदेह नहीं कि सूर या उनके बाद के कृष्णकाव्य में उसका जो रूप उपलब्ध है, वह पूर्णतः 'भागवत' का रूप नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़कर भ्रमरगीत के माध्यम से कृष्ण कवियों ने निर्गुण ब्रह्म, ज्ञानमार्ग, तथा योग आदि के क्षेत्र में संतमत की विचारधारा का प्रायः खंडन ही किया है। गोपियाँ सगुण भक्तिधारा की प्रतीक हैं तो उद्धव निर्गुण भक्ति (संत) धारा के। प्रायः सभी भ्रमरगीतों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से उद्धव की पराजय दिखलाई गई है, जिसमें निश्चय ही कवि का उद्देश्य तत्कालीन संतमत के सिद्धांतों की पराजय दिखलाना है। इस प्रकार 'भ्रमरगीत', जो कृष्णकाव्य का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है, संतमत की आलोचना

है। यदि उस काल में संतमत न होता तो निश्चय ही 'भ्रमरगीत' का वह रूप नहीं मिलता जो नंददास आदि में तरह तरह के तर्कों से आपूर्ण मिलता है। कृष्ण-धारा के बाहर के कवियों में भी संतमत का यह आलोचनात्मक रूप मिल जाता है। उदाहरण के लिये तुलसी ने मानस के उत्तरकांड में ज्ञान से भक्ति की जो व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयास किया है, या अन्य स्थलों पर वर्णव्यवस्था आदि को लेकर 'साखी सबदी दोहरा' कहनेवालों को जो खिल्ली उड़ाई है, उसके पीछे संतमत की मान्यताओं का खंडन करने की भावना ही कार्य करती जान पड़ती है।

इस प्रकार का आलोचनात्मक साहित्य केवल सगुण भक्तिधारा में ही हो, ऐसी बात नहीं है। निर्गुण या संतधारा भी अछूती नहीं है। संत धारा के प्रमुख स्तंभ कबीर ने अपने राम को 'दसरथसुत तिहुँ लोक बखाना' से अलग सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, उसके पीछे भी सगुण धारा की आलोचना की ही भावना काम करती जान पड़ती है।

वैचारिक प्रभाव के अतिरिक्त भाषा विषयक प्रभाव भी अस्पष्ट नहीं है। एक ओर यदि संतधारा की शब्दावली राम और कृष्णधारा के कवियों मे किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत वर्तमान है तो दूसरी ओर संत कवियों मे राम-कृष्ण-धारा की शब्दावली भी वर्तमान है।

नीचे इन विभिन्न प्रकार के प्रभावों पर अलग अलग संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

(२) संतमत से प्रभावित साहित्य

संतमत का प्रभाव संतेतर कृष्ण, सूफी और राम तीनों ही धाराओं के कवियों पर पड़ा है। कृष्णधारा के प्रभावित कवियों में मीराँ का नाम सर्वोपरि है। मीराँ के पदों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता के विषय में बहुत विवाद है, और अभी तक पाठविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर उनके पदों का संपादित संस्करण हिंदी संसार के समक्ष नहीं आ सका है, इसी कारण उनके काव्य के संबंध में किसी भी दृष्टि से कुछ कहना असंभव सा है। उनके छोटे बड़े अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें चालीस पचास से लेकर लगभग छह सौ तक पद मिलते हैं। यदि इन सभी पदों को मीराँ रचित मान लिया जाय (यों कुछ अपवादों को छोड़कर इन्हें मीराँ रचित न मानने का कोई विशेष आधार भी नहीं है) तो, ऐसे पद पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं, जो संतमत से प्रभावित लगते हैं। मीराँ के बृहत्तम संग्रह[1] में संत-

[1] मी० बृ० प० सं०

मत से प्रभावित पद अलग दिए गए हैं, जिनकी संख्या ४५ है। इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत से पदों में ऐसे शब्द, वाक्य या विचार मिल जाते हैं, जिन्हें बिना हिचक के संतमत से उधृत या प्रभावित माना जा सकता है। मीराँ बाई की कर्म-भूमि प्रायः राजस्थान, ब्रज, और द्वारका धाम कही जाती है। इन क्षेत्रों के आसपास मीराँ के समय (१६ वीं सदी उत्तरार्ध) में संतकवियों, विशेषतः कबीर, रैदास, का पर्याप्त प्रभाव था। चित्तौड़ की झाली रानी तो रैदास की शिष्या कही जाती हैं।[1] अतः मीराँ पर संतमत के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। मीराँ के पूर्व १२-१३ संत कवि हो चुके हैं जिनमें कबीर, और रैदास के अतिरिक्त नामदेव, सधना, तथा धन्ना भगत के नाम किसी न किसी रूप में मीराँ की रचनाओं में आए हैं। इससे भी यह अनुमान होता है कि वे संतपरंपरा से परिचित थीं।

मीराँ पर संतमत और संतसाहित्य का प्रभाव विचार, शब्द तथा प्रतीक-विधान आदि सभी रूपों में दृष्टिगत होता है। उनमें प्रेम, सतगुरु के कारण विरह की उत्पत्ति, ज्ञान तथा आत्मा परमात्मा की एकता आदि से संबद्ध सारे विचार संतों के हैं। 'तुम मोरे हूँ तोरे,' 'सतगुरु विरह लगाय के', 'पाटी पारों ज्ञान की', 'तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं', 'जैसे सूरज घामा' आदि मीराँ की पंक्तियाँ स्पष्ट ही इस बात का प्रमाण हैं। उनकी 'पचरंग चोला पहरया सखी म्हाँ झिरमिट खेलण जासी', 'पिय के पलँगा जा पौढ़ूँगी,' 'सोहागिन नार', 'बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झंकार रे,' 'सोती सुरत जगाऊँ ऐ माय, 'सुरति की डोरी', 'सबद सरोवर 'घँसी', 'निरगुन सुरमो सार'. 'ऊँचा ऊँचा महल पिया का', 'राह रपटीली', 'सेज सुषमणा', 'सुन्न महल', 'गगन मंडल की सेज', तथा 'त्रिकुटी महल' आदि में विचार, प्रतीक तथा शब्द आदि सभी कुछ संतों के हैं। ये कबीर आदि में प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं। 'विरह में दीवाना होने, खुमारी में मस्त डोलने एवं प्रेम का अमल पीने के भाव संतों में यत्र तत्र मिल जाते हैं। कहना न होगा कि ये संतों पर सूफियों के प्रभाव के कारण हैं। मीराँ का सीधा संपर्क कदाचित् सूफ़ियों से नहीं था। इसका आशय यह हुआ कि मीराँ में मिलनेवाली ये बातें—

[1] 'गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी' तथा 'रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु' जैसी पंक्तियाँ भी मीराँ के कुछ पदों में है, जिनके आधार पर कुछ लोग रैदास को मीराँ का गुरु मानते हैं। किंतु दोनों के जीवनकाल पर विचार करने पर इसकी संभावना नहीं दिखलाई पड़ती। संभव है, मीराँ पर रैदास की बानी का प्रभाव पड़ा हो, या रैदास परंपरा के किसी अन्य संत से उन्होंने शिष्यत्व प्राप्त किया हो। यों इन पदों के अप्रामाणिक होने की भी संभावना हो सकती है।

'मैं हूँ विरह दिवानी', 'लागी मोहिं राम खुमारी हो', 'पिया पियाला अमर रस का, चढ़ गई घूम घुमाय', तथा 'यो तो अमल म्हाँरो कबहुँ न उतरे कोट करो उपाय' आदि—भी संतों के माध्यम से ही आई ज्ञात होती हैं।

मीराँ का 'गुरु' भी संतों से भिन्न नहीं है। संतों की भाँति ही उसे वे 'सतगुरु' कहती हैं—'बसतु अमोलक दी मेरे सतगुर' या 'सत की नाव खेवटिया सतगुर' आदि। उनका गुरु भी 'बान मारकर विरह' लगाता है। मीराँ कहती हैं:

'भरमारी रे बानाँ मेरे, सतगुरु बिरह लगाय के।' कबीर ने भी अपने 'गुरदेव कौ अंग' तथा 'ग्यान बिरह कौ अंग' में 'सतगुर लई कमाँण करि बाँहण लागा तीर', 'गुरु दाधा चेला जल्या बिरहा लागी आगि' आदि अनेक रूपों में ऐसे भाव व्यक्त किए हैं। संत कवियों की एक प्रमुख विशेषता रहस्यवाद है। सगुण भक्त कवियों में यह बात प्रायः नहीं मिलती। मीराँ में भी, 'तुम मोरे हूँ तोरे,' 'तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं,' 'म्हारा पिया म्हारे हीयड़े बसताँ णा आवाँ णा जाती,' 'रोगी अंतर बैद बसत है' तथा 'पिय के पलँगा जा पौढूँगी' आदि पंक्तियों में संतों के रहस्यवाद की झलक दिखाई पड़ती है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त मीराँ में भगवान् के लिये 'साहब', 'निरंजन आदि तथा 'तालाबेली', 'निरत', आदि पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग का स्रोत भी संत-साहित्य ही जान पड़ता है। इस प्रकार, मीराँ पर संत साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

कृष्णधारा के अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित दूसरे कवि हरिराम व्यास (सं० १५६७–१६७६ वि०) हैं। कुछ लोगों के अनुसार ये माध्व संप्रदाय के थे, किंतु अन्य इन्हें हित हरिवंश का शिष्य मानते हैं। कृष्णधारा के कवि होते हुए भी संतकवियों के प्रति इनके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी जिसे इन्होंने,

इतनो है सब कुटुम हमारौ
सैन, धना अरु नामा, पीपा और कबीर रैदास चमारौ।

या

कलि में साँचौ भक्त कबीर

आदि रूपों में, व्यक्त किया है। संतों ने जाति पाँति, छुआछूत का विरोध किया है। उसी स्वर में व्यास ने भी

भक्ति में कहा जनेऊ जाति।

या

जिनकी ये सब छोति करत है, तिनहीं कौ हौं चेरो।

आदि पंक्तियों मे उनका विरोध किया है। संतों ने अनेक स्थलों पर इस प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं कि ब्राह्मण दूसरों को उपदेश देते हैं और स्वयं बंधन में पड़े रहते हैं। व्यास भी कहते हैं :

ब्राह्मन के मन भक्ति न आवै।
भूलै आप सबनि समुझावै ॥

संतों की भाँति ही व्यास के लिये बाह्याचार तथा उससे संबद्ध वस्तुएँ व्यर्थ हैं। उनका एक छंदांश है :

हरि बिनु जम की पाँसि जनेऊ।

तुलसी आदि ने 'पूजिय बिप्र ग्यान गुनहीना। नहिं न सुद्र गुनग्यान प्रवीना' रूप मे जिस विचार को अभिव्यक्ति दी है, संत सर्वदा से उसके विरोधी रहे हैं। व्यास ने भी उसका विरोध किया है :

व्यास कुलीनहि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस।
स्वपच भक्त की पानहीं, तुलै न तिनके सीस।

संतों ने पुस्तकीय ज्ञान को व्यर्थ कहा है। व्यास भी 'भक्ति न जनमें पढ़े पढ़ायै' या 'भई काहू कै भक्ति पढ़ै न' आदि रूपों मे वही बात कहते हैं। शाक्तनिंदा, ढोंग एवं माला तिलक का विरोध तथा गुरुमहिमा, कंचन कामिनी तथा कथनी करनी आदि के विषय मे भी व्यास के छंद संतों से प्रभावित जान पड़ते हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

शाक्तनिंदा—

करि मन साकत कौ मुँह कारो।

अथवा

साकत बामन जिन मिलौ वैष्नव मिलि चंडाल।
जाहि मिले सुख पाइयै मनौ मिलै गोपाल ॥[1]

ढोंग विरोध—

माला तिलक स्वाँग धरि हरि कौ, नाम बेचि धन लावत।

गुरु महिमा—

गुरु गोविंद एक समान

[1] कबीर का भी छंद बिल्कुल यही है—

सापत बाँमण मति मिलै, बैस्नौ मिलै चंडाल।
अंकमाल दै भेटिये, मानौ मिलै गोपाल ॥

अथवा

हरि हीरा गुरु जौहरी ब्यासहिं दियौ बताय।[1]

कथनी करनी—

व्यास विवेकी संत जन कहनि रहनि में एक।

अथवा

व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार।

व्यास जी ने ऐसे विषयों पर कविता लिखते समय प्रायः उसी शब्दावली का प्रयोग किया है, जो संत साहित्य में मिलती है। इन्होंने संत कवियों की भाँति ही कुछ सखियाँ भी लिखी हैं। इस प्रकार बाह्य और आंतरिक दोनों ही दृष्टियों से व्यास जी पर संत कवियों का प्रभाव पड़ा है।

कृष्णाधारा के अन्य भक्तिकालीन कवियों में उल्लेख्य प्रभाव सूरदास पर भी दृष्टिगत होता है, यद्यपि ये संतों के मत के आलोचक भी रहे हैं, जैसा आगे 'प्रभावित आलोचनात्मक साहित्य' मे देखा जायगा। संतों ने भगवान् को निर्गुण होने के कारण 'अनिर्वचनीय', 'अविगत' आदि कहा है। सूर भी उसी प्रकार भगवान् को 'मन बानी को अगम अगोचर' तथा उस 'अविगत' की गति को अकथनीय कहते हैं :

अविगत गति जानी न परै।
मन बच कर्म अगाध अगोचर, किहि बिधि बुधि संचरै।

'आत्मज्ञान' आदि पर बल देते हुए सूरदास पूर्णतया संतों की ही शब्दावली तथा अप्रस्तुत आदि का प्रयोग करते हैं :

रे मन! आपु कौ पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ अजहुँ तौ कछु जानि।
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै सुतौ ताके पास।
भ्रमत ही वह दौरि ढूँढ़ै, जबहि पावै बास।

इसी प्रकार 'सत सरूप', 'सब्द से उजियारा होना' तथा 'सतगुरु का भेद बताना' आदि भी सूर के निम्नांकित पदों में संतों के प्रभाव के फलस्वरूप ही ज्ञात होता है :

जौ लौं सतसरूप नहिं सूझत।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारै, फिरत सकल बन बूझत।

[1] कबीर के नाम से भी इस प्रकार का छंद प्रसिद्ध है :
गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताय।

तथा

अपुनपौ आपुनहि मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ॥

'सूरसागर' के 'भ्रमरगीत' वाले भाग मे उद्धव के उपदेश तो अधिकांशतः संतों से लिए गए जान पड़ते हैं। कुछ दर्शनीय हैं :

ताहि भजहु किन सबै सयानी। खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी ॥
जाके रूप रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं ॥
हृदय कमल मे जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै ॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी। सून्य महल मैं बसैं मुरारी ॥
हे गोपी सुनु बात हमारी। है वह सून्य सुहाहु ब्रजनारी ॥ आदि

सगुण एवं सनातनी भक्तों ने यज्ञ, व्रत, तीर्थ तथा वेद पुराण के पठन पाठन आदि को बहुत महत्व दिया है, किंतु संत कवियों ने इन्हे व्यर्थ कहा है। संतों के ही स्वर में सूर भी एक स्थल पर कहते हैं :

'जौ लौं मन कामना न छूटै।
तौ लौं कहा जोग जग्य व्रत कीन्हें, बिनु कन तुस कौ कूटै।
कहा सनान कियै तीरथ के, अंग भसम जट जूटै ?
कहा पुरान जु पढ़े अठारह ऊर्ध्व धूम के घूटै।

अन्योक्ति या प्रतीकात्मक ढंग से रहस्यवादी अभिव्यक्ति की परंपरा संतों को नाथों सिद्धों से मिली थी। कबीर आदि मे इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। 'सूरसागर' भी इस प्रकार के उदाहरणों से शून्य नहीं है :

चकई री ! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।[1]

यहाँ रहस्यवाद के मिलन वियोग का संकेत भी द्रष्टव्य है। कबीर आदि ने हंस, मछली आदि को आत्मा का प्रतीक माना है, उसी प्रकार सूर भी चकई, सखि भृंगी, सुवा आदि को आत्मा का प्रतीक मानकर रहस्यवादी ढंग की अभिव्यक्ति करते है :

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि कहीं विकसाहिं।

यहाँ 'सखि' शब्द एक आत्मा के दूसरी आत्मा से कथन का संकेत करता है। अर्थात् कबीर की भाँति ही आत्मा को स्त्री और ब्रह्म को पुरुष माना गया है।

[1] कबीर की भी एक पंक्ति है—
हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय ?

सूर की 'भृंगी री भजि चरण कमल पद जहँ नहिं निसि को त्रास' या 'सुवा चलि तो बन को रस पीजै' आदि पंक्तियाँ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं।

उपर्युक्त प्रभाव छिटपुट थे। सूर के एकाध पद तो कबीर से पूर्णतः मिलते जुलते हैं :

अपनपौ आपुहो बिसरौ।
जैसे सुनहा काँच मंदिल महँ भरमते भूँसि मरौ।
जौ केहरि वपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो।
वैसे ही गज फटिक सिला पर, दसनन्हि आनि अरो।
मरकट मूँठि स्वाद नहिं बिहुरै, घर घर रटत फिरो।
कहँहि कबीर ललनी के सुगना, तोहि कवनै पकरो।
—कबीर (बीजक, विचारदास, प्र० संस्करण, पृ० २३५)

'अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ।
जैसे स्वान काँच मंदिर मै, भ्रमि भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यों केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप परयौ।
जैसैं गज लखि फटिक सिला में, दसननि जाइ अरयौ।
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिरयौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौनैं पकरयौ।
—सूरदास (सू० सा०, पद ३६९)

रामधारा के कवियों पर कृष्णधारा की तुलना में कम प्रभाव पड़ा है। इस धारा के प्रथम हिंदी कवि के रूप मे प्रायः रामानंद का उल्लेख किया जाता है। इनका एक ग्रंथ 'योग चिंतामणि' है, जिसमे संतों की शब्दावली एवं विचारधारावाले पद मिल जाते हैं। इस बात को यहाँ प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि इनका संतधारा से संबंध था। संतों मे पीपा, कबीर, सेन, धना तथा रैदास आदि इनके शिष्य कहे जाते हैं। रामानंद के कुछ छंद 'गुरु ग्रंथसाहब' में भी मिलते हैं। उनपर भी संतों का प्रभाव पड़ा है। इनकी इस प्रकार की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :

जहँ नाद बिंदु का हाथी। सतगुर ले चले साथी।
जहाँ है अष्टदल कमल फूला। हंसा सरोवर में भूला।
शब्द तो हिरदय बसै, शब्द नयनों बसे।
शब्द की महिमा चार बेद गाई।
कहैं गुरु रामानंद जी, सतगुर दया करि मिलिया,
सत्य का शब्द सुनु रे भाई।

उनके 'रामरक्षा स्तोत्र' मे भी इस प्रकार का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रामधारा के दूसरे, किंतु प्रमुख कवि तुलसी हैं। इनपर संतधारा का इस प्रकार का विशेष प्रभाव तो नहीं है, यद्यपि 'मानस' के 'उत्तर कांड' मे व्यापक, अखंड, अनंत, अगुण, गिरागौतीता, निर्गुण, निराकार, आदि विशेषणों से जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह संतों के ब्रह्म से बहुत भिन्न नहीं है। इसी प्रकार तुलसी का—

'सियाराम मय सब जग जानी।

दादू के—

घीव दूध में रमि रहा व्यापक सबही ठौर।

या कबीर के

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई।

के समान ही है। संतों का 'निरंजन' भी तुलसी मे मिलता है :

नित्य निरंजन सुख अंदोहा।

रामधारा के अन्य कवियों में अग्रदास (उनकी कुंडलियों तथा अन्य उपदेशात्मक कविताओं मे) पर भी संतों का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भक्तिकाल की तीसरी धारा सूफियों की है। सैद्धांतिक दृष्टि से सूफियों और संतों मे बहुत कुछ बातें समान हैं। इसी कारण एक दूसरे पर प्रभाव का दो टूक मूल्यांकन बहुत कठिन है। फिर भी कुछ बातें ली जा सकती हैं जो अपेक्षाकृत कम विवादास्पद हैं। पहले संतों के प्रभाव को लिया जा रहा है। सूफियों की धारा भारत के बाहर भी है। उनसे भारतीय सूफियों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि हिंदी सूफी धारा के कवियों ने अद्वैतवाद तथा हठयोग पर बाहरी सूफियों की तुलना में अधिक बल दिया है। यह कदाचित् संतों के प्रभाव के कारण ही है। हठयोग नाथों के प्रभाव के कारण भी संभव है। अद्वैतवाद के अनुरूप सूफियों के निर्गुण ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और मुक्ति विषयक विचार भी अद्वैतवाद के साथ ही कुछ न कुछ संतो से प्रभावित हैं। जायसी की दो पंक्तियाँ इस दृष्टि से यहाँ देखी जा सकती हैं:

निराकार ब्रह्म—अलख अरूप अबरन सो कर्ता।

अनिर्वचनीय ब्रह्म—वोह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी। ब्रह्म और आत्मा के मिलन के संबंध मे कबीर कहते हैं—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ।

जायसी मे भी लगभग यही बात है :

बूँदहिं समुद समान, यह अचरज कासों कह्यों।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ।

जाति और धर्म की एकता संतों की अपनी चीज है। सूफियों में हिंदू मुसलमान को एक मानने की बात संतों से ही ली गई ज्ञात होती है। कबीर कहते हैं—

अलहु गैब सकलु घट भीतरि हिरदय लेहु बिचारी।
हिंदु तुरक दुहूँ महिं एकै, कहै कबीर पुकारी।

जायसी भी कहते हैं—

'मातु के रकत पिता कै बिंदू।
उपजै दुवौ तुरुक औ हिंदू।

रीतिकालीन सूफी कवि पेमी भी कहते हैं—

पेमी हिंदू तुरक में हर रंग रहो समाय।
देवल और मसीत में दीप एक ही भाय।

इसी प्रकार, जैसा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने संकेत किया है (उत्तरी भारत की संतपरंपरा, प्रथम सस्करण, पृ० २६०), जायसी ने 'पद्मावत' मे (जायसी ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, १९२४, पृ० १००) जो, सिंहलगढ़ पर विजय प्राप्त करने का संकेत देते हुए, कायागढ़ का रूपक बाँधा है, वह कबीर के 'क्यूँ लीजै गढ़ बंका भाई' आदि के आधार पर खड़ा किया गया प्रतीत होता है। जायसी के 'अखरावत' पर भी संतों, विशेषतः कबीर, का पर्याप्त प्रभाव ज्ञात होता है। मंझन, उसमान, नूर मुहम्मद आदि अन्य सूफी कवियों पर भी संतों का इस प्रकार का थोड़ा बहुत प्रभाव, वैचारिक तथा शाब्दिक (निरंजन, इंगला, पिंगला, सुषमना, चक्र आदि) दोनों ही क्षेत्रों में, दिखाई पड़ता है।

(३) सूफीमत से प्रभावित साहित्य

ऊपर विभिन्न धाराओं पर संतमत के प्रभाव का संक्षेप मे विचार किया गया है। उसी प्रकार सूफीमत का भी प्रभाव पड़ा है। किंतु इसका प्रभाव सभी धाराओं पर न पड़कर प्रमुखतः केवल संतधारा पर पड़ा है। अन्य धाराओं पर यदि प्रभाव पड़ा भी है (जैसे मीरा पर) तो प्रत्यक्ष न पड़कर, कदाचित् संतों के ही माध्यम से पड़ा है। संतों पर भी सूफीमत का प्रभाव दो प्रकार का है। कुछ पर तो सामान्य रूप से प्रभाव पड़ा है जो पूरे संत साहित्य की सामान्य संपत्ति बन गया है किंतु कुछ संतों पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा है। पहले सामान्य प्रभाव पर विचार किया जा रहा है।

सूफियों की सबसे बड़ी विशेषता है आत्मा परमात्मा के प्रेम की अभिव्यक्ति,

पति पत्नी के प्रेम के माध्यम से करना। इसके कुछ संकेत, 'उपनिषद्' आदि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी मिलते हैं, किंतु यहाँ यह सामान्य प्रवृत्त न होकर प्रायः अपवाद स्वरूप जैसा है। सूफियों मे यह बात सामान्य है। 'इश्क मजाजी' ही 'इश्क हकीकी' तक पहुँचने की सीढ़ी माना गया है। संतों में भी यह बात है, जो कदाचित् सूफियों के प्रभाव के ही फलस्वरूप है। दोनों में एक अंतर यह अवश्य है कि संतों मे आत्मा पत्नी तथा ब्रह्म पति माना गया है, जबकि सूफियों मे इसके ठीक उल्टे ब्रह्म को पत्नी तथा आत्मा को पति माना गया है। ऐसा इसलिये हुआ है कि संतधारा भारतीय मत के समीप है, जिसमे ब्रह्म पुरुष माना गया है। इसी से संबद्ध है सूफियों की 'प्रेम की मादकता'। यह भी संतों को मिली है। वे भी सूफियो की तरह ही उसकी 'खुमार' का वर्णन करते हैं :

हरि रस पीया जानिए जे कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥

—कबीर

सूफियों ने प्रेम की पीर या विरह को ब्रह्म की प्राप्ति में बहुत महत्व दिया है। 'नारदभक्तिसूत्र' में भी 'परमविरहासक्ति' रूप मे इसका संकेत तो है, किंतु संतों मे 'विरह' पर अत्यधिक बल केवल उसपर आधारित नहीं कहा जा सकता। सूफियों के प्रभाव बिना यह संभव नहीं लगता। प्रसिद्ध सूफी कवि अत्तार ने कहा है :

कुफ्र काफिर रा वा दीन दीनदार रा।
कतर-ए-दर्द-ए-दिल अत्तार रा॥

अर्थात् काफिरों के लिये कुफ्र, धार्मिकों के लिये धर्म चाहिए, किंतु अत्तार को दिल के दर्द का एक कतरा। इस प्रकार विरह की तीव्र अनुभूति सूफी साधना का मूल आधार है। सूफियों का विश्वास है कि आत्मा विरहाग्नि में जलकर शुद्ध हो जाती है :

विरह अगिनि जरि कुंदन होई।

संतों ने भी विरह पर अत्यधिक बल दिया है। कबीर आदि मे 'विरह' और 'ज्ञानविरह' के अलग अंग हैं। संतकवि ''विरह' को 'सुल्तान' अर्थात् 'राजा' कहते हैं। कबीर के शब्दों में :

'बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिह घटि बिरह न संचरे, सो घट सदा मसान॥'

संतों मे विरह की तीव्रता भी सूफियों जैसी ही है। दादू कहते हैं :

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर।
दर्सन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतम मोर।

कबीर भी कहते हैं :

जैसे जल बिन मीन तलपै।
ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥

विरह का सूफियों में कहीं कहीं बहुत ऊहात्मक और बीभत्स वर्णन मिलता है ।

'गिरि गिरि परैं रकत के आँसू।'

संतों में, 'लोहू सींचू तैल ज्यूँ कब मुख देसौ पीव' (कबीर) जैसी पंक्तियों में उसी का प्रभाव ज्ञात होता है।

यह प्रेम और विरह आदि रहस्यवाद, विशेषतः भावात्मक रहस्यवाद, के अंतर्गत आते हैं। संतों और सूफियों दोनों ही मे रहस्यवाद है। आचार्य शुक्ल आदि ने रहस्यवाद को साधनात्मक और भावात्मक, दो प्रकार का माना है। इन दोनों में भावात्मक रहस्यवाद मूलतः सूफ़ियों का है। संतों मे वह सूफियों के प्रभाव के फलस्वरूप ही आया ज्ञात होता है। इस प्रकार 'दांपत्य भाव', 'प्रेम' और 'विरह' प्रमुखतः इन तीनों क्षेत्रों में संतों पर सूफियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'खुमार', 'प्याला', 'अमल', 'इश्क' आदि कुछ पारिभाषिक शब्द भी संतों मे सूफियों के प्रभाव से आए ज्ञात होते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है।

जिन संतों पर सूफीमत का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ा है उनमें यारी साहब, शाह फकीर, बुल्लेशाह, तथा पलटूसाहब आदि के नाम उल्लेख हैं। इनमें यारी साहब तो संभवतः पहले सूफी थे और बाद मे संत हो गए थे, इसी कारण इन्हें सूफी परंपरा मे भी (देखिए, सूफी-काव्य-संग्रह, श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, शक १८८०) स्थान दिया जाता है। ऐसा लगता है कि इनमे संतमत और सूफीमत दोनों का समन्वय है। इन संतों में अंतिम दो का काल तो आलोच्य काल के बाद का है, किंतु अन्य भक्ति और रीतिकाल की संधि के आस पास पड़ते हैं। इनपर सूफीप्रभाव इनके शब्दसमूह में अरबी फारसी एवं सूफी शब्दों के आधिक्य तथा शैली मे मस्तानापन आदि के रूप में दिखाई पड़ता है। पलटू में तो सूफीमत के नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत तथा हाहूत आदि का भी बड़े विस्तार से वर्णन है।

इसके विपरीत संतों और सूफियों पर भी सगुण भक्तों का प्रभाव पड़ा है। यह प्रमुखतः, आचार पर बल तथा ब्रह्म या भगवान् के लिये सगुण भक्तों मे प्रचलित अवतारी नामों के प्रयोग के रूप मे, है। स्वयं कबीर ने ही, जो अवतारों के घोर विरोधी थे, भगवान् के लिये गोविंद, हरि, गोपाल, गोपीनाथ, मुरारी, रघुनाथ गोपीचंद, परसोत्तम, सारंगपानी, माधव तथा मधुसूदन आदि का प्रयोग किया है जो स्पष्ट ही अवतारवाद पर आधारित है।

(४) प्रभावित आलोचनात्मक साहित्य

यह प्रभावित साहित्य का दूसरा रूप है। पिछले विवेचन में हमने देखा कि विधिक प्रभाव कैसा पड़ा था। यहाँ प्रतिक्रियात्मक प्रभाव का विवेचन किया जाएगा। संतमत निर्गुणवादी एवं ज्ञानवादी था। कृष्ण और राम धारा के कवि सगुणवादी तथा भक्तिवादी थे। यों दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है, क्योंकि कबीर भी भक्त थे और सूर तुलसी भी ज्ञान के प्रति अविश्वासी नहीं थे। इस तात्विक अविरोध के बावजूद कृष्ण और राम धारा के कवियों ने संतमत के निर्गुण, ज्ञान तथा योग आदि की कटु आलोचना की। ये बातें भी शास्त्रसम्मत हैं, अतः इन्हें अयथार्थ ठहराकर वे कुछ नहीं कह सकते थे, इसीलिये वे इनकी आलोचना केवल प्रायः इसी आधार पर कर सके कि ये अव्यावहारिक तथा कठिन हैं। ये आलोचनाएँ दो वर्गों में रखी जा सकती हैं : (क) भ्रमरगीत रूप में, तथा (ख) अन्य।

भ्रमरगीत

भ्रमरगीत का मूल 'भागवत' में है। हिंदी के कवियों ने इसकी प्रेरणा वहीं से ली। किंतु यहाँ उसका स्वरूप 'भागवत' जैसा न रह सका। प्रायः कवियों ने इसके माध्यम से संत कवियों के निर्गुण, ज्ञान, योग आदि की, जो बाह्यतः सगुण तथा भक्ति आदि के विरोधी थे, आलोचना की।

हिंदी में 'भ्रमरगीत' का आरंभ लगभग १६०० वि० से होता है। भक्तिकालीन भ्रमरगीत काव्य दो प्रकार का है। कुछ लोगों ने तो व्यवस्थित रूप से उद्धव और गोपियों के बीच उत्तर प्रत्युत्तर कराया, या उसके संकेत दिए और कुछ ने इस विषय में केवल कुछेक छंद लिखे। संतमत की आलोचना प्रथम वर्ग के भ्रमरगीतों में ही विशेष रूप से मिलती है। इस वर्ग में सूरदास, तुलसीदास, नंददास और हरिराम के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं।

सूरदास ने चार 'भ्रमरगीत' लिखे हैं। एक 'सूरसारावली' में है तथा तीन 'सूरसागर' में। संतों की आलोचना की दृष्टि से, 'सूरसागर' वाले 'भ्रमरगीत' ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें सूरदास ने उद्धव के मुँह से निर्गुण, अद्वैतवाद, ज्ञान तथा योग आदि के पक्ष में जो कुछ कहलाया है, वह संतमत का पक्ष है। संतों के सिद्धांत ही उनके मुँह से कहलाए गए हैं—

'गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेप।
मैं कह्यौ सो सत्य मानहु सगुन डारहु नाखि।
× × ×

ज्ञान बिनु नरमुक्ति नाहीं, यह विषय संसार।
रूप रेख, न नाम जल थल वरन अवरन सार।
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नाहि जाकें, भजो ताकौं जाइ।

योग के संबंध में वे कहते हैं :

यह संदेश कह्यौ है माधौ। करि विचार जिय साधन साधौ।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सुन्य सहज मे बसत मुरारी।
ब्रह्मभाव करि सबमें देखौ। अलख-निरंजन ही कौ लेखौ।

तथा

षट दल अष्ट द्वादश दल निर्मल अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, या मिलिहैं बनमाली।

मोटे अंशों से स्पष्ट है कि यहाँ सूर की दृष्टि कबीर आदि संतों के सिद्धांत की ओर है। उद्धव उनके प्रतिनिधि बनाए गए हैं। गोपिकाएँ, जो सगुण भगवान् आदि में विश्वासी हैं, सूर के मत का प्रतिनिधित्व करती हैं, उद्धव के मत की आलोचना करती हैं तथा उसकी हँसी उड़ाती हैं। वे कहती हैं :

'मधुकर भली करी तुम आए।
वे बातें कहि कहि या दुःख में ब्रज के लोग हँसाए।

अर्थात् उसकी दृष्टि मे उद्धव की योग, ज्ञान, निर्गुण आदि की बातें हास्यास्पद हैं। वे कहती हैं कि अपने ये उपदेश लौटा ले जाओ, इनकी आवश्यकता हमे नहीं है :

हमको हरि की कथा सुनाउ।
ये अपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही ले जाउ।

उनके लिये उद्धव का ज्ञान आदि धोखा है, उसे लेना अंगूर छोड़कर नीम के फल लेना है :

'जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै।
यह व्योपार तिहारौ ऊधौ ऐसोई फिरि जैहै।
× × × ×
दाख छाड़ि कै कटुक निबौरी को मुँह खैहै ?

उद्धव की ये बातें उन्हें बिल्कुल अटपटी लगती हैं और वे सुनना नहीं चाहतीं :

'अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसौ को है ?

निर्गुण आदि से उनका सीधा मार्ग रुक जाता है :

'काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहुँ मधुप निरगुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो।'

उद्धव गोपियों के मुख से तरह तरह के व्यंग्यो :

'निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, जननि कहियत को, कौन नारि को दासी।

तथा

'ऊधो जोग कहा है कीजतु?
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत?'

सुनते हैं और अंत मे अपने मत की व्यर्थता उनकी समझ मे आ जाती है और वे ठगे से रह जाते हैं :

'सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो से 'सूर' सबै मति नासी।'

गोपियों ने व्यंग्य और भावुकता के अतिरिक्त निर्गुण, योग और ज्ञान आदि को सगुण भक्ति आदि से कठिन भी कहा है :

'यह तो वेद उपनिषद मत है, महापुरुप व्रतधारी।
हम अबला अहीर ब्रजवासिनि नाहीं परत सँभारी।
ता निरगुन सौं नेह निरंतर क्यों निबहै री माई।'

इन बातों का उद्धव पर प्रभाव यह पड़ता है कि वे निर्गुण, योग, ज्ञान आदि छोड़कर भक्ति और सगुण के प्रति श्रद्धालु होकर कृष्ण के पास लौटते है। वे कहते है :

'कटुक कथा लागी मोहि अपनी, वा रससिंधु समायो।'

इस प्रकार सूर ने उपर्युक्त बातों के आधार पर निर्गुण, ज्ञान और योग आदि की पराजय दिखलाई है।

तुलसीदास का 'भ्रमरगीत' उनकी 'श्रीकृष्ण गीतावली' में है। यहाँ उद्धव तथा गोपियों में विशेष वाद विवाद नहीं है। 'रामचरितमानस' में 'ग्यानपथ कृपान की धारा' आदि रूप में इन बातों का तुलसी विवेचन कर चुके थे, इसी कारण यहाँ उन्होने सविस्तार विचार करना आवश्यक नहीं समझा। हाँ, विवाद के कुछ संकेत अवश्य हैं :

'ऊधौ या ब्रज की दशा विचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा बिस्तारौ।'

अथवा

'ज्ञान ग्राहक नाहिनै मधुप अनत सिधारि।'

इस प्रकार तुलसी की गोपियाँ भी निर्गुण की 'गाड़ी' लौटा देती हैं :

'है निर्गुण सारी बारिक, बलि, धरी करौ, हम ओहि।
तुलसी ये नागरिन्ह जोगपट जिन्हहि आज सब सोहि।'

उन्हें भी 'ज्ञान' कृपान जैसा लगता है :

'ज्ञान कृपान समान लगत डर।'

तुलसी ने सूर की तरह अंत में उद्धव के परिवर्तित हो जाने का उल्लेख तो नहीं किया है, किंतु इतना स्पष्ट है कि उन्होंने भी अपनी गोपिकाओं के माध्यम से संतमत की आलोचना की है और सगुणवाद तथा भक्ति आदि को अपेक्षाकृत सरल होने के कारण अधिक व्यावहारिक अतः श्रेष्ठ कहा है।

भ्रमरगीतों में नंददास का 'भँवरगीत' अत्यंत महत्वपूर्ण है। गोपिकाओं और उद्धव का वाद विवाद यहाँ बहुत ही तर्कपूर्ण तथा व्यवस्थित है। संत मत के सिद्धांतों के प्रतिनिधि उद्धव कहते हैं :

'वे तुमते नहिं दूर ज्ञान की आँखिन देखौ।
अखिल विस्व भरपूरि, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ॥'

× × ×

यह सब सगुन उपाधि, रूप निर्गुन है उनकौ।'

× × ×

हाथ न पाँउ न नासिका, नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकास है, सकल विस्व को प्रान॥'

गोपिकाएँ इसका उत्तर 'जो मुख नाहिन हुतौ कह्यौ किन माखन खायौ' आदि रूपों में देती हैं। फिर 'ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि पावौ' रूप में वे योग का विरोध करती हैं। उद्धव 'जो उनके गुन होहिं वेद क्यों नेति बतावैं' कहकर ब्रह्म का निर्गुणत्व उद्घोषित करते हैं, तो गोपियाँ 'जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें कहकर उसका खंडन कर देती हैं। इसी प्रकार का तर्क वितर्क चलता है। फिर गोपिकाओं को कृष्ण एवं विष्णु के अन्य अवतारों की लीलाएँ तथा उनका सुंदर रूप याद आता है और वे भावविभोर होकर प्रेमापूरित वाणी में अपने विरह और प्रेमावेग की अभिव्यक्ति करती हैं। इन बातों को सुनकर उद्धव के 'नैन बैन भर' आते हैं और वे 'प्रेमावेश में विवश होकर स्वयं

गोपिकाओं के रंग में रंग जाते हैं। इस तरह नंददास ने भी संत सिद्धांतों का खंडन किया है और सगुणभक्ति आदि को ऊँचा ठहराया है।

हरिराम ने अपने 'सनेह लीला' में भी इसी प्रकार सगुण और भक्ति आदि को श्रेष्ठ दिखलाया है। गौण कवियों में परमानददास, तथा मुकुंददास आदि में भी संक्षेप मे ये ही बातें मिलती हैं। लगता है, उस समय संतों के मत का जनता मे पर्याप्त प्रचार था और उसी के निराकरण का प्रयास इन कवियों ने 'भ्रमर-गीत' द्वारा किया।

अन्य

भ्रमरगीतों के अतिरिक्त भी कुछ कवियों ने अपने काव्य मे यत्र तत्र संतमत की आलोचना की है। सूरदास, जहाँ यह कहते हैं कि निर्गुण की गति समझ में नहीं आती इसीलिये 'सगुनपद' गा रहा हूँ, वहाँ वे निर्गुण की आलोचना ही करते हैं :

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै ॥
× × ×
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु, निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि ताते, सूर सगुन लीलापद गावै ॥'

इस प्रकार की विस्तृत आलोचना तुलसी ने की है। 'रामचरितमानस' मे 'उत्तरकांड' मे इस ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। यों 'कवितावली' मे तथा 'मानस' मे, अन्यत्र भी, इस प्रकार के कुछ संकेत मिल जाते हैं।

तुलसीदास द्वारा की गई संतमत की आलोचना तीन रूपों मे मिलती है। कहीं तो उन्होंने संतमत का खंडन किया है, कहीं—जहाँ खंडन संभव नहीं है—अपने और उनके मतों मे समन्वय स्थापित किया है और कहीं संतों की मान्यताओं या उनके परंपराविरोधी व्यवहारों को 'कलयुगी' कहकर उनके प्रति मात्र व्यंग्य किया है और अपनी चिढ़ प्रकट की है।

खंडन उन्होंने श्रुतिविरोधी बातों का किया है। उस काल के संत 'अलख' जगाते और पुकारते थे। तुलसी डाँटते हैं :

हम लखि लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच ॥

संत ईश्वर को अपने भीतर देखने पर बल देते थे। तुलसी कहते हैं :

'अंतर्जामिहु ते बड़ बाहिरजामि हैं राम, जे नाम लिए तें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें।'

कबीर आदि संतों ने जाति एवं वर्णभेद का विरोध किया था :

जो तू बाम्हन बम्हनी जाया। आन राह काहे नहिं आया।

अथवा

'एक ज्योति ते सब जग उपना, को बाह्मन को सुद्रा।'

तुलसी ने अनेक स्थलों पर जाति और वर्णभेद का अनुमोदन किया है। उसके रामराज्य के चित्र में सबके अपनी जाति और वर्ण के अनुकूल आचरण करने एवं कलियुग में प्रतिकूल चलने का उल्लेख वस्तुतः इसी के संकेत हैं। ब्राह्मणों को कबीर आदि ने ललकारा था। किंतु उसका विरोध करते हुए तुलसी उनको बड़ा मानते हैं :

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना।

× × ×

चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई।

× × ×

जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा।
तौ तव बस बिधि बिस्नु महेसा।

× × ×

मंगल मूल बिप्र परितोषू।
दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।

और सबसे ऊपर—

पूजिय बिप्र सील गुन हीना।
सुद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।

तथा—

ढोल गँवार सुद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।

संत भक्त थे किंतु ज्ञान पर उनका विशेष बल था। तुलसी, संतों का विरोध करते हुए, ज्ञान से भक्ति को अधिक व्यवहार्य तथा सरल मानते हैं। काकभुशुंडि गरुड़ को समझाते हैं—

ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।

किंतु साथ ही—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होई नहिं बारा।

इसीलिये सिद्धांत रखते हैं—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

यहाँ दोनों में अभेद दिखलाते हुए भी एक को बड़ा कहा गया है। ज्ञान और भक्ति की भाँति ही उस समय सगुण और निर्गुण का भी विवाद था। निर्गुण भी शास्त्रसम्मत है। तुलसी विरोध तो कर नहीं सकते थे, अतः उन्होंने ज्ञान भक्ति की ही भाँति कहा—

अगुनहि सगुनहिं नहिं कछु भेदा।

भेद कैसे नहीं है, इसका भी उत्तर उन्हे स्वयं देना पड़ा—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे? जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।

कबीर कह चुके थे—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।

लगता है, जनता मे कबीर की इस बात का पर्याप्त प्रचार था। सती के भ्रम के रूप मे तुलसी ने इसी को रखा है:

'ब्रह्म जो निर्गुण बिरज अज, व्यापक अखिल अभेद।
सो कि देहधर होइ नर, जाहि न जानत वेद।'

'रामचरितमानस' के प्रबुद्ध पाठक के समक्ष यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि राम की लीला आदि के वर्णन के अतिरिक्त, 'मानस' का एक ध्येय परात्पर ब्रह्म और दाशरथि राम मे ऐक्यस्थापन या उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर भी है।

'मानस' के 'उत्तरकाड' मे तथा अन्यत्र एव अन्य पुस्तकों मे भी कलियुग का चित्र खींचते हुए तुलसी ने संतों की मान्यताओ या उनके आचरण पर प्रहार किया है। उनकी कुछ इस प्रकार की पंक्तियाँ यहाँ देखी जा सकती हैं:

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान।

यहाँ साखी, सबदी से संतों पर व्यंग्य स्पष्ट है। इसी प्रकार—

श्रुति सम्मत हरिभक्त पथ, संजुत बिरति विवेक।
तेहि परिहरिहि बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक।

यहाँ सभवतः संतों के विभिन्न पंथों की ओर सकेत है:

'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।

कहना न होगा, उस काल मे संत ही वर्णाश्रम धर्म तथा वेद आदि के विरोधी थे। कबीर की अनेक पंक्तियों में भी इन बातों का विरोध है:

मिथ्या रंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई।

यहाँ दूसरे चरण में 'संतों', की ओर स्पष्ट संकेत है :

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि।

कबीर आदि संत ब्राह्मणों को चुनौती देते ही रहते थे—

तू ब्राह्मन मैं कासीक जुलाहा बूझहु मोर गिआना। आदि।

तुलसी की उपर्युक्त पंक्ति उसी की ओर संकेत करती है। संतों मे तथाकथित नीच जाति के लोग अधिक थे और ये सभी प्रायः अभेदवादी अर्थात् अद्वैतवादी थे। तुलसी लिखते हैं :

तेइ अभेदवादी ग्यानी नर।

× × ×

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा।
स्वपच किरात कोल कलवारा।

× × ×

मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी

संक्षेप में, क्रांतिकारी संतों ने जिस जिस बात को लेकर परंपरा का विरोध किया था, तुलसी ने प्रायः उन सभी को लेकर उनकी आलोचना की।

(५) संतों का आलोचनात्मक साहित्य

ऊपर राम तथा कृष्ण धारा के कवियों के संतमत की आलोचना पर आधारित साहित्य की चर्चा की गई है। इसी प्रकार राम और कृष्ण धारा के कवियों की मान्यताओं एवं उनके सिद्धांतों की आलोचना संतसाहित्य में भी मिलती है। जिस प्रकार राम-कृष्ण-धारा के कवियों मे आलोचनात्मक साहित्य न केवल संतसाहित्य की आलोचना के रूप में है, अपितु उस काल मे जनता मे प्रचलित मान्यताओं की भी आलोचना उसमें है, उसी प्रकार संतों मे भी आलोचनात्मक या खंडनपरक साहित्य न केवल सगुण साहित्य, अपितु सगुण मत आदि मे विश्वास रखनेवाले सनातनी मतवादियों की मान्यताओं की आलोचना से भी, समन्वित हैं। संतों मे अवतारवाद, सगुणवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ, व्रत, स्नान, माला, तिलक, मुंडन, बाल रखना, भस्म, पंचाग्नि, वेद पुराण, देवी देवता, मंत्र तंत्र, जाति पाँति, वर्ण, आदि अनेक ऐसी बातों एवं मान्यताओं की कटु आलोचना है तथा हँसी उड़ाई गई है जो सगुणवादियों को मान्य थीं। इसी प्रकार परंपरावादी मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, काबा करबला, कुरान, जबह आदि का भी खंडन किया गया है। इस प्रकार का सारा साहित्य आलोचनात्मक या खंडनपरक है। ऐसी सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं

के प्रतिक्रियास्वरूप ही इस श्रेणी के साहित्य की रचना की गई है। इस प्रकार का साहित्य संतों मे कबीर मे सर्वाधिक है, क्योंकि वे ही इन विषमताओं के प्रति सर्वाधिक जागरूक थे।

यह ध्यान देने की बात है कि सूफी प्रायः दूसरों की आलोचना या खंडन मंडन मे नहीं पड़े। इसी कारण आलोचनात्मक साहित्य उनमे नहीं मिलता, यह केवल संत, राम तथा कृष्णधारा मे ही मिलता है। संतों मे प्राप्त आलोचनात्मक साहित्य अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ तथा सशक्त है। अन्यों मे कल्पना का विलास ही अधिक है।

इस रूप मे भक्तिकालीन साहित्य का एक विचारणीय भाग, प्रभाव या प्रतिक्रिया के कारण, उद्भूत है। सबसे कम प्रभाव सूफियों का पड़ा है, और सर्वाधिक संतों का। संतों ने अन्य सभी धाराओं को किसी न किसी रूप मे प्रभावित किया है। ऐसा लगता है कि उत्तरी भारत का तत्कालीन वातावरण, जीवन के प्रति संतों के क्रांतिकारी और स्वस्थ दृष्टिकोण से इतना अभिभूत था, कि किसी भी प्रबुद्ध कवि का—चाहे वह सूफी, कृष्ण, राम, जैन, फुटकल आदि किसी भी धारा का क्यों न हो—उसके प्रति पूर्णतः उदासीन रह जाना जैसे असंभव सा था : सभी ने 'रीझ' या 'खीझ' कर कुछ न कुछ कहा। जो 'रीझे' प्रभावित हुए, और जो खीझे उन्होंने आलोचना की।

———

द्वितीय अध्याय

दार्शनिक तथा सांप्रदायिक साहित्य

(अ) दार्शनिक साहित्य

(१) उपक्रम—निर्गुण भक्ति का स्वरूप मूलतः ज्ञानाश्रयी होने के कारण, संतों की भक्तिप्रधान रचनाओं पर भी, अनेक ऐसी विचारधाराओं के प्रभाव का लक्षित होना स्वाभाविक था जिन्हें दार्शनिक समझा जाता है तथा जिनके साथ भक्तिसाधना के किसी प्रत्यक्ष संबंध का ठहराना न तो साधारणतः उतना अनिवार्य कहा जा सकता है और न वैसे भक्त कवि उन्हें प्रायः वैसा महत्व भी दिया करते हैं। जो विशुद्ध भक्तिभावना द्वारा प्रेरित है और जिसने, इसी कारण, अपने लिये किसी आराध्य देव की कल्पना कर ली है, उसे इस बात की आवश्यकता ही क्या है कि वह उसके दार्शनिक निरूपण में भी लग जाय। यह बात दूसरी है कि, जब कभी ऐसा कवि, भावविभोर होकर उसके स्वरूप का वर्णन करने में प्रवृत्त हो जाय तो वह अपने अनुभव के आधार पर बहुत सी ऐसी बातें भी कह जाय जिन्हें उसकी 'दार्शनिक व्याख्या' जैसा कोई नाम दिया जा सके। किंतु, इसके कारण वस्तुतः उसके कथन की शैली भिन्न नहीं ठहराई जा सकती और न यही कहा जा सकता है कि इसका कोई प्रभाव उसकी उपर्युक्त भक्तिभावना पर भी अवश्य पड़ा होगा। परंतु, यदि कोई कवि मूलतः दार्शनिक भी हो तथा उसकी प्रवृत्ति संतों जैसी निर्गुण भक्तिभावना से अनुप्राणित न कही जा सकती हो, अथवा जो कोई किसी संप्रदायविशेष का अनुयायी होता हुआ भी, यदाकदा दार्शनिक विचारों को प्रकट करनेवाली अथवा किसी न किसी प्रसिद्ध दार्शनिक विचारधारा की पोषक बातों को भी अपनी पंक्तियों द्वारा प्रकट करना पसंद करता हो तो यह भिन्न बात होगी। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि, इन दोनों ही प्रकार के कवियों के लिये वैसा करना आवश्यक न होने पर भी ये कभी-कभी, अपने समय के विशिष्ट वातावरण के प्रभाव में आकर इस प्रकार का मार्ग ग्रहण कर लिया करते हैं और यह प्रायः अपवाद स्वरूप हो जा सकता है। हमें ऐसा लगता है कि निर्गुणवादी संत कवियों का प्रभाव, कम से कम संत कबीर के समय से, क्रमशः बढ़ने लगने पर उनके द्वारा अधिकतर काम में लाई जानेवाली कथनशैली की छाप अन्य अनेक ऐसे कवियों की रचनाओं पर भी दीख पड़ने लगी जो उनके वर्ग-वाले नहीं थे, किंतु जिन्हें उनका न्यूनाधिक अनुकरण करने के लिये कदाचित् उन दिनों की रचनाशैली अपनानी पड़ गई। इनमें से कुछ ऐसे थे जिनके साथ किसी

संप्रदायविशेष का लगाव यों सिद्ध नहीं होता, किंतु इनमे से बहुत लोग वैसे भी थे जो किसी न किसी संप्रदाय से संबंधित थे, परंतु जिन्होंने एकाध रचनाएँ उक्त प्रकार से भी प्रस्तुत कर दीं।

(२) थेघनाथ—इनकी एक उपलब्ध रचना 'भगवतगीता भाषा' से पता चलता है कि उसका निर्माण इन्होंने सं० १५५७ मे किया था जिस समय प्रसिद्ध राजा मानसिंह तोमर (सं० १५४३–७५) का शासनकाल था तथा जिनके संरक्षण मे काव्य एवं विशेषकर संगीतकला का प्रचार अधिक था। उनकी राजधानी ग्वालियर मे थी जहाँ पर उनके किसी राजपुरुष, कीरतसिंह के पुत्र भानुकुँवर, की छत्रछाया में रहते हुए थेघनाथ ने, उनके कहने पर ही, अपने उक्त ग्रंथ की रचना की तथा इस प्रकार, 'श्रीमद्भगवद्गीता' को चौपाई छंद मे प्रस्तुत किया। थेघनाथ के गुरु कोई रामदास थे जिनका इन्होंने अपने ग्रंथ के आरंभ में ध्यान किया है तथा आगे राजा मानसिंह एवं भानुकुँवर की भी प्रशंसा की है। इस कवि ने, 'वैराग्य' को महत्व देते हुए, बतलाया है कि 'जाके अधिक बहुत जुग भागु। ताही को भावै वैरागु' और इन्होंने भानुकुँवर की ओर से 'गीताज्ञान' के विषय में भी कहलाया है कि 'गीता ग्यान हीन नर इसो। सार माहि पसु बाँधो जिसो।' इन बातों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि इनकी मनोवृत्ति किस प्रकार की रही तथा उसे किस प्रकार अपने वातावरण द्वारा प्रोत्साहन भी मिला होगा। थेघनाथ की कोई अन्य रचना अभी तक हमे देखने को नहीं मिल सकी है, किंतु ऐसे संकेतों के आधार पर भी हम उनके विषय मे इतना कह सकते हैं कि संत कबीर के समय, अथवा उनके कुछ ही दिनों पीछे, राजदरबारों के प्रमुख व्यक्तियों तक की मनःस्थिति किस प्रकार का रूप ग्रहण करती जा रही थी।

(३) अखा—अखा की गणना मध्यकालीन गुजराती काव्य के प्रमुख निर्माताओं में की जाती है। इनकी बहुत सी हिंदी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। अखा को अहमदाबाद से १० मील दक्षिण जेतलपुर के निवासी, रहियादास नामक सोनार का पुत्र कहा गया है। इनका आविर्भावकाल सं० १६४८ से लेकर सं० १७१० तक बतलाया जाता है। यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी माता का देहांत इनके बाल्यकाल में हुआ था। इनके युवावस्था प्राप्त करते करते इनके पिता एवं बहन तथा दो पत्नियों का भी स्वर्गवास हो गया। ये स्वभाव से ही गंभीर प्रकृति के मनुष्य थे अतः इनके ऊपर ऐसी घटनाओं द्वारा किसी नैराश्यजनक प्रभाव का पड़ना नहीं बतलाया जाता, किंतु इतना प्रसिद्ध है कि कतिपय व्यवहार संबंधी साधारण बातों के ही फलस्वरूप, इन्होंने अपने धंधे का सर्वथा परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् ये बहुत दिनों तक काशी आदि स्थानों की ओर भ्रमण करते रहे तथा कुछ दिनों तक संभवतः वैष्णव भक्त भी बने रहे। परंतु अंततोगत्वा

इन्होंने स्वयं अपने आपको ही गुरु रूप में स्वीकार कर लिया और आत्मविचार में लीन रहने लगे। इनकी गुरुपरंपरा को कभी कभी दादूपंथी जगजीवनदास के साथ जोड़ने की चेष्टा की जाती है, किंतु इसके लिये कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं। इनकी शिष्यपरंपरा भी किसी सुव्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित की गई नहीं जान पड़ती। अखा की अपनी भाषा गुजराती है इस कारण इनकी गुजराती रचनाओं का ही प्रकाशन अथवा विवेचन विशेष रूप से होता आया है। परंतु इनकी हिंदी रचनाओं की संख्या कम नहीं है और उनका एक संग्रह, 'अक्षयरस' के नाम से संपादित होकर, एक अच्छी प्रस्तावना के साथ महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ोदा से पाठांतर संबंधी आवश्यक पादटिप्पणियों के साथ सन् १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें उनकी रचनाएँ, क्रमशः 'श्री एकलद रमणी', 'कुंडलिया,' 'धुआसा', 'जकड़', 'झूलणा', 'ब्रह्मलीला' 'अखा जी के पद', 'भजन', 'संतप्रिया' एवं 'साखियाँ' नामक १० पृथक् पृथक् शीर्षकों में दी गई हैं जिनके आधार पर हम इनकी विचारधारा, वर्णनशैली आदि के संबंध में विचार कर सकते हैं।

अखा को प्रायः 'गुजरात का कबीर' भी कहा जाता है जिसके लिये एक उल्लेखनीय कारण यह है कि इन्होने, लगभग संत कबीर की ही भाँति, अपनी बानियों के अंतर्गत ऐसे 'चाबका' अथवा फटकारपरक वाक्यों के प्रयोग किए हैं जिनका प्रभाव तीखा पड़ा करता है। इनकी ऐसी रचनाओं के ही बाहुल्य के कारण कभी कभी इनकी वाणी के 'ध्वंसात्मक' एवं 'रचनात्मक' जैसे दो पक्षों की कल्पना भी की जाती है। इनकी हिंदी रचनाओं के अंतर्गत उनका ध्वंसात्मक रूप हमें प्रायः वहाँ दीख पड़ता है जहाँ पर इनके वेदांत दर्शन विषयक मत का अधिक समावेश किया गया है तथा जहाँ पर उसका प्रतिपादन करते समय इनकी स्पष्टवादिता अत्यंत मुखरित हो गई है। इन्होने वहाँ पर तीर्थ, पूजापाठ, ध्यान अथवा पाप-पुण्य-विषयक भावना को भी नितांत निरर्थक बतलाया तथा इसी प्रकार, वेदविद्या, वेश-भूषा, बाह्यउपचार, तप साधना, ब्रह्मचर्य पालनादि तक को कोरी 'मन रिझावन' वाली बातों की कोटि में ला रखा है। इन्होने अपने विषय में भी इस प्रकार कहा है :

> लंठ कहो कोई भंड कहो पाषंड कहो कोऊ कहो भिखारी।
> सज्जन कहो दुरीजन कहो चोर कहो कोई कहो ब्रह्मचारी॥
> कोऊ के पाव टिके नहीं ताहाँ जाय कीनी अखे जु पधारी।
> जिनु जैसे देख्यो तिनु तैसे धायो, बहोत रैहै जो विचार बिचारी॥

इन शब्दों में हमें न केवल संत कबीर की ही जैसी स्पष्टोक्ति का पता चलता है, अपितु इनके द्वारा लक्ष्यसिद्धि की गुरुता भी सूचित होती है। इस परमोच्च कोटि

की अवस्था के लिये ये अधिकतर सहज की स्थिति अथवा उसकी साधना के लिये भी 'सहजे सहजे' जैसे शब्दों के प्रयोग करते हैं और इनकी 'सहजा' भी संत कबीर की सहजावस्था से भिन्न नहीं जान पड़ती जिसमें इनके अनुसार 'दृष्टादृष्ट भाव' नहीं रह जाता। यह सारा माया का पसारा दृष्टादृष्ट भाव के ही अंतर्गत आता है जिसे इन्होंने अन्यत्र 'प्रपंच' नाम से भी अभिहित किया है। जैसे,

जिन जान्या तिन प्रपंच जान्या।
कछु न जान्या सो सहज समाना॥

जिसके द्वारा दोनों का स्पष्टीकरण केवल थोड़े शब्दों द्वारा भी सुंदरता के साथ हो जाता है।

अतएव, अरवा ने संत कबीर जैसे लोगों के समान आध्यात्मिक साधना एवं सिद्धि की भी चर्चा कम नहीं की है। परंतु, कम से कम इनकी हिंदी रचनाओं के भी आधार पर हम कह सकते हैं कि इन पर किसी एक दार्शनिक वा तत्वज्ञानी का ही रंग बहुत अधिक चढ़ा हुआ है। इनकी एक छोटी सी हिंदी रचना 'ब्रह्मलीला' नाम की है जिसमें पूरी १०० पंक्तियाँ भी नहीं आतीं, किंतु जिसके अंतर्गत इन्होंने अपने ऐसे मत का सारतत्व समाविष्ट कर दिया है तथा जिससे हमें इनके दार्शनिक भी होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। इन्होंने यहाँ पर 'आदि निरंजन राया' को शब्दातीत, किंतु 'उर अंतर में आप स्ववस्तु' रूप में विद्यमान कहा है तथा त्रिगुणमाया को 'कल्पित' एवं 'अध्यारोप' की हुई ठहराया है। इनका कहना है कि वह 'आदि निरंजन' 'परम चैतन्य' के 'अकरता' बने रहने पर भी "ब्रह्म चैतन्य घन" में अचानक "दामिनी" सी बन जाती है। इसी कारण 'निर्गुण' को सगुण कहने की परिपाटी है यद्यपि वह, 'पानी' से 'पाला' बन जाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहला सकता। 'चैतन्य', इस प्रकार जड़ का रूप धारण कर लेने पर भी, ज्यों का त्यों चैतन्य ही रह जाया करता है। अरवा ने इस प्रसंग में, वेदांत दर्शन में प्रयुक्त 'गंधर्व नगरी', रज्जु व सर्प के दृष्टांत, 'तत्वमसि' जैसे महावाक्यों के प्रयोग आदि अनेक माध्यमों का भी सहारा लगभग उसी प्रकार लिया है जिस प्रकार कई ऐसे दार्शनिक, वैसे सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय, किया करते है। 'अद्वयरस' के संपादक ने अरवा के दार्शनिक मत का परिचय देते समय इन्हें विशुद्ध केवलाद्वैती न कहकर अजातवादी ठहराया है तथा अपने इस कथन के समर्थन में डा० योगींद्र जगन्नाथ त्रिपाठी के मत को भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार यह सारा जगत् केवल मन का ही व्यापार है जिसका सम्यक् निरोध हो जाने पर उसके सर्वथा अभाव का हो जाना भी संभव है। इस प्रकार का दार्शनिक मत शंकराचार्य के 'विवर्तवाद' का समर्थन करने की जगह उनके दादागुरु गौड पादाचार्य की उस विचारधारा पर अधिक आश्रित प्रतीत होता है जो उनके द्वारा

रचित 'मांडूक्योपनिषद्', की कारिकाओं से निःसृत होती है तथा जिसे दोनों की परस्पर तुलना करनेवाले किंचित् भिन्न बतलाया करते हैं। वास्तव में संत अखा, 'ब्रह्मरस' का स्वयं अनुपम स्वाद ले लेने पर, सदा ब्रह्मानंद में मग्न रहने लगे थे और इन्होंने स्वरूपानुसधान के वेदांतपरक संदेश को सब किसी के लिये कल्याणप्रद समझते हुए उसका कदाचित् प्रचार करना भी आरंभ कर दिया था।

(४) **कवि केशवदास** : ये, रीतिकालीन हिंदी कवियों मे से, प्रमुख आचार्यों मे गिने जाते हैं और इनकी अधिकांश रचनाओं के अंतर्गत रीतिशास्त्र संबधी विषयों का प्रतिपादन अथवा उनका उदाहृत किया जाना ही पाया जाता है। परंतु इनकी 'विज्ञानगीता' नामक एक रचना इसका अपवाद भी कही जा सकती है। कवि केशवदास ने अपना परिचय अपने ग्रंथों में भी, संक्षिप्त ढंग से दिया है, किंतु वह यथेष्ट नहीं है। इनका आविर्भावकाल अनुमानतः सं० १६१२ से लेकर सं० १६७४ तक ठहराया जाता है जिसके अनुसार ये संत अखा के पूर्ववर्ती कवि ठहरते हैं। इनका जन्म एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे हुआ था। इनके पिता का नाम काशीनाथ था जिन्हें राजा मधुकर शाह (ओड़छा नरेश) ने विशेष संमान प्रदान किया था। ये तीन भाई थे और इनके घर संस्कृत बोली तक जाती थी, किंतु, परिस्थितियों के फेर में पड़कर, इन्हें 'भाषा' में कविताओं की रचना करनी पड़ी। अपनी रचना 'रसिकप्रिया' के अनुसार ये बुंदेलखंड के राज्यांतर्गत तुंगयरण्य के निकट बेतवा नदी पर, ओरछा नगर में रहा करते थे। 'विज्ञानगीता' से पता चलता है कि राजा वीरसिंह के प्रश्न करने पर, कवि केशवदास ने इस ग्रंथ की रचना सं० १६६७ में, उनके समाधानार्थ की थी। यह पुस्तक लगभग उसी ढंग पर, रूपकों के आधार पर लिखी गई है जिस प्रकार प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रबोध चंद्रोदय' की रचना हुई थी। इसमें एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते समय, शिव पार्वती के पारस्परिक संवाद का भी सहारा लिया गया है। केशवदास ने यहाँ पर अपना प्रतिपाद्य विषय 'हरिभक्ति' के ही रूप में प्रकट किया है, क्योंकि इनका कहना है कि यथाशक्ति सभी लोग हरिभक्ति को ही अपने लिये स्वीकार करना चाहते हैं, किंतु वे, अपने मनोविकारों के रहते हुए, इसमें पूर्ण सफल नहीं हो पाते। वास्तव मे इसी रूप में इनके प्रति एक प्रश्न राजा वीरसिंह की ओर से कराया गया है और फिर इसी को शिव पार्वती संवाद का भी मुख्य विषय बनाया गया है। इस प्रकार इस ग्रंथ में आगे विवेक एवं महामोह के युद्ध का वर्णन किया गया है जिस विषय मे शिव पार्वती के प्रति पहले ही कह देते हैं :

> जब विवेक हति मोह को, होई प्रबोध संयुक्त।
> तब ही जानो जीव को, जग मे जीवन्मुक्त ॥३२॥

जिससे स्पष्ट है कि आदर्श धार्मिक जीवन, और विशेष कर उसके नैतिक पक्ष से ही, इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय का संबंध है। इसके द्वारा कहीं पर किसी बात का दार्शनिक प्रतिपादन वा विवेचन नहीं किया गया है। इसके आरंभ से ही लेकर अनेक ऐसे शब्दों के प्रयोग उसके लिए किए गए हैं जिनसे उसका निर्गुण तत्व होना तथा फिर उसका सगुण रूप मे भी चित्रित किया जाना प्रकट होता है और हम इस संबंध में कोई निश्चित धारणा नहीं बना पाते। फिर भी, इस रचना का सतमत द्वारा किसी प्रकार प्रभावित होना भी अधिक संभव कहला सकता है।

कवि केशवदास ने, अपनी 'रामचंद्रिका' मे, एक स्थल पर मुक्ति के लिये हठयोग पर बल दिया है। इनका कहना है :

जो चाहे जीवन अति अनंत। सो साधे प्राणायाम संत।
तुम पूरक कुंभक मान जानि। अरु रेचकादि सुखदानि जानि॥

इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र कहा है :

आपन सों अवलोकिये, सब ही युक्त अयुक्त।
अहं भाव मिटि जाय जो, कौन बद्ध को मुक्त॥

जिसे पढ़कर संत कबीर का वह पद स्मरण हो आता है जहाँ पर कहा गया है :

राम मोहि तारि कहो लै जैहो
जो मोरे जिउ दुइ जानत हो तो मोहि मुकति बतावो, आदि

कवि केशवदास का यह कथन भी कबीर आदि संतों का जैसा ही लगता है जहाँ पर उन्होंने कहा है :

ब्रह्म विष्णु शिव आदि हैं जितने दृश्य शरीर।
नास हेतु धावत सबै ज्यों बड़वानल नीर॥

अर्थात् हमारे आराध्य देवगण मे से भी कोई अविनश्वर नहीं है। संत कबीर ने अपने एक पद मे, जो 'अंजन सकल पसारा रे' से आरंभ होता है, ब्रह्मा, इंद्र आदि सभी देवताओं को 'अंजन' अर्थात् नाशमान कहकर ही परिचित कराया है तथा 'संतों, आवे जाय सो माया' आदि मे भी उन्होंने इसी बात की ओर संकेत किया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का कथन, राम एवं कृष्ण के उपासकों की दृष्टि मे नास्तिकता का द्योतक ठहराया जा सकता है। परंतु संत कबीर को इसका कोई गम नहीं था और यही बात हमें कवि केशव के उपर्युक्त उद्धरण में भी दीख पड़ती है। वास्तव में कवि केशव ने भी, ठीक संतों की ही भाँति कहीं कहीं पर

ज्ञान एवं विवेक पर पूरा बल दिया है तथा इस प्रकार कोरी आस्था को सर्वथा हेय भी ठहराया है।

(५) चतुरदास—इनके संबंध में अधिक विदित नहीं है और न इनकी रचनाएँ ही यथेष्ट संख्या में उपलब्ध हैं। इनकी एक रचना, 'श्रीमद्भागवत' के ११वें स्कंध का भाषानुवाद है जिसमें दोहों चौपाइयों के द्वारा उसके भावों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है। चतुरदास ने यहाँ पर अपने 'संतगुरु संतदास' का स्मरण किया है जो संभवतः संत दादूदयाल के शिष्य थे और बतलाया है कि उन्हीं की शरण में जाने पर मुझमें 'ज्ञान विचार' उत्पन्न हुआ तथा मेरे कुविचार दूर हो सके। उनकी ही आज्ञा को शिरोधार्य करके कवि ने 'लोक हितार्थ' इसे 'भाषा' में अनुवादित किया। इसका रचनाकाल सं० १६९२ है। इनका कहना है :

सूक्ष्म स्थूल सकल संसारा। जाकी शक्ति सकल विस्तारा।
उतपत प्रलै करै बहु याको। काहू ते जन्म नहि ताको।
जागृत स्वप्न सुषोपत तुरिया। चहु में सदा एकरस पुरिया।
इंद्रिय देह हृदै अस आना। जाते चेतन होई बरताना॥

(६) दयाल अनेमानंद सरस्वती : ये एक उच्च कोटि के अद्वैतवादी संन्यासी थे। इनका आविर्भाव काल सं० १७०० के कुछ पहले से लेकर उसके कुछ पीछे तक ठहराया जा सकता है। इनकी इस समय तक ९ रचनाओं का पता चल चुका है। इनमें से 'अवगत हुलास' की समाप्ति का समय माघ सुदी एकादशी, रविवार, सं० १७३२ दिया हुआ मिलता है, किंतु इनके 'अपरोक्ष अनुभव', 'आत्मबोध', 'पंचकोश विवेक', 'अज्ञानबोधिनी', 'ज्ञानबोधिनी', 'ज्ञानगीता', 'अष्टावक्र' तथा 'जन्म साखी कबीर जी की' नामक ग्रंथों के रचनाकाल का हमें पता नहीं है। इन अनेमानन्द जी के विषय में कहा गया है कि ये वेदी वंशीय क्षत्रिय थे, किंतु, इसके अतिरिक्त, इनकी जीवन संबंधी घटनाओं आदि के वृत्तांत अज्ञात हैं। 'अवगत हुलास' के लिये कहा जाता है कि इसका एक नाम 'आत्म-प्रकाश' भी रहा होगा। इनके द्वारा रचे गए ग्रंथों के प्रधान विषय संसार की अनित्यता, परमात्मविवेक तथा आत्मा परमात्मा के बीच अभेद आदि से संबंध रखते हैं। इस अद्वैतवादी कवि ने, ग्रंथारंभ में मंगलाचरण लिखते समय भी, किसी अन्य की वंदना न करते हुए, स्पष्ट शब्दों में कहा है :

नाम रूप मृगजल सबै, कासो करूँ प्रनाम।
मेरी मुझको बंदना, सोहं आतम राम॥

इनकी विचारधारा का परिचय इनके निम्नलिखित पद्य द्वारा संक्षिप्त रूप मे दिया जा सकता है :

नाम रूप मृगजल सब, कौन को प्रनाम अठे,
निज सार आप आपको प्रनाम है।
आपन अपार निरधार कछु तामें करौ,
षट्चार थकत ऐसो चिद् धन राम है।
बुधि से बिहीन मूढ़, लपटे युगादि ब्रह्म कहै,
निगम प्रगट तहँ जतन कौन काम है।
आदि-मद्ध-अंत वस्तु ज्यों की त्यों समान सब,
ऐसो अनेमो दयाल स्वतः सिद्ध नाम है॥

अ-सांप्रदायिक साहित्य

(आ) जैन साहित्य

जैन धर्म के इतिहास से पता चलना है कि उसकी प्राचीनता के विषय मे कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इसके प्रवर्तकों में कम से कम २४ तीर्थंकरों के नाम लिए जाते हैं जिन्हे इस धर्म के अनुयायी अधिकतर अवतारों जैसा पूज्य मानते आए हैं। इस धर्म के दो प्रमुख संप्रदाय 'श्वेतांबर' तथा 'दिगंबर' नामो से प्रसिद्ध हैं जिनमे अनेक उच्च कोटि के त्यागी, तपस्वी, पंडित और महात्मा हो गए हैं। इनमे से बहुतों ने विशाल वाङ्मय की रचना भी कर डाली है। उपलब्ध जैन साहित्य का अधिकांश धार्मिक या सांप्रदायिक बातों से ही संबद्ध है किंतु उसमे बहुत से ऐसे ग्रंथ भी संमिलित हैं जिन्हे न केवल असांप्रदायिक, अपितु विविध विषयों पर लिखे गए सर्वसाधारण के लिये उपयोगी ठहरा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि सुधारवादी जैनी लेखकों ने जिन ऐसी रचनाओं का निर्माण किया है उनके विषय, वर्णनशैली अथवा कभी कभी भाषा की शब्दावली तक मे भी अन्य लोगों की कृतियो से कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता। उदाहरणार्थ, यदि हम यहाँ उनकी केवल हिंदी रचनाओं पर ही विचार करने लगें तो, हमे यह पता चलते देर नहीं लगती कि, जहाँ तक सामान्य सांप्रदायिकता के स्तर से ऊपर उठकर विभिन्न बाह्याचारों के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करने की बात है, वे इस प्रकार की अपनी चेष्टाओं में किसी भी दूसरे से पीछे रहते नहीं जान पड़ते, प्रत्युत ये हमारे सामने एक ऐसा विशुद्ध जीवनादर्श प्रस्तुत करते हैं जिसे हम संत कबीर आदि की बानियों तथा अन्य किन्हीं भी वैसी रचनाओं मे उससे बढ़कर शायद नहीं पा सकते। इसके प्रमाण हमे उस समय से मिलने लगने हैं जब वि० सं० १४००' तथा कुछ पहले से, और फिर

परवर्ती शताब्दियों में भी, इस प्रकार की प्रवृत्ति जाग्रत होकर सक्रिय हो गई थी और इसकी व्यापकता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। उस समय का इतिहास हमे बतलाता है कि उन दिनों भी जैन सुधारकों में, कम से कम, लोकाशाह तथा तारण-तरण स्वामी जैसे महापुरुष उत्पन्न हुए थे।

(१) लोकाशाह—इनका जन्म वि० सं० १४८२ की कार्तिक शुक्ल १५ के दिन सिरोही राज्यांतर्गत 'अरहटवाड़ा' में हुआ था। इनकी जाति के लिये कहा गया है कि वह 'पोरवाडों' (प्राग्वाटों) की थी। इनके माता पिता का नाम क्रमशः गंगाबाई और सेठ हेमा भाई था जिनके आग्रह पर इन्होंने विवाह कर लिया था। इनका एक पुत्र भी था। वास्तव में इनका जीवन संबंधी जो कुछ परिचय हमे सुलभ है वह अधिकतर लावण्यसमय, कमलसंयम और पार्श्वचंद्र सूरि आदि इनके विरोधियों का ही दिया हुआ है जिसे असंदिग्ध रूप मे स्वीकार करना भ्रमात्मक भी हो सकता है। कहते हैं, अपने प्रारंभिक जीवन में ये किसी ऐसे 'लहिये' या प्रतिलिपिक का काम भी करते थे जो धार्मिक ग्रंथों की प्रतिलिपि तैयार किया करते थे। इसी प्रसंग में एक बार (वि० सं० १५०८ में) इनसे कोई भूल हो गई जिसपर उसके स्वामी 'मुणिवर' ने क्रुद्ध होकर इन्हें हटा दिया। उसके साथ फिर मतभेद खड़ा हो जाने पर इन्होंने मूर्तिपूजा तथा शिथिलाचार आदि के विरुद्ध कोई आंदोलन खड़ा कर दिया। इसमे इन्हें लखमसी, जगमल आदि अन्य सुधारकों से भी सहायता मिली और इन्होंने लोगों को उपदेश दिए। इन्होंने कदाचित् कुछ रचनाएँ भी कीं जो संयोगवश इस समय अपने मूल रूपों में उपलब्ध नहीं हैं, किंतु जिनके संबंध में अधूरे उद्धरणों के भी आधार पर अनुमान किया जाता है। इनके संबंध मे प्रसिद्ध है कि विवाहोपरांत ये किन्हीं कारणों से अहमदाबाद आकर बस गए थे और जवाहरात का व्यापार करने लगे थे। कालांतर मे इन्होंने तत्कालीन बादशाह मुहम्मद शाह के यहाँ कोषाध्यक्ष का पद स्वीकार कर लिया था। वि० सं० १५३१ से इन्होंने सांप्रदायिक क्षेत्र मे क्रांति का उपदेश देना आरंभ किया था। कहा जाता है, ज्ञान-मुनि द्वारा इन्हे पथप्रदर्शन मिला था और दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' से इन्हें प्रेरणा मिली थी। परंतु इन्होंने किसी से दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। इनका बढ़ता हुआ प्रभाव देखकर इनके विरोधी असहिष्णु हो उठे थे। इनका देहावसान विषयुक्त आहार से हुआ था। इनकी परंपरा मे आगे चलकर भी साहित्यरचना होती रही।

(२) तारण तरण स्वामी—इनका जन्म वि० सं० १५०५ के अगहन मास की शुक्ला सप्तमी को, किसी पुष्पावती नगरी में हुआ था। इनकी जाति 'परवार' थी। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और बाल्यावस्था से ही इनकी वृत्ति बराबर वैराग्यपरक रही। ये बड़े प्रतिभाशाली महापुरुष थे और संयमशील भी होने के कारण, इन्होंने

अपने जीवन मे आए कष्टों को बड़ी धीरता के साथ झेला। इन्होंने अपना जीवनादर्श बराबर ऊँचा बनाए रखा और तदनुसार उपदेश देते हुए, इन्होंने रूढ़िवादिता तथा मिथ्याचार का घोर विरोध किया। इन्होंने कुल मिलाकर १४ ग्रंथों की रचना की जो एक बृहत् संग्रह ग्रंथ के रूप में आज भी उपलब्ध है और जिसे 'अध्यात्मवाणी' कहा जाता है। इस विशाल ग्रंथ का अधिकांश जैनमत की सांप्रदायिक बातों से भी भरा है। इसकी भाषा भी हमे कुछ विचित्र सी लगती है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि इन्होंने स्वानुभूति को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इनके अनुसार स्वानुभव ही वास्तविक मोक्षमार्ग है तथा इसी के बल पर चलकर हमे 'केवलज्ञान' का प्रकाश मिलता है और हम उस 'ममल' (अमल) वा 'अपने आपको' पहचान ले सकते हैं। इस प्रकार हम आप ही जहाज रहते हैं, आप ही समुद्र बन जाते हैं तथा स्वयं आप ही उस 'मुक्तिद्वीप' के निवासी मे भी परिणत हो जाते हैं जिसे 'मोक्ष' कहा जाता है। 'तारण तरण' शब्द का अभिप्राय भी दूसरे को पार करते हुए, स्वयं अपने पार हो जाना है जिसमे इनके सारे उपदेशों का सार आ जाता है।

(३) **अन्य जैन सुधारक और कवि**—लोकाशाह तथा तारणतरण स्वामी ये दो जैन महापुरुष ऐसे थे जिन्होंने अपने सुधारपरक विचार प्रायः स्वतंत्र रूप से प्रकट किए थे। किसी बाह्य प्रेरणा का अधिक प्रभाव इनपर न था। इस कारण इनकी ऐसी प्रवृत्ति को हम मात्र संतमत द्वारा प्रभावित नहीं कह सकते और इनकी उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत वैसी कथनशैली के यथेष्ट उदाहरण प्राप्त कर सकने के कारण, न हम उन्हे किसी प्रकार संत बानियों के अनुकरण में निर्मित ही ठहरा सकते हैं। केवल इतना कहा जा सकता है कि ये दोनों प्रकार के कवि—चाहे वे जैन हों या संत—लगभग एक ही प्रकार के वातावरण में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे जिस कारण उन दोनों का समान विचार प्रकट करना भी असंभव नहीं कहला सकता था।

परंतु जो जैन कवि वि० सं० १४०० या सं० १५०० के कुछ पीछे हुए उन सभी के विषय मे ऐसा कहना कदाचित् उचित न होगा। ऐसे लोगों के सामने न केवल स्वयं अपने धर्मवालों का आदर्श वर्तमान था, अपितु उनके समय तक संत कबीर जैसे कतिपय ऐसे महानुभावों की रचनाएँ भी प्रचुर संख्या मे आ चुकी थीं जिनका उनपर प्रभाव पड़ना कभी असंभव नहीं कहला सकता था। इसके अतिरिक्त ऐसे जैन कवियों के व्यापक मत मान्यताओं का भी मेल संतों की विचारधारा के साथ भली भाँति बैठ सकता था जिससे इस प्रकार के पारस्परिक आदान प्रदान मे कोई विशेष बाधा नहीं आ सकती थी। फलस्वरूप हम देखते हैं कि हमारे आलोच्य युग के जैन कवियों में से कम से कम, महाकवि बनारसीदास (वि० सं० १६४३-१७००), रूपचंद (१७वीं शताब्दी), भैया भगवतीदास (१७वीं शताब्दी) तथा आनंदघन (१७वीं

शताब्दी), जो सभी किसी न किसी प्रकार समकालीन भी कहला सकते हैं, अपने को वैसे प्रभाव से मुक्त न रख सके, प्रत्युत यहाँ तक भी कहा जा सकता है, कि इनमे से कई ने वैसी शब्दावली तक का उपयोग करना उचित समझा, जैसा उनकी रचनाओं से उद्धृत कुछ पंक्तियों से भी सिद्ध किया जा सकता है।

जैन कवि बनारसीदास, हिंदी में रचना करनेवाले अन्य वैसे लोगों मे, सर्वाधिक सफल समझे जाते है, किंतु हम देखते हैं कि वे संत कबीर की विचारधारा तथा बहुत कुछ उनकी रचनाशैली तक को अपनाने में नहीं चूकते। उनका यह कथन कि,

मन जहाज घट में प्रगट, भव समुद्र घट माँहि।
मूरख मर्म न जानहीं, बाहिर खोजन जाँहि॥

(भवसिंधु चतुर्दशी)

अथवा उनका उस अंतर्द्वंद्व का वर्णन, जो हमारे घट के भीतर हुआ करता है, 'रामायण' मे उल्लिखित विविध पात्रों तथा घटनाओं के आधार पर, करना भी इनकी वैसी ही विचारधारा तथा वर्णनशैली के प्रति आकर्षण सूचित करता है (देखें उनका 'विराजे रामायण घट माँहि' आदि पद)। इसी प्रकार इनका अपने 'अध्यात्मगीत' के अंतर्गत, किसी 'निर्गुणिया' विरहिणी की भाँति, अपने विरहोद्गार प्रकट करना तथा अपने 'अलख अमूरत पिय' के साथ घट के भीतर ही अपना आपा खोकर दरिया मे बूँद के समान मिल जाने की आकांक्षा प्रदर्शित करना जैसी बातें भी हमे संत कबीर आदि की वैसी कई उक्तियों का स्मरण दिलाती हैं। इसके अतिरिक्त इन्होने अपने 'शब्द' को समझाने के लिये 'भोंदू' को जिस ढंग से संबोधित किया है तथा जिस शैली मे इन्होंने पहेलियों की रचना की है वे सभी इसी बात के प्रमाण है कि इन्होंने ऐसा उक्त प्रभाव मे ही किया होगा। कवि रूपचंद भी कहते हैं कि,

'भ्रमते भूल्यो' अपनपो, खोजत किन घट माँहि।
बिसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखे घर चाहि॥

जो उपर्युक्त धारणा की ही ओर संकेत करता है। इसी प्रकार भैया भगवतीदास ने भी संतों की व्यापक तथा समत्वमूलक दृष्टि के साथ विचार करते हुए 'अवधू' को संबोधित करके उसे चेतावनी दी है और उसके प्रति कहा है कि देखो, वास्तविक ज्ञान का आधार अपने आपको पहचान पाना ही हो सकता है और 'भैया आप पिछान' पर ही विशेष बल दिया है। जैन कवि आनंदघन भी इसी प्रकार के उद्गार करने में इनमे से किसी से भी पीछे नहीं हैं। इन्होने भी कहा है कि,

'घट मंदिर दीपक कियो, सहज सुज्योति स्वरूप'

अथवा, 'वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो' जिनसे पता चल सकता है कि इनकी मनोवृत्ति किस प्रकार की थी तथा कहाँ तक ये संतमतानुमोदित बातें प्रकट करना अधिक पसंद करते थे।

फिर भी यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जैन संप्रदाय के कई मुनियों और महात्माओं ने किन्हीं कारणों से, सूफियों की भाँति विदेशी मुस्लिम शासकों का प्रश्रय अथवा संरक्षण स्वीकार करने मे कोई उपेक्षा अथवा आपत्ति प्रकट नहीं की। इस संदर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर जब जैनधर्मी आचार्य जिनसेन (आठवीं शती) की सूझ बूझ को प्रेरणा के परिणामस्वरूप हिंदी मे भी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर निःशेष नहीं, क्षयमान बौद्ध धर्मावलंबियों की ओर से इस दिशा मे कोई प्रयास नहीं हो रहा था। इसका मुख्य कारण कदाचित् यह था कि उनका जनसंपर्क किसी कारण विच्छिन्न हो गया था।

(इ) नाथपंथी साहित्य

नाथपंथ का उद्भव कब हुआ तथा इसका मूल प्रवर्तक कौन था, इस बात का निश्चित पता नहीं चलता। इतनी बात प्रायः सभी आधिकारिक रूप से प्रकट करते हैं कि इसके सबसे प्रबल तथा प्रसिद्ध प्रचारक गुरु गोरखनाथ रहे होंगे। यद्यपि इनके आविर्भावकाल के विषय मे भी पूरा मतभेद है और इसके ७वीं ईसवी शताब्दी से लेकर उसकी १५वीं तक के बीच कभी न कभी होने का अनुमान किया जाता है। नाथपंथ का पुराना और प्रामाणिक साहित्य अधिकतर संस्कृत में ही पाया जाता है, किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि उसका एक महत्वपूर्ण अंश अन्य भाषाओं में भी प्रणीत हो सकता है। गुरु गोरखनाथ तथा अनेक अन्य नाथपंथी कवियों की हिंदी रचनाएँ प्रायः हस्तलिखित गुटकों में बिखरी मिलती हैं और उनका कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है जिसे अभी तक पूरी प्रामाणिकता नहीं प्रदान की जाती। ऐसी रचनाओं के विषय मे एक बहुत बड़ी कठिनाई इस रूप में भी पाई जाती है कि जिन कवियों के नाम उनके रचयिताओं के रूप मे दिए गए मिलते हैं उनमें से कई प्रत्यक्षतः पौराणिक वा कम से कम, कृत्रिम उपनाम से लगते हैं जिससे उनके द्वारा सूचित किसी व्यक्ति का या तो स्पष्ट पता नहीं चलता अथवा इसके कारण, बहुत सा भ्रम भी उत्पन्न होता है जिससे ऐतिहासिक तथ्य के निर्धारण मे बाधा पड़ती है। जहाँ तक ऐसी रचनाओं की भाषा तथा शब्दावली का प्रश्न है, हमे उनके द्वारा भी यथेष्ट सहायता नहीं मिल पाती क्योंकि ऐसे नाथपंथी कवियों की एक विशिष्ट रचना-शैली ही प्रचलित जान पड़ती है जिसपर किसी निश्चित काल का कोई प्रभाव लक्षित नहीं हो पाता। हिंदी के ऐसे नाथपंथी कवियों मे गुरु गोरखनाथ तो अवश्य पुराने हैं क्योंकि उनका स्मरण स्वयं संत कबीर तक ने बड़ी श्रद्धा के साथ तथा किसी एक अपने पूर्ववर्ती महापुरुष के रूप मे किया है। इसी प्रकार हम, जलंधरनाथ, भरथरी,

गोपीचंद, चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ, चुणकरनाथ, कणेरीपाव आदि कुछ कवियों में भी, कह सकते हैं जिन्हें उनके समकालीन सहयोगी अथवा शिष्य प्रशिष्य के रूप में स्वीकार करते आने की एक परंपरा सी चली आई है। परंतु, शेष ऐसे कवियों मे से कई के संबंध मे, ऐसा भी कोई अनुमान करने का स्पष्ट आधार नहीं मिलता और केवल कुछ ही ऐसे रह जाते हैं जिनके विषय में न्यूनाधिक पता देने की चेष्टा की जाती है।

नाथमत निश्चित रूप में संतमत से पुराना है तथा यह भी कहना अनुचित नहीं समझा जाता कि इसका प्रचुर प्रभाव भी उसपर पड़ा है। अतएव, उपलब्ध नाथपंथी साहित्य के एक बहुत बड़े पिछले भाग के लिये भी हम नहीं कह सकते कि वह संत साहित्य का किसी मात्रा मे ऋणी है भी अथवा नहीं। क्योंकि संभव है, जो कुछ साम्य इन दोनों प्रकार के साहित्य में दीख पड़ता है वह नाथमतवाले साहित्य की ही विशेषता हो और वह पीछे, संत कबीर आदि की रचनाओं के माध्यम से भी उनके परवर्तियों को मिली हो। इसके अतिरिक्त नाथमत की साधना जहाँ प्रधानतः योगमूलक है वहाँ संतमत का रूझान विशेषकर भक्तिसाधना की ही ओर है। इन दोनों के बीच इस संबंध मे यदि कोई उल्लेखनीय साम्य दीख पड़ता है तो वह यही है कि ये दोनों ही ज्ञान को प्रायः एक समान महत्व देते हैं। इस प्रकार, शुद्ध विवेक तत्त्व के आधार पर; दोनों ही मिथ्याडंबर तथा मिथ्याचार को सर्वथा अग्राह्य ठहराते हैं। ऐसी बातों की भर्त्सना करते हुए वैसे व्यक्तियों को बहुधा फटकार भी दिया करते हैं जो कोरे पांडित्य या रूढ़िवादिता को अनावश्यक प्रश्रय प्रदान करने के कारण, उस मूल उद्देश्य को साधारणतः भूल तक भी जाया करते हैं। इसकी पूर्ति के लिये इन दोनों मतों ने एक महान् जीवनादर्श की कल्पना की है तथा जिसकी ओर नियमित साधना के साथ अग्रसर होना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। हम यहाँ पर केवल उन्हीं कतिपय नाथपंथी कवियों की चर्चा करना चाहते हैं जिन्हें प्रायः वि० सं० १४०० से लेकर सं० १७०० तक की अवधि मे वर्तमान समझा जाता है। इनकी ऐसी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम अपनी कोई धारणा भी बना सकते हैं।

(१) धूँधलीमल तथा गरीबनाथ—इनमे से प्रथम द्वितीय के गुरु समझे जाते हैं। इन दोनों का सन् १३८२ ई० (वि० सं० १४३९) के आसपास पेशावर की ओर से कच्छ प्रदेश में आना बतलाया जाता है जहाँ पर प्रथम ने धर्मनाथ के रूप में बड़ी कठोर तपस्या की थी। धूँधलीमत तथा धर्मनाथ दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं और ये दोनों कदाचित् वैसे ही हैं जैसे अन्य अनेक नाथपंथियों के भी एक से अधिक नाम कहे जाते हैं। धर्मनाथ के लिये यह प्रसिद्ध है कि ये सत्यनाथ नामक एक अन्य नाथपंथी के शिष्य थे जिसकी गणना गुरु गोरखनाथ की शिष्यपरंपरा मे की

जाती है। इन धर्मनाथ के ही कारण, कच्छ तथा अन्य उधर के प्रदेशों में, नाथपंथ का विशेष प्रचार हुआ। धर्मनाथ वा धूँधलीमल तथा इनके शिष्य गरीबनाथ की किसी वृहत् रचना का हमे पता नहीं चलता। इन दोनों की बहुत सी पंक्तियाँ छिटपुट रूपों मे ही पाई जाती हैं। धूँधलीमल ने अपनी एक 'सबदी' द्वारा बतलाया है कि किसी प्रकार मेरा जीवन सफल हो गया जब मैंने 'नाथ निरंजन' को उपलब्ध कर लिया। योगपंथ की यह विशेषता है कि इसकी स्थिति मे 'गगन मंडल में ताली' (तारी) लग जाती है और 'पवन' की साधना द्वारा अजर अमर हो जाते हैं। फिर तो सारा मायाजाल नष्ट हो जाया करता है और 'जोगी' निरंतर अपनी समाधि मे लीन रहा करता है जिस दशा मे 'काल व्याल' का भय नहीं व्यापता। गरीबनाथ की भी एक छोटी सी 'सबदी' द्वारा योगसाधना संबंधी कुछ बातों को रहस्यमय ढंग से कहा गया मिलता है। ये वहाँ पर उस विचित्र स्थिति का भी वर्णन एक उलटवाँसी जैसी उक्ति के द्वारा करते हैं जिसके लिये जंगलों मे रहकर योगाभ्यास किया जाता है। इन दोनों गुरु शिष्यों की उपलब्ध रचनाओं से पता चलता है कि ये अपनी योगसाधना को ही विशेष महत्व देते हैं। परंतु जहाँ तक पता चलता है, संतों की बानियों मे, जहाँ पर योगसाधना की चर्चा आती है, वहाँ पर भी अपनी सारी सिद्धि को कोरी योगसाधना पर ही आश्रित नहीं रखा जाता।

(२) हणवंत जी—इनके विषय में कहा जाता है कि ये नाथसंप्रदाय की 'धजपंथ' नामक एक शाखा के प्रवर्तक थे। इनके दो शिष्य 'मगरधज' तथा 'विविकिधज नाम के थे। कहा जाता है, इनका एक नाम 'वक्रनाथ' भी था, किंतु इस प्रकार की बातें अधिकतर अनुमानों पर ही आश्रित जान पड़ती हैं। इन्हें संत कबीर का पूर्ववर्ती मानते हुए इनके १४वीं शताब्दी में होने तक का भी अनुमान किया गया है, किंतु इसके लिये भी कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इनके दो 'पद' तथा 'सबदी', जो प्रकाशित हो चुके हैं, उनसे पता चलता है कि ये 'बालजती' थे तथा इन्होंने वहाँ पर नारियों के विरुद्ध अपना मत भी प्रकट किया है। इन्होंने अपने एक पद मे परमतत्व को 'निराकार आकार विवरजित' तथा 'बाहरि भीतरि श्रव (सर्व) निरतरि' बतलाया है। यह भी कहा है कि वह 'नादरूप' भी है तथा 'पहुपवासना' अर्थात् पुष्पगंध के समान वह कहीं प्रत्यक्ष दीख नहीं पड़ता। उसे जो पहचान पाता है वही उसे जानता है तथा उसके विषय में कोरा कथन किए जाने पर, कोई पूर्ण विश्वास नहीं करता। इनके अनुसार 'अठसठि तीरथ' अपने घट के ही भीतर वर्तमान हैं, इसलिये बाहरी लोकाचार व्यर्थ है और गुरु के उपदेश से 'चंचल' (मन) को निश्चल करने पर ही, ज्योति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार इनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने

नाथ पंथी सिद्धांत तथा साधना दोनों की ही ओर कुछ न कुछ संकेत किया है। इनका कथन संतों की बानियों से बहुत कुछ मेल खाता भी प्रतीत होता है।

(३) **अजयपाल**—डा० बड़थ्वाल ने इन्हें गढ़वाल का एक राजा बतलाया है, किंतु इसके लिये कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। हमें इस बात का भी कोई वैसा असंदिग्ध संकेत नहीं मिलता कि इनके द्वारा वि० सं० १५१२ के लगभग देवलगढ़ में सत्यनाथ के मंदिर की स्थापना की गई थी। इनकी एक उपलब्ध 'सबदी' में जो आकाश के तंबू होने, मन राजा का मानमर्दन करने तथा प्राणपुरुष के दीवान (राजदरबार) में 'मुनि स्यंघासण' पर विराजने का एक चित्रण किया गया है। उससे ऐसा लगता है कि यह रचना पठान या मुगल बादशाहों की शान शौकत की ओर संकेत करती होगी, किन्तु केवल इतने मात्र से ही हमें इनका आविर्भावकाल निश्चित करने में कोई सहायता नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त इनकी समझी जानेवाली इस एक मात्र 'सबदी' के अंतर्गत आए हुए प्रसंग 'लषमण कहै हो बाबा अजैपाल, तुम कूँण अरम्भथीर' से हमें इस बात में भी कुछ संदेह करने का कारण मिल जाता है कि कहीं इसके रचयिता स्वयं अजयपाल ही न रहे हों। जो हो, इस रचना में भी हमें नाथपंथी योगसाधना को ही महत्व दिया गया दीख पड़ता है तथा नाथयोगी कवियों की रचनाशैली का इसमें प्रयोग भी स्पष्ट है। अतएव, इसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि जिस प्रकार की योगसाधना का वर्णन संत कवि करने लगे थे उसकी चर्चा उनके समय में समान रूप से की जाती रही। इन दोनों वर्गों के रचयिताओं की कथनशैली तथा बहुत कुछ शब्दावली भी एक समान थी।

(४) **पृथ्वीनाथ**--इनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कुछ पता नहीं चलता, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत संत नामदेव तथा संत कबीर के नाम आ जाने से इतना तो कहा ही जा सकता है कि इनका आविर्भावकाल विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अनंतर ही रहा होगा। इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं जिनमें से 'श्री साध परष्याजोग' के अंतर्गत सत्संग की बड़ी महिमा गाई गई है। इन्होंने 'बलवीर जोगी' भी उन्हें ही कहा है जिनका निवासस्थान बिना किसी आधार की नगरी में हो जिसका दरवाजा 'अलेष' रूप हो और जो पाँचों चोरों को पकड़कर जीत लेता है। उसका मंत्री 'विचार' होता है, कोतवाल 'चेतन' रहा करता है और जो 'नव लष घाटी' को रूँधकर 'जमकाल' पर विजय प्राप्त कर लेता है। वास्तव में ऐसे महापुरुष की रहनी ही उसका 'तषत' है और 'जुगति' ही उसका छत्रसिंहासन है। ऐसे पद का ही वर्णन 'योगवासिष्ठ' ग्रंथ में किया गया है जिसे प्राप्त करने के लिये रामावतार को भी गुरु से उपदेश ग्रहण करना पड़ा था। इसकी कहानी अकथनीय है और यदि यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो, अपना मन अपने हाथ से

बाहर नहीं जा पाता। पृथ्वीनाथ ने ऐसे ही लक्षणों द्वारा, साधु' की परीक्षा करके उसके साथ सत्संग करने का उपदेश दिया है और कहा है कि उसके बल पर ही मेरे चित्त को अंत में विश्राम मिल सका। इन्होंने इसी प्रकार अपनी दूसरी छोटी सी रचना 'श्री निरंजन निरवान ग्रथ' मे कोरी योगसाधना के ही द्वारा परमतत्व प्राप्त करना असंभव कहा है और अपनी एक अन्य ऐसी ही रचना 'श्री भक्ति-वैकुंठ-जोग ग्रंथ' के अन्तर्गत एक आदर्श उपासना विषयक अपने मत का प्रतिपादन किया है। इनकी एक और भी रचना 'सबदी' के नाम से मिलती है जिसमे इन्होंने माया की हेयता के साथ साथ वैसी भक्ति की ओर संकेत किया है। परन्तु ये उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण ठीक ढंग से करते हुए नहीं जान पड़ते जिस कारण हम निश्चय नहीं कर पाते कि वह 'निर्गुण भक्ति' के कहाँ तक समान अथवा समकक्ष है।

(ई) 'वारकरी साहित्य'

'वारकरी संप्रदाय' महाराष्ट्र का वैष्णवोंवाला वह प्रसिद्ध धार्मिक वर्ग है जिसका सर्वप्रमुख केंद्र पंढरपुर है। इस पथ के अनुयायियों के आराध्य देव 'विट्ठल भगवान्' हैं। इनकी मूर्ति वहाँ के मंदिर मे ईंट पर खड़ी है और इसके पास ही एक मूर्ति रुक्मिणी की भी है जिसे ये लोग 'रखूमाई' के नाम से अभिहित करते हैं। वारकरी संप्रदाय की एक यह विशेषता है कि उसमें 'निर्गुण भक्ति' तथा 'सगुण भक्ति' जैसी दो प्रकार की भिन्न भिन्न उपासनाओं को कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त इसके प्रमुख प्रवर्तक अथवा प्रचारक अपने को नाथपंथ से भी किसी न किसी प्रकार संबद्ध ठहराते आए हैं। इस कारण यहाँ शैवों के साथ भी वास्तविक मतभेद नहीं, प्रत्युत इसके अनुयायी प्रायः योगसाधना तक को महत्व प्रदान करते आए हैं। इस प्रकार इस संप्रदाय के साथ सतमत का भी बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। इससे सबद्ध एक संत नामदेव की संत कबीर ने आदर्श भक्त के रूप मे भी गणना की है। वि० सं० १४०० के आसपास (प्रत्युत वि० सं० १४०७ मे) इनका समाधिस्थ होना बतलाया जाता है। इनकी अनेक हिंदी बानियाँ भी प्राप्त हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी विचारधारा तथा साधना संबंधी मत अथवा इनकी कथनशैली सभी, संत कबीर के साथ तुलना करने पर, प्रायः एक समान प्रतीत होती हैं। इस कारण इनके लिये कहा जाता है कि ये उनके पथप्रदर्शक भी रहे होंगे। परंतु, जहाँ तक संत नामदेव के परवर्ती वारकरियों के विषय मे कहा जा सकता है, उनकी भी उपलब्ध हिंदी रचनाएँ ठीक वैसी ही नहीं पाई जातीं, यद्यपि यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे उनसे बहुत भिन्न हैं। इनमे से कतिपय उन प्रमुख वारकरी कवियों के विषय मे ही यहाँ पर

चर्चा की जा सकती है जिनका आविर्भावकाल वि० सं० १७०० के आसपास अथवा इसके कुछ पीछे तक ही जाता है।

(१) एकनाथ—इनका समय वि० सं० १५८० से लेकर सं० १६५६ तक समझा जाता है। इनके परदादा भानुदास के लिये प्रसिद्ध है कि उन्होंने विट्ठल भगवान् की मूर्ति को जिसे विजयनगर के राजा ने अपने यहाँ प्रतिष्ठित किया था फिर पंढरपुर मे लाकर उसकी स्थापना की। एकनाथ एक उच्चकोटि के प्रतिभाशाली कवि थे और इन्होंने मराठी मे अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। अपने हिंदी पदों की रचना इन्होंने कदाचित् उस समय की थी जब ये तीर्थयात्रा के लिये दक्षिण से उत्तर की ओर आए थे तथा जब ये काशी में ठहरे भी थे। इनके पदों में अधिकांश ऐसे हैं जो या तो श्रीकृष्ण की लीला से संबद्ध हैं अथवा जिनके द्वारा पाखंडियो पर व्यंग्य किया गया है। इनमे कम ही ऐसे मिलेंगे जिनमें निर्गुण तत्व वा निर्गुण भक्ति का समावेश किया गया हो अथवा जिनपर संतमत की स्पष्ट छाप हो। इनकी केवल ऐसी कुछ पंक्तियाँ ही उपलब्ध हैं जिन्हें संतों की बानियों के वैसे स्थलों के साथ स्थान दे सकते हैं।

(२) तुकाराम—इन्हे भी हम एकनाथ जैसे ही योग्य कवियों मे गिन सकते हैं, किंतु ये उनके जैसे पंडित या शिक्षित नहीं थे। इनका जन्म वि० सं० १६६५ मे हुआ था तथा इनके देहावसान का समय सं० १७०६ समझा जाता है। ये स्वयं अपने कथनानुसार भी एक शूद्र कुल मे उत्पन्न हुए थे। इन्होंने अपने जीवन मे कुछ दिनों तक अपना पैतृक व्यवसाय भी किया। परंतु, व्यापार मे घाटा हो जाने तथा अनेक प्रकार के दुःखो द्वारा कई बार पीड़ित होते रहने के कारण, इनके भीतर वैराग्यभाव प्रबल हो उठा। अंत मे, इन्होंने, संतों के प्रभाव में आकर, भगवन्नाम का कीर्तन आरंभ कर दिया। इनकी विरक्ति का एक बहुत बड़ा कारण इनकी द्वितीय पत्नी भी कहला सकती हैं जिनके सामने इनके धैर्य की परीक्षा कई बार होती गई। इनकी भी अधिकांश रचनाएँ मराठी मे ही पाई जाती हैं जिनमें बहुत से अभंग हैं। उनमे इनके स्वानुभव की बातें भरी हुई पाई जाती हैं। इनकी हिंदी रचनाओं का एक संग्रह 'अस्सलगाथा' के अंतर्गत भी पाया जाता है। इसकी भाषा का पाठ बहुत कुछ मूल रूप मे सुरक्षित समझा जाता है। इनके शब्द हमें विकृत लगते है कि कभी कभी उनके समझने मे कम कठिनाई नहीं पड़ती। अपने हिंदी पदों मे इन्होंने अपने आराध्य विट्ठल का नाम कहीं भी नहीं लिया है, यद्यपि यह बात इनकी मराठी रचनाओं के लिये भी नहीं कही जा सकती। अपनी हिंदी साखियों द्वारा ये जहाँ रामनाम के स्मरण का उपदेश देते हैं वहाँ बाहरी वेश भूषा के कारण धोखा देनेवाले अनेक साधुओं फकीरों के लिये ये व्यंग्य बौछार भी करते हैं। ये कहते हैं कि वस्त्र के 'भगवा' होने से क्या

लाभ जब तक अपने चित्त में ही 'भगवान' का निवास न हो, क्योंकि, वास्तव में, चित्त के तद्रूप हो जाने पर ही कोई सच्चा साधु कहा जा सकता है। इनका यह भी कथन है कि यदि अपने आराध्य राम के प्रति वास्तविक निष्ठा है तो वे 'अपने दास के पीछे दौड़े हुए आ सकते हैं।' ये इसी प्रकार, केवल स्वयं अपने को तारकर कर्तव्य की इतिश्री समझनेवाले भक्तों को भी फटकार सुनाते हैं। अतएव, इस प्रकार की सारी बातें हमे उसी ढंग से यहाँ पर भी कही गई मिलती हैं जिसे इनके पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हिंदी संतों ने अपनाया था।

(३) समर्थ रामदास—ये तुकाराम वा 'तुकोबा' के समकालीन थे। इनके जन्म का वि० सं० १६६५ तथा मृत्यु का स० १७३८ मे होना बतलाया जाता है। कहते हैं, जिस समय इनके विवाह की विधि संपन्न होने जा रही थी, उसी क्षण इन्हे विरक्ति जगी और ये वहाँ से भाग खड़े हुए। इन्होंने तत्पश्चात् कठोर साधना की और भारत के अन्य प्रांतों मे भ्रमण भी करते फिरे। इन्होंने समय पाकर छत्रपति शिवाजी को भी अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया तथा उनकी राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत कर उन्हे द्विगुणित रूप मे उत्साह प्रदान किया। इस प्रकार इन्होंने न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही, अपितु राजनीति की दिशा में भी, अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया। समर्थ रामदास की ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय हमे इनके ग्रंथ 'दासबोध' से मिलता है जिसे इन्होंने मराठी मे रचा था। इनका ऐसा ही श्रेष्ठ ग्रंथ 'मनाचे श्लोक' है जिसमे इन्होने मन को प्रबुद्ध करनेवाले २०५ मराठी पदों की रचना की है। इनकी हिंदी रचनाओं की सख्या उतनी अधिक नहीं है, किंतु जितनी मिलती है, बहुत स्पष्ट है और उनकी संतमतानुमोदित विचारधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।[1]

[1] जित देखौं उत रामहि रामा
जित देखौ उत पूरण कांमा
तृण तरुवर सातों सागर
जित देखौं उत मोहन नागर
जल थल काष्ठ पषाण अकासा
चंद्र सुरज नच तेज प्रकासा
मोरे मन मानस राम भजो रे
रामदास प्रभु ऐसा करो रे।

इन्होंने यह भी कहा है कि यह परमतत्व केवल एक एवं अद्वितीय है—

अवल एक आखिर एक
दोइ नही रे माई
हम भी जायँगे
तुम भी जायँगे
इक सो इलाही रे॥

वारकरी पंथवाले मराठी संत तथा कबीरादि 'निर्गुणिया' कहे जानेवाले तथा हिंदी मे रचना करनेवाले संतों की कई बातें हमे एक समान दीख पड़ती हैं। इस कारण कभी कभी इस प्रकार का निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि प्रथम वर्गवाले, द्वितीय वर्गवालों के अंशतः पूर्ववर्ती भी रहने के कारण, उनके पथप्रदर्शक अथवा कम से कम किसी न किसी रूप मे उनके लिये किसी आदर्श की स्थापना करनेवाले प्रेरक अवश्य होंगे। परंतु, यह बात, हमें कुछ तर्कसम्मत होती हुई भी, उस रूप में ग्राह्य नहीं होती जैसी इसे मानकर प्रायः इस प्रकार कथन किया जाता है। सबसे पहला कारण तो हमे यह जान पड़ता है कि इन दोनों वर्गवाले संतों की परिस्थितियाँ ठीक एक समान नहीं रहीं जिससे ऐसी संभावना को प्रश्रय मिलना अनिवार्य होता तथा तदनुसार हम द्वितीय को प्रथम का उत्तराधिकारी तक ठहराने में नहीं हिचकते। दक्षिण की संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध भारतीय रही और वह वैसे प्रभावों से बहुत कुछ अछूती भी रही जिन्हें मुस्लिम और विशेषकर सूफीमत के कारण, उत्तर भारत मे बल मिला था। इसके अतिरिक्त वज्रयानी सिद्धों के प्रचारकार्य द्वारा, उत्तर की ओर कतिपय उन बातों को भी महत्व मिलने लगा था जो दक्षिण के लिये हेय बन सकती थीं। एक दूसरी बात भी इस संबंध में यह दीख पड़ती है कि जिन महापुरुषों ने दक्षिण में मराठी निर्गुणकाव्य की रचना की उनमें से अधिकांश ऐसे थे जिन्हे न केवल कुछ न कुछ शिक्षा मिली थी, अपितु जिनका ध्यान शास्त्रीयता तथा मर्यादारक्षा की ओर अपने निजी अध्ययन तथा विवेचन के माध्यम से जा चुका था जहाँ उत्तरवाले संतों में इस प्रकार की कोई विशेषता न थी। अतएव, हम देखते हैं कि जहाँ कहीं संत कबीर आदि अपनी बातों को केवल सर्वसाधारण की सहज शैली में, कह जाते हैं, वहाँ संत एकनाथ जैसे कवियों को भरसक तर्कसंगत कथनों का ही सहारा लेना पड़ता है और ये प्रायः शास्त्रीय ढंग तक से खंडन मंडन करने लग जाते हैं। जहाँ तक मराठी संतों द्वारा अपनाई गई भक्तिभावना के स्वरूप का संबंध है, हम यहाँ भी देखते हैं कि यहाँ पर जितना ज्ञानपरक श्रद्धाभाव काम करता लक्षित होता है उतना उस विशिष्ट प्रेमतत्व को भी स्थान नहीं मिल पाता जिसे हिंदी संतों ने कदाचित् सूफी लोगों द्वारा प्रभावित होने के कारण, अपनाया था तथा जिसका अस्तित्व इनकी रचनाओं मे इनकी शब्दावली तक के द्वारा सिद्ध हो जाता है। मराठीवाले संतों पर, उनमे से कई के नाथपंथी होते हुए भी, उतना प्रभाव बौद्धमत का नहीं पाया जाता जितना हिंदीवाले संतों पर देखा जाता है, बल्कि वहाँ पर उसके प्रति प्रायः उपेक्षा का भाव तक देखा जाता है। इन दोनों वर्गों की उपलब्ध रचनाओं के काव्यप्रकार आदि पर विचार करने पर भी, दीख पड़ता है कि मराठीवाले कई पंडित संत कवियों ने अपने ग्रंथों की रचना कतिपय प्रसिद्ध पुस्तकों के आधार पर भी की तथा उनके माध्यम से भी उन्होंने अपना मत प्रकट

करने का यत्न किया, वहाँ हिंदीवाले संत कवियों में से सर्वप्रथम लगभग एक ही युग मे उत्पन्न हुए, किंतु इनकी बानियों के अध्ययन से हमे यह परिणाम निकालते अधिक देर नहीं लगती कि इनमें से किसी एक प्रकार के कवियों ने दूसरे प्रकार-वालो का किसी प्रकार अधानुकरण या अनुकरण नहीं किया। दोनों का उद्देश्य प्रायः एक था और दोनों ने बराबर इस बात की ही चेष्टा की कि आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण कर उसमें एक ऐसे विशिष्ट जीवनादर्श को सर्वसाधारण के समक्ष रखा जाय जिसको अपनाने अथवा अपने जीवन मे उतारने की ओर सभी कोई अग्रसर हो सके। इसका परिचय कराते समय इन दोनों वर्गों के कवियों ने ऐसी भाषा, शैली तथा काव्यप्रकारादि के प्रयोग भी किए जो सब किसी के लिये अधिक से अधिक बोधगम्य जान पड़े तथा जिसके सहारे सारी बातों को हृदयंगम कर सभी कल्याण के भागी बन सकें। इनके समक्ष सारा मानव समाज, यहाँ तक कि सारे प्राणिवर्ग तक भी, विश्वात्मा द्वारा ओतप्रोत हैं तथा सभो मे समत्व की भावना भी प्रतिष्ठित की जा सकती है।

(४) कुछ अन्य वैष्णव साहित्य

१. शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित 'महापुरुषिया' नामक एक वैष्णव संप्रदाय विशेषकर असम प्रांत में प्रचलित है और उसका भक्ति साहित्य भी प्रधानतः असमी भाषा मे है जिसका अधिकाश, कदाचित्, प्रकाशित भी हो चुका है। परंतु, जहाँ तक पता चलता है, स्वयं शंकरदेव (वि० सं० १५०६–६६) तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य माधवदेव (वि० सं० १५४६–६६) की भी 'वरगीत' कही जानेवाली कतिपय रचनाएँ व्रजभाषा में भी मिलती हैं। शंकरदेव उच्च कोटि के महापुरुष थे और उन्होंने अपना एक ऐसा भक्तिमार्ग प्रवर्तित किया था जिसके अनुसार, श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म स्वीकार करते हुए, 'एक शरण' में आ जाने तथा, इस प्रकार, उस परम-तत्व के साथ अद्वैत भाव का अनुभव करने का सिद्धांत मान्य है। इसका मुख्य ध्येय है अपने उक्त आराध्य के प्रति अटूट विश्वास तथा उसके साथ, गहरे प्रेमभाव में मग्न होकर सम्मिलन। इसकी एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय की भाँति, राधा को कोई वैसा महत्व नहीं प्रदान किया गया था। इसकी भक्तिसाधना भी नामस्मरण तथा नामकीर्तनप्रधान थी जिसमें अन्य किसी भी प्रकार का कर्म बाधारूप ही ठहराया जा सकता था। शंकरदेव के लिये कहा जाता है कि देशभ्रमण करते समय, वे संत कबीर की समाधि का दर्शन करने भी आए थे। उस अवसर पर वे कबीर के कतिपय शिष्यों से मिले और संत कबीर की कही जानेवाली 'चौंतीसा' नामक रचना से प्रभावित होकर स्वयं उन्होंने भी अपने असमी 'चातिहा' की रचना की। उनके शिष्य माधवदेव भी एक प्रतिभाशाली

महापुरुष थे जिनके द्वारा संप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। उन्होंने विपुल साहित्य की भी रचना की।

शंकरदेव ने अपने एक वरगीत में मन को संबोधित करके कहा है :

'मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इसब विषय धंधा।
केने देखिन देखत अंधा॥

इसी प्रकार, माधवदेव ने भी अपने एक वैसे गीत द्वारा बतलाया है :

'हरि को नाम निगम कूँ सार।
सुमरि आदि अंत्य जाति पावत भव नदी पार॥आदि

इनसे प्रकट होता है कि वे लोग 'हरि' या 'राम' जैसे नाम अपने परमाराध्य को उसी प्रकार दे दिया करते थे जैसी संत कबीर आदि के यहाँ की परंपरा रही। वे भी सर्वाधिक महत्व नामस्मरण को ही दिया करते थे जिसका एक रूप उनके यहाँ कीर्तन भी प्रचलित रहा। उनकी ब्रजभाषा या ब्रजबुलि में रची गई बानियों के यदि यथेष्ट उदाहरण उपलब्ध हो सके तो इस संबंध में और भी अधिक विचार किया जा सकता है। इस प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन दोनों के बीच कभी कोई पारस्परिक आदान प्रदान भी हुआ होगा या नहीं।

२. उत्कल प्रांत के 'पंचसखा' वैष्णव भक्तों का भी संप्रदाय एक ऐसा ही धार्मिक वर्ग है जिसके द्वारा अपनाई गई भक्तिपद्धति का रूप, अपने भगवान् आराध्यदेव श्रीकृष्ण के अवतारी पुरुष होने पर भी, विशुद्ध 'सगुण भक्ति' का नहीं कहा जा सकता। इन 'पंचसखा' कहे जानेवाले पाँच भक्तों मे सर्वप्रथम नाम बलरामदास (जं० सं० १५२९) का आता है जिनके अनंतर फिर क्रमशः जगन्नाथदास (जं० सं १५४७), यशोवंतदास (ज० सं० १५४६), अनंतदास (ज० स० १५५०) तथा अच्युतानंददास (ज० सं० १५६०) का आविर्भाव हुआ था। इन पाँचों भक्तों के भी आराध्यदेव श्रीकृष्ण ही हैं, किंतु वे नितांत निगुण तथा शून्यवत् माने जाते हैं तथा इनकी भक्ति को भी ज्ञानमिश्रा कहने की परंपरा है। इनका 'शून्यपुरुष' बौद्ध और वैष्णव धर्म के संमिलन और सामंजस्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। बौद्धों के यहाँ न तो 'पुरुष' की मान्यता है और न वैष्णवों के यहाँ 'शून्य' की स्वीकृति। भक्तिमार्गी बंगाल के बाउलों और महाराष्ट्र के वारकरियों की भक्तिपद्धति में भी किसी न किसी संमिश्रण के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन भक्तों की रचनाएँ उड़िया भाषा में उपलब्ध हैं जिनमे, 'रामायण', 'गीता' आदि जैसे कतिपय प्रसिद्ध ग्रंथों के आधार पर निर्मित पुस्तकों के

अतिरिक्त, अनेक ऐसी भी पाई जाती हैं जिनका विषय वेदांत दर्शन से संबद्ध कहा जा सकता है। उनमे से कई की वर्णनशैली, बौद्धमत में स्वीकृत शब्दावली के माध्यम से बहुत मिलती जुलती भी ठहराई जा सकती है। इन पंचसखा भक्तों द्वारा निर्मित किसी प्रकार की हिंदी रचनाओं का हमे अभी तक पता नहीं चलता। परंतु इनकी उड़िया मे उपलब्ध कृतियों के भी आधार पर हम कह सकते हैं कि इनका मत बहुत कुछ उस 'निर्गुणिया' विचारधारा से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होता, जिसे संत कबीर आदि ने प्रकट की थी। उनकी वर्णनशैली भी उनकी रचनाओं से बहुत मिलती जुलती ही दीख पड़ती है। वारकरी संप्रदायवाले भक्तों के आराध्य विट्ठल भगवान् की जगह इनके इष्टदेव बहुधा, उस श्री जगन्नाथ के रूप में, मान्य जान पड़ते हैं जो पुरी मे प्रतिष्ठित हैं तथा जिन्हें, उसी प्रकार, 'नित्यकृष्ण' कह देना भी कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता। बलरामदास ने अपनी 'विराट गीता' के अंतर्गत अपने उस आराध्य के लिये कहा है,

'याहार रूपरेख नाहीं, शून्य पुरुष शून्यदेही,। 'विराट् गीता, १। इसी प्रकार अच्युतानद दास ने भी उसकी उपलब्धि के लिये की गई योगसाधना के विषय मे बतलाया है :

'माधुरी कुटीर करि योग आरंभिला।
त्रिवेणी त्रिकूट मध्ये चित्त स्थिर केला॥
पवन उजाणि ये टेकिला उपरकुं।
इजिला परमहंस ध्याइला ब्रह्मकुं' ॥ (शून्यसंहिता, ११)।

अतएव, हमें ऐसा लगता है कि वि० सं० १४०० से लेकर सं० १७०० वाले युग मे जिस समय संत कबीर आदि निर्गुण भक्तों का आविर्भाव हुआ था उन्हीं दिनों उड़ीसा प्रात में ये पंचसखा भक्त भी अपने मत का प्रचार कर रहे थे। प्रसिद्ध है कि उस समय तक पुरी मे प्रतिष्ठित श्री जगन्नाथ की मूर्ति का महत्व काफी बढ़ चुका था। इस कारण संत कबीर जैसे अनेक महापुरुषो का वहाँ तक यात्रा करना भी बहुत कुछ संभव रहा।

३ निंबार्क संप्रदाय—हिंदी भाषा के माध्यम से वैष्णव भक्ति साहित्य की रचना करनेवाले श्री परशुराम देवाचार्य के लिये कहा जाता है कि इन्होंने अनेक ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत की थीं जिन्हें संत साहित्य (यहाँ तक कि कबीर साहित्य तक) के अनुकरण मे निर्मित कहा जा सकता है। ये परशुरामदेव जी निंबार्क सप्रदाय के एक प्रमुख प्रचारकों में गिने जाते हैं। इन्हें एक महान् ग्रंथकार के रूप में भी प्रतिष्ठित समझा जाता है। इनके २२ ग्रंथों का उपलब्घ होना बतलाया जाता है। इनके समय का वि० सं० १६०० के आसपास या उससे पूर्व होने का अनुमान किया गया है। इनके ग्रंथो के एक संग्रह का नाम 'परशुरामसागर' प्रसिद्ध है।

जहाँ तक इनकी रचनाओं के वर्ण्य विषय का प्रश्न है वह प्रधानतः अपने सम्प्रदाय से ही संबद्ध है। किंतु इनके कतिपय छोटे छोटे ग्रंथ ऐसे नामों से भी मिलते हैं जिन्हे देखकर हमें संत साहित्य में पाई जानेवाली कुछ विशिष्ट रचनाओं का स्मरण हो आता है। इनकी 'तिथि लीला', 'वार लीला', 'नक्षत्र लीला', 'बावनी लीला', 'निर्वाण लीला', 'अमरबोध लीला' तथा 'समझनी लीला' तथा 'विप्रमती' आदि इसके उदाहरण मे दी जा सकती हैं। ये न केवल कबीर की वैसी रचना समझी जानेवाली कृतियों के साथ, नामसाम्य मात्र रखती हैं, प्रत्युत इनकी वर्णनशैली तक उनसे बहुत भिन्न नहीं समझी जाती। कभी कभी तो हमे ऐसा लगता है कि, इनमे से कुछ मे केवल किंचित् हेर फेर करके, उसे कोई अन्य रूप देने की चेष्टा की गई है। सभव है कि ये मूलतः परशुरामदेव जी की हों, किंतु उन्हे अन्यत्र का मान लिया गया है। ये, वास्तव मे, सगुण भक्त ही थे, किंतु इनकी बहुत सी रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ये निर्गुण भक्ति पर भी लिखा करते थे। ये उस रचना-शैली को प्रयोग में लाने से भी नहीं चूकते थे जिसे प्रायः संतसाहित्योचित कहा जाता है। इन परशुरामदेवाचार्य के एक समसामयिक निंबार्क संप्रदायी कवि 'तत्ववेत्ता' नाम के भी थे जिन्हें इनका शिष्य भी कहा गया मिलता है। इनके द्वारा रचे गए उपदेशप्रधान ग्रंथों का वर्ण्य विषय भी ज्ञानपरक बातों से शून्य नहीं दीखता जिससे सहज ही ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम, ये दोनों भक्त कवि भी बहुत कुछ संतमत तथा संतसाहित्य की रचनाशैली से पूर्ण परिचित रहे होंगे।

विविध पंथीय साहित्य

(अ) नानकपंथ अथवा सिखधर्म का साहित्य :

सिखो के पूज्य धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथसाहिब' के अंतर्गत इनके गुरुओं की वे रचनाएँ संगृहीत हैं जो, सर्वप्रथम, सं० १६०४ मे गुरु अर्जुनदेव की देखरेख में, तथा फिर द्वितीय बार गुरु गोविंदसिंह के आदेशानुसार, संकलित करा ली गई थीं। इसमे सिख गुरुओं के अतिरिक्त अन्य ऐसे संतों या भक्तो की भी कतिपय कृतियाँ सम्मिलित की गई हैं जिन्हें गुरु अर्जुनदेव ने अपने विचार से पसंद किया था तथा जिन सभी रचनाओं को संगृहीत करते समय, प्रधानतः इस बात को ध्यान मे रखा गया था कि वे सभी 'निर्गुणभक्ति' के परिचायक रूप मे स्वीकार की जा सकती हैं। यह संग्रह सिखधर्म के लिये सबसे प्रामाणिक आधारग्रंथ माना गया था। उन गुरुओं के मानव शरीर में वर्तमान न रह जाने पर भी, उनकी वाणियों को ही उनका प्रतिनिधित्व प्रदान करते हुए इसे स्वयं गुरुवत् मान्य ठहराया गया था। परंतु, कहते हैं, जिस समय 'ग्रंथसाहब' का संग्रह तैयार नहीं हुआ था उसके पहले

से ही, अनेक ऐसे पद मिलते आ रहे थे जिन्हें प्रामाणिक रूप में स्वीकार करा लेने का आग्रह बहुत से लोगों की ओर से किया जाता आ रहा था किंतु जिन्हें उसमे समाविष्ट नहीं किया गया। फिर उसके पीछे भी, ऐसी कई रचनाएँ निर्मित हुईं जो कभी उसमे रखी नहीं जा सकीं। इसके अतिरिक्त बहुत सी वैसी कृतियाँ उन लोगों की ओर से रची गई भी पाई जाने लगीं जो कभी सिख गुरु बनने के दावीदार हो चुके थे तथा जो, अपने ऐसे यत्नों मे सफल न हो सकने पर, पृथक् दलबंदी कायम करने तथा अपना महत्व सिद्ध करने के उत्सुक रह चुके थे, जिसके परिणामस्वरूप ऐसी सभी रचनाओं की भी संख्या कम नहीं कहला सकती थीं। इस प्रकार इन्हें, उन गुरुवाणियों से भिन्न कोटि का महत्व प्रदान करने की दृष्टि से, जो 'ग्रंथसाहब' मे आ चुकी थीं, 'कच्ची वाणी' जैसे एक पृथक् नाम से संबोधित किया जाने लगा। इसमें क्रमशः वे वाणियाँ भी संमिलित की जाने लगीं जो न केवल उन पुराने गुरुओं की सी कही जा सकती थीं जिनकी रचनाएँ पूज्य ग्रंथ मे ली गई थीं, प्रत्युत जिन्हें दूसरों के नामों से उन गुरुओं ने ही कभी निर्मित किया था और जिन्हें 'समर्पित वाणी' कहा जाता था। इनके अतिरिक्त इसमे उन रचनाओं को भी स्थान मिल गया जो प्रतिद्वंद्वियों द्वारा रची गई थीं। इस 'कच्ची वाणी' की यह एक विशेषता भी थी कि इसमे गिनी जानेवाली कृतियों में एक तो पौराणिकता की छाप अधिक रहती थी, दूसरे इनके ऊपर, कदाचित् इसी कारण, बहुत कुछ सगुण भक्ति का भी प्रभाव लक्षित होता था। अतएव, सिख धर्म के कट्टर अनुयायियो की ओर से उनका विरोध भी कम नहीं हुआ और वे कुछ दिनों तक उपेक्षित सी भी समझी जाती आईं। परंतु उन सिखो में से ही कुछ लोगों ने उसके सुरक्षित किए जाने में थोड़ी बहुत सहायता भी पहुँचाई तथा उसके निर्माण मे प्रोत्साहन दिया। हमारे आलोच्य काल के अनंतर उसका महत्व अधिकाधिक बढ़ता ही चला गया।

'कच्चीवाणी' के अतिरिक्त हमे सिख या नानक पंथी साहित्य मे बहुत सी ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिन्हें प्रायः उपेक्षणीय नहीं समझा जाता, प्रत्युत जिनकी ओर वे लोग भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते हैं जो कट्टरपंथी सिख कहे जा सकते हैं। ऐसी रचनाओं में भाई गुरुदास की उन ऐसी कृतियों को महत्व दिया जा सकता है जो पंथ के प्रचारार्थ निर्मित की गई थीं। भाई गुरुदास का देहावसान वि० सं० १६९४ मे, छठे सिख गुरु हरिगोविंद जी के गुरुत्वकाल में, हुआ और इनका आविर्भाव, तीसरे सिख गुरु अमरदास के समय, हुआ था। इनके ये कुलबंधु थे तथा गुरु अंगद की पुत्री बीबी अमर कौर इनकी भाभी लगती थीं। भाई गुरुदास एक बड़े योग्य पुरुष थे जिन्होंने गुरु अर्जुनदेव को 'ग्रंथसाहब'

वाले संग्रहकार्य में पूरी सहायता प्रदान की थी तथा जिनकी रचनाओं को उन गुरु ने, 'ग्रंथ साहब' की 'कुंजी' होने का महत्व प्रदान किया था। इन्हें, सिख धर्म के एक प्रमुख जानकार उसके प्रतिपादनकर्ता तथा प्रचारक के रूप में भी, स्मरण किया जाता है। इन्होंने कई मुख्य स्थानो का भ्रमण किया था। वहाँ, समय समय पर अपने प्रवचनों तथा रचनाओं के आधार पर, अपने मत तथा उसके अनुयायियों की विशिष्टता घोषित करते हुए, सिखों के सर्वश्रेष्ठ होने तक का प्रचार किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने ऐसी बहुत सी रचनाएँ भी ब्रजभाषा में निर्मित कीं जिन्हें, रीतिकालीन शैली के अनुसार, साहित्यिक दृष्टि से भी पूरा महत्व दिया जा सकता है। भाई गुरुदास द्वारा प्रचारित भक्ति की एक विशेषता यह है कि उसमें परमतत्व के प्रति निगुर्णभक्ति भाव के साथ साथ सद्गुरु के प्रति सगुण भक्ति की भावना भी प्रदर्शित की गई है जो लगभग उसी रूप मे दीख पड़ती है जिसका परिचय हमें सगुणभक्त कवियों की उपलब्ध रचनाओं मे मिलता है। इसमें इसी कारण, श्रद्धा, प्रेम, विरह आदि के विविध भावों के दर्शन हमे यथेष्ट रूप में होते हैं। इनकी हिंदी रचनाओं को हम अधिकतर कवित्त तथा सवैयों में निर्मित पाते हैं जिनकी रीतिकाल मे प्रधानता थी। इनमे, उसी प्रकार, अलंकार तथा रसादि की ओर भी ध्यान दिया गया पाया जाता है जैसे उस काल के अन्य कवियों ने किया था।

भाई गुरुदास द्वारा प्रदर्शित गुरु प्रेम तथा सिख महत्व के उदाहरण स्वरूप क्रमशः निम्नलिखित रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं :

सीस गुरचरन, करन उपदेस दीख्या,
लोचनदरस अवलोका सुख पाइये।
रसद सबद गुर हस्त सेवा डंडौत।
रिदै गुर ज्ञान उनमन लिवलाइयै॥

और

लोचन अमोज गुरदास अमोल देखे,
स्रवन अमोल गुरवचन धरनकै।
नासका अमोल चरनरविंद वासना कै।
रसना अबोल गुरमंत्र सिमरन कै॥[1]

[1] 'गु० लि० उ० हि० का०' पृ० ६६।

तथा

नखसिख लौ सगल अंग रोम रोम करि,
काटि काटि सिखन के चरन पर वारियै।
अगनि जलाय, फुनि पीसन पिसाय ताहि,
ले उड़ै पवन होय अनिक प्रकारिये॥
जतकत सिख पग धरै गुर पंथ प्रात,
ताहू ताहू मारग मैं भसम को डारिये।
तिह पद पादक चरन लिव लागी रहै,
दयाल के दयाल माहि पतित उधारियै॥

वास्तव मे भाई गुरुदास की निष्ठा जितनी विशुद्ध संतमत के द्वारा अनुप्राणित नहीं जान पड़ती उतनी यह किसी सांप्रदायिक संगठनविशेष तथा उसकी विशिष्ट मान्यताओं आदि के प्रति, आस्था द्वारा प्रभावित है। यह सिख धर्म के अनुयायियों के प्रति श्रद्धाभाव उनको, इसी कारण, वैसे साधुओं या संतों से भी बढ़ा देता है जिनके दर्शन तथा सत्संग की महिमा, संत साहित्य के अंतर्गत, विशेष रूप से गाई जाती हुई दीख पड़ती है तथा जो कबीर आदि की दृष्टि में स्वयं परमात्मस्वरूप तक ठहराए जा सकते हैं। ये कहते हैं :

जैसे बीस बार दरसन साध किया काहू,
तैसा फल सिखा को चापि पग सुआए का।

परंतु भाई गुरदास के अनुकरण में की जानेवाली ऐसी अन्य कविताएँ उन दिनों भी, कदाचित् अच्छी संख्या में नहीं देखी गईं।

२. दादूपंथी साहित्य

जहाँ तक पता चलता है दादूपंथी साहित्य के अंतर्गत अब तक ऐसी कोई भी रचना उपलब्ध न हो सकी है जो उपर्युक्त 'कच्ची वाणी' अथवा भाई गुरदास की रचनाओं के समान समझी जाय तथा जिसका निर्माणकाल भी हमारे आलोच्य काल से बाहर का न हो। दादूपंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल अथवा उनके शिष्यों ने उस समय जैसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं वे अधिकतर वैसे पदों एवं साखियों के ही रूपों में निर्मित हुईं जो 'दादू वाणी' के नाम से संगृहीत हुई थीं तथा उन्होंने कदाचित् उतने प्रचारात्मक साहित्य भी नहीं रचे। ऐसे लोगों का ध्यान इस ओर अवश्य गया कि अपने गुरु दादूदयाल के जीवनसबंधी घटनाओं को लिपिबद्ध कर

२ वही, पृ० ६७।

दें जिसकी परंपरा भी कदाचित् नानक पंथी वा सिख लेखकों ने ही पहले से चला दी थी। प्रसिद्ध है, गुरु अंगद (मृ० सं० १६०६) के आदेशानुसार वि० सं० १६०१ में ही एक 'जन्मसाखी भाईवाले की' निर्मित हुई थी जिसे गुरु नानकदेव की सर्वप्रथम जीवनी कहा जाता है। संत दादूदयाल की भी एक ऐसी ही जीवनी का, उनके शिष्य जनगोपाल द्वारा, १७वीं शताब्दी मे किसी समय, लिखा जाना बतलाया जाता है। इस रचना का नाम 'श्री दादू जन्म लीला परची' है जिसके लिखे जाने का कारण भी उन्होंने 'सभी संतों की आज्ञा' ही कहा है : जैसे,

'सब संतन मोहि आज्ञा दीनी।
गुरु दादू की परची कीनी॥'[1]

जनगोपाल, संत दादू दयाल के शिष्य उस समय हुए थे जब वे सम्राट् अकबर से मिलने सीकरी गए थे। ये तभी से उनकी सेवा मे रहे तथा बराबर उनके उपदेशों से लाभ उठाते रहे। अंत मे, जब उनका देहावसान वि० सं० १६६० मे हुआ उस अवसर पर भी, उपस्थित थे। ये डीडवाणे के निवासी जाति के महाजन थे। उनके प्रसिद्ध ५२ शिष्यों में कदाचित् ये ही, 'बड़े गोपाल' नाम से भी, अभिहित किए जाते थे। कहते हैं, जिस समय 'संत समाज' ने मिलकर संत दादूदयाल की 'पालकांजी' स्थापित की और, किसी चौकी को सुसज्जित कर उनके स्मारक रूप मे, उनके वाणीग्रंथ, टोपी, चरणपादुका, गद्दी, शिर के वस्त्र आदि को उसपर रखकर अंचल से ढँक दिया, उस समय, ऐसी 'सौंज' की पूजा के लिये सर्वप्रथम जनगोपाल ही नियुक्त हुए। उसके पश्चात् तब से इसकी एक प्रथा ही चल निकली जो अभी तक प्रचलित है। इन्होंने नराणे में ही अपनी गद्दी भी स्थापित की थी। इनके एक शिष्य चैनदास नाम के थे। इनके विषय मे हमे इस समय यथेष्ट पता नहीं है। जनगोपाल द्वारा रचित १३ ग्रंथ कहे जाते हैं जिनके नाम १—दादू जन्म लीला परची, २—ध्रुव चरित्र, ३—प्रह्लाद चरित्र, ४—जड़भरत चरित्र, ५—मोह विवेक संवाद, ६—शुक संवाद, ७—काया-प्राण संवाद, ८-अनंत लीला, ९—चौबीस गुरुओं की लीला, १०—बारहमासिया, ११—भेंट के सवैये, १२—पद, और १३—साखी, शीर्षकों द्वारा सूचित किए गए हैं। अपनी उक्त प्रथम 'परची' नामक रचना की प्रामाणिकता के विषय में इन्होंने स्वयं कहा है

'झूठा वचन एक नहिं आख्या। जैसा सुना सु तैसा भाख्या॥'[2]

१ श्री दा. ज. ली. प. पृ. ११० ।
२ वही, ९० ९ ।

संत दादूदयाल की जीवनी तब से फिर आगे भी कई अन्य कवियों द्वारा लिखी गई और उसकी चर्चा 'भक्तमाल' कहे जानेवाले ग्रंथों मे भी की गई। इस दूसरी कोटि के ग्रंथो में से सर्वप्रसिद्ध वह समझा जाता है जिसे राघोदास नामक एक दादूपंथी कवि ने, वि० सं० १७१७ की आषाढ़ शुक्ल १ को, लिखा था। ये राघोदास दादू जी के शिष्य सुंदरदास (बड़े) के शिष्य प्रह्लाददास के शिष्य हरीदास (हापौजी) के शिष्य थे। इनकी 'भक्तमाल' नामक रचना की एक विशेषता यह है कि, यद्यपि इसके लिये आदर्श ग्रथ नाभा जी की प्रसिद्ध 'भक्तमाल' ही रही, किंतु इन्होने, अपनी इस रचना के अंतर्गत, निर्गुणी भक्तों का भी वर्णन विस्तार के साथ किया। इनमे से चार अर्थात् कबीर, नानक, दादू तथा जगन को चार 'नृगुनी महंत' की पदवी प्रदान करते हुए, इनकी शिष्यपरंपराओं का भी महत्वपूर्ण वर्णन ठीक उसी प्रकार किया जिस प्रकार सगुणपंथी भक्तों मे से चार अर्थात् रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य तथा निंबादित्य नामक चार आचार्यों द्वारा चलाई गई पद्धतियों का, उसके पहले से ही, परिचय दिया जाता चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त राघोदास की इस 'भक्तमाल' मे दादूपंथी संतों की चर्चा, स्वभावतः बड़े विस्तृत रूप मे की गई। इस प्रकार उसे यथेष्ट महत्व भी प्रदान किया गया। इनकी इस रचना पर एक लगभग वैसी ही टीका भी लिखी गई जैसे प्रियादास ने नाभादास की 'भक्तमाल' पर लिखी थी। इसके टीकाकार चत्रदास या चतुरदास--भी दादूपंथी ही थे। इन्होंने इसका निर्माण, वि० सं० १८५७ मे, किया। इसकी 'प्रशस्ति' के अंतर्गत इन्होंने स्पष्ट शब्दों मे यह स्वीकार किया कि,

'प्रथमहि कीन्हीं भक्तमाल सु निरांनदास,
परचा सरूप संतनाम गांम गाइया।
सोई देखि सुनि राघोदास आपकृत मधि,
मैलिह्या विवेक करि साधन सुनाइया॥
नृगुन भगत और आँनियाँ बसेख यह,
उनहू का नाँव गाँव गुन समझाइया।
प्रियादास टीका कीन्ही मनहर छंद करि,
ताहि देखि चत्रदास इंदव बनाइया॥६३२॥'[1]

राघोदास की इस 'भक्तमाल' के पहले दो अन्य ऐसे नामोंवाली रचनाओं के भी अस्तित्व में आ गए रहने की बात कही जाती है। इनमे से एक के रचयिता

[1] दे० भ० मा० (रा० दा०) पृ० २४०।

दादू के शिष्य जग्गा जी बतलाए जाते हैं और दूसरी का चैनजी द्वारा रचा जाना समझा जाता है। ये दोनों रचनाएँ भक्तों की संक्षिप्त नामावलियों जैसी हैं और ये दोनों भी राघोदास की 'भक्तमाल' के ही साथ उसके परिशिष्ट भाग में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1] इन दोनों के रचयिताओं के नाम स्वयं राघोदास ने अपनी उपर्युक्त 'भक्तमाल' (३६२) के अंतर्गत, संत दादूदयाल के प्रसिद्ध ५२ शिष्यों में लिए हैं।[2] इनमें से कम से कम जग्गा जी के विषय में तो उन्होंने दो अन्य पद्यों (४१५ तथा ४१६) की भी रचना की है,[3] किंतु उनके आविर्भावकाल का ठीक समय ज्ञात नहीं। इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जनगोपाल ने अपनी 'परची' की रचना की थी, उसी प्रकार इन दोनों दादू के शिष्यों ने भी प्रसिद्ध निर्गुण तथा सगुण भक्तों की दो संक्षिप्त नामावलियाँ विक्रम की १७वीं शताब्दी मे ही किसी समय. निर्मित कर दी होंगी। इसके अतिरिक्त इतना और भी अनुमान किया जा सकता है कि दादूपंथ के अनुयायियों में, अपने गुरु से लेकर अन्य अनेक निर्गुण तथा सगुण भक्तों के परिचय देने अथवा उनके नाम लेने की प्रथा उन दिनों प्रचलित थी। इन उपलब्ध रचनाओं का अध्ययन करने पर हमें ऐसा भी लगता है कि इस प्रकार की रचनाएँ, किसी ऐतिहासिक परिचय के देने के उद्देश्य से, नहीं लिखी जाती थीं, प्रत्युत इनके रचयिताओं का ध्यान विशेषतः इस बात की ओर रहा कि जिस प्रकार अपने पूज्य तथा श्रद्धेय महापुरुषों का गुणगान किया जाय। उनके आदर्श चरित्रों का महत्व प्रतिपादित करते हुए उनके प्रति दूसरों को भी आकृष्ट किया जाय जिससे अपने मत के प्रचार मे अधिकाधिक प्रोत्साहन मिल सके। इस प्रकार की रचनाशैलियों के पीछे, उस समय तक प्रतिष्ठित अन्य ऐसे कई पंथों के अनुयायियों ने भी अपनाया जिसके फलस्वरूप वैसे ग्रंथों की संख्या मे क्रमशः वृद्धि होती चली गई।

इन चारों ही दादूपंथी रचनाओं पर विचार कर लेने पर हमे उस समय निर्मित वैसे साहित्य की विशेषताओं के समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। हमें यह भी पता चल सकता है कि उसे कितना महत्व मिलना चाहिए। इनमें से जनगोपाल की 'परची' का वर्ण्य विषय केवल 'दादू जन्मलीला' है। शेष तीनों ग्रंथ या तो उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं अथवा संक्षिप्त परिचय भी दे देते हैं। 'परची' मे वर्णित दादू की जन्मलीला का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है :

[1] वही, पृ० २७५-८० ।
[2] वही, पृ० १८३ ।
[3] वही, पृ० १९७ ।

ग्रंथ के प्रथम 'विश्राम' मे संत दादूदयाल का पश्चिम दिशा में वर्तमान अहमदाबाद स्थान पर वि० सं० १६०१ मे प्रकट होना बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि किस प्रकार लोधीराम सौदागर ने पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा से 'गैबी संत' से प्रार्थना की जिन्होंने उसके लिये उसे नदी तट पर भेज दिया। जनगोपाल ने बालक दादू का वहीं प्राप्त होना कहा है। फिर उनका, ११वें वर्ष में, हरि के बुड्ढे रूप में आकर दर्शन देने तथा मुख मे 'सरस तंबोल' डालने से प्रभावित होना भी बतलाया है। तदनुसार दादू के हृदय मे वैराग्य जगता है और ये अपना स्थान त्यागकर भ्रमण करने लगते है। द्वितीय 'विश्राम' मे इसी प्रकार इनकी साँभरयात्रा तथा काजी के साथ भेंट का प्रसंग आता है। तृतीय के अंतर्गत संतों के वैरभाव तथा तस्कर की ज्ञान-दीक्षा की कथा आती है। चतुर्थ विश्राम का आरंभ आमेरगमन से होता है, इनकी घुमक्कड़ी वृत्ति की चर्चा की जाती है। लोग इनके शिष्य होने लगते हैं और ये सीकरी चल देते हैं। फिर पंचम से लेकर अष्टम विश्राम तक इनकी, अकबर तथा उसके कई दरबारियों के साथ भेंट तथा वार्तालाप और चमत्कारों के वर्णन मिलते है। नवम 'विश्राम' इनके गरीबदास तथा मस्कीनदास पुत्रों तथा दो 'बाइयों' की उत्पत्ति के प्रसंग आते है, दशम के अंतर्गत राजा मानसिंह के साथ बातें चलती हैं, एकादश में मानापमान की घटनाएँ घटित होती हैं। द्वादश मे मत्तगयंद के छोड़े जाने की भी बात कही जाती है। त्रयोदश 'विश्राम' के अंतर्गत अधिकतर शिष्यों के ही प्रसंग आते हैं। इनके उपदेशों की बातें कही जाती हैं और वैसी ही बातें चतुर्दश 'विश्राम' तक में चलती है। अत मे पंचदश 'विश्राम' का विषय, शिष्यों के साथ रहते समय वि० सं० १६६० की जेठ बदी ८ को नराणे मे, इनके देहत्याग की भी चर्चा आ जाती है और 'षोडश' मे गरीबदास जी इनके उत्तराधिकारी बनकर हमारे सामने आते हैं तथा इनके गुणादि का वर्णन किया जाता है।

परंतु जग्गादास ने अपनी 'भक्तमाल' में अपने गुरु दादूदयाल के संबध मे यह कहा है कि मैंने उनसे 'रामधन' के लिये याचना की जिसे उन्होंने मुझे प्रदान कर दिया तथा तब से मैं सारे दुःखों से रहित दशा में आ गया। फिर तो जितने भी पुराने या नए संत या भक्त हैं उन सभी ने सदा इसी बात पर बल दिया कि तुम केवल राम का भजन करो। इसी प्रसंग मे इन्होंने उन सबके नाम भी ले लिए हैं। इनका कथन है कि,

> गुरु प्रसादे या बुधि आई। सकल साध मेरे बाप र माई।
> गुरु गुरु भाई सबमे बूझ्या। तिनके ज्ञान परमपद सूझ्या ॥[1]

[1] वही, पृ० २७१।

उक्त सभी भक्तों में से 'पुरातन' के नाम इन्होंने पहले लिए हैं और तब अपने समसामयिकों या गुरुभाइयों की चर्चा की है तथा सभी के विषय में कोई न कोई 'इनहूँ कह्यो राम भज भाई' अथवा 'इनहूँ कह्यो जगा राम सँभालो' जैसे विभिन्न वाक्यों के प्रयोग किए हैं। इन्होंने अपने समसामयिकों मे उपर्युक्त 'परची' के रचयिता जनगोपाल तथा चैन जी के भी नाम लिए हैं। ये ही चैन जी, कदाचित् उस दूसरी 'भक्तमाल' के निर्माता हैं जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है किंतु जिसकी वह रचना इससे किंचित् भिन्न है। चैन जी की 'भक्तमाल' में भी पुराने तथा नए अनेक भक्तों और संतों के नाम आते हैं, किंतु यहाँ पर उनका कुछ न कुछ संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। यहाँ इस बात का भी उल्लेख है कि,

जनगोपाल रु जमना बाई। गुरु दादू की कीरति गाई ॥[1]

इससे जान पड़ता है कि संत दादू दयाल की जीवनी लिखनेवाली कोई जमनाबाई नाम की महिला भी रही होंगी जिनका हमें इस समय कुछ भी पता नहीं है। ऐसा लगता है कि जग्गा जी ने जहाँ अपनी 'भक्तमाल' की रचना इस उद्देश्य से की होगी कि उसके द्वारा सूचित हो जाय कि जिस राम के 'भजन' को उन्होंने अपनाया है उसका समर्थन अन्य अनेक संत तथा भक्त भी करते हैं वहाँ चैन जी ने अपनी रचना कदाचित्, केवल इसीलिये की होगी कि इसके द्वारा वैसे महापुरुषों का कुछ न कुछ सांकेतिक परिचय मिल जा सके। ये दोनों ही 'भक्तमालें' लघु ग्रंथों जैसी ही हैं। इन्हें 'भक्तमाल' कहे जानेवाले साहित्य की दृष्टि से, उतना महत्व नहीं प्रदान किया जाता जितना राघोदास की 'भक्तमाल' अर्थात् उपर्युक्त चौथी रचना को दिया जाता है जो इन दोनों से संभवतः कुछ पीछे की भी कही जा सकती है। राघोदास की 'भक्तमाल' के अंतर्गत जो परिचय विभिन्न भक्तों या संतों का दिया हुआ है वह कहीं अधिक विस्तृत और उल्लेखनीय है। यहाँ पर कुछ महापुरुषों के विषय मे, एक से अधिक छप्पयों की भी रचना कर दी गई है। उनके द्वारा न केवल उनके उत्कृष्ट गुणादि, प्रत्युत उनके महत्वपूर्ण कार्यों तक का संक्षिप्त उल्लेख कर दिया गया है जो वास्तव मे, नाभादास की रचनाशैली के ही अनुसार है।[2]

ऐसे पंथीय साहित्य के अंतर्गत हमें अधिकतर, सांप्रदायिकता, पौराणिकता तथा चमत्कारप्रियता जैसी विशेषताओं के ही दर्शन होते हैं जिन्हें विशुद्ध संत-साहित्य की दृष्टि से हम स्वभावतः कोई महत्व नहीं दे सकते, प्रत्युत जो, इसीलिये, उपेक्षणीय तक भी ठहराई जा सकती हैं। परंतु इसके साथ ही, यहाँ पर यह भी

१ वही, पृ० २८३।
२ दे० अगले पृ० पर की पादटिप्पणी।

उल्लेखनीय है कि ऐसे सामाजिक साहित्य का उपयोग. उस वातावरण को भली भाँति समझने के लिये, किया जा सकता है जिसमे रहकर प्रमुख संतों को अपना कार्य अग्रसर करना पड़ा होगा। इसके आधार पर उनकी वैसी रचनाओं के अध्ययन मे सहायता भी ली जा सकती है जिन्हें उन्होंने, किसी मनोवृत्तिविशेष को अपनाकर, उन दिनों निर्मित करने का यत्न किया था। कुछ इस प्रकार के ही उद्देश्यों से प्रेरित होकर संत दादू के उत्तराधिकारी महंत संत गरीबदास (वि० सं० १६३२-६३) ने 'अणमै प्रबोध' ग्रंथ की भी रचना की थी जिसकी ओर, इसके पहले भी, कुछ संकेत किया जा चुका है। इसे कभी कभी संत साहित्य संबंधी एक 'लघुकोश' सा महत्व दिया जाता है तथा जिसका उसी रूप मे उपयोग भी होता आया है। इसमें उन्होंने प्रधानतः इस बात का यत्न किया है कि जो जो शब्द विशेष, संतसाहित्य के अंतर्गत, प्रयुक्त होते हैं अथवा जो जो प्रमुख प्रतीक, विविध पदार्थों का प्रतिनिधित्व करने के लिये वहाँ प्रयोग में लाए जाते हैं उनके विवरण प्रस्तुत कर दिए जाँय। इसमें बहुत से ऐसे शब्दों की भी चर्चा की गई है जो मूलतः विदेशी भाषा के हैं, किंतु जिन्हें ऐसे साहित्य मे बराबर स्थान मिलता आया है। इसमे अनेक और भी ऐसी उपयोगी बातें, सांकेतिक ढंग से कह दी गई हैं, जिनसे अनुभवी संतों का जीवन प्रायः संबद्ध रहा करता है। उनके मर्म से परिचित हो पाना केवल उनके सत्संग पर ही निर्भर समझा जा सकता है। ऐसी रचनाओं का साप्रदायिक मान लिया जाना भी, वस्तुतः इसी कारण, उचित कहा जा सकता है कि इसके वर्ण्य विषय संबंधी ज्ञान का अधिकारी, सबका एक समान, होना संभव नहीं।

१—दादू दीनदयाल के, जन राघो हरिकारिज करे ॥
दल भये साँभरि सात, सबनि भोजन पायौ।
अकबर स्यौं सूँ मिले, तेजमय तखत दिखायौ ॥
काजी की कर गल्यौ, रूई को राशि जराई।
चोरी पलटे अंक, समद में झयाज तिराई ॥
साहिपुरे साहज मिले, हरि प्रताप हाथी डरे ॥
दादू दीनदयाल के, जन राघो हरि कारिज करे ॥३५९॥
दादू जन दिन कर दुती, विमल वृष्टि वाणी करी ॥
ज्ञान भक्ति वैराग, भाग भल सबद बतायौ।
कोटि ग्रंथ को मथ, पंथ संषेप जेप्र लखायो।
विशुद्ध बुद्ध अविरुद्ध शुद्ध सर्वंग्य उजागर।
प्रमानंद परकास, नास निगडास महाधर,
बरन बूँद साखी सलिल, पद सरिता सागर हरी।
दादू जन दिनकर, दुती, विमल वृष्टि वाणी करी ॥३६०॥

(३) अन्य पंथीय साहित्य—जनगोपाल की उपर्युक्त 'दादू जनम लीला परची' के अतिरिक्त, कतिपय अन्य इस प्रकार की रचनाओं का भी इस युग के अंतर्गत, निर्मित किया जाना बतलाया जाता है। कहते हैं कि इसके बहुत पहले अर्थात् सं० १६०१ में ही, सिख संप्रदाय के द्वितीय गुरु अंगद ने उपर्युक्त 'जन्म साखी भाई वाले की' की रचना कराई थी जो आगे के लिये आदर्शरूप सिद्ध हुई। इसी प्रकार हमारे आलोच्य युग के अनंतर कुछ ही दिनों पीछे, ऐसी रचनाओं के निर्माण की एक परंपरा सी चल निकली जिसके अनुसार संभवतः १७४० के आसपास, किसी रघुनाथदास ने स्वामी हरिदास जी निरंजनी की 'परचई' लिखी तथा कदाचित् उनके ही समसामयिक मथुरादास ने 'मलूकदास जी की परचई' का निर्माण किया और सं० १७५१ मे, खेमदास ने 'सिंगाजी की परचरी' भी निर्मित कर डाली।[१] वास्तव मे यह समय ऐसा था जब संतों एवं भक्तों की परचइयों का निर्माण बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से भी होने लगा था। उक्त युग के ही अंतर्गत, प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास के गुरुभाई किसी 'विनोदी' जी के शिष्य अनंतदास ने अनेक ऐसी परचइयों की रचना की थी जिनमे कबीर, नामदेव, पीपा, त्रिलोचन, रैदास जैसे संतों का भी परिचय पाया जाता है और उन्होंने अपना समय भी कदाचित् सं० १६४५ दिया था। इसके सिवाय उस समय कतिपय अन्य ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत की जा रही थीं जो 'लीला' नाम से अभिहित की जाती थीं तथा जिनमें विशेषकर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण जैसे अवतारों आदि कई पौराणिक भक्तों का भी गुणगान किया गया रहता था। भाई गुरुदास के लिये कहा जाता है कि उन्होंने अपनी पंजाबी 'वारों' के अंतर्गत एक नवीन कथागीत रचना की पद्धति चलाई थी और उसके अनुसार उन्होंने स्वयं ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चंद्र, विदुर एवं अंबरीष जैसे अनेक पौराणिक भक्तों की चर्चा की थी, तथा इनके भी पहले कदाचित् संत रैदास ने किसी 'प्रह्लाद लीला' का निर्माण किया था जिसकी एक अधूरी प्रति ही मिल सकी है। इसी प्रकार पीछे संत मलूकदास के द्वारा भी अवतारों से संबंधित 'रामावतार लीला' एवं 'ब्रजलीला' एवं भक्तों से संबंधित 'भक्त वच्छावली' एवं 'ध्रुव चरित' जैसी रचनाओं का निर्माण किया जाना पाया जाता है। इस काल के संतसाहित्य में इस प्रकार की एक अन्य ऐसी रचना भी समाविष्ट की गई दीख पड़ती है जिसे 'गुरुसंप्रदाय' अथवा 'गुरु परनाली' का नाम दिया गया मिलता है तथा जिसे, विभिन्न संतसंप्रदायों के ऐतिहासिक विकास का निरूपण करते समय काम में लाया जा सकता है, यद्यपि यहाँ पर भी इसके रचयिताओं ने कभी कभी न्यूनाधिक विशुद्ध कल्पना से ही काम लिया है। उदाहरण के लिये संत सुंदरदास ने अपनी रचना 'गुरु संप्रदाय' के द्वारा, आदिगुरु स्वयं

१. दे० सं० सि० अ० पृ० १२५।

परब्रह्म को ठहराया है और उसे ब्रह्मानंद का नाम देकर, फिर क्रमानुसार पूरनानंद, अच्युतानंद आदि का उल्लेख करते हुए, अंत में, वृद्धानंद एवं तत्पश्चात् अपने गुरु दादू दयाल की चर्चा की है[1] जहाँ तक अधिक से अधिक केवल ३७ व्यक्तियों के ही नाम आ पाते हैं और इस प्रकार ऐसी शिष्यपरंपरा अधूरी भी ठहराई जा सकती है, यह बात दूसरी है कि उन्होंने, ऐसे वर्णन के आधार पर, संभवतः अपने गुरु के ऊपरवाले नामों को, केवल आत्मानुभूति की क्रमोन्नत भूमियों की कल्पना के अनुसार, यों ही रख दिया होगा जो ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते समय, भ्रमात्मक भी सिद्ध हो सकता है।[2] 'गुरु परनाली' (गुरु प्रणाली) के वर्णन का पता, बावरी पंथ, मलूक पंथ आदि अन्य अनेक संत संप्रदायों के साहित्य मे भी चलता है जहाँ पर ऐसा अधिकतर एकाध पद्यो द्वारा भी कर दिया गया पाया जाता है।

इस युग की एक अन्य ऐसी प्रवृत्ति हमे 'पवित्र' ग्रंथों की रचना अथवा वस्तुतः उनके संपादन के रूप मे भी दीख पड़ती है। जैसा अभी तक पता चलता है तथा इसके पूर्व हम अन्यत्र कह भी आए हैं, ऐसे निर्माण कार्य की ओर सर्वप्रथम गुरु अंगद का ध्यान गया था जिन्होंने, अपने गुरुदेव की उपलब्ध बानियों का सग्रह कराकर उन्हे एक मे ग्रंथरूप दे देने की कोई व्यवस्था कर दी थी। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि स्वयं गुरु नानकदेव ने ही इस प्रकार की किसी परंपरा का सूत्रपात किया था और उन्होंने, दूसरों की महत्वपूर्ण रचनाओं का भी सकलन कराकर, उन्हें एकत्र सुरक्षित रखने का सुझाव दिया था तथा तदनुसार उनके जीवन काल मे ऐसा कुछ कार्य किया भी गया था। जो हो, गुरु अंगद ने इसे कदाचित् सुव्यवस्थित रूप देने का विचार किया था जो उस समय तक पूरा नहीं हो सका और अंत मे, गुरु अर्जुन के जीवनकाल मे, जब इसकी आवश्यकता का अनुभव विशेष रूप से किया जाने लगा था, 'आदि ग्रंथ' का संपादन करा दिया गया। कहते हैं कि इसके लिये गुरु अर्जुनदेव स्वयं गुरु अमरदास के बड़े लड़के मोहन के पास गोइंदवाल गए थे और वहाँ से गुरु बानियों को उठा लाए थे। तदुपरात इन्होंने भिन्न भिन्न प्रसिद्ध भक्तों के अनुयायियों को भी आमंत्रित करके, उनसे अपने अपने श्रेष्ठ पदों को चुनवाया तथा उनमे से उन्हीं पदों को अपने इस नवीन संग्रह मे स्थान दिया जो सिद्धात की दृष्टि से अपने गुरुओं की रचनाओं के पूरे मेल मे आ सकते थे अथवा जिनका संगृहीत किया जाना

१. भा० १ पृ० १६७-२०२।
२. उ० भा० सं० प० पृ० ५१६ (द्वितीय संस्करण)।

कदाचित् गुरु नानकदेव की दृष्टि में भी आवश्यक समझा जा चुका था। 'गुरु मतप्रकाश' के रचयिता साहेबसिंह का तो यहाँ तक कहना है कि ऐसी अधिकांश रचनाएँ स्वयं उन्हीं के द्वारा पहले से चुनी जा चुकी थीं। चुनाव का कार्य पूरा हो जाने पर गुरु अर्जुनदेव ने सभी पदों को अपने सामने भाई गुरुदास द्वारा, लिखवाया तथा इस प्रकार सं० १६६१ के भादों महीनेवाले शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन, उक्त 'ग्रंथ' पूरा हो गया और इसे, भाई बुड्ढा के संरक्षण में, सुरक्षित कर दिया गया। प्रसिद्ध है कि ऐसे अवसर पर, लाहौर के भगत छज्जू, कन्ह, शाह हुसेन एवं पीलू जैसे कतिपय व्यक्तियों ने गुरु अर्जुनदेव से अनुरोध किया था कि हमारी कुछ रचनाएँ भी उसमें संमिलित कर ली जायँ, किंतु इन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा।[1] इस प्रकार 'ग्रंथ' का निर्माण हो जाने पर फिर आगे भी कभी कभी उसकी पूर्णता के विषय मे, विचार होता आया और तदनुसार उसे वर्तमान 'गुरु ग्रंथ' साहब' का रूप मिल सका। परतु ऐसा भी संभव है कि, उक्त प्रकार से महत्वपूर्ण बानियों का चुनाव करने की परंपरा, इन दिनो अन्य कुछ संप्रदायों के अनुयायियों के यहाँ भी, समानांतर रूप मे चलती आ रही हो जिसका कुछ न कुछ प्रभाव गुरु अर्जुन देव पर भी पड़ा हो। कबीरपंथ के अनेक अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास है कि उनके ग्रंथ 'कबीर बीजक' का निर्माण सं० १५२१ मे ही हो चुका था जिस बात को भ्रमात्मक मानकर वैसे कार्य का, सं० १६२७ अथवा कम से कम सं० १६६० तक पूरा हो जाना भी बतलाया गया है। इसके सिवाय संत रज्जब जी द्वारा संपादित 'अंगबंधू' के लिये कहा जाता है कि वह उक्त 'आदिग्रंथ' के निर्माण से प्रायः दस वर्ष पहले ही, तैयार हो चुका था। इसी प्रकार लगभग वैसे ही किसी समय तक उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सर्वंगी' भी अस्तित्व मे आ चुकी थी जिसके अंतर्गत, संत दादू दयाल के अतिरिक्त अन्य अनेक संतों की भी चुनी हुई बानियों को, उनके समानांतर, स्थान दिया जा चुका था। परंतु अभी तक हमे संत रज्जब जी द्वारा किए गए निश्चित प्रयत्नों अथवा तदनुसार संपन्न किए गए वैसे कार्य का भी स्पष्ट विवरण नहीं मिल सका है। जिस कारण हम उक्त प्रकार के संग्रहकार्य के वास्तविक उद्भव अथवा विकास के विषय में कोई अंतिम निर्णय नहीं दे सकते। हम अभी केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमारे आलोच्य युग के अंतर्गत, संतों अथवा विभिन्न भक्तों की भी महत्वपूर्ण बानियों के चुनाव तथा उनके संग्रह का कार्य अवश्य आरंभ हो चुका था तथा, इसके फलस्वरूप कुछ इस प्रकार के संग्रहग्रंथ

१. 'दि मिश्नरी' (दिल्ली, भा० २, सं० ८) पृ० २६-७।

उस काल तक अस्तित्व मे भी आ चुके थे जिन्हें तबसे विशेष महत्व प्रदान किया जाता आया और उन्हें पूजनीय तक भी माना गया। हो सकता है कि ऐसे ग्रंथों का संपादन पहले पहल, विशिष्ट बानियों को केवल सुरक्षित रखने की ही दृष्टि से, किया गया होगा और उन्हे, उनके रचयिताओं के 'प्रत्यक्ष उपदेशों' जैसा मूल्यवान् तक समझा जाता रहा होगा, किंतु पीछे जब से विविध पंथों के अनुयायियों मे सांप्रदायिकता की भावना विशेष रूप से जाग्रत हो गई उन्होंने न केवल उनकी विधिवत् उपासना आरंभ कर दी, अपितु उन्हे एकमात्र अपने ही लिये अलौकिक वा पवित्र धरोहर समझकर, दूसरों के लिये 'अलभ्य' तक भी बना डाला। केवल पदसंग्रह के विचार से किया गया एक अन्य प्रयास उक्त 'पंचबानियों' के रूप में भी हमें दीख पड़ता है जो विशेषकर 'निरंजनी संप्रदाय' तथा 'दादूपंथ' की ओर से तैयार की गई पाई जाती है, किंतु उनमें से कुछ के बहुत पुरानी जान पड़ने पर भी, हम उनके निर्माणकाल के विषय मे, कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

अभी तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रकार के संग्रह ग्रंथों में से कम से कम 'आदिग्रंथ', 'कबीर बीजक', 'अंगबंधू', 'सर्वंगी', जैसे कुछ का निर्माण हमारे आलोच्य काल के अंतर्गत, अवश्य हो चुका था। इनमें से प्रथम न केवल सिखों की गुरुबानियों का ही एक संग्रह कहा जा सकता है, प्रत्युत इसमे उनके अतिरिक्त संत जयदेव, संत नामदेव, संत त्रिलोचन, संत सदना, संत बेनी, संत धना, संत पीपा, संत सेन, संत कबीर, संत भीखन, संत रैदास एवं स्वामी रामानंद, भक्त सूरदास, भक्त परमानंद, भक्त मीराबाई एवं सूफी शेख फरीद की भी बहुत सी रचानाएँ आ जाती हैं। इसके सिवाय इसके अंतर्गत हमे इस समय अनेक ऐसे भट्टों की भी रचनाएँ मिल जाती हैं जिन्होंने प्रथम पाँच गुरुओं की स्तुति में कथन किए हैं तथा, इसी प्रकार यहाँ पर किसी सुंदर, का सबद, मरदाना की बानी तथा बलवंड की वार भी पाई जाती है। यह स्पष्ट है कि इसका वर्तमान रूप इसके क्रमशः विकसित होते जाने का परिणाम है जिस कारण इनमे से बहुत कुछ को पीछे से आ गया ठहराया जा सकता है। फिर भी, इतना असंदिग्ध रूप से भी कहा जा सकता है, कि जहाँ तक इसमे संगृहीत पुराने गुरुओं एवं भक्तों की बानियों के संबंध मे, अनुमान किया गया है, उनका रूप एवं पाठ न्यूनाधिक प्रामाणिक ही होगा। परंतु ठीक यही बात हम, कबीरपंथ के प्रसिद्ध ग्रंथ 'कबीर बीजक' में संगृहीत सभी रचनाओं के संबंध में भी, नहीं कह सकते। कबीर साहब की बहुत सी अन्यत्र उपलब्ध, किंतु प्रत्यक्षतः प्रामाणिक जान पड़नेवाली, रचनाओं के साथ इसकी कई पंक्तियों का मेल नहीं खाता जिस कारण, इसके पाठों के विषय में कभी कभी संदेह भी होने लगता है तथा, इसके अतिरिक्त इसमें, संगृहीत कई रचनाएँ

हमें दूसरे लोगों की भी प्रतीत होती हैं जिनमें से स्वामी सुखानंद, संत बषना एवं भक्त सूरदास तक के नाम लिए जाते हैं और, ऐसे आधारों पर इस ग्रंथ के निर्माण काल का पीछे तक ठहराया जाना भी उचित समझा जाने लगता है। इस प्रकार का अनुमान करने के लिये हमें कुछ अन्य भी कारण, इस रूप मे मिल जाते हैं कि, यहाँ पर यत्र तत्र एकाध ऐसे नाम तक मिल जाते हैं जो पिछले व्यक्तियों के ही हो सकते हैं। इस प्रकार की संभावना हमें, सत रज्जबजी द्वारा संपादित 'अंगवधू' के संबंध में, होती नहीं जान पड़ती। यहाँ पर संत दादू दयाल की रच-नाओं का संभवतः उनके ठीक प्रामाणिक रूप में ही पाया जाना स्वीकार करना पड़ता है। कम से कम इसका वह रूप जो इस समय पंथ के प्रधान केंद्र नराणे मे सुरक्षित है, उसके विषय मे, संदेह करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता। संत रज्जब की जी 'सर्वंगी' मे सगृहीत रचनाओं में से भी, केवल उनबानियों के ही संबंध मे कुछ भ्रम उत्पन्न जो सकता है जो, संत दादू आदि के अतिरिक्त, दूसरों की बतलाई जाती हैं तथा जिन्हें इसी कारण, इनके संग्रहकर्ता ने, न्यूनाधिक अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रमाणित किए जाने मात्र पर ही, स्वीकार कर लिया होगा इस प्रकार, पाठालोचन की दृष्टि से, ऐसे संग्रहों के स्वरूप आदि पर, अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, किंतु जहाँ तक इनके महत्व की बात है, इसमें कोई सदेह नहीं किया जा सकता है कि, संतों की बानियों को, विस्मृति के गर्भ मे चले जाने से बचा पाने में, केवल इसी प्रकार की सामग्री आज तक अपने को अधिक समर्थ सिद्ध कर सकी है।

पंचम खंड

साहित्यिक समीक्षा

प्रथम अध्याय

स्वरूपगत वैशिष्ट्य

१. उपक्रम

वास्तविक काव्य की परिभाषा बतला पाना सरल नहीं है और, इसी कारण, इस विषय मे बहुत कुछ मतभेद भी पाया जाता है। ऐसी दशा मे हम तब तक, उसकी एक स्थूल रूपरेखा मात्र भी प्रस्तुत करके, संतोष कर सकते हैं और इस प्रकार, हम उसे कोई ऐसा प्रभावपूर्ण वाक्य या वाक्यसमूह ठहरा सकते हैं जिसके लिये प्रयुक्त शब्द सारगर्भित हों, जो गहरी अनुभूतिजन्य होने के कारण, अपने आप किंतु किसी कलात्मक ढंग से, व्यक्त किया गया हो तथा जो, अपने उदात्त भावों के आधार पर, आनंद के साथ साथ, मानव जीवन को प्रगतिशीलता मे सहयोग भी दे पाता हो। अतएव, इस प्रकार की किसी रचना का उद्देश्य कभी केवल मनोरंजन मात्र ही नहीं हो सकता। इसकी मनोरंजक वर्णनशैली से कहीं अधिक इसके वर्ण्य विषय की व्यापकता, इसके उद्देश्य की महानता तथा इसमे निहित उस विलक्षण शक्ति को ही विशेष महत्व प्रदान किया जा सकता है जिसके आधार पर वह अधिकाधिक जनहृदय के मर्मस्थल तक को स्पर्श कर सकता हो। इन बातों के सामने इसका शैलीगत सौंदर्य अथवा इसकी भाषा संबंधी विशेषताएँ केवल गौण स्थान के ही अधिकारी कहलाने योग्य हैं। फिर भी, इस प्रकार के तारतम्य की दृष्टि से विचार करने अथवा मूल्यांकनपूर्वक मत प्रकट करने की आवश्यकता केवल वहीं पड़ सकती है जहाँ कोई काव्य अपने आदर्श रूप में प्रस्तुत, किया जा सका हो और इसकी संभावना भी अपेक्षाकृत बहुत कम हो सकती है। हमें साधारणतः केवल ऐसी रचनाएँ ही मिला करती हैं जिनमे या तो भावगत सौंदर्य की प्रधानता रहती है अथवा जहाँ रचना-कौशल की विशेषता मात्र पाई जाती है। तदनुसार काव्य को बहुधा 'भावप्रधान' एवं 'रचनाशैलीप्रधान' जैसे दो भिन्न भिन्न वर्गों मे विभाजित कर देने की भी परंपरा देखी जाती है। इस दूसरे प्रकार के काव्य मे जहाँ हम उसके रचयिता द्वारा अपनी निर्माणकुशलता का प्रदर्शित किया जाना तथा तदनुसार उसमें शब्दसौंदर्य का भरा जाना और किसी न किसी प्रकार उसमे चमत्कार का उत्पन्न किया जाना पाते हैं, वहाँ प्रथम प्रकार की रचनाओं के कवियों को हम देखते हैं कि ये इस प्रकार की बातों की ओर इतना ध्यान नहीं दिया करते, प्रत्युत कभी कभी उधर उपेक्षा का

भाव तक प्रदर्शित भी दिया करते हैं। इनका वर्ण्य विषय उन्हें इतनी गहराई तक प्रभावित किए रहता है कि उसको यथावत् व्यक्त कर देना मात्र ही उनके लिये परम आनंद का कारण बन जाता है। वास्तव में, उक्त प्रकार की स्थिति के रहते, भावों की व्यजना मे किसी प्रयास की अपेक्षा भी नहीं रहा करती और वे शब्दों द्वारा आपसे आप रमणीयार्थों के रूप मे, व्यक्त होते चले जाते हैं तथा भाषा का सौंदर्य, उस दशा मे, वास्तविक भावों को यथावत् संप्रेषित करने की शक्ति मे ही, केंद्रित बन जाया करता है। यदि उसे किसी मेधावी कवि के पूर्वार्जित प्रशिक्षण का समुचित सहयोग भी उपलब्ध हो सके तो, दूसरी बात है।

इस प्रकार जहाँ तक निर्गुण भक्तिवाले संतकाव्य एवं 'सूफीकाव्य' की बात है, हम इन दोनों को प्रधानतः उपर्युक्त प्रथम प्रकार की काव्यरचनाओं मे ही स्थान दे सकते हैं और इन्हें तदनुसार प्रमुखतः 'भावप्रधान' भी ठहरा सकते हैं। संतकाव्य के रचयिता अधिकतर अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित व्यक्ति रहे जिनके लिये किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करने की संभावना बहुत कम हो सकती थी और लगभग इसी प्रकार का कथन हम उन सूफीकवियों के संबंध मे भी कर सकते हैं जो प्रायः फारसी एवं अरबीवाले धार्मिक ग्रंथो का अध्ययन कर चुकने पर भी, हिंदी-काव्य रचना मे यथेष्ट कौशल प्रदर्शित नहीं कर सकते थे। ये, अधिकतर सर्वसाधारण की स्थानीय ठेठ बोलियों से, शब्दचयन कर लेते थे, सुनी सुनाई सूक्तियों को प्रयोग मे लाते थे तथा, इस प्रकार के प्रयास मे जहाँ कहीं इन्हे किसी प्रकार की कमी का अनुभव होता था, ये उसे, अपने निजी शब्दभंडार, वाक्यप्रयोग अथवा मुस्लिम प्रधान देशों वाले शामी प्रसंगों से, पूरा कर लेते थे। बहुधा साधारण जनता के बीच काम करते रहने के कारण, संतों एवं सूफियों इन दोनों को लोकप्रचलित परंपराओं का ही अधिक सहारा मिला करता था और ये उन्हीं बातों को अपना भी पाते थे जो इन्हे इस प्रकार सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाती थीं। शिक्षित अथवा साहित्यिक वर्ग का संपर्क इन्हें बहुत कम मिला करता था जिस कारण ये उनसे कम लाभ उठा सकते थे। प्रारंभिक संत काव्य एवं सूफीकाव्य के ऊपर विचार करते समय, हमे यह बात विशेष रूप मे स्पष्ट हो जाती दीख पड़ती है। हम देखते हैं कि ऐसे साहित्यों के अंतर्गत न केवल फुटकल रूप मे की गई ही रचनाएँ पाई जाती हैं अपितु इनका रूप तक भी अधिकतर उन दूहों, गीतों वा आख्यानों का ही अनुकरण करता है जो लोकप्रचलित रहा करते हैं तथा, इसी कारण, जो सर्वसाधारण के लिये भलीभाँति परिचित भी कहे जा सकते हैं। इनमें क्रमशः या तो सूक्तियों एवं मुहावरों की भरमार पाई जाती है या गेय पदों का समावेश कर दिया गया रहता है अथवा उनके लिये वैसी कहानियों, का उपयोग किया गया मिलता है जो लोकजीवन की दृष्टि से, सबके लिये परिचित एवं आकर्षक भी बन गई रहती हैं। ऐसी सामग्री एवं

साहित्य-रचना-पद्धति का मूलस्रोत भी या तो जनमानस हुआ करता है या वह उपलब्ध साहित्य होता है जो, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषाओं के माध्यम से, परंपरानुसार निर्मित किया गया रहता है। इनके लिये, उन दिनों के सूफियों एवं संतों को भी, अपनी रचनाओं का आदर्श ढूँढ़ने, कहीं संस्कृत अथवा अरबी एवं फारसी के उत्कृष्ट ग्रंथों की शरण मे जाना नहीं पड़ता था। जहाँ तक संतकवियों के विषय मे कहा जा सकता है, उनमे से केवल कतिपय शिक्षितों का ही ध्यान, सर्वप्रथम, इस ओर आकृष्ट होने लगता है और वे न केवल नवीन प्रचलित छंदों का ही प्रयोग करते हैं, प्रत्युत वे अपने वर्ण्य विषयो मे न्यूनाधिक शास्त्रीय बातों का भी समावेश करने लग जाते हैं जिसकी प्रवृत्ति, कुछ अंशों में हमे उन दिनों के कम से कम, उत्तरी भारतवाले सूफी कवियों में भी, देखने को मिलती है।

'संतकाव्य' के आदर्श का परिचय हमे स्वयं संत कबीर की ही उन कुछ पंक्तियों द्वारा मिल जाता है जहाँ पर उन्होंने स्पष्ट शब्दो में कह दिया है, 'तुम इस मेरे (पद्यमय) कथन को कोई 'गीत' (वा काव्यरचना) न समझ लेना, मैंने इसके द्वारा केवल, आत्मसाधना का सारतत्व बतलाकर उसे समझाने की चेष्टा मात्र की है'।[1] तथा यही बात, संत सुंदरदास की उन कतिपय पंक्तियों से भी प्रकट होती हैं जिनमे उन्होने 'हरिजस' को काव्य का प्राण तथा 'हरिनाम' को उसके सौंदर्य का मूल तत्व भी ठहराया है।[2] इन्होंने तो वहीं पर इतना और भी कह दिया है, 'हरिनाम सहित जे उच्चरहि, तिनकौ सुभगण अष्ट हैं। यह भेद जके जानै नहीं, सुंदर ते नर सठ्ठ हैं' (२६)। अर्थात् जो कवि हरिनाम को अपनी रचना का विषय बनाता है उसके लिये 'मगण', 'यगण', 'भगण' आदि आठो ही 'गण' शुभप्रद बन जाते हैं किंतु जो इसके भेद से अपरिचित हैं उसे तो हम 'शठ' मात्र ही कह सकते हैं। जहाँ तक सूफी कवियों के विषय मे कहा जा सकता है, उनमे से भी कई ने अपनी प्रेमगाथाओं को लिखते समय, जितना महत्व उनकी कथावस्तु को दिया है उतना उनमे प्रदर्शित काव्यकौशल को नहीं, और जहाँ कहीं उन्होंने इसकी चर्चा की है वहाँ पर भी, अपने कथन द्वारा डाले गए उसके किसी प्रभाव विशेष पर ही, अधिक बल दिया है तथा कभी कभी तो, उन्होने केवल ऐसी आशा मात्र ही प्रकट की है कि इसके आधार पर उनका 'नाम' कभी आगे भी लिया जाता रहेगा। मुल्ला दाऊद अपनी 'चंदायन' के अंतर्गत एक स्थल पर कहते हैं कि मैंने मलिक नथन के छेड़ने अथवा पूछ बैठने पर, इस दुःखमयी प्रेमगाथा की रचना की तथा जिस किसी ने मेरी

[1] क० ग्रं० (का० सं०), पृ० ८९।
[2] सु० ग्रं० (द्वितीय भाग) पृ० ६७१।

इस दर्द भरी कहानी को गाते हुए सुना वह मूर्च्छित हो गया।[1] शेख कुतबन का भी अपनी 'मृगावती' के लगभग अंत मे, कहना है कि इस मेरे द्वारा कही गई कथा के भीतर पूछनेवालों के लिये बहुत कुछ 'अर्थ' भरा हुआ है और, मैंने जहाँ तक इसे अपने हृदय मे समझ पाया है, उसे कह देने का प्रयत्न किया है।[2] इसी प्रकार जायसी भी अपनी 'पद्मावत' के एक स्थल पर कहते हैं[3] कि आदि से अंत तक जैसी कथा रही उसे ही मैं भाषा चौपाई मे कह रहा हूँ, कविता का विकास तो रसभरी नारंगी का सा होता है जिस कारण जो कोई रसिक होते हैं वे, इससे दूर रहते हुए भी, इसके निकट हैं, किंतु जिन्हे इसकी वैसी कोई अभिज्ञता नहीं रहा करती उनके लिये इसके निकट होना भी इससे दूर का रहना ही कहला सकता है। इसी प्रकार इस कवि का अन्यत्र यह भी कहना है कि जो कोई इस कहानी को पढ़ेगा वह, संभव है, मुझे अपने दो वाक्यों मे, स्मरण कर लेगा, जिस बात को, मलिक मंझन ने भी अपनी 'मधुमालती' के अंत मे बतलाया है और कहा है यह अमृतरूपी प्रेम से भरपूर स्थल है और जब तक इसका 'कवितागात' (काव्यशरीर) वर्तमान रहेगा 'जगत्' मे मेरा नाम भी बना रहेगा[4] जो कथन भी वस्तुतः उसकी कथावस्तु की ओर ही संकेत करता जान पड़ता है। दक्खिनी हिंदी के कुछ सूफी कवि अवश्य इस बात के अपवादस्वरूप समझे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी काव्यरचनाओं की प्रशंसा स्वयं अपनी ओर से भी कर दी है जिसका एक कारण, कदाचित् यह भी हो सकता है कि उनमें से कई का संबंध किसी न किसी दर्बार से भी रहा जहाँ का वातावरण इसके लिये अधिक अनुकूल समझा जा सकता था तथा इसके अतिरिक्त इनपर फारसी एवं अरबी की काव्य-रचना-पद्धति का भी प्रभाव कम न रहा जिसके फलस्वरूप, अंत मे ये लोग एक नवीन प्रकार के साहित्य का सृजन करते करते, भावी उर्दू कवियों के लिये पथप्रदर्शक तक बन गए।

२. **जीवनसाहित्य**—परंतु, संत काव्य एवं सूफीकाव्य को केवल भावप्रधान ठहरा देने मात्र से ही, इस संबंध की सारी बातें यथेष्ट रूप में स्पष्ट हो जाती नहीं जान पड़तीं, जब तक यह भी समझ न लिया जाय कि, वैसा कहने का हमारा वास्तविक अभिप्राय क्या है। किसी काव्यरचना को रचनाशैली प्रधान अथवा भाषाप्रधान कहते समय हमारा ध्यान, स्वभावतः इस बात की ओर आकृष्ट हो जाता है कि उसका काव्यत्व प्रधानतः उसके बाह्य रूप अर्थात् उसके माध्यम वा निर्माणकौशल की विलक्षणता मे,

१ 'चंदायन', पृ० २८६।

२ कु० कृ० मृ०, पृ० २०३।

३ 'पद्मावत' (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त), पृ० १८ व ५३४।

४ म० कृ० म० मा० (स० वही), पृ० ४८२।

निहित है। उसका कथन ऐसी सुंदर एवं उपयुक्त भाषा द्वारा किया गया है अथवा उसे ऐसे अपूर्व ढंग से कहा गया है कि उसमे कोई चमत्कार सा आ गया है जिस कारण वह अपने श्रोताओं अथवा पाठकों को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। यह उन्हे सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है जिसके फलस्वरूप वे किसी आनंद-विशेष का अनुभव करने लग जाते हैं और ऐसी दशा उन्हे उस समय भी प्राप्त हो जा सकती है जब उन्हे इसके वर्ण्य विषय को उतना महत्व देने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। शब्दालंकारप्रधान अथवा रीतिगुणसमन्वित काव्यकृतियों में हमें प्रायः इसी प्रकार की विशेषता मिला करती है। इसके विपरीत, जब हम किसी काव्यरचना को 'भावप्रधान' अथवा 'विषयप्रधान' कहा करते हैं, उस समय हम, इसके केवल बाह्यरूप द्वारा ही प्रभावित न रहकर इसकी उस मूलवस्तु की ओर विशेष आकृष्ट होते दीख पड़ते है जिसे इसके निर्माण का आधार भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा मे हमे, प्रधानतः इसका वह भावसौंदर्य प्रभावित करता जान पड़ता है जिसकी अभिव्यक्ति इसके द्वारा की गई रहती है अथवा हम, कम से कम इसके उन वृत्तों, वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की ही ओर खिंचते जान पड़ते हैं जिनकी इसमे चर्चा रहा करती है। ऐसी रचना द्वारा वर्णित विषय अथवा प्रकट किए गए भाव के साथ हमारा कोई रागात्मक संबंध सा स्थापित हो जाता प्रतीत होता हैं जिसका अनुभव करते समय हम किसी एक अनुपम भावभूमि तक पहुँचकर उसमे मानों विचरण करने लग जाते हैं। ऐसी बात नहीं कि भावप्रधान काव्य मे शैलीगत सौंदर्य का सर्वथा अभाव रहा करता है अथवा रचनाशैलीप्रधान काव्य मे इसी प्रकार भावसौंदर्य को कोई महत्व ही नहीं दिया जाता, प्रत्युत वास्तव मे, अच्छे काव्य के अंतर्गत इन दोनों का ही समुचित सहयोग भी पाया जाता है और यदि इनमें से किसी एक की विशेष कमी हो उस दशा में, वैसी काव्यरचना को प्रायः काव्य समझा ही नहीं जाता।

संत काव्य का, भाव प्रधान होते हुए, भाषा एवं शैलीगत सौंदर्य द्वारा भी समन्वित न पाया जाना इसकी एक बहुत बड़ी न्यूनता का परिचायक समझा जाता है और इस विचार से, कई प्रसिद्ध आलोचकों ने इसे काव्य की कोटि में रखना तक भी उचित नहीं माना है तथा, इस दृष्टि से, उन्होंने इसे सर्वथा हेय तक भी ठहराने की चेष्टा की है। परंतु, यदि इस प्रकार की रचनाओं की भावप्रधानता पर, कुछ गंभीरता के साथ विचार किया जाय तो, वैसे मत में हमे कुछ सुधार भी करना पड़ेगा। संतों की भावप्रधान रचनाओं मे उपलब्ध भावों को यदि, साधारण मनोवैज्ञानिक भावों के ही अर्थ मे लिया जाय तब तो, उक्त मत कुछ अंशो में ठीक भी कहा जा सकता है और उनपर बाध्यतः विचार करने पर, वहाँ काव्यत्व का मिलना कठिन भी हो सकता है। परंतु, यदि उनके कोरे मनोवैज्ञानिक रूपों को ही ध्यान में रखकर उनका साहित्यिक दृष्टि के अनुसार उक्त प्रकार से वर्गीकरण न

कर दिया जाय, प्रत्युत उन्हें ऐसे कवियों के जीवन का विशिष्ट अंग तक भी स्वीकार कर लें तो, बात भिन्न बन जा सकती है और उस दशा मे हमे पता चल सकता है कि तब उनके लिये किसी साधन अथवा कथनशैली का भी उतना सुंदर कहलाना किसी प्रकार अनिवार्य नहीं रह जाता। प्रत्येक प्रमुख संत कवि मूलतः साधक रहा, और उसने अधिकतर अपनी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति मात्र के ही लिये अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की जो वास्तव में न केवल 'स्वान्तः सुखाय रचित' अपितु उसके आध्यात्मिक जीवन का एक चित्रण तक भी कहला सकती थीं। संतों ने अपनी साधना के फलस्वरूप अपने को, वैसी स्वानुभूति के अनुरूप ढालकर उसे अपने जीवन में उतार भी लिया था और इसीलिये उसके अत्यंत गूढ़ व गंभीर होने के कारण, वे उसे अपने शब्दों द्वारा पूर्णतः व्यक्त करने मे भी असमर्थ रहे। उन्हें, उसे यथावत् प्रकट करते समय, अपनी वाणी पूरी सहायता नहीं प्रदान कर सकती थी जिस कारण उन्हें इसके लिये बार बार प्रयत्न करने पड़े और इसमें अनेक बार असफल होने की दशा मे, उनकी कथनशैली प्रायः ऊटपटाँग तक भी बन गई। कोरे मनोवैज्ञानिक भावों की इकाइयाँ, बहुत व्यापक एवं उदात्त होती हुई भी, किसी न किसी प्रकार न्यूनाधिक व्यक्त की जाने योग्य हो सकती हैं, किंतु जो भाव उपर्युक्त रूप में संश्लिष्ट हों तथा जिन्होंने, किसी के समग्र जीवन के रस में सराबोर होकर, अनुपम रहस्यमयता धारण कर ली हो, उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति का माध्यम कौन सी भाषा बन सकती है ? अतएव, यदि संतों की स्वानुभूतिविषयक उपर्युक्त अभिव्यक्ति, वास्तव मे, उनकी आत्मानंदपरक सहजावस्था का ही परिचायक होगी तो, वह उसके 'सहोदर' 'काव्यानंद' का भी अनुभव अवश्य करा सकती है। इसके सिवाय, उस दशा में, संतकाव्य किसी ऐसे वाङ्मय का भी अंग बन जा सकता है जिसका क्षेत्र केवल काव्यकलाश्रित साहित्य की सीमा से कहीं अधिक व्यापक होगा तथा जिसका उद्देश्य भी केवल मनोरंजन अथवा उपदेशादि से ही संबंधित न रहकर पूर्ण मानव जीवन की उदात्त वृत्तियों का प्रतिबिंब ग्रहण करने मे भी समर्थ होगा तथा जिसे, इस विचार से, संभवतः कोई 'जीवन साहित्य' जैसा नाम भी दिया जा सकेगा और वह साधारणतः अभिहित किए जानेवाले लालित्यप्रधान 'साहित्य' से न केवल अधिक विश्वजनीन अपितु उत्कृष्ट भी होगा।

फिर भी संतकाव्य की विशेषताएँ सूफीकाव्य पर भी, ठीक इसी प्रकार, लागू होती नहीं समझी जा सकतीं। इसके प्रेमाख्यान एवं फुटकल काव्य कहे जानेवाले दो अंशों में से, इसके केवल दूसरे की कतिपय विशिष्ट रचनाओं पर ही, वास्तव मे, इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इसके पहले अंशवाली रचनाओं के विषय मे इस प्रकार कथन करते समय, कुछ कठिनाइयों का सामना भी करना पड़

सकता है। सर्वप्रथम इन प्रेम गाथाओं के अंतर्गत हमें इनके रचयिताओं की अनुभूतियों की केवल अभिव्यक्ति मात्र ही नहीं मिला करती, अपितु इनका अधिकांश उन विविध वृत्तों, प्रसंगों, दृश्यों, व्यक्तियों, आदि के वर्णनों वा विवरणों से भी भरा रहा करता है जिन्हे स्वभावतः भावों की कोटि मे नहीं लाया जा सकता। इसके सिवाय इनके कई स्थलविशेष, प्रत्यक्षतः इस दृष्टि से निर्मित कर दिए गए रहते हैं कि उनका वैसे रूपों मे वहाँ समाविष्ट कर लिया जाना, केवल किन्हीं पूर्वप्रचलित परंपराओं के अनुसार ही, आवश्यक समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये इनमे किए गए विभिन्न प्रारंभिक उल्लेख, नायक नायिकादि विषयक व्यक्तिगत चर्चा तथा अनेक पात्रों के प्रसंग एवं प्रभावादि का चित्रण और वस्तुओं का वर्णन भी यहाँ पर इनके अंग से बन गए पाए जाते हैं तथा, इसी प्रकार ऐसी रचनाओं में उपलब्ध विविध घटनाओं के वर्णन तथा उनके प्रवाहादि संबंधित विवरण भी वस्तुतः इसी बात की ओर इंगित करते जान पड़ते हैं जिस कारण इनका रूप अधिक से अधिक 'विषयप्रधान' रचनाओं का ही समझा जा सकता है, अतएव, इन बातों को ध्यान मे रखते हुए, हम सूफीकाव्य के इस अंग को उपर्युक्त भावप्रधान काव्यरचनाओं के अंतर्गत लाते समय, केवल, कुछ न कुछ व्यावृति (अपवाद वा रहाव) के साथ ही, कथन कर सकते हैं। इनके विषय में हम, उपर्युक्त प्रकार से, तभी कुछ कह सकते हैं जब हम इन बातों की ओर कोई ध्यान न देकर केवल, उन कतिपय स्वानुभूतिपरक उद्‌गारों पर ही, विचार करने लग जाँय जिन्हें ऐसी रचनाओं के कवियों ने इनमे यथास्थल प्रकट किए हैं अथवा हमारे लिये ऐसा कहने का कोई आधार उस दशा मे भी मिल सकता है जब हम इनमे प्रसंगवश उपलब्ध किन्हीं अन्य ऐसे स्थलों पर भी, अपनी दृष्टि डाल सकें जहाँ पर, इनके किसी न किसी पात्र के माध्यम से भी, ऐसा कथन कराया गया हो। यहाँ पर इस संबंध मे यह अवश्य उल्लेखनीय है कि सूफी कवियों की ऐसी रचनाओं को, बहुधा हम उन उपमितिकथाओं मे भी, स्थान दिया करते हैं जिनके अधिकाश वर्णनों एवं विवरणों का कोई न कोई अपना गूढ़ अर्थ वा अभिप्राय भी रहा करता है। तदनुसार इन कवियों की ऐसी कृतियों को कोरी कहानियों की कोटि मे न लाकर हम इन्हे उन विशिष्ट कथारूपकों जैसा भी स्वीकार कर ले सकते हैं जिनके प्रायः प्रत्येक अंश की व्याख्या, किसी न किसी प्रकार, किसी आध्यात्मिक वा नैतिक दृष्टिकोण से भी, की जा सकती है, और उस दशा मे वस्तुतः इनका वैसा प्रत्यक्ष प्रकृत रूप ही नहीं रह जाता।

(३) **काव्यत्वविवेचन की शास्त्रीय परंपरा**—भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करते समय हमे पता चलता है कि, उसके आज तक उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' की रचना, उस युग मे हुई होगी जब

नाटकों के अभिनय की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा। हमें यह भी जान पड़ता है कि, उसकी सफलता के ही प्रसंग में, उन दिनों ऐसी बातों की भी चर्चा कर दी जाती रही होगी कि, वैसे अवसरों पर किए जानेवाले विभिन्न कथनोपकथनों का तदनुकूल साहित्यिक रूप कैसा होना चाहिए तथा तदनुसार इसका न्यूनाधिक विवेचन भी कर लिया जाता रहा होगा। फलतः उक्त ग्रंथ के अंतर्गत हमें, काव्य के लक्षण तथा उसके गुणदोषादि एवं रस की निष्पत्ति की ओर किए गए, कुछ न कुछ संकेत भी मिल जाते हैं। परंतु ये वहाँ पर उतने स्पष्ट एवं यथेष्ट नहीं जान पड़ते और न स्वभावतः, केवल इन्हीं के सहारे, हम सभी काव्य-कृतियों की सम्यक् परीक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रश्नो से संबंधित स्वतंत्र ग्रंथों की रचना, भरत मुनि के अनंतर, उस काल से आरंभ होती है जब आचार्य भामह, काव्यचर्चा के प्रसंग मे, उक्त 'रस' के स्थान पर 'अलंकारों' को विशेष महत्व प्रदान करने लगते हैं तथा तत्पश्चात् जब से 'अलंकार' शब्द काव्यसौंदर्य का पर्याय तक बन जाता दीख पड़ता है। फिर ऐसी बातों की ओर उस समय और भी अधिक ध्यान दिया जाने लगता है जब आचार्य वामन 'रीति' को काव्य की 'आत्मा' ठहराते तथा, उनके अनंतर जब आचार्य आनंदवर्द्धन अपने 'ध्वनि' विषयक मत को लेकर सामने आ जाते हैं और उसकी विविध आलोचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगती हैं। इसके पीछे आचार्य कुंतक के 'वक्रोक्ति' सिद्धांत तथा आचार्य क्षेमेंद्र के भी 'औचित्य' संबंधी मत की चर्चा छिड़ती है, किंतु ऐसी बातों को लेकर उतना विचार विमर्श नहीं किया जाता, प्रत्युत उपर्युक्त 'रस' एवं 'अलंकार' तथा 'ध्वनि' की ही चर्चा विशेष रूप से की जाती है। इस प्रकार, जो प्रश्न कभी पहले, केवल अभिनय के प्रसंगमात्र में ही, उठाया गया होगा उसका समाधान विशुद्ध शास्त्रीय रूप ग्रहण कर लेता है। इसके सिवाय, हमे ऐसा भी लगता है कि, यद्यपि उपर्युक्त भरत मुनि के 'रसवाद', भामह के 'अलंकारवाद', वामन के 'रीतिवाद,' आनदवर्द्धन के 'ध्वनिवाद,' कुंतक के 'वक्रोक्तिवाद' एवं क्षेमेद्र के 'औचित्यवाद'—अर्थात् इन सभी—पर न्यूनाधिक विचार होता आता है, इनमे से रचनाशैली-प्रधान काव्य को विशेष महत्व देनेवाले उक्त द्वितीय, तृतीय एवं पंचम 'वादों' की अपेक्षा, वे प्रथम, चतुर्थ एव षष्ठ मत ही अधिक विचारणीय ठहराए जाते हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य भावप्रधान काव्य को वरीयता देने का रहा करता है तथा इन्हीं के संबंध में अधिक विचार विमर्श भी हुआ करता है।

भरत मुनि के उक्त ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' का रचनाकाल प्रायः विक्रम के दो शती पूर्व से पहले का ही समझा जाता है और कुछ लोगों का ऐसा अनुमान है कि, रस तत्व के निरूपण का श्रीगणेश वस्तुतः उसी के अंतर्गत, सर्वप्रथम शास्त्रीय ढंग से भी, किया गया होगा। परंतु, जैसा हम अभी कह आए हैं, इस प्रकार का

प्रयास वहाँ पर, केवल 'नाट्यों' के आधार एवं साधनों की चर्चा के प्रसंग में ही, किया गया जान पड़ता है। तदनंतर आचार्य भामह (लगभग ७वीं शती) द्वारा, 'रस' का 'अलकार' के अंतर्गत, अंतर्भाव कर दिया जाना तथा इसका एक विशिष्ट 'रसवत् अलंकार' के रूप मे स्वीकृत कर लिया जाना भी हमे मिलता है और इसी प्रकार आचार्य वामन (प्रायः ९वीं शती) भी, हमे 'रीति' को काव्य की 'आत्मा' बतलाते समय, इसे उसके गुणों मे से एक अर्थात् 'अर्थ गुण काति' का आधार मान लेते दीख पड़ते हैं। परंतु इसके विपरीत, जब इनके लगभग समसामयिक आचार्य आनंदवर्द्धन 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा का पद प्रदान करते हैं तो, तदनुसार ये रस को उसका एक भेद मात्र ठहराकर इसे 'रसध्वनि' के नाम से अभिहित करते हैं तथा इसे अन्य ध्वनियों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ भी कह देते हैं। फिर, ११वीं शती के पूर्वार्ध मे आचार्य कुंतक 'वक्रोक्ति' को काव्य का 'जीवित' घोषित करते हैं तथा रस को उसके परम सहायक रूप मे स्वीकार कर लेते हैं और इसी प्रकार उसके उत्तरार्ध काल वाले आचार्य क्षेमेंद्र भी 'औचित्य' को महत्व देते समय, 'रससिद्ध' काव्य को ही उत्कृष्ट ठहराते जान पड़ते हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि, इस समय तक 'रसवाद' का समर्थन एवं विवेचन, कतिपय उन विचारकों द्वारा भी, किया जाता आ रहा था जिन्होंने भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' पर अपनी टीकाओं की रचना की थी और इनमे सबसे अधिक विख्यात आचार्य अभिनव गुप्त (१०वीं–११वीं शती) हुए जिन्होंने, न केवल इस ग्रंथ पर ही अपनी 'अभिनव भारती' प्रस्तुत की, प्रत्युत आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर भी अपने 'लोचन' का निर्माण किया। ये एक प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे और इन्होंने, काव्यात्मक सौंदर्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए, उसे किसी एक विलक्षण आध्यात्मिक अनुभूति का विषय तक माना तथा अपनी अद्वैतवादी धारणा के अनुसार, उसके आस्वाद्य रस की 'अभिव्यक्ति' को विशेष महत्व प्रदान किया। इनका आग्रह वस्तुतः 'रस' एवं 'ध्वनि' इन दोनों को ही प्रधानता देने की ओर था, किंतु 'तेन रस एव वस्तुतः आत्मा'[1] कहकर इन्होंने उनमें से प्रथम की वरीयता की ओर भी संकेत किया तथा, प्रसिद्ध शृंगारादि नवरसों की पारस्परिक तुलना मे, 'शांत-रस' को उनमें सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करना चाहा।

वास्तव में, आचार्य भरतमुनि के समय मे, रसों की संख्या कदाचित् केवल आठ ही मानी जाती रही और उनके 'नाट्य शास्त्रवाले' एक श्लोक

[1] ध्व० लोक पृ० ८५।

'शृंगार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानकाः।
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता ॥ (६-१५)

में कहीं पर शांत रस की चर्चा की गई भी नहीं पाई जाती जिससे इस बात की पुष्टि भी हो जाती दीख पड़ती है। परंतु आचार्य अभिनव ने, संभवतः इसके किसी अन्य पाठ के आधार पर, उनकी संख्या ९ निर्धारित कर ली तथा तदनुसार उनमें शांत रस का भी समावेश कर दिया। शांत रस को ९वें रस के रूप मे, इनके पहले, आचार्य उद्भट (९वीं शती) ने भी मान लिया था, किंतु उन्होंने इस विषय मे कोई विवेचन, विस्तार के साथ, नहीं किया था। परंतु, जब, क्रमशः, रसों की वास्तविक संख्या के संबंध में, प्रश्न उठ खड़ा हुआ तथा, जब कतिपय आचार्यों का ध्यान मूल वा प्रधानतम रस के निर्णय की ओर भी आकृष्ट हो चला तो, इस बात का निश्चय कर लेना भी आवश्यक जान पड़ा कि किस रस को कहाँ तक महत्व प्रदान किया जाय। तदनुसार आचार्य अभिनव द्वारा, शांत रस वाले स्थायी भाव के रूप मे, 'निर्वेद' अथवा 'शम' का स्वीकार किया जाना भी उतना उचित नहीं समझा गया, प्रत्युत उन्होंने इनकी अपेक्षा यह स्थान उसके मूलाधार 'तत्वज्ञान' अथवा 'आत्मज्ञान' को प्रदान कर दिया। उनके मतानुसार, शांत रस की विशेषता इसके 'मोक्षफलत्व' एवं 'परम पुरुषार्थनिष्ठितत्व' जैसे गुणोंवाले रूप में जाती है[1] जिस कारण यह स्वभावतः सभी रसों मे प्रधानतम भी सिद्ध हो जाता है। परंतु फिर भी, शांत रस का इस प्रकार प्रतिष्ठित किया जाना सब किसी को एक समान प्रभावित न कर सका और कुछ ने इस बात का विरोध तक भी, किसी न किसी रूप मे, किया जिसके परिणामस्वरूप, इसे पीछे उतनी मान्यता नहीं मिल सकी। आचार्य धनंजय (११वीं शती पूर्वार्ध) ने तो इस विषय मे कदाचित्, इतना ही कहा कि, 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिः नाट्येषु नैतस्य'[2] अर्थात् कुछ लोग 'शम' को भी एक स्थायी भाव के रूप में स्वीकार करते हैं, किंतु कम से कम नाट्यों के प्रसंग मे, इसकी कोई पुष्टि होती नहीं दीख पड़ती। परंतु आचार्य भोजराज (११वीं शती उत्तरार्ध) ने इस विषय पर, यथेष्ट विस्तार के साथ, प्रकाश डालने का प्रयत्न किया तथा इन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह भी कह दिया कि,

'वयंतु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः'[3]।

[1] वही, पृ० १७८
[2] हिं. द. रु. (४-३५) पृष्ठ २०२
[3] र. सि, पृ. १५९ पर 'शृंगारप्रकाश' (खंड १) से उद्धृत।

अर्थात् हमें तो शृंगार रस मे ही आस्वादनीयता जान पड़ती है और हम उसी को 'रस' मानते हैं जिस कथन का आधार निरूपित करते समय, इन्होंने यह भी बतलाया कि जो 'अहंकार' आत्मा का गुणविशेष है वही 'शृंगार' है, वही अभिमान है और वही 'रस' है[1] तथा इसी प्रकार 'शृंगार ही वस्तुतः चतुर्वर्ग का एकमात्र कारण है और वही 'रस' भी है'।[2] अतएव जिस प्रकार आचार्य अभिनव ने 'आत्मज्ञान' वा 'आत्मास्वाद' को शांत रस का स्थायी भाव ठहराकर उसे ही अन्य रसों का मूलाधार भी घोषित किया था, उसी प्रकार इन्होंने भी, लगभग वैसी ही प्रतिपादन शैली को काम मे लाकर, उक्त पद 'अहंकार' को दे डाला तथा इसके परिणामस्वरूप शृंगार रस के पक्ष में अपना निजी मत भी प्रकट कर दिया।

नव रसों मे से केवल किसी एक ही को सबका मूल अथवा प्रधानतम रस मान लेने की परंपरा भी, आचार्य अभिनव के पहले से आरंभ हो चुकी थी और तदनुसार इनके पश्चात्, कतिपय अन्य आचार्यों ने भी अपने अपने मत प्रकट किए। उदाहरण के लिये उधर महाकवि भवभूति (प्रायः ८वीं शती) ने करुण रस को यह महत्व देना उचित माना था और अभिनव के अनंतर, भोजराजवाले शृंगार रस के अतिरिक्त, एक अन्य आचार्य द्वारा प्रस्तावित 'अद्भुत रस' की ओर भी सबका ध्यान आकृष्ट किया गया तथा गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने भी 'भक्ति रस' नामक एक १०वें रस को इसके लिये सर्वथा उपयुक्त ठहराकर उसमें अन्य रसों को अंतर्भुक्त कर देने का प्रयास किया। परंतु, जहाँ तक पता चलता है, इस प्रश्न पर अभिनव एवं भोजराज के समान पूरी दृढ़ता और गंभीरता के साथ, किसी दूसरे आचार्य ने प्रकाश नहीं डाला तथा इस प्रकार पीछे, केवल 'शांत रस' एवं 'शृंगार रस' के ही बीच, कुछ प्रतिद्वंद्विता सी भी चलती जान पड़ी। शृंगार के विषय मे कदाचित् स्वयं आचार्य भरत मुनि ने भी कहा था कि 'जो कुछ पवित्र, विशुद्ध, उज्वल, एवं दर्शनीय है उसकी शृंगार से ही उपमा दी जाती है' और फिर रुद्रट, आनदवर्द्धन, भोजराज, विश्वनाथ आदि ने भी अपने अपने ढग से इसका उत्कृष्ट होना प्रतिपादित करना चाहा। इसके सिवाय 'भक्ति रस' को सर्वश्रेष्ठ रस का स्थान देनेवाले आचार्य रूप गोस्वामी तथा जीव गोस्वामी (१७वीं शती) तक ने भी अपने मत का प्रतिपादन करते समय, लगभग उसी प्रकार के अनेक विव-

[1] "तंत्रात्मको गुणविशेष ब्रूयः स शृंगार. सोऽभिमानः सरसः।"—वही (खण्ड २) से उद्धृत।
[2] 'शृंगारस्यैकं चतुर्वर्ग कारणं स रस इति'।—वही (खण्ड १) से उद्धृत।

रसों को अपने यहाँ आश्रय दिया तथा उनको अधिक विस्तार देना भी उचित समझा जिनका उपयोग, शृंगार रस का परिचय देते समय, उनके पूर्ववर्ती आचार्य करते आ रहे थे। परंतु, जहाँ तक शांतरस के विषय में कहा जा सकता है, इसके लिये यथेष्ट समर्थन, कदाचित् बिरले आचार्यों द्वारा ही मिल पाया। इसका उल्लेख तो प्रायः सभी पिछले प्रमुख लोगों ने किया तथा उन्होंने इसका न्यूनाधिक परिचय भी दिया, किंतु वे अधिकतर, इसके स्थायीभाव विषयक पारस्परिक मतभेद तथा इसके नाटकों के लिये सर्वथा उपयुक्त होने अथवा न होने से संबंधित प्रश्नों को ही हल करते दीख पड़े। 'हाँ, संत एवं भक्त कवियों की ओर से की जानेवाली शांतरसमयी काव्यरचना में कदाचित् कोई कमी नहीं आ सकी और इनमें से कुछ ने कभी कभी इसकी प्रशंसा तक भी की।

मराठी कवि संत ज्ञानदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानेश्वरी' का निर्माण करते समय, उसके शांतरस से ओतप्रोत होने का उल्लेख किया[1] तथा, इसके 'रसराज' कहलाने योग्य होने में शृंगाररस की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त ठहरने की ओर भी संकेत किया[2]। इसके सिवाय, इन्होंने शांत रस के स्थायी भाव का स्थान 'परमतत्वस्पर्श' को प्रदान किया जिसे, 'परमेश्वरीतत्वां चे प्रतिपादन' बतलाकर भी समझाने की चेष्टा की गई[3] तथा, इस प्रकार, इन्होंने, अपनी ओर से, अभिनव-वाले उपर्युक्त मत का स्पष्ट अनुमोदन भी कर दिया। इसी प्रकार अचिंत्य भेदाभेद वादी उक्त गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरस को प्रधानता देते समय उसके मूल में 'मधुर भाव' अथवा 'परम भाव' की कल्पना की तथा उसके स्थायी भाव की व्याख्या 'श्रीकृष्ण विषया रतिः' के रूप में, कर दी और उसके रसज्ञों द्वारा 'मुख्या' एवं 'गौणी' जैसे दो भेदों के अनुसार बतलाए जाने का भी उल्लेख कर उस पर विस्तार के साथ लिख डाला।[4] अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती (१७वीं शती) ने भी भक्तिरस को ही सर्वाधिक महत्व दिया, किंतु इन्होंने इसे मूलतः परमानंद स्वरूप भगवान् का मन में स्वयमेव प्रतिबिंबित हो जाना बतलाया तथा इन्होंने यह भी कहा कि इस प्रकार अपने मन का उसके साथ साथ तदाकारता

१. 'आतां शांतरसांचे भरितें' (ज्ञा० ५-६४)।
२. 'परिश्रृंगाराचा याथां। पावो ठेविति' (वही १३-११५०)।
३. 'वाचें परवें कवित्व। कवित्वी वरवें रसिकत्व रसिकत्वींहि परतत्त्वस्पर्श जैसा'। (वही, १८-३४५)—दे० म० सा० शा० ० २६। पर उद्धृत।
४. स्थायी भावोऽत्र संप्रोक्तः श्रीकृष्ण विषयारतिः। मुख्या गौणीय सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्तिता ॥१॥ —श्री० ह० म० र० सि० पृ० २८२।

ग्रहण कर लेना 'पुष्कल' रसत्व की भी सिद्धि का द्योतक है'। इनके अनुसार इस प्रकार की 'स्वप्रकाशवाली 'प्रतीति निर्विकल्प सुखात्मिका' ठहराई जा सकती है तथा इस बात को श्रुति के 'रसो वै सः' वाले प्रसिद्ध वाक्य द्वारा अभिव्यक्त किए गए होने के आधार पर, प्रमाणित भी किया जा सकता है।[2]

४. वस्तुस्थिति एवं निर्गुण काव्य की विशेषता—इस प्रकार एक सरसरी सर्वेक्षण कर लेने पर भी हमें पता चलता है कि, भारतीय साहित्य की शास्त्रीय परंपरा के अनुसार, इस बात का अंतिम निर्णय अभी तक चाहे न भी हो सका हो कि किस रसविशेष को सर्वाधिक महत्व प्रदान करना अधिक तर्कसंगत होगा, इससे इतनी बात तो अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि, ऐसे प्रश्न पर विचार करनेवाले प्रमुख आचार्यों का काव्यतत्त्व के प्रति अपना दृष्टिकोण विशेष क्या रहा होगा तथा उसके विवेचन द्वारा हमें वस्तुस्थिति का कुछ न कुछ संकेत भी मिल सकता है जब आचार्य अभिनव गुप्त शांतरस को 'प्रकृति' वा मूल (शांत स्वप्रकृतिर्मतः) ठहराते हैं और कहते हैं कि इसका स्थायीभाव मूलतः आत्मज्ञान है जो वस्तुतः समस्त 'परिकल्पित विषयभोग' की वासना से मुक्त एवं आनंदमय है[3] तथा वही, 'अंतर्मुखी अवस्थाभेद' के द्वारा लोकोत्तर, आनंद का प्रापक होकर हमारे हृदय को भी उसी प्रकार आनंदमय बना देता है तो, हमें ऐसा लगता है कि इनके अनुसार 'काव्यानंद' का वास्तविक परिचय हमें स्वानुभूतिपरक 'परमानंद' में ही उपलब्ध हो सकता होगा। इसी प्रकार, जिस तत्व को हम साधारणतः कोई स्थायी भाव मानकर चलना चाहते हैं वह यहाँ पर कोरा लौकिक मानसिक विकार मात्र न होकर कोई अपूर्व 'रसिकास्वाद' भी है जिसे, इस दृष्टि के अनुसार कदाचित् 'अलौकिक' भी मान लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब आचार्य भोजराज शृंगाररस को उक्त पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तथा रसतत्व के मूल में अहंकार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अथवा, 'रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते' जैसा उपर्युक्त कथन करके शृंगार को उसका पर्यायवत्, मान लेते हैं और यहाँ तक भी बतलाते हैं कि जिस किसी के चेतस् द्वारा आत्मा का अहंकार विशेष 'रस्यमान' होता है केवल वही 'रसिक' भी हो सकता है, दूसरे लोग 'नीरस' ही कहला सकते हैं[4] तो, हमें ऐसा जान पड़ता है कि इनके अनुसार काव्य के मूलस्रोत

[1] श्रीम. प. भ. र. (२–१०) पृ. ४५.

[2] वही (२–२२), पृ. ७४५।

[3] 'विनाऽपि च नानंदादि विशुद्ध धर्मयोगी परिकल्पित भोग रहितोऽत्र स्थायी'। हि० अ० भा०, पृ० ६२३।

[4] 'शृंगारी चेत्....आत्मनोऽहंकार विशेष सचेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते, यद्योगेन रसिकोऽन्यथा नीरस इति।—शृं. प्र. पृ. ५१७।

को, वस्तुतः अहंभाव के ही साथ, जुड़ा होना चाहिए अर्थात् यह मूलतः अहंकार में ही केंद्रित हो सकता है तथा इसीलिये आत्मानुराग की भावना ही उसके, हमारे लिये आस्वादनीय ठहराए जाने के पीछे, काम करती होगी। इसके सिवाय आचार्य अभिनव गुप्त ने, रस के स्वरूप का निर्माण करते समय, 'हृदयसंवाद' को 'आस्वाद' संज्ञा दी है तथा इसे 'चर्वणात्मक' भी ठहराया है जिसका अनुभव विभावोपस्थिति के समकाल में ही, अखंडरूप मे कर लिया जा सकता है। परंतु आचार्य भोजराज ने रसों को मूलतः 'सुखदुःख अवस्था रूप' माना है और उनके स्थायी भावों के रसत्व मे परिणत होने की दशा तक के पूर्व उपर्युक्त विभावादि का किसी सुनिश्चित एवं स्पष्ट क्रमानुसार काम करना भी आवश्यक बतलाया है।

आचार्य भोजराज द्वारा प्रयुक्त 'अहंकार' शब्द हमें यहाँ पर, स्वभावतः सांख्य-दर्शन के उस 'अहंकारतत्व' का भी स्मरण मिलाता है जिसे वहाँ सृष्टि-विकास-क्रमवाली धारणा के आधार पर, क्रमशः मूल 'प्रकृति एवं 'महत्' के अनंतर तीसरा स्थान दिया गया मिलता है।' तदनुसार, यदि कहना चाहें तो, हम ऐसा भी कह सकते हैं कि, इनका रसनिरूपण विषयक सिद्धात जहाँ उसके व्यक्तिगत 'अहकारतत्व' से आरंभ होता है जिसके साथ आत्मरति, आत्मप्रसार एवं सुखदुःखादि की भावनाओं का काम करना संभव है, वहाँ आचार्य अभिनव का मत, उसके अनुसार निर्दिष्ट एक स्तर पहलेवाली 'व्यष्टिगत बुद्धि' से संबंधित है जिसका मूलरूप तत्वतः प्रतीतिपरक अथवा निश्चयात्मक मात्र कहला सकता है तथा, जिसकी वास्तविक स्थिति का सम्यक् अनुभव प्राप्त कर लेने के अनतर, वैसी बातों मे यथेष्ट व्यापकता वा विश्वात्मकता के भाव का समाविष्ट हो जाना भी असंभव नहीं। सृष्टि के ऐसे क्रमानुसार 'अव्यक्त' प्रकृति के अनंतर वहाँ तक अभी केवल समष्टिगत 'महत्' का ही विकास हुआ रहता है जो उसका 'व्यक्त' रूप है, और इसी को उक्त धारणा के अनुसार 'व्यक्तिगत बुद्धि' की भी संज्ञा दी जाती है जिसकी चर्चा की गई है। अतएव, यदि वास्तव मे उपर्युक्त 'आत्मज्ञान' की स्थिति किसी वैसे ही स्तर के साथ संबंध रखती है उस दशा मे, किसी भेदभाव की जगह विशुद्ध अभेदत्व को प्रश्रय मिलना तथा, इसी प्रकार, उस 'निर्विघ्न संवित् विश्राति' का पाया जाना भी कुछ असंभव नहीं जिसे आचार्य अभिनव ने, शांतरस की दशा का सूचक ठहराया है। ऐसी स्थिति में भी न तो स्वभावतः किन्हीं विभावादि के वैसे स्पष्ट क्रमनिर्धारण की अनिवार्यता सिद्ध होती है, जैसा, शृंगारादि अन्य रसों के संबंध मे अनुभव किया जाता है और न यहाँ पर उतनी बहिर्मुखता ही प्रतीत होती है, प्रत्युत इसकी विपरीत, यहाँ पर केवल किसी 'झटितिप्रत्यय' द्वारा भी काम चल जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करते समय हमे ऐसा भी लगता है कि आचार्य भोज-

राज, कदाचित् अभी तक, उस परंपरागत प्रवृत्ति का ही परित्याग नहीं कर पाए हैं जो आचार्य भरतमुनिवाले 'नाट्यशास्त्र' की रचना के युग में, अभिनयादि के प्रसंग में चर्चा करते समय, लोगों के भीतर, परिस्थिति के अनुसार, काम करती रही तथा जिसके कारण, काव्यतत्व के मूलरूप का प्रश्न उठते समय भी, बहुधा उसका प्रभाव पड़ जाता रहा। जो हो, यदि उपर्युक्त शास्त्रीय परंपरा की शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो, कह सकते हैं कि, हिंदी के निर्गुण भक्तिवाले संत एवं सूफी कवियों ने भी बहुत कुछ उक्त प्रकार के 'शांतरस' 'भक्तिरस' आनंदरस अथवा 'परमानंद रसपूर्ण' रचनाओं के ही निर्माण का प्रयास, अपने अपने ढंग से किया, किंतु, फिर भी इन्होंने कभी उसके स्वरूप निरूपण की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। इनके वैसे प्रयत्नों का वास्तविक उद्देश्य कभी किसी 'काव्यकृति' का निर्माण हो भी नहीं सकता था, क्योंकि, जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, इन्होंने या तो अपनी रचना द्वारा अपनी गहरी अनुभूति की कोई रहस्यमयी अभिव्यक्ति मात्र ही कर दी है अथवा, अपनी वैसी बातों को दूसरों के भी समझने योग्य बनाने की चेष्टा में, इन्होंने उनके अनुरूप किन्हीं प्रतीकादि का यों ही सहारा भर ले लिया है जिस कारण उनके विषय में भी कभी कभी शास्त्रीय ढंग से कुछ विचार किया जा सकता है।

परंतु संत एवं सूफी कवियों की उपलब्ध रचनाओं पर, साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से विचार करते समय, हमारे सामने शांतरसवाले स्थायी भाव के उस रूप का प्रश्न भी उठ सकता है जिसके लिये कतिपय आचार्यों ने 'निर्वेद' का नाम तथा जिसे, किन्हीं दूसरों ने 'शम' को बतलाकर स्वीकार किया है। उसके विषय में किसी किसी की प्रवृत्ति 'विस्मय', 'उत्साह', 'जुगुप्सा', 'धृति' अथवा 'तृष्णाक्षय' जैसे एकाध अन्य भावों की ओर संकेत करने की भी पाई जाती है, किंतु आचार्य अभिनव के अनुसार वास्तव में, 'तत्वज्ञान' से उत्पन्न 'निर्वेद' ही इसका वैसा स्थायी भाव कहलाने योग्य है। इस 'निर्वेद' के भी दो भेद ठहराए जाते जाते हैं जिनमें से एक को, तत्वज्ञानजन्य बोध हो जाने पर विषयोपभोग की ओर से 'निवृत्ति' के रूप में होना चाहिए वहाँ इसी प्रकार दूसरे की दृष्टि के अनुसार, इसे इष्टवियोग अथवा अनिष्ट की प्राप्ति के फलस्वरूप 'विरक्ति' कहा जाना चाहिए। अभिप्राय यह कि इस प्रकार के भाव का रूप, किसी न किसी प्रकार अभावात्मक वा निषेधात्मक ही होता अर्थात् यह कदाचित् उस दशा में ही, अस्तित्व में आ सकता है जब किसी एक ओर से ऊबकर वा उचटकर दूसरी ओर जाने की प्रवृत्ति जगे। इसके विपरीत यदि हम 'शम' को इसके लिये उपयुक्त ठहराते हैं उस दशा में, ऐसी किसी अड़चन का हमें सामना करना नहीं पड़ता। 'शम' एवं 'शांति' शब्दों में घनिष्ठ संबंध जान पड़ता है जिस कारण, इन दोनों द्वारा सूचित होनेवाले भावों के बीच भी, इसी प्रकार का अनुमान कर लेना स्वाभाविक बन जाता है। किंतु इस संबंध में भी यह आपत्ति की

जा सकती है कि वैसे 'शम' की दशा तो केवल उस मनोविकारशून्य अथवा निर्विकार स्थिति में ही, आ सकती है जब आत्मज्ञान के हो जाने पर, न तो कोई दुःख हो, न सुख हो, न चिंता हो, न रागद्वेष हो, न कोई इच्छा हो, प्रत्युत केवल आंतरिक विश्रांति मात्र बनी रहे जिसके संबंध में एक श्लोक[1] उद्धृत कर, ऐसा कहा गया भी मिलता है कि इसी को मुनींद्रों द्वारा 'शमप्रधान शांतरस' का नाम दिया जाता है। परंतु इस प्रकार के प्रश्न का उठाना यहाँ पर हमें बहुत कुछ असंगत सा लगता है और इसे हम वास्तविक स्थिति के प्रति अनभिज्ञता का परिचायक भी ठहरा सकते हैं। आत्मज्ञान वा तत्वज्ञान की दशा वास्तव में किसी प्रकार के संज्ञाहीन वा संवेदनशून्य जडत्व की ओर संकेत कदापि नहीं करती। इसे तत्वतः उस रूप में ही, स्वीकर करना अधिक समीचीन होगा जिसके अनुसार वस्तुस्थिति का बोध हो जाता है तथा जिसके फलस्वरूप आपकी मानसिक स्थिति में कोई संतुलन सा आ जाता है और जब अपना मन, अपनी 'मनमानी' चेष्टाओं का परित्याग कर, विशुद्ध विवेक के नेतृत्व में काम करने का स्वभाव ग्रहण कर लेता है तथा, जब इसी कारण, उसकी वृत्तियाँ वस्तुतः 'मनोविकार' भी नहीं कहला सकतीं। इनका रूप केवल परिष्कृत प्राशिक्षित एवं संयमित सा बन जाता है और ऐसी ही दशा में ये तब से तदनुसार ही अपना सारा व्यापार भी करती पाई जा सकती है। अतएव, यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त 'मनो-विकार शून्य' वा 'निर्विकार' में प्रयुक्त 'विकार' शब्द यहाँ केवल वैसी वृत्तियों का ही परिचायक माना जा सकता है जो किसी व्यक्ति के संकीर्ण अहंभाव के प्रभाव में आकर किन्हीं सीमित परिस्थितियों मे काम करती होंगी तथा इसी कारण उक्त प्रकार से ही वे दूषित भी ठहराई जा सकती हैं।

उपर्युक्त 'शांति' हमारे जीवन में किसी प्रकार की स्तब्धता अथवा अवरोध का आ जाना नहीं सूचित करती। वह, यथास्थिति का निश्चित बोध हो जाने के फलस्वरूप, हमारे चित्त मे केवल कोई अनुपम विश्रांति अथवा आत्मप्रत्यय लाकर तदनुरूप भावों के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत कर देती अथवा उनके लिये कोई समुचित मार्ग सा प्रशस्त कर देती मात्र दीख पड़ती हैं। संतों के अनुसार, ऐसी स्थिति के आ जाने पर हमारी अपनी 'अहंता' का सर्वथा लोप सा हो जाया करता है और हमारे ऊपर कोई एक नितांत नवीन रंग सा चढ़ जाता है जिस कारण हमारे जीवन में एक आमूलचूल परिवर्तन आ उपस्थित होता है और हम पहले से कुछ भिन्न से भी लगने लग जाते हैं। हमारा पहला जीवन अब नहीं रह जाता, अपितु, संतों के ही

१. न यत्र दुःखं न सुखं न चिंता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शांतः कथितो मुनीन्द्रैः, सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

शब्दों मे, हम, अब उस दृष्टि से 'मूवा' (मृतक) तक बन जाते हैं और हम अपने लिये अब से पुनर्जीवन प्राप्त कर लेते हैं जिसकी दृष्टि से अपनी सारी बातें हमें और की और सी जान पड़ने लगती हैं। संत कबीर ने, अपनी ऐसी दशा का कुछ परिचय देते समय, अपने पद के द्वारा बतलाया है 'मैंने जब गोविंद को मान लिया और इसके परिणामस्वरूप मेरे भीतर 'शांति' आ गई तो, मेरे लिये अब सर्वत्र कुशल ही कुशल जान पड़ रहा है; पहले मेरे जीवन मे अनेक प्रकार की उपाधियाँ उत्पन्न हो जाया करती थीं जो मेरे, वर्तमान 'सहज समाधि मे' आ जाने पर, सारी की सारी सुखात्मक बन गई हैं······मेरे अपने बैरी, मित्रों के रूप मे, परिवर्तित हो गए हैं और जिन लोगों को मैं 'साकत' अथवा दुर्जन समझा करता था वे मेरी दृष्टि मे अब 'सुजन' या स्वजन प्रतीत हो रहे हैं। अब, एक बार 'मरकर' फिर से जी उठने पर, मुझे ऐसा लगता है कि मेरा मन ही वास्तव में, उलटकर 'सनातन' अथवा शाश्वत सत्य के रंग में रँगा सा बन गया है और मैं अब अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर रहा हूँ।' अब न मैं किसी से डरता हूँ और न किसी को डराता ही हूँ।[1]' इससे स्पष्ट है कि ये यहाँ पर अपने वर्तमान जीवन के साथ उस पहलेवाले जीवन की तुलना, भी कर रहे हैं जिसकी दशा में इन्हें 'शांति' नहीं मिल पा सकी थी और इसी कारण, जब ये, कदाचित् किसी अशांति वा बेचैनी का अनुभव कर रहे थे जब इन्हे वस्तुस्थिति का पता मिल जाता जान पड़ा है और इन्हे तदनुसार कोई नवीन दृष्टिकोण भी प्राप्त हो गया है तो, इनकी सारी कठिनाइयाँ आपसे आप दूर हो जाती समझ पड़ रही हैं और ये अब से, कोई निवृत्ति वा विरक्ति का मार्ग न ग्रहण करके, नए जीवन मे प्रवृत्त हो गए हैं और इसे सुखपूर्वक बिताने की चेष्टा मे भी हैं। संत कबीर के ही शब्दों में इन्होंने 'आत्मस्वरूप को पहचानकर अब अपने आपको उस ओर उन्मुख कर दिया है ('आपा जानि उलटिलै आप') जिस कारण इनकी मनोवृत्तियों का तदाकारता ग्रहण कर लेना संभव हो गया है और इस प्रकार इनकी स्वपरक वृत्तियों के परिवर्तित हो जाने अथवा उनकी वैसी स्थिति में 'स्व' का वस्तुत

[1] अब हम सकल कुसल करि माना।
साति भई जब गोविंद जाना।। टेक।।
तन मँह होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि।। १।।
वैरी उलटि भए हैं मीता। साकत उलटि सजन भए मीता।। ३।।
अबमन उलटि सनातन हुवा। तब जाना जब जीवत मूवा।। ४।।
कहै कबीर सुख सहज समाऊ। आप न डरउ न और डरावउ।। ६।।
—क. ग्रं. (प्र. सं.)—पद १०७, पृ. ६३।

'अंत' हो जाने पर ही, इन्हे 'सांति' (पाठांतर के अनुसार 'स्वांति' अर्थात् स्वांत अथवा स्व+अंत) की उपलब्धि हो सकती है।

अतएव, उक्त प्रकार की मनःस्थितिवाले किसी व्यक्ति की तदनुकूल अभिव्यक्ति मे उपलब्ध शांतरस का रूप स्वभावतः अत्यंत व्यापक बन जाया करता है तथा तदनुसार अन्य सभी रस भी तत्वतः इसी के विभिन्न अंग मात्र से बन जाते दीखने लगते हैं। इसके 'मूलरस' का रूप ग्रहण कर लेने पर, वे सभी किसी न किसी प्रकार इसी के रंग में रँग जाते प्रतीत होते हैं। चाहे 'शृंगार' हो चाहे 'अद्भुत', चाहे 'भयानक', 'वीर', 'बीभत्स' अथवा वह जिस किसी रूप मे भी हो, उसका अपना साधारण लक्षण ठीक वही नहीं रह पाता जिसके परिचय का अन्य काव्यकृतियों मे मिलना कहा जाता है इनके लिये कल्पित किए गए विभानादि को भी यहाँ पर उतना महत्व नहीं मिल पाता, प्रस्तुत वे यहाँ पर गौण वा कभी कभी निरर्थक से भी लगने लगते हैं तथा इस दृष्टि से, उनकी संख्या अथवा उनके स्वरूप एवं क्रमादि के विषय मे विचार करना भी हमारे लिये उतना आवश्यक नहीं रह जाता। यहाँ तक कि, इसमें अभिव्यक्त किए गए विषय की विलक्षणता के कारण, 'ध्वनिसूत्रक स्थलों मे भी, कोई कमी नहीं आ पाती और न उसकी विशिष्ट व्यवहारपरकता इसके अंतर्गत किसी काव्यगत 'औचित्य' का समावेश होने में कोई बाधा ही आने देती है। इसी प्रकार अलंकारों का प्रयोग भी यहाँ काव्यसौंदर्य के प्रदर्शन की दृष्टि से किया गया न होकर बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है तथा 'वक्रोक्ति' परिचायक स्थल भी यहाँ पर आपसे आप मिल जा सकते हैं और उस प्रकार की रचनाशैली विशेष के लिये हमें इन कवियों के काव्यकौशल की उतनी प्रशंसा भी नहीं करनी पड़ती। इसके सिवाय इस प्रकार की काव्यरचना का वैशिष्ट्य हमे एकाध अन्य बातों में भी लक्षित होता जान पड़ता है जो कम उल्लेखनीय नहीं है। उदाहरण के लिए इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करनेवाले कवियों के अंतर्मुखी वृत्ति ग्रहण कर वस्तुतः 'आत्मस्थ' से बन जाने पर, यहाँ किसी 'आश्रय' वा 'अवलंबन के विचार का भी कोई प्रश्न नहीं रह जाता, प्रस्तुत सभी कुछ केवल एक ही ऐसे विलक्षण केंद्र से उद्भूत पाए जाते हैं जो अपनी भरपूर अथवा 'पूर्ण' की दशा में रहा करता है और उसका, केवल आत्मोल्लास के भी कारण, प्रायः 'छलका' करना अनिवार्य बन जाया करता है। इस प्रकार की मनःस्थिति विषयक धारणा के ही कारण, कभी कभी उपर्युक्त स्थायी भाव 'शम' की जगह 'स्फीति' को स्वीकार कर लेने का भी सुझाव दिया जाना दीख पड़ता है तथा वहाँ पर यह भी कहा गया मिलता है कि क्यों न इस प्रकार निष्पन्न रस को भी 'उदात्त रस' का ही नाम दे दिया जाय।[1] परंतु, यदि 'शम' के ही स्वरूप को उपर्युक्त

[1] उ. सं., भूमिका।

प्रकार से आत्मतुष्टि, आत्मप्रतीति, अभावहीनता, यथास्थिति अथवा परिपूर्णता के जैसे भावों का सूचक स्वीकार कर लिया जाय तो, उसकी जगह पर किसी अन्य स्थायी भाव की कल्पना करना कदाचित् उतना आवश्यक नहीं रह जाता और न शांतरस का किसी अन्य नाम से अभिहित किया जाना ही, इस दृष्टि से, कभी समीचीन ठहराया जा सकता है।

(५) **संतकाव्य एवं सूफीकाव्य तथा मानदंड का प्रश्न**—उपर्युक्त संतुलन की स्थिति, आत्मप्रतीति, पूर्णता अथवा शम के आदर्श का, हमारे लिये अपने जीवन मे, अधिकतर विभिन्न स्तरों के ही अनुसार, पा सकना संभव है और, इसी कारण, यदि हम चाहें तो, व्यक्तिगत, समाजगत एवं विश्वगत जैसे विभिन्न आधारों की दृष्टि से, इसके अनेक भेदों प्रभेदों का भी अनुमान कर सकते हैं। इसके सिवाय, हम इस संबंध मे यह भी कह सकते हैं कि इस प्रकार के अंतर का पाया जाना, किसी व्यक्ति विशेष अथवा वैसे समाज की विशिष्ट मनोवृत्ति वा संस्कृति के आधार पर भी, संभव हो सकता है। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा मान्य पूर्णता के आदर्श का स्वरूप उसकी शिक्षा, उसकी परिस्थिति अथवा उसके संस्कारों के अनुरूप निर्मित पाया जा सकता है तथा, इसी प्रकार, किसी मतविशेष के अनुयायियों की वैसी सामूहिक भावना, उसके द्वारा स्वीकृत सिद्धांतों पर, आधारित हो सकती है। किसी उद्योगधंधेवाले व्यक्ति का जो जीवनादर्श होगा वह किसी ज्ञानार्जन में प्रवृत्त व्यक्ति के वैसे आदर्श से सर्वथा भिन्न हो सकता है और, इसी प्रकार एक सनातनी हिंदू द्वारा कल्पित किए गए 'रामराज्य' के आदर्श रूप का भी ठीक वैसा ही होना संभव नहीं जैसा किसी मार्क्सवादी विचारधारा वाले 'कम्यूनिस्ट' को आकृष्ट करनेवाले, 'वर्गविहीन समाज' के आदर्श की धारणा का हो सकता है। इस प्रकार के उदाहरणोंवाले लोग अपने अपने सामने किसी न किसी न्यूनाधिक स्पष्ट भावना को ही लेकर चला करते हैं और यद्यपि उसके विषय में सदा उन्हे पूरा बोध भी नहीं रहा करता, वे उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में, कभी कभी अपने प्राणों तक को न्योछावर करने का संकल्प कर लिया करते हैं अथवा उसकी स्वल्प उपलब्धि मे भी अपने को सफल समझकर हर्ष प्रकट करते तथा, उसके लिये किए जानेवाले प्रयत्नों में अपने को थोड़ा सा भी विफल पाकर, भग्नमनोरथ एव श्रीहीन से हो जाते दीख पड़ते हैं। तथ्य यह है कि हमारे किसी भी आदर्श का कोई स्थूलरूप हमारे सामने कभी उपस्थित नहीं होता और न हमे उससे पूर्ण परिचित हो सकने का कभी अवसर ही मिल पाता है। अपनी कल्पना के बल पर हम उसे जैसा भी मान लें, तथा उसके आलोक मे हम, किसी न किसी अद्‌भुत मनोराज्य में विचरण करते हुए, अपने को कभी कभी धन्य तक समझ लिया करें, हमें उसके प्रत्यक्ष दर्शनों का लाभ, कदाचित् कभी भी, नहीं हो पाता तथा उसका विलक्षण रूप

हमारे सामने से मृगमरीचिका जैसा आगे बढ़ता ही चला जाता है और, उसकी धुन के अपने ऊपर सवार हो जाने के कारण, हमारे लिये वह अपने जीवन का एकमात्र ध्येय सा भी बन जाता है अपने उद्देश्य की सिद्धि में कभी कोई पूर्णतः कृतकार्य होता नहीं दीखता और न, इसी कारण, उसे किसी ऐसी तृप्ति का अनुभव ही हो सकता है जिसे हम किसी 'पूर्ण शांति' का परिचायक ठहरा सकते हैं और तदनुसार वह पूर्ण रूप मे कभी उपलभ्य न होकर स्वभावतः केवल अंशों मे ही मिल पाती है। परंतु फिर भी, इसके कारण हमे, किसी न किसी रूप में, उसका अनुभव सदा सुखकारी ही बन जाया करता है और हम उससे कोई तृप्ति भी पा लिया करते हैं। इसके सिवाय उसका संबंध, मूलतः भावनाओं अथवा धारणाओं के ही साथ, होने के कारण, उसके अस्तित्व की संभावना वहाँ पर भी हो सकती है जो, प्रत्यक्ष व्यवहारों का क्षेत्र न होकर, केवल हमारी मनोगत वा हृदयगत अनुभूतियों से ही संबंधित रहता है तथा जो इसीलिये कला, साहित्य, अध्यात्म, आदि जैसे विषयोंवाली साधनाओं को प्रश्रय दिया करता है।[1]

इस प्रकार, यद्यपि संतकाव्य एवं सूफीकाव्य इन दोनों मे अभिव्यक्त की गई अनुभूतियों का स्वरूप, उनकी तीव्रता के कारण, अत्यंत व्यापक बन जाता दीख पड़ता है, वह ठीक एक ही समान स्तर का भी नहीं ठहराया जा सकता और, तदनुसार उसके ऐसे विभिन्न भेदों का पाया जाना भी संभव है जिनके विषय में, वैसी कृतियों की कतिपय विशेषताओं के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। संतकाव्यवाला उपास्य कोई ऐसा अनिर्वचनीय तत्व है जो निर्गुण एवं सगुण इन दोनों से परे का कहला सकता है, किंतु जिसके प्रति अपनी पूर्ण प्रतीतिजन्य आस्था का होना तथा जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति तक को उपलब्ध कर लेना उसके रचयिता अपना परम ध्येय समझा करते हैं, जहाँ सूफीकाव्य का उपास्य कोई ऐसा निर्गुण, किंतु साकार, तत्व जान पड़ता है जिसके प्रति उसके रचयिताओं की गहरी प्रेमासक्ति प्रकट की गई पाई जाती है तथा जिसके साथ वे, किन्हीं दो अभिन्नहृदय प्रेमियों के जैसा, सम्यक् मिलन का अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। प्रथम वर्ग वाले के लिये इस ओर आ पड़नेवाली बाधा जहाँ, उसके केवल किसी 'भ्रांति' वा अज्ञान द्वारा उत्पन्न स्थिति के रूप मे, पाई जाती है वहाँ द्वितीय वाले के सामने वह, अपने आराध्य से किसी प्रकार बिछुड़ जाने के कारण आ गई जान पड़ती है और, इसीलिये, प्रथम का सद्गुरु जहाँ उसे कोई अपूर्व संकेत मात्र प्रदान कर उसे वस्तुस्थिति का परिचय तथा आत्मप्रत्यय तक भी करा देता है वहाँ द्वितीय का 'पीर' उस वियुक्त को, अपने

[1] शां. र. प. अ. प. पु.।

अभीष्ट आत्मीय तक पहुँच पाने के लिये, समुचित मार्ग का कोई प्रदर्शन कर दिया करता है। इसी प्रकार जहाँ तक उक्त दोनों प्रकार के साधकों की तदनुरूप साधना की बात है, इस संबंध मे भी यह कहा जा सकता है कि, प्रथमवाले प्रयत्नों का स्वरूप जहाँ बहुत कुछ क्रियासाध्य किंतु 'सहज' भी कहला सकता है वहाँ द्वितीय-वाले का अधिकतर अनुग्रहसाध्य मात्र किंतु क्रमाधारित रहा करता है और उसमे अनेक ऐसी बाधाओं के आ जाने की आशंका भी बनी रहती है जिनके कारण उसे विविध कष्ट तक झेलने पड़ जाते हैं। फलतः, जहाँ तक इन दोनों के पक्ष मे उपलब्ध होनेवाली सिद्धियों के स्वरूप का प्रश्न है, वह भी प्रथम के लिये जहाँ, आंतरिक स्वानुभूति मे परिणत होकर, उसे कोई ज्ञानमूलक मनोवृत्ति प्रदान कर देता है और इस प्रकार उसमे आमूलचूल परिवर्तन भी ला देता है, वहाँ वह, द्वितीय की दशा में, किसी सौंदर्यमूलक प्रेम की मनोवृत्ति का आश्रय बन जाया करता है जिसके परिणामस्वरूप, सारे विश्व के प्रति किसी विलक्षण उदात्त भावना के जाग्रत हो जाने पर, वह प्रायः उन्मत्त सा भी बन जाता है। इसके सिवाय हम यह भी देखते हैं कि दो भिन्न भिन्न संतों अथवा इसी प्रकार दो भिन्न भिन्न सूफियों की भी मनो-दशाओं का परिचय हमे ठीक एकही सा नहीं मिल पाता और न, इसी कारण, उनके द्वारा व्यक्त की गई अपनी अपनी अनुभूतियों का स्वरूप भी हमें ठीक एक सा लगा करता है। कभी कभी तो संतों द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित सूफी अथवा, इसी प्रकार सूफियों द्वारा प्रभावित कतिपय संत भी मिल जाते हैं तथा, जहाँ तक उनकी रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है, यद्यपि यहाँ उनकी ओर से काव्यकौशल के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का पाया जाना उतना स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, हम यह भी देखते हैं कि उनमें से कोई कोई कभी इसके लिये प्रयत्नशील भी प्रतीत होते हैं।

फिर भी यदि इस प्रकार की बातों की ओर विशेष ध्यान न दिया जाय और केवल मोटे तौर पर, विचार किया जाय तो, कह सकते हैं कि, संतकवियों एवं सूफी-कवियों की अनुभूतियों तथा उनकी तदाश्रित भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों का उपर्युक्त अंतर उन्हें स्वभावतः अपनी अभिव्यक्ति को स्वरूप देते समय भी, बिना प्रभावित किए नहीं रहता और इसी कारण, उनकी अपनी अपनी कृतियों के स्वरूप मे भी, बहुत अंतर आ जाया करता है। संत कवि जहाँ, उक्त प्रकार वस्तुस्थिति का न्यूनाधिक अनुभव प्राप्त कर अपने को तदनुसार वास्तविक स्थिति में आ गया समझने लगता है और इस प्रकार अपनी उपलब्ध दशा की स्थिति को सदा बनाए रखने की चेष्टा में, वह अपने उन विलक्षण अनुभवों को प्रकट करने तथा उनकी दूसरों के लिये व्याख्या करने तक लगता है, वहाँ सूफी कवि अपने को वैसा करने की स्थिति में, कदाचित् बहुत कम ला पाता है। वह अपने को, अपनी वियोगजन्य दशा द्वारा इतना अधिक अभिभूत समझता है कि, इसके विपरीतवाली संयोग की स्थिति के प्रति आश्वस्त हो

सकने की वह प्रायः कोई कल्पना भी नहीं कर पाता और, तदनुसार, इसकी अभिव्यक्ति करते समय, उसका अधिक समय अपनी विरहावस्था का वर्णन करने अथवा उससे छुटकारा पाने के क्रमिक प्रयत्नों से संबंधित विवरणों का परिचय कराने में ही, लग जाया करता है। इसीलिये संत कवि जहाँ अपनी दशा के वस्तुतः प्रतीतिपरक मात्र एवं अनिर्वचनीय होने के कारण, उसका स्पष्टीकरण प्रतीकों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से तथा एक ही बात को बार बार दोहरा करके भी, कर देना चाहता है, वहाँ सूफी कवि, अपने वर्ण्य विषय का परिचय देते समय, उसके 'अलौकिक' परिवेश की स्थिति को, किन्हीं लौकिक वातावरण की कल्पना कर उसके चित्रण द्वारा समझा देना चाहता है और वह इसे कोई ऐसा परिचित रूप भी दे देना चाहता है जो सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य हो सके। इस प्रकार इस संबंध में, यह भी कहा जा सकता है कि, अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करते समय, ऐसा सूफी कवि अपने को, अधिकतर केवल किसी एक साधक मात्र की ही स्थिति में, प्रदर्शित किया करता है और अपनी दुःखांत प्रेमथाथाओं के आधार पर वह कभी कभी अपनी कठिन साधना की संभाव्य असफलता की ओर निर्देश करने से भी नहीं चूकता। वह वस्तुतः वैसी साधना की विशेषताओं की ही चर्चा करके रह जाया करता है, उसकी सिद्धि का भी कोई स्पष्ट परिचय दिलाने का प्रयास करता नहीं जान पड़ता। इन दोनों वर्गोंवाले कवियों की रचनाशैली, इस प्रकार अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार दो भिन्न भिन्न रूप ग्रहण कर लेती पाई जाती है। संत कवि जहाँ अपने भावों का प्रकाशन करते समय केवल फुटकल बानियों का ही निर्माण कर देना यथेष्ट समझ लिया करता है वहाँ सूफी कवि इसके लिये बहुधा वैसे प्रबंधकाव्यों तक का सृजन कर डालता है जिनमे उसे अपना कलाकौशल प्रदर्शित करने के लिये भी कुछ न कुछ अवसर मिल जाता है तथा इसी कारण उसे कभी कभी अपना संतुलन खो बैठने का जोखिम तक भी उठाना पड़ जाता है।

इस प्रकार विचार कर लेने पर हम कह सकते हैं कि, संतों एवं सूफियों की उपलब्ध रचनाओं की समीक्षा करते समय, हमे उन अनेक बातों की ओर ध्यान देने की कोई उतनी आवश्यकता ही नहीं रह जाती जो प्रायः अन्य प्रकार की काव्यकृतियों मे, उनकी कोई न कोई वैसी विशेषता बनकर आ गई समझी जाती है तथा जिनकी दृष्टि से उनका मूल्यांकन करना हमारे लिये उचित भी हो जाता है। उदाहरण के लिये हम इन्हें स्वभावतः वैसे मुक्तकों वा प्रबंधकाव्यों की कोटि मे नहीं रख सकते जिनकी रचना, किसी महान् व्यक्ति अथवा वंशविशेष की प्रशस्ति के रूप मे प्रस्तुत की गई दीख पड़ती है और न इन्हें हम उनमें ही कोई स्थान दे सकते हैं जिनका विषय किन्हीं देवताओं की स्तुति का गुणगान बन गया रहता है तथा इस प्रकार जिनका उद्देश्य क्रमशः या तो अर्थलाभ वा आत्मकल्याण होता है, हम इन्हे किन्हीं

ऐतिहासिक, पौराणिक वा काल्पनिक चरितकाव्यों की कोटि मे भी नहीं रख सकते और न इन्हे इस प्रकार की उत्कृष्ट रचना ही ठहरा सकते हैं जिनके द्वारा उनके रचयिताओं ने कभी अपने काव्यकौशल वा पांडित्य का प्रदर्शन किया होगा अथवा जिनके आधार पर उनके कवि को किसी न किसी प्रकार के यश की ही उपलब्धि हो सकी होगी। इनकी रचना का किसी युगप्रवृत्ति के कारण मात्र से ही, अस्तित्व मे आ जाना भी कह देना कभी तर्कसंगत नहीं हो सकता और न केवल इतना भर कथन कर देना कि इनके रचयिता संतों अथवा सूफियों ने इन्हे अपने प्रचारकार्य के साधन रूप मे ही निर्मित कर दिया होगा, कभी पर्याप्त माना जा सकता है, जब तक हम यह भी न स्वीकार कर लें कि उनका उद्देश्य कोरा उपदेश प्रदान वा प्रचार मात्र ही रहा होगा। हमे इनके अंतर्गत प्रधानतः अनेक महापुरुषों के वे आत्मोद्गार अवश्य मिला करते हैं जिन्हें उन्होंने अपनी सतत साधना के फलस्वरूप 'स्वांतः सुखाय' प्रकट किए हैं अथवा यहाँ पर हमें किन्हीं रहस्यमयी साधनाओं के वैसे वर्णन भी मिल जाते हैं जिनके स्पष्टीकरण मे उन्होंने विभिन्न प्रतीकों वा उपमानों का सहारा लिया है तथा, जिन दोनों ही दशाओं मे, उनकी अनुभूतियों की तीव्रता के कारण, काव्यत्व के कुछ गुण भी आ गए दीख पड़ते हैं। इनमें न केवल विशेषकर शांतरस के ही उदाहरण अधिक सरलता के साथ पाए जाते हैं, प्रत्युत, जैसा हम इसके पहले भी कह आए हैं, उसके द्वारा प्रभावित शृंगार, वीर, अद्भुत आदि अनेक अन्य रसों का भी यथास्थल न्यूनाधिक समावेश किया गया मिलता है तथा, इसी प्रकार, यहाँ पर हमे कई ऐसे अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों तक के प्रयोग मिल जाया करते हैं जिन्हें अन्यत्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्वाभाविक तथा उपयुक्त भी ठहराया जा सकता है[1]। इसके सिवाय जहाँ तक सूफी कवियों द्वारा निर्मित किए गए प्रबंधकाव्यों के विषय मे कहा जा सकता है, यहाँ पर कभी कभी प्रसंगवश प्रकृतिचित्रण एवं चरित्रांकन आदि के भी ऐसे सुंदर स्थल उपलब्ध होते हैं जिनका मूल्य कम नहीं समझा जा सकता।

परंतु इन संत एवं सूफी कवियों की रचनाओं का वास्तविक मूल्यांकन, केवल उपर्युक्त शास्त्रीय समीक्षापद्धति के ही द्वारा, कर लेना, कदाचित्, यथेष्ट नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत इनके विषय मे अन्य कई दृष्टियों से भी विचार किया जा

१. संत सुंदरदास की रचनाओं के अंतर्गत तो हमें 'चित्रकाव्य' संबंधी विविध 'बंधों' तथा 'गूढार्थ' एवं 'विपर्यय' सूचक विभिन्न पद्यों के भी उदाहरण अच्छी संख्या में मिल जाते हैं, किंतु वे संतसाहित्य के लिये निरे अपवादस्वरूप ही समझे जा सकते हैं। इस प्रकार की बातें संभवतः उनके काव्यकला में प्रशिक्षित होने तथा अपने समकालीन रीतिप्रधान वातावरण के प्रभाव में आ जाने के कारण भी, आ गई हो सकती हैं। —ले०।

सकता है। ये लोग हमारे समग्र मानव जीवन के उदात्त रूप का एक ऐसा आदर्श लेकर उपस्थित होते हैं जो, साधारण देश एवं काल की परिस्थितियों द्वारा कभी प्रभावित नहीं माना जा सकता तथा जिसे, इसी कारण, किसी सार्वभौम तुला पर चढ़ाते समय भी, संकोच नहीं किया जा सकता। इनकी कृतियों का प्रमुख विषय वह 'सहज' रूप है जिसे ही इन्होंने परम सौंदर्यमय भी ठहराया है तथा जिसकी वास्तविक अनुभूति को हमारे आदर्श जीवन की आधारशिला का पद प्रदान कर, इन्होंने उसकी अभिव्यक्ति को ही अपने यहाँ काव्य का कोई न कोई रूप भी दे डाला है। इनके यहाँ, इसी कारण, न तो, किसी प्रकार की कृत्रिमता काम आ सकती है और न किसी वैसे बाह्याडंबर को ही बढ़ावा दिया जा सकता है। कहते हैं, जीवन का निर्माण भी एक उत्कृष्ट कला है जिसके सफल कलाकार की कृति का रूप, स्वयं उसका अपना सर्वांगपूर्ण विकास भी ग्रहण कर ले सकता है। वैसी दशा मे इसका कोई परिणाम सदा सुखद एवं आनंदमय हुआ करता है तदनुसार उसकी संतुलित मनोवृत्ति से संबंधित भावों की समुचित अभिव्यक्ति का भी तदनुकूल कोई न कोई कलात्मक रूप ग्रहण कर लेना कुछ असंभव नहीं रह जाता। हमारे संतों एवं सूफियों ने उपर्युक्त 'सहज' वा 'सत्य' को अपने युगानुसार एक ऐसा 'अलौकिक' वा 'ईश्वरीय' रूप अवश्य दे डाला है जिसका एक समान समर्थन कदाचित् सब किसी की ओर से नहीं किया जा सके, किंतु यह भी तभी तक संभव है जब तक हम ऐसे आदर्श मे उस अनिर्वचनीय स्वरूप के ऊपर भली भाँति विचार भी न कर लें जिसकी ओर इन कवियों ने, अपने अपने ढंग से, बारंबार संकेत किया है तथा जो अधिक से अधिक व्यापक भी ठहराया जा सकता है। फलतः इसमे संदेह नहीं रह जाता कि, ऐसे विचार के साथ निर्गुण भक्तिकाव्य की समीक्षा करते समय, हमे स्वभावतः किसी उस प्रकार के ही मानदंड को अपने काम मे लाना पड़ सकता है जो, इसके उक्त विशिष्ट रूप की दशा मे, इसके लिये सर्वथा उपयुक्त स्वीकार किया जा सके।

द्वितीय अध्याय

काव्यसौंदर्य एवं वास्तविक देन

काव्यसौंदर्य (वर्ण्यविषयगत)

(१) उपक्रम—अपने आलोच्य काल (सं० १४००-१७००) वाले निर्गुण-भक्ति-काव्य की उपलब्ध रचनाओं के ऊपर जब हम उक्त प्रकार से विचार करते हैं तो, हम देखते हैं कि उसकी जिन विशेषताओं का उल्लेख अभी किया गया है उनमें से प्रायः सभी यहाँ पर मिल जाती हैं। इसी युग के अंतर्गत संत कबीर का आविर्भाव होता है जिनकी पंक्तियों में वे सारी बातें बहुत कुछ निखरे रूपों में दीख पड़ती हैं और उनमें से कई का न्यूनाधिक स्पष्टीकरण, उनके समसामयिक अथवा परवर्ती संतकवियों द्वारा भी किया गया पाया जाता है, संत कबीर के पूर्ववर्ती संतों में संत नामदेव सर्वप्रमुख जान पड़ते हैं, किंतु उनकी रचनाओं के अंतर्गत, हमें अभी तक उस निर्गुण एवं सगुण, इन दोनों से परे वाले, परमतत्व का वैसा कोई असंदिग्ध संकेत नहीं मिलता जितना वह इनके यहाँ स्पष्ट हो जाता है और न हमें वहाँ पर वैसी किसी मनोवृत्ति का ही कोई परिचय मिल पाता है जिसे हम, इस प्रसंग में, उल्लेखनीय ठहरा आए हैं तथा, अधिकतर जिसके कारण ही, हम ऐसे कवियों को कोई विशेष महत्व देना भी उचित समझते हैं। संत नामदेव हमें, एक ऐसे भजनानंदी संत के रूप में, कथन करते समझ पड़ते हैं जो किसी साधारण सगुणवादी भक्त से भिन्न अवश्य कहला सकता है तथा जिसे हम, उसकी अपनी बारकरी विचारधारा से अधिक प्रभावित होने के कारण, इस ओर कदाचित् उन्मुख हो गया तक भी मान ले सकते हैं, किंतु, केवल इसीलिये, उन्हें इस संबंध में, संत कबीर के जैसा महत्व देना हमें समीचीन प्रतीत नहीं होता। संत कबीर के समसामयिकों में संत रविदास एवं संत पीपा तथा उनके परिवर्तियों में गुरुनानक देव, बीरू साहब, गुलाल साहब एवं मलूकदास आदि संत भी हमें अधिकतर भजनानंदी भक्त ही जान पड़ते हैं तथा, इसी प्रकार, संत हरिदास एवं जसनाथ हमें योगसाधना को महत्व देते, संत दादूदयाल, शेख फरीद आदि प्रेम साधना को विशेष रूप में अपनाते और संत बाबालाल जैसे कुछ लोग दार्शनिक बातों की भी चर्चा छेड़ते पाए जाते हैं, किंतु फिर भी ये उनके मेल में आ जाने से ही लगते हैं। संत कबीर के कुछ ही दिनों अनंतर जब ऐसे संतों के भीतर पंथनिर्माण की प्रवृत्ति जग जाती है तथा जब, आगे चलकर संत बाबालाल के समय से,

पूर्वागत संतमत को, प्राचीन दार्शनिक सिद्धांतों के मेल में लाकर, उसकी व्याख्या करने की परंपरा चल निकली है तब से इसका रूप, संभवतः उतना विशुद्ध, नहीं रह जाता और तदनुसार हमे उपर्युक्त मनोवृत्ति के अधिक उदाहरण ही देखने को मिलते हैं जिसके द्वारा अनुप्राणित किसी सफल अभिव्यक्ति की, साहित्य में, कोई संभावना कल्पित की जा सके।

इसी प्रकार, यदि हम सूफी कवियों की भी रचनाओं पर विचार करते हैं तो, हमें ऐसा जान पड़ता है कि, इस युग के अंतर्गत, वे पहले पहल, केवल कतिपय फुटकल दोहरों जैसे पद्यों को ही प्रस्तुत करते हैं जिनमें उनकी विचारधारा की एक झलक मात्र मिल पाती है और जहाँ तक पता चलता है, यदि उनका ध्यान प्रबंध-काव्यों की रचना की ओर जाता है तो उनका निर्माण भी अधिकतर फारसी के माध्यम से ही होता है। इस परंपरा का सूत्रपात संभवतः प्रसिद्ध अमीर खुसरो द्वारा किया जाता है जो वस्तुतः इस काल से पूर्ववर्ती ठहरते हैं। परंतु, इस युग के ही प्रथम चतुर्थांश मे, मुल्ला दाऊद का भी आविर्भाव होता है जो, कदाचित् सर्वप्रथम अपनी 'चंदायन' की रचना द्वारा इस नियम का एक अपवाद भी उपस्थित कर देते हैं और उसका अनुसरण पीछे उत्तर एवं दक्षिण भारत के भी सूफियों द्वारा, अपने अपने ढंग से, किया जाने लगता है तथा जिसके फलस्वरूप, जायसी कवि की रचना 'पद्मावत' के रूप मे उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने आ जाता है। इस कवि का देहांत, विक्रम की सोलहवी शताब्दी के लगभग अंत मे, होता है और तबतक, न केवल, फुटकल रचनाओं के निर्माता रूप मे उत्तर भारतवाले शेख मनेरी व शेख गंगोही आ गए रहते हैं, अपितु 'दक्षिण भारत के अंतर्गत, शाह बंदे नेवाज, शाह मीरांजी एवं शेख बाजन भी दीख पड़ते हैं जिनकी रचनाओं मे, हम सूफीमत की विशिष्ट बातों के अतिरिक्त, अनेक ऐसे भावों की भी अभिव्यक्ति पाते हैं जिनका मेल, हिंदुओं के दार्शनिक सिद्धातों के साथ भी, अधिक से अधिक बैठ जाता जान पड़ता है। जायसी तक वाले, प्रेमगाथा के रचयिता कवियों की भी प्रवृत्ति, अपने कथानकों के लिये बहुधा लोकप्रचलित कहानियों को स्वीकार करने तथा, यथासंभव उनमे कथा के विकास का घटनाप्रवाह का चित्रण करते समय, न्यूनाधिक भारतीय वातावरण को ही स्थान देने की ओर, पाई जाती है। उत्तरवाले मुल्ला दाऊद, कुतबन स्वयं जायसी तथा उनके निकट परवर्ती मंझन और दक्षिण के निजामी तक की प्रेमगाथाओं मे भी हम अधिकतर ऐसी ही बातों का समावेश किया गया पाते हैं, किंतु इस प्रकार की रचनाशैली क्रमशः अपने सहज रूप का परित्याग कर आगे कृत्रिमता का सहारा लेने लग जाती है तथा इन कृतियों के अंतर्गत, पीछे धीरे धीरे कुछ न कुछ सांप्रदायिकता की गंध तक भी पाई जाने लगती है। फिर भी इस प्रकार की बातें, हमारे उपर्युक्त युग के अंत तक भी उतनी स्पष्ट हो जाती नहीं

जान पड़ती । इस समय की सबसे उल्लेखनीय बात यह कहला सकती है कि अब के कथानक प्रायः काल्पनिक रहा करते है और उनके पात्रों की परिस्थितियों एवं उनकी घटनाओं के वातावरण के ऊपर बहुत कुछ विदेशी अथवा शामी रंग तक भी चढ़ाकर, उन्हें प्रदर्शित किया जाता है। कहना न होगा कि इस प्रकार हमारे उक्त युग के आरंभ से लेकर उसके अंत तक वाले कवियों की मनोवृत्ति, जहाँ, अपनी उदारता की दृष्टि से, क्रमशः अधिकाधिक सकुचित बनती चली जाती है, वहाँ उनकी कृतियों के वर्ण्य विषय तक मे उसी के अनुसार बहुत कुछ अतर भी आता जाता लक्षित होने लगता है।

अतएव, यदि हम अपने आलोच्य काल की विशेषता के विषय में, उसके अंतर्गत निर्मित रचनाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो, हमे पता चलता है कि वे न केवल विशुद्ध संत काव्य अथवा सूफी काव्य के उदाहरण स्वरूप ठहराने योग्य हैं, प्रत्युत इनमें से कुछ के रचयिता प्रतिनिधि कवियों मे संत कबीर एवं मलिक मुहम्मद जायसी के भी नाम आ जाते हैं जिनके उत्कृष्ट समझे जाने मे कभी कोई संदेह नहीं किया जा सकता। संत कबीर कदाचित् कभी कोई काव्यरचना करने के लिये सजग होकर नहीं बैठते और न इसके लिये वे किसी प्रकार प्रशिक्षित ही कहला सकते हैं, किंतु, जहाँ तक अनुमान किया गया है, वे बहुत से अपने पद्यों का निर्माण अनायास और केवल प्रसंगवश ही कर देते हैं तथा फिर भी उनकी पंक्तियों में कभी कभी कोई ऐसा भावसौंदर्य निखर आता है अथवा ऐसी कोई गूढ़ व्यंजना प्रकट हो जाया करती है जिनका प्रभाव किसी मर्मज्ञ सहृदय के ऊपर बिना पडे नहीं रहा करता तथा जिनका वैसे सहज रूप में पाया जाना भी अन्यत्र दुर्लभ ही होगा। इसी प्रकार जहाँ तक जायसी के लिये भी कहा जा सकता है, ये भी एक उच्च कोटि के सूफी साधक जान पड़ते हैं तथा ये फुटकल काव्यरचनाओं से लेकर प्रबंधकाव्यों तक के निर्माण मे अपने को सफल सिद्ध कर देने की क्षमता रखते हैं, किंतु फिर भी ये एक ऐसी अल्हड़ ठेठ अवधी का माध्यम अपने लिए पसद करते हैं जो सीधे मर्मस्थल तक पहुँचकर चोट कर देना जानती है। ये अपने पंथ के एक पक्के अनुयायी प्रतीत होते हैं और कदाचित् अपने विशिष्ट मत का महत्व प्रतिपादन करने के उद्देश्य से, ये अपनी बहुत सी कृतियों का निर्माण करने में प्रवृत्त भी हुआ करते हैं, किंतु, ऐसा करते समय भी ये भरसक अपने हृदय की उदारता का परित्याग नहीं करना चाहते और उसका एक ऐसा रूप हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं जिसे हम सहसा अस्वीकार भी नहीं कर सकते। इन्हे अपनी विविध रचनाओं के अंतर्गत अपने काव्यकौशल का प्रदर्शन करने के लिये अवसर, संत कबीर से कहीं अधिक, मिला है और उन्होंने उसको यथास्थल उपयोग में लाने की भी चेष्टा की है जिस कारण, ये कहीं कहीं अपने साधक रूप के प्रति यथेष्ट न्याय भी नहीं कर पाए हैं। फिर भी

इसके कारण इनमें उतना बड़ा कोई दोष नहीं आ पाता है और ये अपने वर्ग के कवियों में सदा अग्रणी ही बने रह जाते हैं। संत कबीर को तो उनके परवर्ती संत कवियों में से अनेक ने स्पष्ट शब्दों में अपने पथप्रदर्शक रूप में स्वीकार किया है। और कुछ सूफी कवियों ने जायसी के प्रति भी इनके पूर्ववर्ती होने के कारण, न्यूनाधिक श्रद्धा प्रकट की है। संत कबीर एवं जायसी के अनंतर क्रमशः संत काव्य एवं सूफीकाव्य के निर्माण की परंपरा बहुत कुछ नियमित रूप से चल पड़ी और उसके व्यापक रूप ग्रहण करने में अधिक विलंब न लगा। परंतु, यदि काव्य तत्व की दृष्टि से देखा जाय तो वैसी परवर्ती रचनाओं का मूल्य, इस युगवाली कृतियों की अपेक्षा, कुछ कम ही ठहराया जा सकता है, चाहे अन्य बातों के विचार से उनके विषय में जो भी मत प्रकट किया जा सके।

(२) भावसौंदर्य—'भाव' शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि जो तत्व किसी कवि के मनोगत आशय को सहृदय के चित्त मे व्याप्त कर देता है उसी को काव्यार्थवाची 'भाव' की संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार देखने पर, यह केवल किसी साधारण 'आशय' मात्र का ही वाचक नहीं रह जाता। इसमे कुछ विलक्षणता के भी चिह्न मिलने लगते हैं जिस कारण इसे काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने विशेष महत्व प्रदान किया है। ऐसे भावों के सौंदर्यसूचक उदाहरण उच्चकोटि के कवियों की रचनाओं मे ही मिला करते हैं और उन्हे वहाँ पर भी निर्दिष्ट करना प्रायः कठिन समझा जाता है। हम यहाँ उनमें से कुछ को निर्गुण भक्तिकाव्य के आधार पर उदाहृत करने की चेष्टा करेंगे जिससे उपर्युक्त मत का भी स्पष्टीकरण किया जा सके। जैसे,

> "राम भगति अनियाले तीर। जेहि लागे सो जानै पीर ॥ टेक॥
> तन महिं खोजौं चोट न पावौं। ओषद मूरि कहाँ घसि लावौं ॥१॥
> एक भाइ दीसैं सब नारी। ना जानौं को पियहिं पियारी ॥२॥"[1]

आदि में संत कबीर ने किसी अनुपम 'तीर' जैसी रामभगति' के प्रभाव द्वारा उत्पन्न 'पीर' की पूर्ण व्यापकता का परिचय देते हुए, उसका एक ऐसा मानचित्रण कर दिया है जो किसी मर्मज्ञ सहृदय को सहसा आकृष्ट कर लेने मे समर्थ है। इसी प्रकार एक अन्य पद के द्वारा वे, किसी को चेतावनी देते हुए, उसे उस कुमुदिनी (नलिनी) के रूप में संबोधित करते हैं जो जल के भीतर लगी हुई होने पर भी सूखती सी जा रही है और जिसे, केवल इसी कारण, अपनी वास्तविक स्थिति का बोध करा देने मात्र की ही आवश्यकता है। जैसे—

१. क० ग्रं० (प्र० सं०) पद ८, पृष्ठ ७

"काहेरी नलनो तूँ कुमिलाँनो, तेरे ही नालि सरोवर पानो ॥टेक॥
जल मैं उतपति जल मै वास, जल मै नलनी तोर निवास ॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान ॥६॥"[1]

मे वे जल में ही उत्पन्न तथा उसमें सदा रहनेवाली कुमुदिनी के उसी जल के अत्यंत निकट रहने पर भी, झुलसते जाने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं समझ पाते तथा इसीलिये उसके व्याज से वे अपनी वस्तुस्थिति के अज्ञान मे निराश बने हुए, व्यक्ति को भी सचेत कर देना चाहते हैं और ऐसा करते समय वे अपनी मनोवृत्ति के अनुसार एक इस प्रकार का सुंदर भाव चित्रित कर देते हैं जो बिना प्रभाव डाले नहीं रह पाता।

इसी प्रकार सूफी कवि जायसी ने प्रेमासक्ति के प्रभाव का वर्णन करते हुए, राजा रतनसेन के मूर्छित हो जाने की दशा का जो परिचय दिया है वह भी उस कवि के विरहगर्भित प्रेम संबंधी आदर्श का एक सुंदर चित्रण हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है जिससे उसकी गंभीरता हमें प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहती जैसे,—

पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होइ विसँभारा।
विरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिनखिन जीव हिलोरहि लेई।
खिनहिं निसास बूड़ि जिय जाई। खिनहि उठे, निसँसै बौराई।
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत खिन होइ अचेता।
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिअँजिवन न दसइँ अवस्था।[2]

मे इस प्रकार, जीवन की स्थिति एवं मरणावस्था इन दोनों मे से किसी से भी विलक्षण इस प्रेम दशा का हमे एक स्पष्ट परिचय मिल जाता है तथा हम इसके द्वारा कवि के उस प्रेम तत्व संबंधी आदर्श की भी एक झाँकी पा लेते हैं जिसे, सूफी मत के अनुसार, सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

(३) गूढ़ भावना को सरल अभिव्यक्ति—निर्गुण भक्त कवियों की बुद्धि के, स्वभावतः किन्हीं संतुलित वृत्तियों के ही अनुसार काम करते रहने के कारण, उनकी भावनाओं के भी अधिक से अधिक स्पष्ट होने की ही संभावना रहा करती है जिससे इनका रूप उतना दुर्बोध नहीं बन पाता। कठिन से कठिक दार्शनिक

१. क० ग्रं० (का० सं०), पद ६४, पृ० १०८
२. 'पदमावत' (सं० डा० मा० प्र० गु०) अंश १११ पृ० १०६

विषय भी उनके यहाँ बोधगम्य से जान पड़ने लगते हैं और वे इसीलिये उन्हे सरलता-पूर्वक बतला देने का भी प्रयत्न करते हैं। वे कभी कभी इसके लिये साधारण से साधारण प्रतीकों का सहारा ले लेते हैं तो कभी उन्हे यों ही अपनी अनगढ़ शब्दावली द्वारा प्रकट कर देते हैं। संत सुंदरदास जैसे एकाध कवि तो अपना कथन किसी सुव्यवस्थित रचना द्वारा भी करते दीख पड़ते हैं, जैसे ये एक स्थल पर कहते हैं :

जैसे एक व्योम पुनि बादर सौं छाइ रह्यौ,
व्योम नहिं देषत देषत बहु वृष्टि कौं।
तैसें एक ब्रह्म ई विराजमान सुंदर है,
ब्रह्म कौं न देषै कोऊ देषै सब सृष्टि कौं।[1]

तथा, एक कहूँ तौ अनेक सौं दीसत एक अनेक नहीं कछु ऐसो।
आदि कहूँ तिहि अंत हू आवत आदि न अंत न मध्य कैसो॥
गोपि कहूँ तौ अगोपि कहाँ यह गोपि अगोपि न सु मौन वैसो।
जोइ कहूँ सोइ है नहीं सुंदर, है तो सही, परि जैसे को तैसो॥[2]

जहाँ पर अन्य प्रकार से उनकी रहस्यवादमयी मनोवृत्ति का भी पता लग जाते विलंब नहीं होता।

संत कबीर ने अपना इस प्रकार का कथन, अपनी निजी अनुभूति के आधार पर भी, किया है जिसके अनेक उदाहरण, उनकी 'परचा को अंग' शीर्षक के नीचे दी गई साखियों के अंतर्गत, मिलते हैं और उनमे से कुछ इस रूप मे यहाँ दिए जा सकते हैं —

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा माँहि॥१॥
जा कारनि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर।
सोई फिरि आपन भया, जासौं कहता ओर॥४॥
पंजरि प्रेम प्रकासिया, जागी जोति अनंत।
संसै खूटा सुख भया, मिला पियारा कंत॥७॥
देवल माँहै देहुरी; तिल जेता विस्तार।
याँहैं पाती माँहि जल, माँहै पूजनहार॥१४॥

१. सं० ग्रं० (भा० २) मनहर सं० २, पृ० ६५४
२. वही, इंदव ६, पृ० ६१६-१७।

घट मैं औघट पाइया, औघट माहैं घाट ।
कहै कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥१६॥
अंक भरे भरि भेंटिया, मन नहिं बाँधे धीर ।
कहै कबीर वह क्यों मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥२६॥
तन भीतर मनमानिया, बाहरि कतहुँ न जाइ ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥३०॥[1]

सूफी कवियों मे से कई ने परमतत्व वा परमात्मा का वर्णन, या तो अपनी प्रेमगाथाओं के आरंभ में, उसकी स्तुति करते समय, किया है अथवा अपनी फुटकल रचनाओं द्वारा ही उसके विलक्षण रूप की ओर संकेत किया है, किंतु सर्वत्र वे भी उसे भरसक साधारण से साधारण शब्दों द्वारा, तथा अपनी स्वाभाविक रचना शैली के सहारे ही इस प्रकार करते पाए जाते है। उदाहरण के लिये शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (अलखदास) जिनके लिये कहा जाता है कि इन्होने मुल्ला दाऊद की रचना 'चंदायन' का उलथा भी फारसी मे किया था, अन्यत्र कहते है—

जिधर देखूँ हे सखी, देखूँ और न कोय ।
देखा बूझ बिचार महँ, सबही आपैं सोय ॥

बाहर भीतर कहा न जाय, सर्व निरंतर एक्कही भाय ।
अलखदास आखै मोर कंत, दीन्ह सखी दिन रात बसंत ॥
अलखदास आखै सुन लोई, दुई दुई कहो मत कोई ।
जल थल महि पर सर्व निरंतर, गोरखनाथ अकेला सोई ।[2]

इसी प्रकार शाह मीरांजी भी, परमतत्व के निर्गुण स्वरूप का वर्णन करते समय, उसी अल्लाह का परिचय देते दीख पड़ते हैं—जैसे,

सिफत करूँ मैं अल्ला केरी, जे पूरे पूरन पूर ।
कादिर कुदरत अंगीकारूँ, जो नेड़े ना दूर ॥
ना उस रूप ना उस रेख, ना उस थान मकान ।
निरगुन ओ गुनवंता गरवा, किस मुख करूँ बयान ॥[3]

[1] क० ग्रं० (प्र० सं०) पृ० १६६-७० ।
[2] पं० उ० पृ० २१५–६ पर उधृत
[3] क० उ० (इ०), पृ० ८

यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि इन संतों वा सूफियों मे से कोई अपने कथनों के लिये किसी प्रकार का पेचीदा तर्क उपस्थित करता नहीं जान पड़ता, प्रत्युत कभी कभी वह अपने मत का प्रकाशन इतने भोलेपन के साथ कर देना चाहता है जिससे उसकी पूर्ण प्रतीति का ही परिचय हमें मिलता है।

(४) **रहस्यवाद**—'रहस्यवाद' किसी एक ऐसे जीवनदर्शन को सूचित करता है जिसमें विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता की प्रत्यक्ष अनुभूति, उसका मूल आधार बनकर, काम करती है और इसी कारण तदनुसार किए गए किसी व्यक्ति के व्यवहार में स्वभावतः विश्वजनीनता और आ जाया करती है। इसके विषय में यह भी कहा जाता है कि, यद्यपि वैसी अनुभूति न्यूनाधिक अनिर्वचनीय रहा करती है, इससे उसकी स्पष्टता मे कोई बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि, जहाँ तक संतों एवं सूफियों के जीवनदर्शन का प्रश्न है, यहाँ पर भी, हमें बहुत कुछ इसी बात के उदाहरण मिला करते हैं। इनकी रचनाओं के अंतर्गत हमे अधिकतर वैसे ही स्थल मिलते हैं जहाँ पर, ऐसे रहस्यवाद के द्वारा प्रभावित भावों की अभिव्यक्ति की गई हो। इन कवियों ने वहाँ पर न केवल उपर्युक्त सत्ता के स्वरूप, प्रत्युत अपनी तद्विषयक अनुभूति अथवा तदनुरूप निर्मित मनोवृत्ति का भी, परिचय देते समय, सर्वत्र वैसी ही कथनशैली का भी उपयोग किया है जिसका अनुमान कतिपय निम्न पंक्तियों के आधार पर, किया जा सकता है, जैसे,

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे को सोभा नहीं, देखे ही परवान॥[1]
पानी ही से हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाय॥[2]

जहाँ पर संत कबीर ने उस परम सत्ता के स्वरूप तथा उसके विषय में अपनी निजी अनुभूति का भी कुछ परिचय देने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार क्रमशः संत रविदास एवं संत दादू दयाल भी अपने अपने शब्दों द्वारा प्रयास करते पाए जाते हैं, जैसे—

गाइ गाइ अब का कहि गाउ। गावनहार को निकटि बताऊँ॥टेक॥
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यो आस नहिं तन की, तब को गावनहारा॥

[1] क० ग्रं० (प्र० सं०), साखी २, पृ० १६७
[2] वही, सा० ६, पृ० १६८

जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हँकारा ।
जब मन मिल्यो राम सागर सौं, तब यह मिटी पुकारा ।।[1] इत्यादि
और थकित भयो मन कह्यो न जाई, सहज समाधि रह्यो ल्यौ लाई।। टेक
जे कछु कहिए सोचि विचारा, ग्यान अगोचर अगम अपारा ।
साइर बूँद कैसे करि तौले, आप अबोल कहा करि बोलै ।।[2]

फिर भी इस प्रकार की स्थिति मे सत कबीर अपने को पूर्ण आश्वस्त पाते हैं और अपने मन को संबोधित करते हुए बतलाते हैं—

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै, अब न कोई तेरे अंकुस लावै ।।टेक ।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा, हरिपद चीन्हि किया बिसरामा ।
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट भौ ग्यान जहाँ तहाँ सोई ।
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुखसागर पाया ।।[3]

सूफी कवि शाह अली गाँवधनी' ने भी, इसी प्रकार, अपने अनुभव का कुछ पता देते हुए, कहा है—

आपी खेलूँ आप खिलाऊँ । आपी आपस ले कल जाऊँ ।
मेरा नाँव मुझे ऊत भावे । मेरा जीव मुझे परचावै ।।
है सो हो हो होय रहो हैं । जिधर देखूँ तित एक वही है ।।
सरग अधर होर मंदिर भारी । हरजे समुंद व नदियाँ भारी ।
मानक मोती सुख सिंगार । ये सब भेस पिया का सारी ।।[4]

तथा एक अन्य ऐसे कवि मीरा हुसेनी का भी कहना है,

सो नूर खास होर । रंग रूप कुछ न आया ।
सूरत शक्ल न माया । नित हँसत रह तूँ मीरा ।।
है जात वो इलाही । उसकूँ है बादसाही ।
सब चीज पर गवाही । नित हँसत रह तूँ मीरा ।।
मौजा कूँ अंत नै है । रहने के अंत नै है ।।
दिसके कूँ अंत नै है । नित हँसत रह तूँ मीरा ।।[5]

१ रै० बा० पद ३, पृ० ३ ।
२ दा० द० बा० पद ३१ पृ० ४११ ।
३ क० ग्रं० का० सं० पद १४६, पृ० १३६ ।
४ क० उ० पृ० ६३–६४ ।
५ द० हिं० का० धा०, पृ० २२०–१ ।

परंतु इस प्रकार की मनोवृत्ति का परिणाम केवल यही नहीं कि तुम सभी का जीवन पूरी मस्ती मे ही व्यतीत हो जाय। इनमें से विशेषकर संतकवियों का ध्यान, प्रायः अपने सामाजिक व्यवहारों मे खरा उतरने की ओर भी जाता जान पड़ता है।

(५) **लोकधर्म**—निर्गुण भक्तिकाव्य के अंतर्गत हमें, उसके वर्ण्य विषयों में अधिकतर वे ही प्रसग आते दीख पड़ते हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध, या तो परमात्मा-तत्व के अनिर्वचनीय सौंदर्यवर्णन से हो अथवा वह उसकी अनुभूति का कोई न कोई परिचय मात्र हो। जहाँ तक भौतिक संसार के प्रति उसके कवियों के लगाव के संबध मे कहा जा सकता है, इसके विषय मे, वहाँ पर बहुत कुछ उदासीनता ही दीख पड़ती है। फिर भी, जहाँ तक पता चलता है, ये संत अथवा सूफी, सभी के सभी कभी कोरे निवृत्तिमार्गी ही नहीं रहे। इनमे अधिकतर वे ही लोग मिलते हैं जिन्होंने, एक प्रवृत्तिमार्गी व्यक्ति के रूप मे ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया तथा इन्होंने संभवतः कुछ न कुछ समाजसेवा तक भी की, कम से कम, अपने समकालीन समाज के भीतर सात्विक भावनाओं के प्रचार एवं सद्व्यवहार की प्रतिष्ठा के लिये उनमें से बहुतों ने दूर दूर तक की यात्रा की और सर्वसाधारण को उपदेश दिए तथा उन्हे अपनी वास्तविक स्थिति से अवगत कराने का भी प्रयत्न किया। हमारे आलोच्य काल-वाले सतों मे से सत कबीर, गुरु नानकदेव, संत लालदास, संत दादूदयाल आदि के लिये तो प्रसिद्ध है कि इन्होंने केवल इसी उद्देश्य से अपने जीवन मे अनेक बार पर्यटन किया था तथा कभी कभी किसी न किसी प्रकार के सगठन कार्य की भी नींव डाली थी। अतएव, ऐसे कवियों की कुछ बानियों मे भी हमे यदाकदा कतिपय इस प्रकार के कथन मिल जाते हैं जिनसे रस विषय पर प्रकाश पडता है। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि इस सबंध के जितने वैसे उदाहरण हमे संत कवियोंवाले दैनिक व्यवहारों मे उपलब्ध होते हैं उतने का पता हमे, सूफी कवियों की भी जीवनसंबंधी घटनाओं मे, नहीं चल पाता और न, कम से कम, उनकी रचनाओं मे ही, ऐसी बातों का कोई समावेश किया गया दीख पड़ता है जिनसे हमे यह निश्चित रूप से जान पड़े कि इस ओर उनकी प्रवृत्ति किस प्रकार की रही होगी। सूफी कवियों की अभी तक प्राप्त कृतियों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे अत्यंत भावुक व्यक्ति, अथवा मस्तमौला तक भी रहा करते होंगे और यदि वे कभी कभी सर्वसाधारण को कोई उपदेश भी देते रहे होंगे तो वह भी अधिकतर ठेठ धार्मिक बातों से ही संबंधित रहता होगा, उसका उतना प्रत्यक्ष लगाव, दैनिक जीवन की साधारण व्यावहारिक बातों के साथ भी, नहीं रहता होगा। हाँ, इसके अतिरिक्त, यहाँ पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि विशुद्ध काव्य की दृष्टि से विचार करते समय, इस प्रकार की किसी विशेषता को कभी महत्व नहीं दिया जाता, प्रत्युत, निर्गुण भक्तिसाहित्य में उपदेशमय स्थलों के अधिक आ जाने के ही कारण,

उसे निम्न कोटि का भी समझा जाता है, परंतु इस प्रकार की आपत्ति का किया जाना केवल तभी तक उचित ठहराया जा सकता है जब तक ऐसे 'उपदेशों' के वास्तविक रूप को भली भाँति समझ नहीं लिया जाता तथा इनमें से सभी को केवल कोरी 'नसीहतों' अथवा निरे 'गुरुमंत्रों' की ही कोटि में रख दिया जाता है। जिन उपदेशवत् जान पड़नेवाले कथनों का लक्ष्य किसी ऐसे जीवन का निर्माण हो जो मानवोचित व्यापक आदर्शों के उपयुक्त कहा जा सकता है तथा जिनमें किसी संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं के प्रचार की गंध नहीं पाई जाती, प्रत्युत जिनके आधार पर जनकल्याण को अधिकाधिक प्रश्रय भी मिल जा सकता है, उनकी इस प्रकार उपेक्षा कर देना कभी समीचीन नहीं कहला सकता। फलतः संतों एवं सूफियों की उन पंक्तियों पर भी हम, अपनी पूरी सहानुभूति एवं सहृदयता के भी साथ, विचार कर सकते हैं जिनकी रचना उन्होंने, अपने उपर्युक्त साधक जीवन की व्यापक अनुभूति के आधार पर की होगी तथा जो इसी कारण, उच्चस्तरीय भी हो सकती हैं। इस प्रकार हम, उनकी वैसी अभिव्यक्तियों को हृदयंगम कर, उनसे यथेष्ट प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं तथा तदनुसार उनका उचित मूल्यांकन भी कर सकते है।

संत कबीर आदि को अपने समाज में दीख पड़नेवाली आर्थिक वा सांप्रदायिक विषमता असत्य एवं काल्पनिक सी प्रतीत होती है जिस बात की ओर ये लोग सर्वसाधारण का ध्यान बार बार आकृष्ट किया करते हैं तथा तदनुसार अपनी मनोवृत्ति बदल डालने को भी कहते हैं। संत कबीर के लिये किसी धनवान की ओर से एक निर्धन का निरादर किया जाना[1] तथा हिंदुओं एवं मुसलमानो का एक दूसरे को केवल किन्हीं 'सुन्नत' अथवा 'जनेऊ' जैसे संस्कारों से संबधित होने के ही कारण, नितांत भिन्न भिन्न समझ बैठना[2] वस्तुतः अस्वाभाविक सा लगता है, क्योंकि उनकी व्यापक दृष्टि के अनुसार, सभी मनुष्य मूलतः एक दूसरे के भाई अथवा एक समान भी ठहराए जा सकते हैं। इस तथ्य को न समझ सकने के कारण तथा इसके विपरीत चलने पर, कितने अनर्थ हो जाया करते हैं। इस बात की ओर भी वे बार बार संकेत करते रहते हैं। इसी प्रकार ये किसी से अपने लिये कोई वस्तु माँगना भी नहीं चाहते, प्रत्युत सदा अपना काम करते हुए, संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते है।[3] संत लालदास का तो यहाँ तक कहना है कि किसी 'भगत' का दूसरों के यहाँ जाकर हाथ पसारना घोर लज्जा की बात है, स्वयं कमाकर ही खाना चाहिए।[4]

[1] आ० ग्रं० रागु भैरउ पद ८ पृ० ११६०।

[2] क० ग्रं० (प्र० सं०) रमैनी ६, पृ० १२०।

[3] आ० ग्रं०, राग सोरठि, पद ११ पृ० ६५५।

[4] उ० भा० सं० प० (द्वि० सं०) पृ० ४८० पर उधृत।

संत रज्जबजी इस प्रसंग मे, कहते हैं कि 'योग' में भी एक प्रकार का 'भोग' है और भोग में भी इसी प्रकार 'योग' हो सकता है, क्योंकि ऐसा देखने मे आता है कि अनेक लोग बैरागी बनकर भी, संसार मे डूबे रहा करते हैं तथा अन्य लोग, गार्हस्थ्य जीवन मे रहते हुए भी उसके पार हो जाया करते हैं।[१] अतएव संत दादूदयाल ने भी एक ऐसे जीवनादर्श को ही पसंद किया है जिसके अनुसार दोनों प्रकार की वृत्तियों मे एक सुंदर सामंजस्य ला दिया जा सके। उनका अपना मत है कि, ऐसी स्थिति के आ जाने पर, न केवल निःस्वार्थ भाव के साथ अपना जीवन व्यतीत करने का स्वभाव पड़ जाता है, प्रत्युत इसके साथ ही, एक ऐसे सेवाधर्म के पालन की ओर भी; आपसे आप, ध्यान चला जाता है जिससे जनकल्याण हो सके।[२] सूफी कवियों को भी अपने सौंदर्यपूर्ण परमात्मा का 'नूर' सब कहीं एक समान दिखलाई पड़ता है जिस कारण वे सिद्धांततः किसी प्राणी अथवा प्रकृति की वस्तुओं तक को किसी प्रकार हेय ठहराना नहीं चाहते। वे अपने प्रियतम को विश्वात्मरूप में ही देखने का प्रयत्न करते हैं तथा इसी कारण, एक ऐसे 'विश्वबंधुत्व' के आदर्श की भी कल्पना करते हैं जो सबकी एकता का आधार बनाया जा सके। ये भी सदा सादे एवं संतोषपूर्ण जीवन को ही विशेष महत्व प्रदान करते पाए जाते हैं।

इसमे संदेह नहीं कि, उस ठेठ काव्यतत्व की दृष्टि मे जिसके आधार के लिये किसी नितांत 'वस्तुवादी रस' के अस्तित्व की ही कल्पना की जाती हो, हम उपर्युक्त प्रसंगों को भी उतना विशिष्ट महत्व नहीं प्रदान कर सकते और न उनपर विचार ही कर सकते हैं। परंतु, यदि इस पूर्वकथित बात को भी अपने ध्यान मे रख लिया जाय कि, संतों एवं सूफियोंवाली रचनाओं को प्रमुखतः भावप्रधान अथवा विषय प्रधान साहित्य की ही कोटि मे स्थान दिया जाता है तथा, इसी प्रकार, यह भी कि ये उन लोगों की कृतियाँ हैं जिनका प्रधान उद्देश्य काव्यरचना का न होकर किसी आदर्श मानव जीवन के निर्माणार्थ केवल पथप्रदर्शन मात्र कर देना रहा और तद-नुसार उन्होंने न केवल अपनी ये पद्यमयी पंक्तियाँ ही रच डालीं, अपितु इन्हें स्वयं अपने जीवन की निजी अनुभूतियों पर आश्रित भी रखा। उस दशा में, हमे इस प्रकार के वाङ्मय को किसी ऐसे उक्त जीवनसाहित्य के ही अंतर्गत रखना होगा जिसके मूल्यां-कन का मानदंड बहुत कुछ भिन्न भी हो सकता है। जैसा हम इसके पहले भी कह आए हैं, ये संत एवं सूफी कवि प्रधानतः साधक थे और इन्होंने अपने समक्ष एक ऐसा व्यापक जीवनादर्श रखा था जिसकी उपलब्धि के लिये किसी सर्वांगसाधना की आव-

१ वही, पृ. ५२८ पर उधृत।
२ वही, पृ. ५२६ पर उधृत।

श्यकता रही तथा इसलिये जिसका स्वरूप भी स्वभावतः सर्वांगपूर्ण ही ठहराया जा सकता था। इन्होंने, इसी कारण, स्वयं भी निवृत्तिमार्ग को स्वीकार न करके प्रवृत्तिमार्ग को ही अपनाया था और एक सर्वथा संयमित एवं संतुलित जीवन के निर्वाह का प्रयत्न किया था तथा तदनुकूल विश्वकल्याण की भावना को सर्वाधिक महत्व भी प्रदान किया था। ये किसी विश्वात्मक सत्ता की अनुभूति में सतत लीन रहा करते थे और अपने दैनिक व्यवहार भी सदा उसी के अनुसार जागरूक बने रहकर करना चाहते थे जिस कारण इनके दृष्टिकोण में किसी एकांगीपन के आने की संभावना बहुत कम रहा करती थी। फलतः इस प्रकार अनुप्राणित रहकर ये एक ऐसी विलक्षण दशा को प्राप्त कर लेते थे जिसकी अभिव्यक्ति तक भी इन्हें सदा सुलकर जान पड़ती थी और उसे ही प्रायः इनकी विविध बानियों का रूप भी मिल जाता था जो, इसी कारण स्वभावतः सहज एवं अकृतिम भी हो सकता था। अतएव, इन अपूर्व कृतियों की साहित्यिक समीक्षा करते समय, हमें परंपरागत आलोचनापद्धति के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों पर भी विचार कर लेना अधिक न्यायसंगत होगा। इसके लिये हमे केवल उपयुक्त शब्दचयन एवं वाक्यप्रयोग, उक्तिवैचित्र्य, विशिष्ट प्रतीकविधान अथवा आलंकारिक रचनाशैली जैसे गुणों की अपेक्षा, कहीं अधिक ध्यान उनके उस वर्ण्य विषयगत उत्कर्ष की ओर देना पड़ सकता है जिसे हृदयंगम किए बिना हम इनके विषय मे कोई वास्तविक धारणा तक भी नहीं बना सकते। यही इन कृतियों की वह विशेषता है जो, इनके प्रत्यक्षतः विकलांगवत् प्रतीत होने पर भी, हमे, इनमे विहित भावसौंदर्य से परिचित करा सकती है तथा इसके साथ ही, हमें इनमे विद्यमान उस रस तत्व का भी आभास दिला सकती है जिसकी व्याख्या साधारणतः किसी आत्मवादी रस के अनुसार प्रस्तुत की जाती है।

———

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाँउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ ॥[१]

उनकी प्रतीकयोजना एवं रूपक, उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग ने साखियों को प्रभावोत्पादक बनाया है। साखियों में दोहा छंद का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, परंतु साखी का नामकरण छंदविशेषता के कारण नहीं बल्कि विषय के कारण हुआ था।[२] संतों को काव्यशास्त्र का विधिवत् ज्ञान न होने के कारण साखियों में सभी शास्त्रीय नियमों का बहुतायत से पालन नहीं हुआ, फिर भी छंदविशेष की आत्मा उनकी वाणी में साकार हुई है। दोहे के अतिरिक्त सोरठा, चौपाई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पै जैसे छंदों के भी उदाहरण साखियों में मिलते हैं।[३] पुराने सूफियों ने अपनी साखियों जैसे छंदों को प्रायः 'दूहा' नाम दिया है और उनके द्वारा इसका उपयोग सिंधी भाषा तक में भी किया गया मिलता है।

पद—'आदिग्रंथ' तथा 'कबीर ग्रंथावली' में कबीर के पद भी उपलब्ध हैं जिन्हें 'बीजक' में 'सब्द' संज्ञा दी गई है। बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में संतों के पदों का मूल स्रोत दृष्टिगोचर होता है।[४] संभवतः लोकगीतों से ही उन्होंने इसका विकास किया है, लेकिन सर्वप्रथम इन्हें साहित्यिक रूप देने का श्रेय बौद्ध सिद्धों को ही है तथा पीछे वैष्णव भक्तों के यहाँ इन्हें 'विष्णुपद' की संज्ञा दी गई भी देखी गई। जैनों ने भी, अपनी धर्मभावना तथा उपदेशात्मक वृत्ति के प्रसार के लिये, दोहों और गीतों का आश्रय लिया था। संतों ने, ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति के लिये, दोहों तथा पदों को माध्यम बनाया।[५] 'सब्द' गुरु के उस 'शब्द' (ज्ञान) का प्रतीक है, जो जीव को अध्यात्मपथ का पथिक बना देता है। कहीं कहीं इसे 'बानी' भी कहा गया है। स्वानुभूतिजन्य भावप्रवण संगीतात्मकता 'पद' के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। पद में सहानुभूति है तो साखी में अनुभूत्याधारित ज्ञान; एक में भावप्रवणता है तो दूसरी में ज्ञानगरिमा, एक में संगीत है तो दूसरी में विचार; एक में सरसता है तो दूसरी में शुष्कता; एक भक्तों के लिये है तो दूसरी ज्ञानियों के लिये; एक स्वांतःसुखाय है तो दूसरी सर्वांतःसुखाय; एक का आधार राग है तो दूसरी का विचार; एक के भावों में उच्छलन है तो दूसरे में विचारों की स्पष्टता; एक में आकार की भिन्नता है तो दूसरी में एकरूपता; एक की शैली भावात्मक है तो दूसरे की विचारात्मक; एक में संदेश

[१] क. ग्रं. (का. सं.) साखी सं. १६६।
[२] म. का. सं. सा. पृ. २४१।
[३] क. सा. प., पृ. १८८।
[४] का. रू. मू. स्रो. वि. पृ. १६०।
[५] अ. सा. पृ. ३६३।

है, तो दूसरी में उपदेश; कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि एक हृदय को प्रभावित करता है, तो दूसरा मस्तिष्क को। कबीर ने भी कहा है :

पद गाएँ मन हरषिया, साषी कह्याँ अनद।
सोतन नाँव न जाँणिआँ, गल में पड़िया फंध ॥[1]

'कबीर ग्रंथावली' में उपलब्ध ४०३ पदों को १५ रागों में विभाजित किया गया है तथा परिशिष्ट में भी २२२ पद उपलब्ध हैं। 'आदि ग्रंथ' मे कबीर के २२५ पद १८ रागों में, रैदास के ४० पद १६ रागों में, धन्ना के ३ पद २ रागो मे, त्रिलोचन के ४ पद ३ रागों में, वेणी के ३ पद ३ रागो में उपलब्ध है।[2] इनके अतिरिक्त परवर्ती संतों में दादूदयाल के २७ रागों मे ४४५ पद प्राप्त होते है,[3] जिनका, मौलिकता की दृष्टि से भी, विशेष महत्व है। पद प्रायः अध्यात्म, भक्ति तथा आचरण से संबंधित रहा करते है। संतों के पदो को चार भागों में बाँटा जा सकता है— १. उपदेश तथा नीतिपरक, २. वैराग्य संबंधी, ३. सिद्धांत निरूपक, ४. विरह एवं मिलन के पद। प्रथम कोटि के पदों में भावात्मकता एवं रागात्मकता का अभाव दिखाई देता है। दूसरी कोटि के पद, संसार की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए भी, बड़े प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं, यथा –

रहना नहीं देस बिराना है।
यह ससार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥[4]

हठयोग की शब्दावली ने सिद्धांतो के प्रतिपादन में भावों को दबा डाला है। संतों की विरहिणी आत्मा की विह्वलता विरह के पदों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। संतों का सच्चा गायक इन पदों में ही मुखर हुआ है। इसीलिये उनके विरहगान में भी आनंद एवं आह्लाद की अनुभूति का परिचय मिलता है। संतों के पदों मे मुख्यतया शात एवं शृंगार रस का परिपाक हुआ है। वियोग शृंगार के बहुत से सजीव चित्र भी देखने को मिलते है। गेय होने के कारण इनमें 'टेक' का विशेष महत्व है। टेक' को 'आदिग्रंथ' मे 'रहाउ' संज्ञा प्रदान की गई है। 'टेक'

[1] क० ग्रं० (का० सं०) पृ० ३८।
[2] सं० धा० वि० पृ० ११७-११८।
[3] सं० का० पृ० २८४।
[4] क० व० पृ० १८२।

दो, तीन तथा चार चरणों की भी होती हैं। यद्यपि पदों का मूल आधार राग है, तब भी उसमें अन्यान्य छंदों का आश्रय लिया गया है।[1]

रमैनी—रमैनी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में संत विचारदास का मत है कि यह 'रामणी' शब्द का रूपांतर है।[2] 'जीवात्मा की संसरणादिक क्रीड़ाओं का सविस्तार वर्णन इनका विषय है। परशुराम चतुर्वेदी[3] तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[4] का मत है कि 'रामायण' से रमैनी बना है। आचार्य द्विवेदी तो 'रमैनी' शब्द का प्रयोग ही बहुत परवर्ती मानते हैं, लेकिन चतुर्वेदी जी ने उसके पूर्ववर्ती प्रयोग का परिचय दिया है। डा० त्रिगुणायत का अनुमान है कि यह लोकगीतों का एक काव्य-प्रकार है। आध्यात्मिक गीतों के लिये 'रमैनी' शब्द राम के आधार पर गढ़ लिया गया होगा।[5] किसी भी मत से पूर्ण मनस्तोष तो नहीं होता, फिर भी अंतिम अनुमान अधिक जँचता है।

कबीर के 'बीजक' में ८४ तथा 'ग्रंथावली' में ६ रमैनियाँ हैं, 'आदिग्रंथ' में इस शीर्षक के अभाव में भी रागों के अंतर्गत कुछ रमैनियाँ मिलती हैं। विषय की दृष्टि से रमैनियों को ३ वर्गों में रखा जा सकता है—१–जिनमें ब्रह्म एवं जगत् का वर्णन मिलता है, २–जिनमें, भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए, भक्त को प्रेरणा दी गई है, ३–जहाँ बाह्याचार का विरोध कर आंतरिक भाव को महत्वपूर्ण ठहराया है। पहले प्रकार की रमैनियों में अद्भुत एवं शांत रस मिलता है तथा दूसरे वर्ग में भी बहुधा शांत रस का ही परिपाक हुआ है। शैली की दृष्टि से, कहीं जीव को सतर्क करते हुए, संबोधन शैली का आश्रय लिया है, तो कहीं वर्णप्रधान व्यास शैली का जिसने अनेक उत्कृष्ट उदाहरण हमें उत्तरी भारत के सूफी कवियों द्वारा रचे गए प्रेमाख्यानों अथवा प्रेमगाथा नामक प्रबंधकाव्यों में भी मिल सकते हैं। रमैनियों में समास शैली का प्रायः अभाव ही है। भक्त एवं भक्तिपरक कुछ रमैनियाँ 'शब्दों' के निकट पड़ती हैं, उनमें राग तत्व भी प्रमुख है, संभवतः इसीलिये 'आदिग्रंथ' मे वे रागों के अंतर्गत रखी गई है। रमैनियों की रचना दोहों तथा चौपाइयों में की गई है। पहले चौपाई और रमैनी के अंत में दोहा होता है, जिसमें प्रायः ऊपर के विषय

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखें—क. स. प. पृष्ठ १६२।

[2] क. सा. वी. पृ. १८६-६०।

[3] क. सा. प. पृ. १६३।

[4] हिं. सा. पृ. १२५।

[5] हिं० नि० का० धा० दा० पृ० ६७६।

का निष्कर्ष मिलता है। इनमें दोहे व चौपाइयों की संख्या निश्चित नहीं।[1] 'द्रुपदी', 'सतपदी', 'अष्टपदी', बारहपदी' आदि शब्दों से इनके दोहों की संख्या का पता चलता है। परवर्ती संतों मे 'अक्षरखंड की रमैनी', 'पैज की रमैमी', 'बलख की रमैनी' आदि अनेक रमैनियाँ मिलती है जिनमें से कुछ को कबीरकृत ही मान लिया गया है।[2]

बावनी, चौतीसा, ककहरा—हिंदी वर्णमाला के १६ स्वर तथा ३६ व्यंजन–५२ वर्णों से आरंभ कर लिखे पदों को 'बावनी' या 'बावन अषरी' नाम दिया गया। 'कबीर ग्रंथावली' मे इस शीर्षक के अंतर्गत कुल ६ पद मिलते हैं जिनका आरंभ दोहे से और अंत चौपाइयों से होता है लेकिन 'आदिग्रंथ' में अंकित 'बावन अषरी' में ४५ पद उपलब्ध होते है।[3] डा० रामकुमार वर्मा ने प्रत्येक आरंभिक अक्षर का रूप गुरुमुखी वर्णमाला के व्यंजन के उच्चारण के अनुसार माना है[4] परंतु इसका क्रम देवनागरी के अनुसार है।

बावन अछर लोक त्रै सभु कछु इनही माहि।
ए अखर खिरि जाहिगे ओर अखर इन महि नाहि ॥[5]

नश्वर ब्रह्मांड इन अक्षरो मे आबद्ध है पर अनश्वर का बंधन कैसा ? यही इनका विषय है। कहीं कहीं शुष्क उपदेशात्मकता प्रधान हो गई है। अगरचंद नाहटा के अनुसार बावनी की परंपरा जैन कवियों से संतो को प्राप्त हुई है।[6] गुरु अर्जुनदेव, संत रज्जब, हरिदास, सुंदरदास तथा भीषजन ने भी 'बावन अखरो' की रचना की। गुरु नानकदेव ने इन ५४ पदों को 'दखिणी ओंकार' नाम दिया इसके अतिरिक्त गुरु नानकदेव तथा गुरु अमरदास ने कबीर की 'बावन अखरी' से प्रेरणा पाकर गुरुमुखी वर्णमाला के अक्षरों के आधार पर 'पट्टी' की भी रचना की है।[7]

'कबीर बीजक' में एक 'चौंतीसा' उपलब्ध है। केवल व्यंजनों के आधार पर लिखे गए पदसंग्रह को यह संज्ञा दी गई है। आचार्य द्विवेदी का अनुमान है

[1] विस्तृत जानकारी के लिये देखें—क० सा० प० पृ० १६४।
[2] हिं० सा० पृ० १२५।
[3] श्री गु० ग्रं० सा० प० प०, पृ० ६२।
[4] सं० क० भूमिका, पृ० २५।
[5] श्री गु० ग्रं० सा० प० प०, पृ० ३८०।
[6] क० सा० प०, पृ० १६७।
[7] श्री गु० ग्रं० सा० प० प०, पृ० ६१।

कि मुस्लिम सूफी संतों ने इस प्रथा का प्रचार किया होगा।[1] डा० शकुंतला दूबे ने भी बिना किसी प्रमाण या तर्क के । संभवतः आचार्य द्विवेदी के अनुमान के कारण ही लिखा है—'वस्तुतः संतों में इस प्रकार के काव्यरूप की रचना फारसी प्रभाव का ही द्योतन करती है।[2] लेकिन परंपरागत काव्यरूपों का विश्लेषण करने पर हमारा विचार है कि इसके प्रेरणास्रोत जैन कवियों में मिलते हैं। अपभ्रंश में प्रचलित 'दोहा मातृका' अथवा 'मातृका संज्ञक तथा 'रक्क संज्ञक' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।[3] इस 'रक्क संज्ञक' का ही 'ककहरा' के रूप में विकास हुआ। स्पष्ट ही है, कि यह वह काव्यरूप है, जिसमें स्वरों को छोड़कर (ब्रह्म का प्रतीक ओंकार इसका अपवाद है) 'क से लेकर सभी व्यंजनों के आधार पर पदों की रचना की जाती है। कबीर साहब का 'चौंतीसा' ही 'कबीर साहब की शब्दावली' (भाग ४) में 'ककहरा' नाम से प्रस्तुत है। बाबा धरनीदास, गुलालसाहब, तथा भीखा साहब ने भी 'ककहरा' नामक रचनाएँ की हैं। सूफी कवि जायसी ने इसका एक रूप अपनी 'अखरावट' नामक रचना द्वारा उदाहृत किया है। यारी साहब आदि की भी इस प्रकार की गई रचनाएँ प्रसिद्ध हैं जो फारसी वर्णमाला के क्रम का अनुसरण करती हैं।

बारहमासा, थितीं, वार — ऋतु तथा वातावरण के आधार पर वर्ष के बारह महीनों में क्या करना चाहिए अथवा अन्यान्य अवस्थाओं में, व्यक्तिविशेष पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, प्रायः बारह पदों में इसका चित्रण किया जाता है। इसीलिये इसे बारहमासा की संज्ञा प्राप्त हुई। हिंदी-साहित्य-कोशकार की तरह केवल विरहिणी के रुदन तक ही इसे सीमित करना अनुपयुक्त है।[5] संतों में 'बारहमासा' की परंपरा अपभ्रंश से आई है जिसका प्रेरणास्रोत संभवतः संस्कृत का षट्ऋतुवर्णन है।[6] गुरुनानक ने जीवन को बारह महीनों में विभक्त कर, कर्मण्य होकर, भक्ति के माध्यम से ब्रह्मप्राप्ति का संदेश दिया है। इस प्रकार जीव को, यम से अपनी रक्षा करने के लिये, सतर्क किया है। पंचम गुरु अर्जुनदेव ने भी १४ पदों में 'बारहमासा' लिखकर इस परंपरा का निर्वाह किया है।[7] संत गुलालसाहब एवं

[1] हिं० सा० आ० का०, पृ० ११५।
[2] का० रू० मू० स्रो० उ० वि, पृ० ३९८।
[3] हि० सा० को० पृ० ५९७।
[4] सं० का० पृ० ४१।
[5] हिं० सा० को० पृ० ५१२।
[6] का० रू० मू० स्रो० उ० वि०, पृ० ३९९।
[7] श्री गु० ग्रं० सा० ए० प० पृ० ६६।

भीखा साहब के बारहमासों में संत मत के सिद्धांतों की व्याख्या है, तो सत सुंदरदास एवं पलटू साहब के बारहमासों में विरहिणी (आत्मा ?) का प्रलाप। सूफी कवि 'अफजल' ने भी अपनी रचना 'विकट कहानी' में इस काव्यरूप को, विरहवर्णन के लियेअपनाया है और इसका आरंभ 'सावन' के महीने में किया है तथा 'सुमेरु' छंद मे लिखा है। संत धरनीदास, तुलसी साहब, शिवदयाल, एवं सालिगराम आदि ने भी बारहमासे लिखे है। इनमें प्रायः दोहों तथा छंदों का आश्रय लिया गया है। इसका आरंभ प्रायः चैत्र मास से होता है।

प्रतिपदा आदि तिथियों के आधार पर रचित पदों को 'थिंती' संज्ञा दी गई है जिसे संत रज्जब जी ने 'पंद्रह तिथि' भी कहा है। 'गोरखबानी' में हमें ऐसी रचना के दर्शन होते है।[२] अमावस से आरंभ कर पूर्णिमा की ओर उसका विकास 'अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने' का परिचायक है।[३] 'आदिग्रंथ' में १६ श्लोकों में कबीर की भी 'थिंती' मिलती है। इसमे मन को वश मे करके, गुरु की कृपा से भ्रम को त्यागकर, ब्रह्मानुभूति का संदेश दिया गया है। गुरुनानक, गुरु अर्जुन ने भी 'थिंती' की रचना की है।[४] गुरु अर्जुन ने 'वार का आश्रय लिया है। इसमें गुरुनानक अधिक सैद्धांतिक है तथा गुरु अर्जुन अधिक व्यावहारिक।

सप्ताह के सात दिनों के नामो के आधार पर रचित पदो को 'वार' संज्ञा दी गई है जिसे संत रज्जब जी ने 'सप्तवार' नाम से भी अभिहित किया है। थिंती की तरह यह भी गोरखनाथ और उनकी परंपरा मे कबीर में भी उपलब्ध है। 'आदिग्रथ' के 'राग गउड़ी' में 'थिंती' के एकदम बाद ही 'वार' के अंतर्गत आठ पद मिलते हैं।[६] इसमें, भक्ति करते हुए भी, यौगिक क्रियाओं द्वारा उसकी प्राप्ति का संदेश है। 'आदित' से आरंभ होकर 'सुक्र' तक के वारों के नाम स्पष्ट है। 'शनि' का नाम न देकर भी एक पद अवश्य दिया गया है। परवर्ती संतो में यह काव्यरूप बहुत प्रचलित नहीं हुआ।

बसंत, चाँचर, हिंडोला—जैन मुनि जिन पद्म सूरि की अपभ्रंश कृति 'धूल भद्द फागु' के लोकप्रचलित 'फाग' का ही 'बसंत' विकसित रूप है।[७] 'बीजक' मे,

[१] सं. का. पृ. ४३-४४।
[२] गो. ना. उ. यु. पृ. १६७।
[३] मिलाइए—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'
[४] सं. धा. पि. पृ. १२७।
[५] श्री गु. ग्रं. सा. क्रमशः पृ. ३४३ तथा पृ. २६६।
[६] वही, पृ. ३४४।
[७] हिं. सा. आ. का. पृ. ११५।

'बसंत' शीर्षक के अंतर्गत संगृहीत रचनाओं में, विषयगत नवीनता न होते हुए भी, आकारगत विभिन्नता है। चौपाई एवं पद्धरि आदि छंदों का प्रयोग हुआ है तथा शैली में गंभीरता का अभाव है। वर्षा ऋतु में स्त्रियाँ लोकगीत के रूप में चाँचर का, नृत्य के साथ, गान करती हैं।[1] अपभ्रंश में इसका 'चर्चरी' नाम अधिक प्रचलित था[2] और 'प्राकृत पैंगलम्' के अंतर्गत 'चर्चरी' नाम के एक छंद की भी चार्चा आती है। 'बीजक' में इस शीर्षक के अंतर्गत दो पद उपलब्ध है जिनमें, प्रत्येक पंक्ति के अंत में, 'मन बौरा हो' की टेक मिलती है। स्पष्ट ही है, कि इसमें मन को सतर्क किया गया है। यह प्रायः वसंतोत्सव में भी गाया जाता है।[3] सावन के झूले का प्रतीक 'हिंडोला' नामक काव्यरूप भी लोकगीत की परंपरा में ही संतों ने अपनाया है। 'बीजक' में तीन रचनाएँ इस शीर्षक के अंतर्गत उपलब्ध हैं।

कहरा, बेलि, बिरहुली तथा विप्रमतीसी 'ककहरा' से भिन्न 'कहरा' भी लोकगीतों की परंपरा मे प्राप्त काव्यरूप है, जिसमें कबीर के १२ पद 'बीजक' में उपलब्ध हैं। 'बेलि' शीर्षक से 'ग्रंथावली' में प्राप्त दो रचनाओं की प्रत्येक पंक्ति का अंत 'हो रमैया राम' से होता है। किंतु संत दादूदयाल की रचना 'कायावेलि' में इस प्रकार की बात नहीं देखी जाती। प्रसिद्ध राजस्थानी 'वेलि' से भिन्न होते हुए यह भी प्रचलित लोकगीतों से ही विकसित हुई है। विरहिणीआत्मा ने परमात्मा के वियोग में 'बिरहुली' नामक काव्यरूप में पद गाया है। आचार्य द्विवेदी ने 'बिरहुली' का प्रयोग 'विषय रूपी सर्प के विष को उतारनेवाला गाना' के अर्थ में किया है[4] और चतुर्वेदी जी ने 'विरहिणी' के अर्थ में।[5] प्रसंग को ध्यान में रखते हुए हमें चतुर्वेदी जी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'बीजक' में एक रचना 'विप्रमतीसी' नाम से भी मिलती है जिसे हम निंबार्क संप्रदाय के परशुराम देवाचार्यवाली इस नाम की रचना से अधिक भिन्न नहीं ठहरा सकते। इसमें चौपाइयों की ३० अर्धालियाँ हैं। चतुर्वेदी जी का अनुमान ठीक ही जँचता है कि इन्हें देखकर ही इसका नाम 'तीसी' पड़ा होगा।[6] संतों द्वारा प्रयुक्त एक अन्य काव्यरूप 'वणजारा' भी दीख पड़ता है जिसे अधिकतर चेतावनी देते समय काम में लाया गया है।

संतों का अधिक काव्य साखी तथा पदों में ही उपलब्ध है, जिसमें उनके व्यक्तित्व

[1] हिं. सा. को. पृ. ५६८।
[2] हिं. सा. आ. का. ११४।
[3] क. सा. प. पृ. २-३।
[4] हिं. सा. आ. का., पृ. ११२।
[5] क. सा. प., पृ. २०६।
[6] वही, पृ. २०६।

के दोनों पक्ष—'अनुभूत सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति' तथा 'भावुकताप्रवण गान'—और सभी प्रधान विषयों का समावेश हो गया है। परंपरागत लोकगीतों को काव्य-रूप प्रदान कर संतों ने अपने काव्य को जनसामान्य का काव्य बना दिया। इसी से इनकी वाणी अक्षुण्ण बनी रही। हमारे आलोच्य युगवाले पिछले संतों, जैसे रज्जब जी, सुंदरदास, भाई गुरुदास आदि ने तो अपने समय की पद्धति के अनुसार, कवित्त, सवैया, छप्पय, अरिल्ल पवंगम, कुंडलिया, आदि विविध छंदों के प्रयोग भी आरंभ कर दिए।[1]

(२) संतों की भाषा एवं रचनाशैली

भाषा संतों ने बौद्ध सिद्धों तथा नव नाथों से बहुत से विचार एवं भाव, परंपरा में, ग्रहण किए, अतः विचारवाहिनी उनकी भाषा का भी किसी न किसी रूप में साथ चले आना नितांत स्वाभाविक ही था। भक्त नामदेव के भजनों एवं गीतों की सरल अभिव्यक्ति का भी उत्तरीभारत पर व्यापक प्रभाव था, जिसे संतों ने आत्मीयतापूर्वक ग्रहण किया।[2] संतों को, तथा उनके माध्यम से जनसामान्य को, भक्ति का संदेश देनेवाले रामानंद की भाषा तो अनायास ही उनकी वाणी का माध्यम बन गई।[3] संतों का उद्देश्य समाज का पथप्रदर्शन करना था, अतः स्थानीय भाषा के रूप एवं गुणों को उन्होंने अपनी भाषा मे समाहित कर लिया था। इस प्रकार उनकी भाषा की पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक एवं विविध थी।

प्रायः सभी संतों ने काव्यशास्त्र का विधिवत् ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। इस दृष्टि से वे शिक्षित तो क्या अर्धशिक्षित भी न थे। उन्होंने अपनी वाणी को स्वतः लिपिबद्ध नहीं किया था। उनके भक्त शिष्यों ने बाद मे ऐसा किया है। अतः उनकी भाषा को व्याकरण की तुला पर तौलना युक्तिसगत नहीं प्रत्युत् उपलब्ध रचनाओं की भाषा की प्रामाणिकता भी विचारणीय है।

बंगाल से गुजरात तक तथा पंजाब से दक्षिण तक उनका क्षेत्र बडा व्यापक रहा है और यही बात हम सूफी कवियो के लिये भी कह सकते हैं। वे स्वतः भी भ्रमण-शील थे, जहाँ जाते थे, वहाँ उपदेश भी देते थे तथा सत्संग भी करते थे; जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय शब्द अनायास ही उनकी भाषा का अंग बन जाते थे। फलतः दक्खिनी हिंदी के सूफी कवियों ने दक्खिनी हिंदी का ही प्रयोग किया जहाँ शाह गाँव-धनीं एवं खूब मुहम्मद ने उसके 'गूजरी' रूप को भी अपने यहाँ अपनाया। इसके

[1] हिं. नि. का. धा. उ. दा., पृ. ६६६।
[2] हिं. म. सं. दे. पृ. १३०।
[3] सं. धा. वि. पृ. ३१।
[4] स. का. वि. पृ. ३१५।

सिवाय हमें जान कवि की रचनाओं में प्रायः अन्य कतिपय भाषाओं का भी संमिश्रण देखने को मिलता है। इतना ही नहीं, सच पूछा जाय तो उस समय तक उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—ब्रजभाषा, अवधी, खड़ीबोली, राजस्थानी, पंजाबी आदि का कोई साहित्यिक एवं परिनिष्ठित रूप भी निर्धारित नहीं हुआ था और फिर संतों एवं सूफियों का काव्य तो वर्ग विशेष के लिये न होकर जनसामान्य की संपत्ति था। अतः उनकी वाणी में 'एक परिनिष्ठित एवं साहित्यिक भाषा की कल्पना करना कहाँ तक उचित है?

संतों की भाषा की विविधता एवं अनेकरूपता के कारण विद्वानों ने इसके विषय में अलग अलग मत दिए हैं। शुक्ल जी ने 'कबीर बीजक' की साखियों की भाषा को 'सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली कहा है तथा रमैनियों एवं पदों की भाषा में ब्रजभाषा एवं पूरबी बोली का भी उपयोग बताया है।[1] संज्ञा, सर्वनाम, कारक तथा क्रियापदों के आधार पर 'आदि ग्रंथ' में उल्लिखित कबीर की वाणी का विश्लेषण कर डॉ० रामकुमार वर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचे है, कि 'प्रमुखतः कबीर की कविता पूर्वी हिंदी का रूप लिए हुए है।[2] ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी तथा पंजाबी का प्रभाव अवश्य मिलता है लेकिन 'कबीर ग्रंथावली' की भाषा में उन्हें अधिक पंजाबीपन के दर्शन होते है।[3] डा० बाबूराम सक्सेना ने तो इन्हें 'अवधी का प्रथम संत कवि' ही माना है।[4] रेवरेंड अहमदशाह[5] तथा विचारदास शास्त्री[6]—दोनों ने ही 'बीजक' की भाषा को पूर्वी तथा 'ठेठ प्राचीन पूर्वी' माना है। डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी को इसमें मुख्यतः ब्रजभाषा के दर्शन होते हैं।[7] 'डा० उदयनारायण तिवारी ने इनकी मूल वाणी के बहुत से अंश को 'मातृभाषा बनारसी बोली' मे लिखा हुआ बताया है।[8] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा का विशद विश्लेषणात्मक अध्ययन करके सोदाहरण दिखाया है, कि इनकी तीनों कृतियों मे ही अवधी, ब्रजभाषा, भोजपुरी तथा खड़ीबोली चारों भाषाएँ अपने स्वतंत्र रूप में बहुतायत से उपलब्ध है तथा कहीं कहीं पंजाबी तथा राजस्थानी के भी उदाहरण

१ हिं. सा. इ., पृ. ६८।
२ सं. क., पृ. २६।
३ हिं. सा. आ. इ, पृ. ३७।
४ द. हिं., पृ. ३२।
५ दि बी. क., पृ. २६।
६ क. सा. बी., पृ. ४३।
७ भा. भा. पृ. ६०।
८ क. भा.।

मिलते हैं।[1] एक ही पद का तीनों कृतियों में परिवर्तित रूप प्रस्तुत कर उन्होंने क्षेपकों के कारण वास्तविक भाषा तक पहुँचने की कठिनाई की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। भाषा की दृष्टि से 'बीजक' तथा 'आदि ग्रंथ' को अधिक महत्व देते हुए, उन्होंने लिखा है—'कबीर साहब के अति निकट की साहित्यिक भाषा पूर्वी हिंदी अथवा अवधी थी, जिसका प्रयोग उन्होंने अधिकतर अपनी रमैनियों में किया है।[2] डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने कबीर की भाषा को अवधी, भोजपुरी, ब्रज, खड़ी, राजस्थानी और पंजाबी का समन्वित रूप' कहा है।[3] डॉ० गोविंद त्रिगुणायत ने इसे 'सधुक्कड़ी' कहना अधिक उपयुक्त समझा है।[4] कबीर की भाषा का विश्लेषण करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि उनके अधिक पद (विशेषतः योग संबंधी पदों को छोड़कर) ब्रजभाषा में हैं, कुछ भोजपुरी में तथा बहुत थोड़े अवधी में भी हैं, अन्य भाषाओं की शब्दावली तो प्रायः सभी पदों में उपलब्ध है। कबीर की अधिक साखियाँ खड़ीबोली मे हैं, बहुत कम अवधी मे भी है। उनकी अधिक रमैनियाँ प्रायः अवधी में है। पंजाबी और राजस्थानी में स्वतंत्र रूप से बहुत कम रचनाएँ उपलब्ध है, परंतु बहुत सी रचनाओं में इनका अविभाज्य मिश्रण हुआ है, वस्तुतः इसीलिये इस भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' संज्ञा प्राप्त हुई। प्रायः परवर्ती संतों की प्रमुख भाषा अपने प्रदेश की ही भाषा रही है, तो भी उसमें संतभाषा के सामान्य तत्व उपलब्ध होते हैं और सभी संतों की कुछ बाणियाँ निकटवर्ती प्रदेश की भाषा में भी प्रायः मिल ही जाती है। रैदास की भाषा ब्रजमिश्रित अवधी है, तो सधना में ब्रजभाषा प्रधान है। गुरु नानक, गुरु अमरदास तथा गुरु अर्जुनदेव ने पंजाबी तथा हिंदी दोनों ही भाषाओं का अलग अलग आश्रय लिया है। पीपा और धन्ना की ब्रजभाषा पर राजस्थानी का प्रभाव है। मलूकदास ने अवधी को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया है। दादूदयाल की भाषा मुख्यतया राजस्थानी है।[5] परंतु सभी की भाषा में अन्य भाषाओं के मिश्रित रूप के दर्शन भी होते हैं।

भाषा का अनिवार्य धर्म है—भावों की सहज संप्रेषणीयता। उल्टवासियों तथा क्लिष्ट यौगिक एवं पारिभाषिक शब्दों से पूर्ण कुछ पदों को छोड़कर 'सहज संप्रेषणीयता' ही संतों की भाषा का सबसे महत्वपूर्ण आभूषण है। निश्छल भावों की

[1] क० सा० प० पृ० २१०-२१२।
[2] वही पृ० २२६।
[3] हि० सं० सा० पृ० २१७।
[4] हिं० नि० का० धा० उ० दा० पृ० ६६६।
[5] सं० का० पृ० २४०।

स्पष्ट अभिव्यक्ति अनायास ही संप्रेषणीय हो जाती है। स्वाभाविकता, सरलता तथा स्पष्टता ने संतों की भाषा को भाषा के सभी आवश्यक तत्वों से अलंकृत कर दिया है—

पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जाति।
एक दिनाँ छिप जाँहिगे, तारे ज्यूँ परिभाति॥[1]

संतों की भाषा के सभी गुणों को समझने के लिये यह साखी पर्याप्त है। जनमानस को जीवन की नश्वरता का संदेश इससे प्रभावोत्पादक ढंग से दिया भी कैसे जा सकता था ? उनकी भाषा न केवल देश, काल तथा परिस्थिति के अनुरूप थी, परंतु वह इनकी परिधि को लाँघकर आज भी जीवित है। दैनंदिन जीवन के व्यावहारिक दृष्टांतों से उन्होंने न केवल भाव की संप्रेषणीयता को सहज किया है, अपितु भाषा को भी साहित्यिकता प्रदान की है। शब्द और अर्थ में अद्भुत संतुलन है। सरल भाषा में भी सूक्ष्म एवं गंभीर भाव को प्रगटाने की अद्भुत क्षमता है। इसीलिये भाषा विषय तथा भाव के अनुरूप बन सकी है। उनकी 'गागर में सागर' शैली प्रयत्नज न होकर स्वाभाविक है, जो संक्षिप्त होते हुए भी, दुरूह नहीं। इसका श्रेय उनकी सरल एवं स्पष्ट भाषा को है। भाषा में कृत्रिमता के अभाव ने साखी को और भी प्रभावोत्पादक बना दिया। संत कबीर के अनुभूत्याधारित ज्ञान की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये उस युग में इससे अच्छी भाषा हो भी क्या सकती थी ? पदों में उनका 'भक्त' आत्मविभोर होकर गा उठा है। उसमें मधुर शब्दावली ने अनायास ही, भावात्मक संगीतात्मकता के माध्यम से, भाषा को सरस भी बना दिया है। स्वांतःसुखाय हुए इस भावोच्छलन को मधुर और सरस भाषा ने ही सर्वांतःसुखाय बना दिया। इसीलिये आज भी 'रेडियो' पर इन पदों को सुनने में असीम आनंद आता है। यौगिक एवं पारिभाषिक शब्दावली ने उनकी भाषा को दुरूह भी बना दिया है, पर विषय के अनुरूप वैसी ही भाषा वहाँ सहायक हो सकती थी। व्याकरण की दृष्टि से एक ने कबीर की भाषा को 'अपरिष्कृत' कहा है[2], तो प्रभाव की दृष्टि से दूसरे ने उसे 'वाणी का डिक्टेटर'[3]। दोनों ही ठीक भी है। व्याकरण के नियमों, बंधनों और औपचारिकताओं का विधिवत् पालन न करने के कारण काव्यशास्त्रज्ञ उसे अपरिष्कृत ही कहेगा—लेकिन इन औपचारिकताओं से ऊपर उठकर सशक्त भाषा के माध्यम से भाव से आत्मीयता अनुभव करनेवाला उसके महत्व को इन्हीं शब्दों में स्वीकार करेगा। इस प्रकार संतों ने भाषा को भावों के साँचे में ढाला है। मुल्ला को डाँटते हुए उन्होंने उर्दू, फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है और उलझे हुए ब्राह्मणों को

[1] क० ग्रं० (का० सं०) पृ० ७३।
[2] हिं० सा० भा० इ०
[3] 'कबीर' पृ. २१६।

परंपरीण वैदिक शब्दावली में सुलझाया है। योगियों की मरम्मत यौगिक शब्दावली में ही की है। कबीर का शब्दभांडार अनंत था, फिर भी कभी शब्दों का अभाव अनुभव हो तो, सशक्त भाव अनायास ही नए शब्दों का निर्माण कर उन्हें प्रचलित भी कर देते थे। शब्दों की अंतरात्मा तक जैसी पहुँच इन संतों की थी, वैसी बिरले ही भाषाविदों की होगी। यह सच है, कि उनके आध्यात्मिक विषयों, धार्मिक भावों तथा विषयों, धार्मिक भावों तथा सामाजिक सुधारों के उपयुक्त भाषा अनायास ही उनकी वाणी से प्रस्फुटित होती थी। इसीलिये उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' मानकर संतोष करना पड़ता है। संप्रदाय में दीक्षित होनेवाले कुछ परवर्ती संत अर्ध-शिक्षित या शिक्षित भी थे। और सूफियों में तो अनेक अरबी एवं फारसी के विशिष्ट विद्वान् तक भी हुआ करते थे। उनकी हिंदी अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत अवश्य है, पर इससे उनकी भाषा की शक्ति बढ़ी नहीं। कबीर ने 'संसकीरत' के जिस 'कूपजल' से निकालकर काव्य को लोकभाषा के बहते नीर में अवगाहन करवाया था, प्रायः सभी ऐसे संतों एवं सूफियों ने उसी भाषा का आश्रय लिया।

रचनाशैली—'शैली' वह प्रक्रिया है, जिसमें हम किसी वस्तु को समाविष्ट देखते हैं।'[1] वस्तु और व्यक्ति, लेखक तथा पाठक दोनों तथा भाषा और काव्य-रूप, ये सभी तत्व शैली के माध्यम से वस्तु को रूपायित करते हैं। शैलियों के भेद करते हुए इन सभी दृष्टियों को ध्यान में रखना पड़ता है। विशिष्ट पदरचना को 'रीति' कहा गया है :[2] शास्त्रीय दृष्टि से यही शैली के निकट पड़ती है। रीति के प्रमुख आचार्य वामन रस, गुण, ध्वनि, शब्दशक्ति, अलंकार तथा दोषाभाव को शैली के अंतरंग तथा पदबंध को बहिरंग तत्व मानते हैं।[3] हम पहले ही देख आए हैं, कि दृष्टिभेद एवं लक्ष्यभेद के कारण संतों के काव्य को काव्यशास्त्रीय कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, तब भी दोनों दृष्टियों से उनकी शैली को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। संतो के काव्य में हमें प्रधानतः चार शैलियाँ मिलती हैं :

१. उपदेशात्मक शैली, २. भावात्मक शैली, ३. खंडनात्मक शैली, ४. रहस्यात्मक शैली।

उपदेशात्मक शैली—बौद्ध सिद्धों की उपदेशात्मक शैली नाथों के माध्यम

[1] हि० शा० को० पृ० ८४८।
[2] का० लं० सू० पृ० १।२।७।
[3] वही (भूमिका) ७०।

से, परंपरा में, निर्गुणियाँ संतों को प्राप्त हुई।[1] संतो के सहज व्यक्तित्व के दर्शन उनकी इसी शैली में होते है, क्योंकि उनका मूल उद्देश्य जनमानस का पथप्रदर्शन करना था। इसी शैली में उन्होंने अनुभूत सत्य को जीवन के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसमें प्रायः भावों की नहीं, विचारों की प्रधानता है। कहीं कहीं कल्पना ने विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करने में सहायता दी है। उपदेशात्मक शैली के बहुत से दोहे सरसता के अभाव में काव्य की कोटि में भी नहीं आते। अधिकांश साखियों में शांत रस मिलता है। अध्यात्म संबंधी कुछ पदों में शृंगार रस के भी दर्शन होते हैं। काव्यरूप की दृष्टि से बहुत अधिक साखियाँ और कुछ पद इस शैली में रखे जा सकते हैं। प्रायः लक्षणा या व्यंजना का आश्रय लिया गया है, कहीं कहीं अभिधा में भी सरसता दिखाई देती है। ऐसे स्थलों पर भाषा प्रायः प्रसादगुणपूर्ण है, कहीं कहीं (विशेषतः पदों में) माधुर्य गुण भी मिलता है :

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठो खाँड़
सतगुरु की किरपा भई, नहीं तौ करतो भाँड़ ॥[2]

इस शैली में सादृश्यमूलक अलंकार संतों के काव्य के सबसे अधिक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण आभूषण हैं। 'मोहनी माया' की 'मीठी खाँड़' से उपमा देना कितने व्यापक प्रभाव को प्रस्तुत करता है! इसमें अनायास ही अनुप्रास के भी दर्शन हो जाते हैं रूपकों ने भी उनकी इस शैली को शक्ति दी है। 'सतगुरु के महत्व' का कितना क्रियात्मक एवं सशक्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रायः समास शैली का आश्रय लिया गया है। पदों में कहीं कहीं व्यास शैली के भी दर्शन होते हैं। इस शैली में विचारगत गांभीर्य एवं तज्जन्य शुष्कता भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है, किंतु स्वाभाविक भाषा की सरलता एवं स्पष्टता ने उसे दुरूह एवं अप्रिय होने से बचा लिया है। दैनंदिन जीवन के व्यावहारिक सत्यों से उन्होंने अनुभूत सत्यों की पुष्टि की है, जिससे जनसामान्य सुविधापूर्वक उससे आत्मीयता स्थापित कर उन्हें अपना भी सके। साखियों में प्रायः दोहा छंद का अश्रय लिया गया है, जो अपभ्रंश की परंपरा से संतों को मिला है।[3] इनमे तुक प्रायः सम (२, ४) चरणों पर मिलती है। यही उनके काव्य का सबसे सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ। उनकी इस शैली में एक ओर आध्यात्मिक पथ का ज्ञान है, दूसरी ओर लौकिक धार्मिक जीवन का संदेश; एक ओर अपने अंतर्मन को

[1] हिं० सा० बृ० इ० (भाग १) पृ० ४१२।
[2] क० ग्रं० (का० सं०) साखी ३११।
[3] हिं० सा० बृ० इ० (भाग १) पृ० ४१३।

संबोधित कर सतर्क किया गया है, तो दूसरी ओर जनसमाज को; एक ओर आदेशपरक उपदेश है, तो दूसरी ओर कांतासम्मित सरस उपदेश, एक ओर स्पष्ट एवं शुष्क उपदेश है, तो दूसरी ओर सरस व्यंग्य। इन सभी दृष्टियो से उनकी यह शैली बदलती रही है लेकिन उसकी मूल प्रकृति मे विशेष अंतर नहीं आया इसीलिये, परवर्ती संतों के काव्य में भी, यह शैली सर्वप्रमुख रही है और संत काव्य तो इसके बिना निष्प्राण सा प्रतीत होता है।

भावात्मक शैली—कबीर, रैदास आदि संतों का भावप्रवण भक्तहृदय भावावेश में अपूर्व तन्मयता एवं तल्लीनता से आराध्य की अनुभूति को अथवा उसकी अनुभूति के प्रयत्न में अपने अन्तःकरण के गहनतम भावों को अभिव्यक्त करता रहा है। उनकी आत्मविह्वलता या आनंदविभोर होने की अवस्था ने अनायास ही उनकी वाणी में संगीतात्मकता भर दी है। इस शैली का प्रधान माध्यम है 'पद' या 'सबद'। साखियों मे भी कहीं कहीं उनकी भावप्रवणता के छींटे मिलते हैं। संतों के पास पदों में भावाभिव्यक्ति की यह परंपरा नाथों के माध्यम से[1] बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों से ही आई है।[2] संत बनने से पहले उनका भक्त बनना भी नितांत आवश्यक था। अपनी संपूर्ण भावनाओं को उन्होंने जिस सहज भाव से भगवदर्पण किया है, वह पाठक को भी अनायास ही आनंदमग्न कर देता है। ऐसे पदों में भावों से भी अधिक-उनकी अनुभूति साकार हुई है। स्वांतःसुखाय गाए हुए इन पदों में जनकल्याण की भावना नहीं है, लेकिन अनायास ही उनसे भक्ति की प्रेरणा अवश्य मिलती है। इसे उनकी आध्यात्मिकताप्रधान शैली भी कहा गया है। स्वयं भक्ति का रसों मे स्थान न होने के कारण इसे हम शांत रस कह सकते है। जहाँ विरहिणी आत्मा प्रिय परमात्मा से मिलने के लिये विह्वल हो उठी है अथवा जहाँ, सूफी प्रेमगाथाओं के अंतर्गत, कोई विरही नायक अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये परम आतुर होकर, प्रयत्नशील बना दीख पड़ता है, वहाँ वियोग शृंगार के मार्मिक चित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं और जब कहीं उनका मिलन हो गया है, तब तो वे लौकिक संयोग शृंगार के चित्रों से भी कहीं अच्छी तरह उभर आए हैं। 'भर्तार राम' प्रायः सभी संतों के घर चले आए है। यही उनके जीवन का चरम साध्य है। तब तो आनंदोल्लास देखते ही बनता है। भावाभिव्यक्ति नितात स्वाभाविक, सरस एवं मधुर शब्दावली मे हुई है। मधुर गुण और मधुरावृत्ति उनकी इस शैली का प्राणतत्व है। इसमें प्रायः व्यास शैली का आश्रय लिया गया है, और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि

[1] गो. ना. व. यु. पृ. २२८।
[2] हिं. सा. वृ. इ. (प्रथम भाग) पृ. ३६२।

भावावेश पर विशेष बौद्धिक नियंत्रण या कृत्रिम बंधन नहीं ! हाँ, कहीं कहीं अनुभूति के छींटे कुछ साखियों में मिलते हैं, वहाँ समासशैली के दर्शन होते है—

गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ। गावनहार को निकट बताऊँ ॥ टेक

× × ×

जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यो रामसागर सों, तब यह मिटी पुकारा ॥[1]

भाषा को परिष्कृत करने के लिये भी संतों ने कभी प्रयत्न नहीं किया, फिर अलंकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन स्वतः अलंकृत होने के लिये अलंकार ही जब उनकी वाणी का सहज, स्वाभाविक अंग बन बैठे तो, वे भी क्या करते ? उपर्युक्त उदाहरण में नदी सागर का मिलन आत्मा परमात्मा के ऐक्य का कितना सरस एवं प्रभावोत्पादक चित्रण उपस्थित करता है। सादृश्यमूलक अलंकार, उनमें भी विशेषतः रूपक एवं उपमा, अनायास ही उनके बहुत से पदों मे मिलते हैं। लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक से उन्होंने अपना संबंध जोड़ा है।[2] अन्यान्य बिंबों का विधान कर मूर्त की चित्रमयता का तो कहना ही क्या—अमूर्त का भी मूर्तीकरण कर दिया है। इस भावात्मक शैली म प्रायः पदों का आश्रय लिया गया है, जिसका आधार बहुधा राग है।[3] इसलिये संतो के बहुत से पदों को रागों के अंतर्गत रखा गया है। अकेले 'आदि ग्रंथ' में ही ५ गुरुओं तथा १५ संतों की वाणी को ३१ रागो में संगृहीत किया है।[4] यह प्रथा परवर्ती संतों में भी चलती रही। इसमें एक ओर अनुभूति है तो दूसरी ओर भावप्रवणता, एक ओर अलौकिक विरह मिलन के चित्र हैं तो दूसरी ओर लौकिक दैनंदिन व्यवहार का स्वरूप; एक ओर अलौकिक के प्रति आत्मनिवेदन है, तो दूसरी ओर जनसामान्य को हार्दिक प्रेरणा; एक ओर लक्ष्य स्वांतःसुख है, तो दूसरी ओर सर्वांतःसुख; एक ओर मार्मिक विदग्धता है, तो दूसरी ओर निष्कपट सरलता; एक ओर मृदुलता है, तो दूसरी ओर संवेदनशीलता; एक ओर अपूर्व तल्लीनता एवं तन्मयता है, तो दूसरी ओर अनवरत लगन; एक ओर राग पदों का सहज अंग है, तो दूसरी ओर दोनों में अद्भुत संतुलन। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, कि इन विशेषताओ के आधार पर संतों की भावात्मक शैली के भी अनेक भेद और उपभेद किए जा सकते हैं, लेकिन शैली के मूल तत्वों की दृष्टि

[1] सं. का. (रविदास) पृ. २१६।
[2]. देखें ऊपर का उदाहरण।
[3]. का. रू. मू. स्रो. उ. वि. पृ. १७४।
[4]. सं. धा. वि. पृ. ७०।

से उनमें बहुत कम अंतर देखने को मिलता है, अतः हमने उन सबका विश्लेषण एक साथ ही करना उपयुक्त समझा है।

खंडनात्मक शैली—संतों के समाजसुधारक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन इसी शैली के माध्यम से हुआ है। नाथों ने भी समाज के बाह्याचार का विरोध किया था[1] लेकिन संतों की शैली, उनसे कहीं अधिक स्वाभाविक, सरल एवं स्पष्ट होते हुए भी, प्रभावोत्पादक है। समाज के बाह्याचार तथा आडंबरों से संतों को चिढ़ थी, क्योंकि उनमें भाव न रह गया था। संतों ने अपने अंतर में 'सत्' को आविर्भूत कर लिया था, अतः वे इस असत् वातावरण से न तो समझौता ही कर सके और न ही उसमें पनप सके। कुठारा हाथ में लेकर समाजसुधार का बीड़ा उठाकर वे चल पड़े थे, इसीलिये अनुचित का खंडन किए बिना उनसे न रहा गया। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, जप, तप, व्रत, मालज, हज्ज, रोजा निमाज़, बाँग आदि सभी औपचारिकताओं का खंडन इनका प्रमुख विषय रहा है। सत्य की अभिव्यक्ति सशक्त तो होती ही है, यदि कहीं उसमें विरोध की भावना भी मिल जाए, तो वह प्रचंड भी हो जाती है। यही इस शैली का प्राणतत्व है। प्रायः साखियों में तथा कुछ पदों में भी उनकी खंडनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। उनकी खंडनात्मक शैली का आधार प्रायः विचार हैं। यह और बात है, कि जिन तर्कों का उन्होंने आश्रय लिया है, वे शास्त्रीय न होकर, दैनंदिन व्यावहारिक जीवन से लिए गए हैं ताकि वे जनसामान्य की पकड़ से बाहर न हों, क्योंकि यही वर्ग इनकी वाणी का तथा उनके संदेश का लक्ष्य रहा है। यदि पत्थर की पूजा करके हरि को प्राप्त किया जाता है, तो पहाड़ की ही पूजा क्यों न की जावे? सरल बुद्धि का कितना सहज तर्क है! इसके लिये मस्तिष्क को कुरेदने की आवश्यकता नहीं। उसे तो हृदय और बुद्धि दोनों अनायास ही ग्रहण कर लेते हैं। संतों में ऐसे तर्क बहुत अधिक पाए जाते हैं। इनसे कहीं स्मिति उद्भूत होती है तो कहीं अट्टहास। दोनों ही अवस्थाओं में हास्यरस से अंतर आह्लादित हो उठता है। उनकी व्यंजना शक्ति का सर्वाधिक निखार इसी शैली में हुआ है! पंडित और ब्राह्मण को, मुल्ला तथा मौलवी को, योगी तथा बाह्याडंबरी को—सभी को उन्हीं की शब्दावली और भाषा में लताड़ा है। उनके अज्ञान पर कभी दया दिखाई है, तो कभी रोष। इसीलिये उनका खंडन कभी सामान्य है, तो कभी प्रचंड। उनके अधिक खंडनों में ओजगुण तथा परुषावृत्ति के दर्शन होते हैं। कहीं कहीं प्रसादगुण भी मिलता है, लेकिन ओजगुण के माध्यम से ही उनकी स्वाभाविक ललकार प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। उनके अटूट आत्मविश्वास ने उनकी अभिव्यक्ति को

[1] क. सा. प. पृ. २५-२६।

निर्भीक बनाया है। इसीलिये उसमें निश्छल सरलता के साथ अक्खड़पन भी मिलता है। कभी कभी उनकी ललकार को पौरुष ने शक्ति प्रदान की है। विरोधियों से कहीं मुकाबला हो गया, तो उनका उग्र एवं प्रचंड रूप देखते ही बनता है। सच पूछा जाए, तो संतों की खंडनात्मक शैली ही सबसे अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। धर्मपराङ्मुख होती हुई जनता को, उन्होंने सच्चे धर्म—मानव-धर्म—का पाठ पढ़ाया। उनकी खंडनात्मक शैली को बल मिला उनकी व्यंग्यात्मकता से। वस्तुस्थिति का उद्घाटन कर वे इस प्रकार प्रहार करते हैं, कि चुटकी बजाए बिना रहा नहीं जाता। उनका चुटीलापन उनके व्यंग्यों को बल देता है। सरलता एवं स्पष्टता के कारण जनसामान्य की उनके व्यंग्यों से अनायास ही आत्मीयता हो जाती है—

नागे फिरे जोग जो होई, बन का मिरग मुकति भया कोई।
मूड़ मुड़ाए जो सिधि होय, स्वर्गहिं भेड़ न पहुँची कोई॥

इतनी स्पष्ट समासशैली में इससे सरल तर्क और सशक्त व्यंग्य कम ही देखने को मिलेंगे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, कि कबीर आदि कुछ संतों की खंडनात्मक शैली में उद्दंडता है, तो गुरु नानक आदि संतों में विनयशीलता; कुछ साखियों में क्रांति का स्वर प्रखर है, तो दूसरी में शांतिमय सुधार का; कुछ में बौद्धिक तर्क है, तो दूसरों में भावमयी युक्तियाँ; कुछ की शैली एकदम स्पष्ट है, तो दूसरों की व्यंग्यपूर्ण; कुछ में केवल खंडन है, तो दूसरों में मंडन भी, कुछ में धार्मिक आडंबरों पर प्रहार है, तो दूसरों में नैतिक व्यवहार पर; कुछ का केंद्रबिंदु है समाज, तो दूसरों का व्यक्तिविशेष। इस प्रकार यह शैली उस युग के समाजसुधारक संतों के काव्य का गौरव एवं प्राण है, जो बहुत व्यापक जनसमाज को बहुत काल तक प्रभावित करती चली आ रही है। यह स्थायित्व एवं प्रभाव ही उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है।

रहस्यात्मक शैली—जनसमाज से अपनी साधनाओं को छिपाने तथा उनके रहस्य से उसे चमत्कृत करने के प्रयत्न में बौद्ध सिद्धों तथा नाथों ने रहस्यात्मक शैली का आश्रय लिया और उनकी इस परंपरा को बहुत से परवर्ती संतों ने भी अपनाया।[1] उल्टबासियाँ इस शैली का प्रधान अंग हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं प्रारंभिक प्रयोग के विषय में विद्वान् एकमत नहीं है।[2] जहाँ किसी बात को विपरीत या ऊटपटाँग ढंग से प्रस्तुत किया जाए, उसे 'उल्टबाँसी' कहा गया है।[3] बहुत से विद्वानों ने प्रसाद,

[1] हिं. सा. को., द्वि. खं. पृ. २३३।
[2] क. सा. पर पृ. १५२।
[3] सं. का., पृ. ६४।

गुण के अभाव में इसे 'अधमकाव्य' कहा है, लेकिन कुछ विद्वानों को सांकेतिक उल्टवासियों में उच्च श्रेणी के काव्य के दर्शन होते है।[1] संतों की सामान्य वाणी तो जनसामान्य के लिये थी, लेकिन गहराई में जाकर जिन्हे गूढ़ रहस्य को जानने की इच्छा थी, उनके लिये इस शैली का आश्रय लिया गया था। जनमानस भी इनसे चमत्कृत होकर आश्चर्यान्वित होता था। आध्यात्मिक जीवन, सांसारिक भ्रम एवं प्रपंच तथा योग एवं साधना का रहस्य इनके प्रमुख विषय है। इन विषयों के अनुरूप ही इनमें अनुभूतिपरक, चमत्कारपरक तथा गोपनपरक प्रवृत्तियाँ मिलती है। अपने अनुभव को, बौद्धिक ढाँचे में ढालकर प्रायः प्रतीकों तथा रूपकों के माध्यम से, रूपायित किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक एवं रूपक उनकी कल्पना की सूक्ष्म उड़ान के परिचायक है। वस्तुतः सतों की कल्पनाशक्ति का संपूर्ण वैभव इसी शैली मे देखा जा सकता है। साधनात्मक क्रियाओं का वर्णन उनके योग संबंधी ज्ञान का परिचायक है, तो आध्यात्मिक विरह का चित्रण उनकी अलौकिक अनुभूति का। यौगिक शब्दावली ने साधनापरक शैली को दुरूह बना दिया है, तो दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली ने अनुभूतिपरक शैली को। सहज स्वाभाविक सरलता एवं स्पष्टता, जो संतो की भाषा एवं शैली की सबसे बड़ी विशेषता थी, उसका स्थान कृत्रिमता, बौद्धिक दुर्बोधता, दुरूहता तथा अस्पष्टता ने ले लिया है। इसी भाषा को 'संध्या भाषा' कहा गया है—संभवतः गोधूलिवेला के धुँधलेपन एवं अस्पष्टता के कारण हो। इनसे प्रायः अद्भुत रस का संचार होता है—

समंदर लागीं आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूपां चढ़ि गई॥[2]

नदियाँ जल गई अर्थात् सभी सांसारिक इच्छाएँ नष्ट हो गई और तब समुद्र मे आग लग गई अर्थात् जीव में परमात्मा की विरहाग्नि की लौ जग गई। मछलियाँ पेड़ों पर चढ़ गई अर्थात् जीव का मन उच्च दशा को प्राप्त हुआ। कबीर अपने को ही सतर्क करते है, कि इसे जाग कर देख लो। ऊपर बताई गई अनुभूतिपरक शैली की सभी विशेषताएँ इसमे अनायास ही उपलब्ध है। इनमें सांकेतिक, पारिभाषिक, संख्यामूलक, रूपकात्मक तथा विरोधात्मक प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। सभी संतों में प्रतीकों की विविधता उपलब्ध है। न तो एक ही प्रतीक एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है और न एक ही भाव, विचार या वस्तु के लिये एक प्रतीक का ही निरंतर प्रयोग होता रहा है। अतः प्रत्येक उल्टवासी का अर्थ, संदर्भ विशेष मे ही,

[1] हिं. का. नि. सा. पृ. ४०६।
[2] क. ग्रं. (का. सं.) पृ. १२

समझा जा सकता है। इस प्रकार जहाँ प्रतीक इसका प्राणतत्व है, वहाँ विरोधमूलक अलंकार आवश्यक धर्म। इनमें भी प्रायः विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति तथा असंगति से उल्टवासी को अलंकृत किया गया है। संक्षेपतः कहा जा सकता है, कि एक ओर अनुभूति है, तो दूसरी ओर योग; एक ओर आंतरिक आह्लाद है, तो दूसरी ओर शारीरिक साधना; एक भक्तों के लिये है, तो दूसरी योगियों के लिये। परवर्ती संतों में भी इस शैली के कहीं कहीं दर्शन होते हैं।

संतो का काव्य मूलतः भाव या विचारप्रधान है, क्योंकि काव्यरचना उनका उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतना होने पर भी उनके 'अनुभूत सत्य' की अभिव्यक्ति इतनी सशक्त है, कि उसे शैली के कृत्रिम आवरण की आवश्यकता नहीं। यह और बात है, कि हमने उनकी सहज स्वाभाविक, निश्छल एवं सशक्त वाणी में शैली के अन्यान्य तत्वों को ढूँढकर अपनी सुविधा के लिये उसे वर्गीकृत किया है, लेकिन संतों की मूल शैली उनके सरल, एवं निष्कपट व्यक्तित्व की समाज के उपयुक्त अभिव्यक्ति ही है।

अलंकार एव प्रतीक योजना—संतों की शैली का विश्लेषण करते हुए इस दिशा में इंगित मात्र किया जा सका है। इनका थोड़ा सा परिचय भी अपेक्षित है। संतों के काव्य को कृत्रिम अलंकरण की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई, लेकिन कहीं कहीं अलंकार अनायास ही उनकी वाणी से अलंकृत होकर गौरवान्वित होने चले आए। अर्थालंकारों में भी सादृश्यमूलक अलंकारों का संतकाव्य में विशेष प्रयोग मिलता है। रूपक और उपमा के अन्यान्य भेदो, उपभेदों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अन्योक्ति, दृष्टांत आदि अलंकारों का भी स्वाभाविक प्रयोग देखने को मिलता है:

हाड़ जरै ज्यूँ लाकड़ी, केस जरैं ज्यूँ घास।
सब जग जरता देखि करि भया कबीर उदास॥[1]

लकड़ियों को जलते किसने नहीं देखा? उसके मानस पटल पर इतने मात्र से जो प्रभाव अंकित हुआ है, उसे कौन मिटा सकता है! इससे प्रभावोत्पादक उपमा क्या होगी, जो दैनंदिन व्यवहार के निरंतर प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं से जीवन के स्थायी मूल्यों का तालमेल बैठाने का प्रयत्न करे। 'घट दीपक' वाले रज्जब जी के दोहे में सांगरूपक देखते ही बनता है।[2] शब्दालंकारों में से अनुप्रास के बहुत से भेदों तथा यमक आदि अलंकारों के अनायास ही संतकाव्य में दर्शन होते हैं।[3]

[1] क. ग्रं. प. २२।
[2] र. वा. पृ० ३३।
[3] विस्तृत विवरण के लिये देखें—हिं. सा. सं. पृ० ११८।

प्रतीक दृश्य के माध्यम से अदृश्य को ग्राह्य बनाता है। संतों का ब्रह्म न केवल अदृश्य है, अपितु वह तो इंद्रियातीत भी है। संतों को उससे प्रेम हो गया। प्रेम अलौकिक था, पर संत लौकिक। अतः उन्होंने सभी लौकिक प्रतीकों के माध्यम से न केवल अलौकिक के रूप, गुण आदि का परिचय प्राप्त किया, अपितु 'हरि जननी मैं बालक तोरा' से संबंध आरंभ कर 'राम की बहुरिया' का रूप धारण कर लिया। आत्मीयता का चरम रूप तो इसी संबंध में है। आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त उनके लौकिक प्रतीक भी बड़े ही सशक्त बन पड़े हैं। विशेष रूप से उनकी रहस्यात्मक शैली में सांकेतिक, पारिभाषिक, संख्यावाचक आदि सभी प्रकार के प्रतीकों के दर्शन होते हैं। इनके सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग से उनकी भाषा में जो साहित्यिकता आई है, उससे कहीं बढ़कर उनके भावों को बल मिला है। यही इनकी सफलता का रहस्य है।

छंद एवं राग—संतों के काव्यरूपों में प्रयुक्त कुछ छंदों का उल्लेख किया जा चुका है। अपभ्रंश की परंपरा में प्राप्त दोहा छंद का छंदों की साखियों में सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। रचना, स्मृति तथा आवृत्ति की दृष्टि से युग के अनुरूप उसकी उपयोगिता को सभी ने अनुभव किया और इसे बहुतायत से अपनाया। लोकभावों की अभिव्यक्ति जिस सरलता, स्पष्टता और सामर्थ्य से इसमें हुई, उसने लेखक और श्रोता दोनों को ही अत्यधिक प्रभावित किया। सोरठे, चौपाई, दोही, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पै आदि अनेक छंदों के उदाहरण भी संतों की साखियों में मिलते हैं।[1] रमैनियों में दोहे के अतिरिक्त चौपाई, अरिल्ल, तथा उनकी अन्य रचनाओं में पद्धरि, उपमान, रूपमाला आदि साहित्यिक छंदों के अतिरिक्त लोकछंदों का भी प्रयोग हुआ है। सच तो यह है कि इनके छंदों में शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं हुआ, क्योंकि न तो उनका उन्हें ज्ञान था और न ही चिंता। जिस लय तान, यति गति, तथा तुक और सम का तालमेल बिठाने के लिये छंदों का प्रयोग होता है, संतों का काव्य, छंद की उस आत्मा से, अनुप्राणित दिखता है, अतः यदि इन नियमों और बंधनों की औपचारिकता का वहाँ पालन नहीं भी हुआ, तो भी कोई बात नहीं।

संतों के पदों में राग का विशेष स्थान है। भक्त की भक्ति के गान में लय, तान और सुर का संधान अनायास ही हो जाता है। उसकी तल्लीनता और तन्मयता में घिसकर प्रत्येक वर्ण संगीतमय हो जाता है। जो होड़ अब तक शब्द और अर्थ में होती थी, अब वह भाव और राग में होने लगी। संपूर्ण पद तो क्या वातावरण

[1] क० सा० प० पृ० १८६।

ही रागमय हो जाता है। इसीलिये उनके पदों को कई कृतियों में रागों के अंतर्गत संग्रहीत किया गया है। आदि ग्रंथ' के १८ रागों में १५ संतों की वाणियाँ संग्रहीत है तथा कुल ३१ रागों में पाँच गुरुओं की भी।[१] परवर्ती संतों की वाणी को भी शिष्यों ने रागों में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। स्त्री, गउड़ी, गूजरी, आसा, बिहागड़ा, धनासरी, सूरी, बिलावलु, गोंड, रामकली, मारु, भैरउ, बसंत, सारंग, आदि अनेक रागों का संतों की वाणी में बहुतायत से उपयोग हुआ है।[२] वस्तुतः यह भाव एवं राग का अद्भुत समन्वय ही है जो जनमानस को 'विस्माद्' के माध्यम से अनायास ही आध्यात्मिक एवं उदात्त जीवन की प्रेरणा देता है और यही संतकाव्य का लक्ष्य है। अतः संपूर्ण संतकाव्य में राग के विशेष महत्व को भुलाया नहीं जा सकता।

(ङ) दोषविवेचन व वास्तविक देन

(१ दोषविवेचन - संतों के काव्य को शास्त्रीय कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इस कसौटी पर उनके काव्य का मूल्यांकन करनेवालों ने तो इसमें काव्यत्व का ही अभाव पाया है। यही उनके काव्य का सबसे बड़ा दोष समझा गया है। लेकिन उनकी बहुत कम रचनाएँ ऐसी है। इनके 'अनुभूत सत्य की सशक्त अभिव्यक्ति,' 'प्रायः सरसतापूर्वक इनकी भावनाओं को उदात्त बना देती है और रुचि का परिष्कार भी करती है, अतः 'काव्यत्व के अभाव' का दोष केवल उनके शुष्क, नीरस, उपदेशात्मक एवं सांप्रदायिक साहित्य पर ही लागू होता है।

विषयों की दृष्टि से भी संतों के काव्य में न केवल विविधता का अभाव देखने को मिलता है, अपितु उन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति की भी पुनरावृत्ति बहुतायत से अखरती है। चाहे विषय कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर नवीनता की अपेक्षा तो बनी ही रहती है। जिन्होंने संतो की वाणी का दार्शनिक विश्लेषणपरक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, उन्हें उसमे सिद्धांतगत स्पष्टता तथा संबद्धता का अभाव दिखाई देता है। यह है भी ठीक, क्योंकि संतों की वाणी तो 'अनुभूति की अभिव्यक्ति' मात्र है, दार्शनिक विचारो की संबद्ध व्याख्या नहीं। कुछ विद्वानों को संतों की वाणी में जनमानस की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व नहीं मिलता और इसे भी उन्होंने संत-काव्य का अभाव कहा है। संत युगनेता थे, अतः उन्होंने समाज का नेतृत्व किया, जिससे उनकी रचनाओं ने जनसमाज को प्रेरित एवं परिचालित किया।

उनके निरीह व्यक्तित्व की अक्खड़ता एवं उद्दंडता, स्पष्टता एवं निर्भीकता, सादगी तथा सरलता, असहिष्णुता एवं असमन्वय की भावना बहुतायत से उनके

१ श्री गु० ग्रं० सा० द० प० पृ० ३४-३५।
२ सं० धा० वि० पृ० १२६-१३१।

काव्य मे प्रस्फुटित हुई है। काव्यत्व की दृष्टि से इन तत्वों को भी कुछ विद्वानों ने उनके काव्य का दोष बताया है, यद्यपि यही तत्व उनकी खंडनात्मक शैली के गुण हैं। शृंगार को रसराज माननेवालों की शांत रस से तृप्ति कहाँ। वे भक्ति को रस की कोटि मे आने ही नहीं देते। सो इन्हे इस काव्य मे अन्यान्य रसों का परिपाक बहुत कम मिलता है तथा बहुत से स्थलों पर रसाभास एवं रसव्याघात भी मिलता है। रसदृष्टि से ये सब दोष हैं, लेकिन डॉ० रामखेलावन पांडेय ने 'आध्यात्मिक शृंगार' रस की योजना कर इसका समाहार करने का प्रयत्न किया है।[1]

संतों की रहस्यात्मक या उलटवासी परक शैली को भी 'अधमकाव्य' की कोटि मे रखा गया है। अस्पष्टता, दुर्बोधता एवं दुरूहता, शुष्कता आदि दोषों ने उन्हें संतकाव्य नहीं बनने दिया। छंदो का उन्होंने सप्रयास या सतर्क होकर प्रयोग करने का कभी प्रयास नहीं किया, अतः उनमे मात्राओं की कमी या अधिकता तथा गणों के अनुचित प्रयोग के बहुतायत से दर्शन हो जाते हैं। परंतु अलंकारो में जहाँ सभी तत्व ठीक से नहीं मिलते, वहाँ उन्हे कोई नाम ही नहीं दिया जा सकता, सो दोष कैसा ?

संतों के काव्य का उपलब्ध स्वरूप कितना प्रामाणिक है, इसपर विचार किए बिना ही, उनकी भाषा मे मिलनेवाले शब्दों के अशुद्ध रूपों तथा उनके अशुद्ध प्रयोगों के विषय मे कुछ कहना बहुत उपयुक्त नहीं। लेकिन उनकी जैसी वाणी उपलब्ध है, उसमे भी इन दोषों के पर्याप्त मात्रा मे दर्शन होते हैं। कहीं कहीं लिंग, वचन आदि व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं। कभी कभी उनके गहन एवं अनुभूतिप्रवण विचारों की अभिव्यक्ति में हमें उनकी असमर्थ भाषा के दर्शन होते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि उनके भाव, उनकी भाषा से, कहीं आगे बढ़े हुए थे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, कि उनसे एक बार भावतादात्म्य स्थापित होने पर, उनके दोष अखरते नहीं। युग की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही उनका मूल्यांकन करके उनके साथ न्याय किया जा सकता है।

(२) वास्तविक देन—पैतृक संपदा मे प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक समृद्धि संतों के जीवन का सबसे बड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान है तथा आंतरिक गुणों के विकास के कारण, प्रखर व्यक्तित्व भी इस नैतिक समृद्धि की ही देन है। समाज के तथाकथित निम्नवर्ग उद्भूत इन संतों के विरोध में समाज ने, दुःसाहस एकत्रित किया लेकिन, कौन जानता

[1] म० का० सं० सा० पृ० २४४।

था कि उसका यह दुस्साहस ही संतों को वह अदम्य शक्ति भी प्रदान करेगा जिससे ये, इस आडंबरपूर्ण समाज को ठुकराकर इसे अपने पीछे लगा लेंगे। समाज के इस दुस्साहस ने इन्हें तनकर खड़े होने की शक्ति प्रदान की। इन्हें अपनी शक्ति सामर्थ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्मनिष्ठा और आत्मविश्वास के बल पर ये न केवल स्वयं ही खड़े हुए, अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी इन्होंने अपने साथ खड़ा पाया। यह इनकी सफलता का पहला चिह्न था।

वस्तुतः 'संत' कोई व्यक्तिविशेष न होकर भावनाविशेष है जिसका युगधर्म के अनुरूप अन्यान्य युगों मे भी प्रसार हुआ। मध्ययुग मे संतों की इस भावना ने आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों मे पतनोन्मुख समाज को नैतिक एवं क्रियात्मक संबल देकर, एक बार फिर अपने पैरों पर खड़ा होने का साहस प्रदान किया। इन संतों की सबसे बड़ी देन यही है कि इन्होंने इस भावना को ऐसी अविच्छिन्न एवं सशक्त परंपरा प्रदान की, जो आज तक अबाध गति से प्रवहमान है। और सच पूछा जाए तो, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महात्मा गांधी, श्री अरविंद तथा विनोबा भावे इसी परंपरा के आधुनिकतम फल हैं।

'मंत्रद्रष्टारः' ऋषियों की भाँति इनकी वाणी मे ब्रह्मानुभूति की अभिव्यक्ति मिलती है। इससे न केवल इन्होंने जनसमाज का ब्रह्म से रागात्मक परिचय करवाया. अपितु, धार्मिक आडंबरों, सामाजिक अनाचारों तथा राजनीतिक अत्याचारों मे पिसती हुई जनता की प्रसुप्त आत्मा को उद्बुद्ध कर, आध्यात्मिक दृष्टि ही भारत की आत्मा को जीवित और जाग्रत रख सकी। वस्तुतः यही संतों की सबसे बड़ी देन है।

आध्यात्मिक जीवन का आधार है, दर्शन तथा उसका माध्यम है, धर्म। शंकर के दर्शन से जनसामान्य तो क्या युग के बौद्धिक वर्गवाले भी, तादात्म्य स्थापित न कर सके थे, फिर उसे अपनाने की बात ही कहाँ? लेकिन संतों की अनुभूति ने जनमानस को जिस दर्शन के दर्शन कराए, वह अनायास ही उनके जीवन का अंग बन गया। समाज को उसे समझने की आवश्यकता ही न पड़ी, क्योंकि बिना समझे ही, वह उनकी रग रग में समाता चला गया। संभवतः इसीलिये आज का बौद्धिक वर्ग भी उसे 'वाद' के बंधन में आबद्ध करने मे असफल है। भारतीय परंपरागत दार्शनिक दृष्टि का अनुभूत्याधारित महत्व स्थापित कर एक बार फिर विक्षुब्ध जनमानस को स्वस्थ, सशक्त जीवनदर्शन से अनुप्राणित करना इन संतों की महान् देन है।

भारतीय समाज को परिचालित करनेवाली सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है, धर्म, लेकिन विदेशियों के राजनीतिक आक्रमणों के बाद, उनके मजहब संबंधी अत्याचारों ने एक

बार तो इस धर्म को ही विचलित कर दिया था। ऐसे समय पर राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अत्याचारों को सहन करने मे असमर्थ जनसमाज धर्मपराङ्मुख होता जा रहा था। भारतीय धर्म के ठेकेदारों ने भी आडंबर, आवरण तथा अनावश्यक आचारों एवं क्रिया कलापों के द्वारा, धर्म के प्राणतत्व को निष्क्रिय सा कर दिया था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, बाह्य एवं आतरिक अधार्मिक तत्वों ने धर्म के सत्य एवं औचित्यपरक स्वरूप को आविर्भूत होने के लिये विवश सा कर दिया था। श्रीकृष्ण का यह कार्य कबीर आदि मध्यकालीन संतों ने, बड़ी सफलतापूर्वक किया। जीवन और धर्म के बीच बनी हुई खाई को उन्होंने, अपनी वाणी के रस से, भर दिया। वैयक्तिक चरित्र को सामाजिक परंपराओं एवं मान्यताओं से अधिक महत्व प्रदान किया। चरित्रवान् की समाज मे प्रतिष्ठा की, चाहे वह किसी भी समुदाय के सिद्धांतों मे विश्वास क्यों न रखता हो। धर्म को वर्गविशेष की पैतृक-संपदा समझनेवाले थोथे आचारप्रधान अधिकारियों से लोहा लेकर इसे जनसमाज की संपत्ति बनाने का श्रेय इन्हीं संतों को है। भगवान् किसी वर्गविशेष का नहीं, जो भी उसे सच्चे हृदय से पुकारे, वह तो उसी का बन जाता है और उसे अपना लेता है। इसीलिये उन्होंने भक्त की सरल कसौटी बनाई–'हरि कौ भजै सो हरि का होई।'

इस प्रकार शताब्दियों से जनसमाज के लिये बंद धर्म का द्वार सदा के लिये खोल दिया। जप, तप, पूजा, माला, वेश, तीर्थयात्रा, स्नान, दान, पुण्य, व्रत, उपवास तथा रोज़ा, नमाज, वज़ू, बाग, हज्ज आदि बाह्याडंबरों का जी भरकर विरोध किया और उनके विरोध का आधार थी, सत्य की अनुभूति। वे रागद्वेष से निर्लिप्त थे, अतः विरोध उन्होंने व्यक्ति का नहीं, उसकी बुराइयों का किया है और वह भी सद्भावना से प्रेरित होकर। समाज को व्यापक रूप से इस प्रकार की दृष्टि संभवतः पहले कभी नहीं मिली थी।

ज्ञानियों के शुष्क ज्ञान को त्याग कर, उन्होंने अनुभूत्याधारित उपलब्ध ज्ञान को प्रश्रय दिया। योगियों की जटिल दैहिक क्रियाओं का विरोध करके भी उन्होंने स्वस्थ देह का महत्व स्वीकार किया। भक्ति के भावहीन बाह्य आवरणों का तो उन्होंने विरोध किया ही था मूर्तिपूजा करनेवालों का, अंतर मे बैठी मूर्ति से, परिचय कराया, मंदिर जानेवालों को 'मनमंदिर' की याद दिलाई, 'कर का मन का' फेरनेवाले को 'मन का मनका' ला पकड़ाया, तीर्थों मे भ्रमण करनेवालों को सतगुरुरूपी तीर्थ के दर्शन कराए, गगास्नान करनेवालों को अंतःस्नान कराया, व्रत रखनेवालों को वास्तविक व्रत का महत्व बताया। इन आवरणों के माध्यम से भक्ति अपनाने में प्रयत्नशील व्यक्तियों को भक्ति के मूलतत्व, भावपूर्ण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का भी इन्होंने विरोध नहीं किया, अपितु, उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर, सहज और स्वाभाविक बना दिया, ताकि जनसमाज भावपूर्ण हृदय से, बिना किसी

आडंबर के भी, उसे अपना सके। सच पूछा जाए तो, उन्होंने एक बार फिर ज्ञान, भक्ति और कर्म की एकांगिता का विरोध कर—तीनों का उचित समाहार कर—समन्वित जीवनदृष्टि प्रस्तुत की है। इस प्रकार, तीनों के विकारों से तंग आकर, धर्मपरांङ्मुख होती हुई जनता को एक बार फिर धर्मोन्मुख किया। धार्मिक दृष्टि से संतों की इससे बड़ी देन हो भी क्या सकती थी?

मानव के स्वभाव, रुचि, गुण तथा कार्य मे विविधता के होते हुए भी, प्रत्येक मानव को समता के धरातल पर समझना उनकी मानवतावादी दृष्टि का ही परिणाम था। इसीलिये छीपी, दर्जी, नाई, कसाई, जुलाहा, चमार, जाट और राजा समाज के अन्यान्य स्तरों से आए हुए लोगों से उन्होंने अपनी 'संतमाला' का निर्माण किया। रूप, रंग, धर्म, अर्थ, कर्म, जाति व प्रदेश आदि किसी भी आधार पर उन्होंने मानव मानव के भेद को स्वीकार नहीं किया, अपितु, व्यापक मानव समाज तक अपना सदेश पहुँचाने के लिये, उन्होंने सभी भाषाओं के शब्दों एवं प्रदेश की अन्य विशेषताओं को भी अपनाया। इससे स्पष्ट है, कि अनेकविध विभक्त समाज को उन्होंने पुनः एक ही मानवीय धरातल पर लाने का प्रयत्न किया।

इस जात पाँत के झमेले ने संतों के गुरु रामानंद को भी अपने गुरु रामानंद को भी अपने गुरु से नरक जाने का शाप दिलवाया था, जुलाहे कबीर को शिष्य नहीं बनने दिया था, चमार रविदास को भोज में नहीं बैठने दिया था, जाट धन्ना को पूजा नहीं करने दी थी, छीपी नामदेव को मंदिर में नहीं घुसने दिया था, कसाई सधना के बाटों को अपवित्र बता दिया था, नाई सेन को समय पर न पहुँचने के कारण बुरा सेवक ठहराया था। लेकिन जनसमाज को इस बात का ज्ञान न था, कि कि ये संत युगप्रवर्तक हैं। रामानंद तथाकथित निम्नवर्ग के व्यक्तियों को भी गुरुमंत्र देकर अमर हो गए थे, कबीर ठोकर खाकर ही शिष्य बन गए थे, रविदास ने, चमार होकर भी, प्रत्येक ब्राह्मण के साथ बैठकर भोजन किया था, भगवान् ने जाट धन्ने का अन्न ग्रहण किया था, छीपी नामदेव के लिये तो मंदिर का देहुरा ही घूम गया था और इन सबसे बढ़कर नाई सेन के स्थान पर तो भगवान् स्वतः ही राजा की सेवा कर गए थे। इन क्रांतिकारी संतों ने ऋग्वेद की समता की ध्वनि की और उच्च स्वर से घोषणा करते हुए, तत्कालीन जनसमाज को निनादित कर दिया था।[1] संतों ने अपने व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से सिद्ध कर दिया, कि जीव अपने सत्कर्मों एवं प्रयत्नों से महान् हो सकता है, चाहे किसी भी कुल

[1] संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

या व्यवसाय से उसका संबंध क्यों न हो ! इस प्रकार उनका सबसे प्रधान स्वर मानव, मानव की एकता का, समता का स्वर था ।

सांसारिक विषमताओं से घबराकर, वेशधारी साधु का रूप धारण कर, वे भागकर जंगल मे ब्रह्म की साधना करने नहीं गए । उन्होंने, नारी के कामिनी रूप की निंदा करके भी, सामान्य गृहस्थ जीवन को अपनाया । इस प्रकार समाज में पहली बार गृहस्थ संतों की परंपरा स्थापित की । लौकिक जीवन की विषमताओं से जूझने के लिये तथा उसकी उलझनों को, क्रियात्मक जीवन के माध्यम से, सुलझाने के लिये इससे अच्छा उपाय उनके पास न था ।

पारिवारिक आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिये उन्होंने निष्कर्मण्यता का विरोध किया । साधु को, वेशधारी होने के स्थान पर, जनसामान्य में रहकर ही, 'साधु' बनने का क्रियात्मक संदेश दिया । निष्काम कर्मण्य जीवन का समाज मे महत्व स्थापित किया । इसीलिये उन्होंने 'उपदेश' नहीं दिया, अपितु अपने जीवन के माध्यम से, 'संदेश' दिया है । कबीर लगभग जीवन भर वस्त्र बुनता रहा, नामदेव उसे सीता रहा, रैदास जूते गाँठता रहा, धन्ना खेती करता रहा, सेन सेवा करता रहा, सधना माँस बेचता रहा तथा नामदेव और त्रिलोचन का संवाद तो प्रसिद्ध ही है जिसमें नामदेव ने बताया है, कि हाथ पैर से कार्य करते हुए भी, उसका ध्यान भगवान् में ही है ।[१] इस प्रकार संतों का यह सदेश गीता के निष्काम कर्मण्य जीवन की पुनः स्थापना करता है । इस प्रकार, व्यावहारिक गृहस्थ तथा क्रियात्मक, कर्मण्य जीवन के माध्यम से, उन्होंने एक साथ ही लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना की । संतों की इस संतुलित दृष्टि ने भारतीय समाज को एक नई व्यवस्था देने का सफल प्रयत्न किया, जिसका प्रभाव आज भी देखा जा सकता है ।

राजनीतिक क्षेत्र से अत्याचारी शासकों से टक्कर लेने की क्षमता भौतिक दृष्टि से निर्बल संतों मे चाहे न प्रतीत होती हो, लेकिन, सबल नैतिक एव आंतरिक शक्ति के बल पर ही, ये उनके अत्याचारों से मुकाबला कर सके । सिकंदर लोदो के चंगुल मे फँसे हुए कबीर को हाथी ने कुचलने के स्थान पर नमस्कार किया था और गंगा ने उसे बहाने के स्थान पर उसकी जंजीर को ही तोड़ बहाया था । सिख गुरुओं को दी जानेवाली यातनाओं से बढ़कर, उनके बच्चों को भी उनके सामने ही जिंदा दीवारों में चुनवा दिया गया था, पर वे अत्याचार भी हिंदुओं से 'हिंदुत्व' न छुड़वा सके, उनके परमात्मा को न भुलवा सके । तब तक जनता की धमनियों मे फिर से भारतीय

१ श्री गुरु ग्रंथसाहिब, सलोकु कबीर सं. २१२-२१३

धर्म का रक्त प्रवाहित होने लगा था। उन्हें पता लग चुका था, कि धर्म का रहस्य व्यक्तिगत आचरण में निहित है, समाजगत बाह्याचार में नहीं। इस प्रकार राजनीतिक-अत्याचारों ने जहाँ जनता को अधिक धर्मनिष्ठ होने पर विवश किया, वहाँ उन्हें नैतिक शक्ति भी प्रदान की। यह कार्य भी, इन संतों के माध्यम से ही हुआ।

संत मूलतः कवि न थे, लेकिन उनकी 'अनुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति' अनायास ही उत्कृष्ट काव्य के गुणों से भरपूर हो गई। लौकिक माध्यमों से अलौकिक का मूर्तीकरण, सूक्ष्म एवं गंभीर दार्शनिक विषयों की सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति; धार्मिक सिद्धांतों की सरस व्याख्या तथा आडंबर व आचारों की कटु, व्यंगात्मक, प्रभावोत्पादक आलोचना; भक्ति के पदों की भावप्रवण संगीतात्मकता; अलौकिक से अपने संबंध की रहस्यात्मकता, एवं पारिभाषिक शब्दावली की सहजता, विषय एवं भक्ति के अनुरूप भाषा एवं शैली की विविधता, न केवल काव्यरचना संबंधी उनकी सामर्थ्य, योग्यता तथा प्रतिभा की परिचायिका है, अपितु उनके काव्य की विशेषताओं ने ही उनकी वाणी को अमरत्व प्रदान किया है। कबीर आदि संतों की वाणी ने ही संपूर्ण भारतीय साहित्य को इस प्रकार की विचारधारा से अनुप्राणित कर दिया। विरहिणी मीराँ ने संत रैदास को, साक्षात् गुरु के रूप में, स्वीकार किया था। आधुनिक युग में कवींद्र रवींद्र ने भी कबीर के प्रभाव को स्वीकार किया है। संतों की वाणी न केवल सामाजिक आचार के लिये, अपितु परवर्ती काव्य के लिये भी, आलोक-स्तंभ सिद्ध हुई। केवल भारतीय ही नहीं, अपितु विश्व भर के रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक काव्य में संत काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

तत्कालीन जनता भूखी और नंगी थी, श्रांत और अशांत थी, निस्सहाय और निराश्रित थी, अज्ञान और अंधकार मे डूबी हुई थी, उसे कोई राह सुझानेवाला न था, उसे कोई मार्ग पर लगानेवाला न था, उसे कोई आगे बढ़ानेवाला न था, उसे कोई सहलानेवाला, पुचकारनेवाला और दुलराकर मनानेवाला न था।

इस प्रकार सब संतों ने मिलकर अस्वस्थ समाज को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया था, निर्बल समाज को सबल बनाने का साहस एकत्रित किया था, नंगे को वस्त्र पहनाए थे, भूखे को खिलाया था, अशांत को शांत किया था और श्रांत को विश्राम दिया था, निराश्रय को आश्रय दिया था, निस्सहाय की सहायता की थी, उद्विग्न की उद्विग्नता हर ली थी, अज्ञानियों को ज्ञान दिया था, योगियों को (सहज) योग सिखाया था, मायालिप्तों को निर्लिप्त किया था, बाह्याडंबर मे फँसी आचारहीन जनता को आचारवान् बनाया था, अंधकार में डूबे हुए को प्रकाश में ला बिठाया था। समाज से ठुकराए हुए हरिजनों को गले लगाया था। गंगा

के दर्शन करनेवालों को भगवान् के दर्शन कराए थे, उसका जलपान करनेवालों को नामरसामृत का पान कराया था और पतितपावनी मे स्नान करनेवालों को तो भक्तिरस में ही अवगाहन कराया था।

संक्षेपतः आध्यात्मिक भावना का प्रसार, दर्शन की सरल एवं व्यावहारिक व्याख्या, धर्म का स्वस्थ एवं चरित्रप्रधान रूप, लौकिक गृहस्थ तथा निष्काम कर्मण्य जीवन की योजना, समाज मे मानव ऐक्य व समता का स्वर, साहित्य में निश्छल अनुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति, उनकी देन के केंद्रबिंदु हैं। इस प्रकार 'कथनी एवं करनी' के ऐक्य के मसाले से उन्होंने जीवन और धर्म के बीच की खाईं पाटकर अपनी महत्ता का परिचय दिया। इसीलिये, भारतीय जीवन में, उनका अक्षुण्ण स्थान बना रहेगा।

सहायक साहित्य

प्रथम खंड

१ 'श्वेताश्वतर उपनिषद्'
२ 'श्री मद्भगवद्गीता'
३ 'कबीरग्रंथावली' (सं० श्यामसुंदरदास) काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
४ ए मेटाफिजिक आफ़ मिस्टिसिज्म (ले० ए०, गोविंदाचार्य) मैसूर, १६२३
५ हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन (सं० डा० हिरण्मय) आगरा, १६५६ ई०
६ मराठी का भक्तिसाहित्य (ले० श्री० भी० गो० देशपांडे), वाराणसी, सं० २०१६
७ भक्तमार्गी बौद्धधर्म (अनु० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी), इलाहाबाद
८ अप्पर (सं० जी० ए० नटेसन), मद्रास ।
६ पाहुड़ दोहा (सं० हीरालाल जैन), गोपाल अंबादास चवरे, कारंजा, सं० १६६७
१० कर्णाटक दर्शन (सं० आर० एस्० बुक्केरीकर आदि) मालाबार हिल, बंबई-६
११ अमृतानुभव
१२ दासबोध
१३ दि डेलही सल्टनेट (सं० आर० एस० मजूमदार), भारतीय विद्याभवन, बंबई, सन् १६६० ई०
१४ चंदायन (सं० डा० परमेश्वरीलाल गुप्त), हिंदी ग्रंथरत्नाकर, बंबई-४, सन् १६६४ ई०
१५ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुगल रूल इन इंडिया (ले० डा० ईश्वरीप्रसाद), दि इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १६३६ ई०
१६ विद्यापति पदावली (प्रथम भाग), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६६१ ई०
१७ कुतबन कृत मृगावती (सं० डा० शिवगोपाल मिश्र), हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, शक सं० १८८५
१८ पदमावत (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त), भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सन् १६६३
१६ कदम राव पदम (अप्रकाशित)
२० कश्फ अल् महजूब (अनु० मौ० मुहम्मद हुसेन मनाजिर), अशायत मंजिल बिलरोड, लाहौर

२१ अकबर (ले० राहुल सांकृत्यायन) किताब महल, इलाहाबाद १९५७
२२ कबीर कसौटी (ले० भाई लेहनासिंह) वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई सं० १९७१।
२३ 'आदिग्रंथ' (तरणतारण संस्करण)
२४ कवितावली (सं० रामचंद्र शुक्ल आदि) का० ना० प्र० सभा, तुलसी ग्रंथावली (दूसरा खंड) सं० २००४।
२५ रामचरितमानस (सं० शंभुनारायण चौबे) का० ना० प्र० सभा, वाराणसी सं० २००५।
२६. बर्नियर्स ट्रैवेल्स इन दी मुगल इंडिया (कान्स्टेबल ऐंड स्मिथ)
२७. आईन ए अकबरी (अनु० ब्लाकमैन जेरेट) कलकत्ता १८९१
२८. प्राकृतिक साहित्य का इतिहास (ले० डा० जगदीश चंद्रजैन) चौखंबा विद्या-भवन, वाराणसी १९६१
२९. प्रीमुगल पर्शियन इन हिंदुस्तान (ले० मुहम्मद अब्दुलगनी) इलाहाबाद लाजर्नल प्रेस, सन् १९४१ ई०
३०. अपभ्रंशभाषा और साहित्य (डा० देवेंद्र कुमार जैन) भारतीयज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६६ ई०

द्वितीय खंड

१ उत्तरीभारत की संत परंपरा (प्रथम संस्करण) (ले० परशुराम चतुर्वेदी) भारती भंडार लीडर प्रेस इलाहाबाद (प्रथम संस्करण)।
२ 'ऋग्वेद'
३ तैत्तिरीय उपनिषद्
४ नीतिशतक (भर्तृहरि)
५ नारद भक्ति सूत्र
६ शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
७ कबीर साहित्य का अध्ययन (ले० पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव) साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस, सं० २००८।
८ गीतगोविंद
९ श्रीमद्भागवत (गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण)
१० हिंदी साहित्य का इतिहास (ले०रामचन्द्र शुक्ल) इंडियन प्रेस प्रयाग सं०१९८९
११ श्री गुरुनानक प्रकाश (ले० भाई संतोष सिंह) सं०१८८० अकाली हरिराम सिंह नहर बाग, फौजाबाद।
१२ दि सिख रैलिजन (डा० मेकालिफ) ६ भाग सन् १९०० ई०
१३ भक्तमाल (नाभादास) नवल किशोर प्रेस, लखनऊ सन् १९०६।

१४ सन्तनामदेव की हिन्दी पदावली (सं० डा० भगीरथ मिश्र) पूना विश्वविद्यालय पूना १९६४ ई० ।
१५ योगप्रवाह (स० डा० सम्पूर्णानन्द) काशी विद्यापीठ, वाराणसी, सं० २००३ ।
१६ कबीर-बीजक (हरक संस्करण) ।
१७ कबीर-साखी संग्रह (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग) ।
१८ बुद्धचरित्र ।
१९. संतकबीर (सं० डा० राम कुमार वर्मा) इलाहाबाद, १९४२ ई० ।
२०. पीपाजी की परचई (भगतदास)
२१. हिंदुई साहित्य का इतिहास (अनु० डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय) हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद सन् १९५३ ई० ।
२२. दादू (क्षितिमोहन सेन) शांतिनिकेतन बुक डिपो कलकत्ता सं० १३४२ ।
२३. भक्तमाल (राघोदास) (सं० अगरचंद नाहटा) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर स० २०२१ ।
२४. रज्जबवाणी (सं० डा० ब्रजलाल वर्मा) उपमाप्रकाशन कानपुर १९६३ ई० ।
२५. सुंदर ग्रंथावली (सं० हारिनारायण शर्मा) राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता सं० १९९१ ।
२६. गरीबदास जी की वाणी (सं० स्वा० मंगलदास) श्री स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर सं० २००४ ।
२७. बषनाजी की वाणी (सं० स्वामी मंगलदास) स्वामी मंगलदास स्वामी लक्ष्मी राम ट्रस्ट जयपुर सं० १९९३ ।
२८. पंचामृत (सं० स्वामी मंगलदास) स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर सन् १९४८ ई०
२९. हिंदीसाहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा)
३०. स्वामीरामानंद की हिंदी रचनाएँ (सं० डा० पी० द० बडथ्वाल) का० ना० प्र० सभा, वाराणसी सं० २०१२ ।
३१. दादूदयाल की वाणी (सं० परशुराम चतुर्वेदी) काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० २०२३ ।
३२. दि साधस (ले० डब्लू० एल० एलिसन) कलकत्ता सन् १९३५ ।
३३. कबीर ऐंड हिज फालावर्स (डा० एफ० ई० के०) कलकत्ता १९३१ ई० ।
३४. ए ग्लासरी आफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्टर्स भा० ३ लि० एच० ए० रोज) ।
३५ दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोएट्री (डा० पी० डी० बडथ्वाल) इंडियन बुक शॉप बनारस, १९३६ ई० ।
३६ कबीर (ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी) हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, १९४२ ई०

३७ परिचयी साहित्य (ले० डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित), लखनऊ विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन, १९५७ ई०
३८ शिवसिंह सरोज
३९ संतमाल (ले० महर्षि शिवब्रतलाल) मिशन प्रेस, इलाहाबाद
४० तुरसीदास निरंजनी (डा० भगीरथ मिश्र), लखनऊ विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन, सन् १९६४
४१ श्री हरि पुरुष जी की वाणी (सं० सेवादास) जोधपुर सं० १९२८
४२ संत सिंगा जी, सियाजी साहित्य शोधक मंडल, खंडवा, १९३६ ई०
४३ अमीघूँट (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४४ ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध (ले० वि० क्रुक)
४५ महात्माओं की वाणी, भुकुडा, गाजीपुर
४६ गुलाल साहब की वाणी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४७ भीखा साहब की वाणी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४८ पलटू साहब की वाणी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४९ संत वाणी संग्रह (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५० संतदर्शन (ले० डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित)
५१ मलूकदास जी की वाणी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५२ मिडीवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया(क्षितिमोहन सेन),लुज़क ऐंड कं०,लंदन,१९३०
५३ रेलिजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज, टू्पनर, १९६२ ई०
५४ गुसाईं गुरु वाणी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४ ई०
५५ सिद्धचरित्र (ले० सूर्यशंकर पारीख), रतनगढ़, सं० २०१३
५६ पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास डा० चंद्रकांत बाली, दिल्ली, १९६२ ई०
५७ सद्गुरु श्री कबीर चरितम् (ले० ब्रह्मलीन मुनि), बड़ोदा, १९६० ई०
५८ संतवाणी (मासिक पत्रिका, वर्ष १, अंक ९) संत साहित्य परिषद्, आरा
५९ दि लाइफ ऐंड टाइम्स आफ शेख फरीद (ले० खालिक अहमद निजामी), अलीगढ़, १९५५ ई०
६० कबीरपंथी शब्दावली
६१ अनुरागसागर (बेलवेडियर प्रेस), इलाहाबाद
६२ जनपदीय संत और उनकी वाणी (सं० दीनदयाल ओझा), भूमल प्रकाशन, जेसलमेर, सं० २०२३
६३ श्री महाराज हरिदास जी की वाणी (सं०स्वामी मंगलदास), जयपुर, १९६२ ई०
६४ संत सिंगा जी : एक अध्ययन (ले० रामनारायण उपाध्याय), साहित्य कुटीर, खंडवा, १९६५ ई०

६५ निमाड़ के संत कवि सिंगा जी (ले० डा० रमेशचंद्र गगराडे), हिंदी साहित्य भडार, लखनऊ, १६६६ ई०
६६ रैदास जी की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।
६७ संत साहित्य सुमन माला (सुमन ५) (स्वामी मंगलदास), स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, सं० २०२२
६८ कबीर ऐंड कबीरपंथ (रे० वेस्टकाट)

तृतीय खंड

१ ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ पर्शिया (ले० ई० जी० ब्राउन), कैंब्रिज, १६२८ ई०
२ ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ दि अरब्स (ले० आर० ए० निकलसन), लडन, १६०७
३ ए हिस्ट्री आफ पर्शियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर आफ दि मुगल कोर्ट (ले० एम० ए० गनी)
३ (अ) ए शार्ट हिस्ट्री आफ पर्शियन लिटरेचर ऐट दि बहमनी, दि आदिलशाही ऐंड दि कुतुबशाही कोर्ट्स आफ डकन, ले० स्व० डा० टी० एन्० देवारे, पूना, सन् १६६१ ई०
४ दि पंजाबी सूफी पोएट्स (ले० लाजवंती रामकृष्ण)।
५ सूफीमत, साधना और साहित्य (डा० रामभजन तिवारी), काशी, सं० २०१३
६ चंदायन (आगरा सस्करण) (सं० विश्वनाथप्रसाद) आगरा, १६६२ (सं० डा० परमेश्वरीलाल गुप्त), बंबई, १६६४ ई० और (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त) आगरा, सन् १६६७
७ मुंतखबुत्तवारीख
८ भारतीय साहित्य (त्रैमासिक पत्रिका, जुलाई, १६६२ ई०), आगरा
६ कुतुबन कृत मृगावती (सं० शिवगोपाल मिश्र), हिं० सा० संमेलन, प्रयाग शक १८८५।
१० पदमावत (झाँसी संस्करण) सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, सं० २०१२
११ जायसी ग्रंथावली (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त) हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १६५२ ई०
१२ मुगलकालीन भारत (भा० २), ले० सै० अतहर अब्बास रिज्वी १६६२
१३ पद्मावत का काव्यसौंदर्य (ले० ग० शिवसहाय पाठक) हिंदी गद्य रत्नाकर, बंबई, १६५६ ई०
१४ मधुमालती (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त), मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १६६१ ई०

१५ मंझन की जीवनी पर नया प्रकाश (साहित्य संदेश आगरा, १६६५) डा० श्यामसनोहर पाडेय ।
१६ हिस्ट्री आफ दि शत्तारी सिलसिल ।
१७ चित्रावली (सं० जगन्मोहन वर्मा) का० ना० प्र० सभा सन् १६१२ ई० ।
१८ छिताईवार्ता (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त) का० ना० सभा, सं० २०१५ ।
१६ सूफीकाव्य संग्रह (सं० परशुराम चतुर्वेदी) हिं० सा० सं० प्रयाग । सन् १६६५ ई० ।
२० मुस्लिम रिवायवलिस्ट मूवमेंट (ले० से० अजहर अब्बासरिजवी) आगरा यूनिवर्सिटी, आगरा १६६५ ।
२१ सूफीज्म इन मिडीकल बिहार (ले० से० हसन अस्करी) सन् १६४६ ।
२२ पंजाब में उर्दू (ले० महमूद खाँ शीराजी) उर्दू बाजार लाहौर, सन् १६४६ ई० ।
२३ खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास (ले० ब्रजरत्नदास) काशी १६६८ ।
२४ क़दीम उर्दू (सं० मासूद हुसेन खाँ) उसमानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद, १६६५ ई० ।
२५ दकन में उर्दू (ले० नसीरुद्दीन हाशमी) उर्दू बाजार लाहौर, १६५२ ई० और १६६३ ई०, संकरवा लाटूस रोड लखनऊ ।
२६ दक्खिनी का गद्य और पद्य ले० श्रीराम शर्मा हिंदी (प्रचारक सभा) हैदराबाद सन् १६५४ ई० ।
२७ दक्खिनी हिंदी काव्यधारा (ले० राहुलसांकृत्यायन) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना सन् १६५६ ई० ।
२८ उर्दू मसनवी का इर्तका (ले० अब्दुल कादिर सरवरी) हैदराबाद १६४० ।
२६ चन्दर बदन व महियार (सं० अकबर उद्दीन सिद्दीकी) हैदराबाद १६५६ ई० ।
३० तारीख जबान उर्दू करीम (ले० सैयद शम्स, उल्ला कादरी) कंवल किशोर प्रेस लखनऊ १६३० ई० ।
३१ मीराजुल आशकीन मय दकनी कलाम (सं० खलीक अंजम), उर्दू बाजार देहली १६५७ ई० ।
३२ कदीम नई (ले० डा० अब्दुहक) कराची १६६१ ।
३३ ख्वाजा गेसूदराज (ले० एक वानुद्दीन अहमद) कराची १६६० ।
३४ ख्वाजा बन्द नेवाज का तसव्वुफ और सलूक (ले० मीरवली उद्दीन) देहली १६६६ ।
३५ जायसी के परवर्ती हिंदी सूफीकवि और काव्य (ले० डा० सरलाशुक्ल लखनऊ विश्वविद्यालय सं० २०१३) ।

चतुर्थ खंड

१ मीरां वृहत् पद संग्रह (सं० पद्मावती शबनम) लोक सेवक प्रकाशन, काशी सं० २००६।

२ मीराबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् १९६४ ई०

३ भक्तकवि व्यास जी (ले० वासुदेव स्वामी) अग्रवाल भवन मथुरा सं० २००६।

४ सूरसागर (सं० नन्ददुलारे वाजपेयी) का० ना० प्र० सभा, वाराणसी सं० २००६।

५ अक्षयरस (सं० कुँवरचन्द्र प्रकाश सिंह) महाराज समाजी राव विश्वविद्यालय बड़ौदा, १९६३ ई०

६ विज्ञान गीता (सं० श्यामसुन्दर द्विवेदी) मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग सं० २०२१।

७ नन्ददासग्रंथावली (सं० ब्रजरत्नदास)।

८ राजस्थानी भाषा और साहित्य (ले० डा० हीरालाल माहेश्वरी) कलकत्ता १९६०।

९ श्री तारणतरण अध्यात्म वाणी।

१० बनारसी-विलास (सं० भँवर लाल जैन) जयपुर सं० २०११।

११ हिंदी को मराठी संतो की देन (ले० डा० विनय मोहन शर्मा) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५७ ई०।

१२

१३ गुरुमुखी के हिंदी काव्य (ले० हरिभजन सिंह) दिल्ली १९६३ ई०।

१४ दादू जन्मलीला परची सान्त साहित्य सुमनमाला, सुमन ४ जयपुर।

१५ उत्तरी भारत की सत परंपरा (द्वितीय संस्करण, ले० परशुराम चतुर्वेदी) द्वितीय संस्करण २०२१

१६ दि मिश्नरी (मासिक पत्र, भा० २ खण ८) दिल्ली।

पंचम खंड

१ ध्वन्यालोकलोचन (चौखंबा संस्कृत सीरिज), वाराणसी।

२ हिंदी दशरूपक (अनु० डा० गोविन्द त्रिगुणायत) साहित्यनिकेतन, कानपुर।

३ ज्ञानेश्वरी।

४ मराठी में साहित्यशास्त्र (ले० मा० गो० देशमुख) पुणे, १९५९ ई०।

५ श्री हरिभक्तिरसामृत, सैन्धुः (रूपगोस्वामी) अच्युत ग्रंथामाला काशी सं० १९८८।

६ श्री भक्तिरसायनम् (मधुसूदन सरस्वती) काशी, सन् १९५३ ई०
७ कबीरग्रंथावली (सं० डा० पारसनाथ तिवारी) प्रयाग, सन् १९६१ ई०
८ उदात्तसंगीत (ले० डा० बलदेवप्रसाद मिश्र) लोकचेतना प्रकाशन जबलपुर, १९६६ ई०
९ शांतरस : एक अध्ययन और पुन मूल्यांकन (ले० परशुराम चतुर्वेदी) अप्रकाशित
१० हिंदी साहित्य कोश (सं० डा० धीरेंद्र वर्मा) २ भाग, ज्ञानमंडल, वाराणसी, सं० २०२० व २०२५
११ हिंदी साहित्य का आदिकाल (ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५२ ई०
१२ अपभ्रंश साहित्य (ले० डा० हरिवंश कोछड़) भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, सं० २०१३
१३ कबीर साहित्य की परख (सं० परशुराम चतुर्वेदी) भारती भंडार, इलाहाबाद, सं० २०११
१४ संत काव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), किताब महल, इलाहाबाद
१५ मध्यकालीन संत साहित्य (ले० डा० रामखेलावन पांडेय), हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६५ ई०
१६ काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—ले० डा० शकुंतला
१७ संतों के धार्मिक पूर्व विश्वास (ले० धर्मपाल मैनी) नवजोत पब्लिकेशन, मालेरकोटला (पंजाब), सन् १९६६ ई०
१८ कबीर वचनावली (सं० अयोध्यासिंह 'हरिऔध')
१९ कबीर साहब का बीजक (सं० विचारदास) रामनारायण लाल, इलाहाबाद
२० हिंदी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)
२१ हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि (ले० डा० गोविंद त्रिगुणायत) साहित्य निकेतन, कानपुर, सन् १९६१ ई०
२२ श्री गुरु ग्रंथ साहिब–एक परिचय (ले० धर्मपाल मैनी)
२३ गोरखनाथ और उनका युग · (डा० रांगेय राघव) आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, सन् १९६३ ई०
२४ हिंदी काव्यधारा (ले० राहुल सांकृत्यायन) किताब महल, प्रयाग, सन् १९४५ ई०
२५ दक्खिनी हिंदी (डा० बाबूराम सक्सेना) हिंदुस्तानी, एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५१ ई०
२६ दि बीजक आफ कबीर (अनु० रेवरेंड अहमद शाह) हमीरपुर, सन् १९१७ ई०
२७ भारत की भाषाएँ (ले० डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या)

२८ कबीर की भाषा (ले० डा० उदयनारायण तिवारी) हिंदी अनुशीलन (त्रैमासिक पत्र, प्रयाग वर्ष २ अंक ३)
२९ हिंदी संत साहित्य (ले० डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित) राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९६३ ई० ।
३० काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (सं० डा० नगेंद्र)
३१ हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १ (सं० डा० राजबली पांडेय) का० ना० प्र० सभा
३२ रससिद्धांत (डा० नगेंद्र) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली सन् १९६४ ई०
३३ रसविमर्श (ले० के० ना० वाटवे) नवीन किताबखाना पुणें–२ द्वितीय संस्करण सन् १९६१ ई० ।
३४ बहरुल् फसाहत (ले० मौ० हकीम मुहम्मद नज्मुल गनी खाँ) नवल किशोर प्रेस, लखनऊ सन् १९२७ ई० ।

अनुक्रमणिका

इ

उ

ए

च

छ

ज

प